THE BOOK WAS DRENCHED

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180999

UNIVERSAL
LIBRARY

Osmania University

Call No. H301 Accession No. PMH3911

Author SIIS

Title [illegible]

This book should be returned on or before the date last marked below.

दो शब्द

इधर कुछ दिनों मुझे समाजशास्त्र का अध्यापन करना पड़ा। छात्राओं का प्रबल अनुरोध हुआ कि इस विषय पर हिन्दी में मैं एक पुस्तक लिखूँ। अपनी छात्राओं का अनुरोध टालना मेरे लिए सम्भव न था अतः बी० ए० के विद्यार्थियों की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए यह पुस्तक लिखी गई। इसमें प्रयत्न तो यह किया गया है कि छात्र-छात्राओं को अधिकाधिक ज्ञान की प्राप्ति सुलभ की जा सके। यदि इससे विद्यार्थी 'समाजशास्त्र' के विषय में कुछ भी ज्ञान प्राप्त कर सके तो मेरा परिश्रम सफल हो जायगा।

इस विषय पर डा० राधाकमल मुकर्जी का अधिकार है और इस क्षेत्र में उनकी सेवाएँ तो विश्वविदित हैं। प्रस्तुत पुस्तक की भूमिका लिखने के लिए मैं उनकी आभारी हूँ। कुमारी अनिमा मुकर्जी एम० ए० से भी मुझे इस पुस्तक के लिखने में सहायता मिली है अतः उनकी भी मै कृतज्ञ हूँ।

इंडियन प्रेस ने पुस्तक प्रस्तुत करने में जिस तत्परता से कार्य किया है वह भी कम प्रशंसनीय नहीं है।

लखनऊ :
२० मार्च १९५४

कञ्चनलता सब्बरवाल

अनुक्रमणिका

विषय-परिचय

समाजशास्त्र की आवश्यकता, समाजशास्त्रियों की कठिनाइयाँ, संघर्ष और उसका परिणाम, ऐतिहासिक पृष्ठ भूमिका, समाज क्या है, समाजशास्त्र के कुछ उपयोगी शब्द और उनके अर्थ, समुदाय, समितियाँ, संस्थाएँ, प्रथाएँ, समूह।

अध्याय १

समाजशास्त्र का विषयक्षेत्र

उसकी कठिनाइयाँ, दृष्टिकोण, विशेषात्मक दृष्टिकोण, समन्वयात्मक दृष्टिकोण, मानव समाजों का अध्ययन, मानव समाज का अध्ययन, मानव सामाजिक व्यवहारों का अध्ययन, मानव के सामाजिक कर्म का सार्थक अध्ययन, विषय-विभाजन, प्रमुख कार्य, परिभाषा, स्वरूप—क्या समाजशास्त्र विज्ञान है ? समाजशास्त्र विज्ञान है, सीमाएँ, समाजशास्त्र विज्ञान नहीं है, पद्धति।

अध्याय २

अन्य विज्ञानों के साथ सम्बन्ध

समाजशास्त्र और अन्य सामाजिक विज्ञान, अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान, आचारशास्त्र, विधिशास्त्र और अपराधशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, अन्य सामाजिकशास्त्र, इतिहास, जीव विज्ञान।

अध्याय ३

सामाजिक व्यवहार और उसका संगठन

सामाजिक जीवन का प्रारम्भ, सामाजिक विकास के विभिन्न काल, मानव की युगकालीन सामाजिक सम्पत्ति, जन्मगत अथवा आनुवंशिक सम्पत्ति तथा सामाजिक सम्पत्ति में अन्तर, सामाजिकता का प्रारम्भ, सामाजिकता की प्रक्रियाएँ, सामाजिक प्रेरणाएँ, अनुकरण, सामाजिक व्यवहार, व्यक्तित्व और सामाजिक परिवर्तन, असाधारण प्रेरणा, मानसिक योग्यता, व्यक्तित्व, सामाजिक क्रान्ति सामाजिक नियन्त्रण।

अध्याय ४

वातावरण और मानव

वातावरण का सामाजिक जीवन एवं व्यवहार पर प्रभाव और उसके प्रकार, सभ्यता का विकास, सामाजिक संगठनों पर प्रभाव, ग्राम संगठन, ग्राम्य जीवन का विकास और उसकी आवश्यकताएँ, नगरों की स्थापना, नागरिक जीवन और ग्राम जीवन में अन्तर, नगर क्या है, नगरों का विस्तार, नगरों की समस्याएँ, नागरिक और ग्रामीण समूह।

अध्याय ५

सामाजिक पारिस्थिकी

मानव और परिस्थिति,

मानव पारिस्थिकी

विचारकों में मतभेद, परिवर्तन और उनका आधार, सामाजिक ढाँचा और उसका संगठन, समुदाय : उसका भौगोलिक पक्ष, प्रक्रिया।

सामाजिक पारिस्थिकी

समाज और प्रतियोगिता-सहयोग, श्रेणीकरण, प्रतियोगिता तथा विशेषीकरण की सीमाएँ, प्रभुता एवं आज्ञाकारिता, सामाजिक अन्तर, एकत्व पृथक्त्व, आक्रमण और संक्रमण, मानवराशीकरण की परिवर्तनशीलता, एकत्रीकरण, जनसंख्या का पारिस्थिकीय सन्तुलन, पारिस्थिकीय और सामाजिक पद, पद और गतिशीलता, पद मर्यादा और उसके आधार, सामाजिक तथा पारिस्थिकीय गतिशीलता, पारिस्थिकीय एवं सामाजिक सम्बन्ध, व्यवहार के पारिस्थिकीय एवं सांस्कृतिक प्रतिमान, सभ्यता का विकास और भौगोलिक प्रभाव, अन्य प्रभाव, आधुनिक युग में सांस्कृतिक संघर्ष।

अध्याय ६

संस्कृति

संस्कृति—समूह की देन, संस्कृति का आरम्भ और विकास, तत्सम्बन्धी कुछ सिद्धान्त, वातावरण और संस्कृति, जातीय, रक्त सम्बन्धी-प्रभाव और संस्कृति, मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक सिद्धान्त, सांस्कृतिक उन्नति का आधार, अचानक होनेवाली खोजें, सांस्कृतिक विकास-सम्बन्धी सिद्धान्त, समकालीन

सांस्कृतिक विकास, केन्द्रीय उद्गम, विविध उद्गम, संस्कृति-प्रगति की ओर, संस्कृति की परिभाषा, संस्कृति और मानव समुदाय, संस्कृति के प्रकार, संस्कृति का स्वरूप, प्रकृति पर विजय, सामाजिक नियन्त्रण-सम्बन्धी योग्यता, कला और उसके स्तर, भाषा, संस्कृति के प्रतिमान, संस्कृति संकुल. संस्कृति एवं सभ्यता का विकास, आविष्कार एवं अनुसन्धान, नवीन सम्मिश्रण, समकालीन अनुसन्धान, त्रुटियों द्वारा शिक्षा, अनुसन्धान : तथ्य की प्राप्ति-स्वरूप और अनजाने प्राप्त, अनुसन्धान के लिए समस्या की आवश्यकता, सांस्कृतिक परिवर्तन, आविष्कार, भौतिक ज्ञान, सार्वभौम संस्कृति प्रतिमान, संस्कृति-सामाजिक उत्तराधिकार, पौराणिक कथाएँ, जनरीति, रूढ़ियाँ, संस्कृतियों की तुलना, व्यक्तित्व, माननीय प्रकृति और संस्कृति, व्यक्तित्व संस्कृति, व्यक्तित्व और अभौतिक तथा भौतिक संस्कृति, व्यक्तित्व और समाज में स्थान तथा कर्तव्य, व्यक्तित्व के प्रकार, व्यक्तित्व का संगठन, व्यक्तित्व की समस्याएँ।

अध्याय ७

समाज का ढाँचा

सामाजिक वास्तविकता और समाज का ढाँचा, सामाजिक ढाँचा और सामाजिक नियन्त्रण, सामाजिक विधि का स्वरूप, सामाजिक नियम, सामाजिक स्वीकृति तथा व्यक्तिगत प्रेरक कारण, सामाजिक नियमों के प्रकार, सामाजिक विधि, नियम और व्यक्ति, व्यक्तिगत उपाय—अधिकार और नेतृत्व, अन्य उपाय, सामाजिक व्यवस्था और उसकी शक्ति, धार्मिक और नैतिक नियम, प्रथा और विधि, प्रचलन और प्रथा, प्रचलन की समाज में आवश्यकता, प्रथा और स्वभाव, आदत, सामाजिक संगठन में प्रथा और स्वभाव, व्यक्ति और रूढ़ियों की सत्ता, मानसिक संघर्ष अनिवार्य, सामाजिक ढाँचा और उसकी प्रगतिशीलता, सामाजिक सम्बद्धता, सामाजिक जीवन और समूह, समाज और सामाजिक प्रक्रिया, साम्यावस्था, प्रगतिशील असाम्यावस्था, समूह और संस्था, प्राकृतिक और कृत्रिम समाज, प्रारम्भिक और माध्यमिक समूह, धार्मिक एवं उपयोगितावादी समूह, समूह और जनसंख्या, जाति, श्रेणी सम्प्रदाय दल, व्यावसायिक समूह, षड्यन्त्र, समुदाय, व्यक्तिगत समूह, दो व्यक्तियों का समूह, भीड़, समुदाय और संस्था, सामाजिक संगठन, समितियाँ और संस्थाएँ, संस्थाओं की बनावट, संस्थाओं का वर्गीकरण, समितियाँ, संस्थाओं का अन्योन्याश्रित होना, सामाजिक व्यवस्था का आवश्यक भाग संस्थाएँ, संस्थाओं के अन्योन्याश्रित सम्बन्धों के प्रतिमान, सामाजिक ढाँचे का आधार संस्थाएँ।

अध्याय ८

संस्थाएँ

परिवार, परिभाषा, परिवार संस्था की विशेषताएँ, परिवार का उद्गम, परिवार का विकास, परिवार के प्रकार, विवाह के प्रकार, विवाह-सम्बन्धी नियम, विवाह की रीतियाँ, नारी की मर्यादा, दाम्पत्य कर्तव्य, तलाक, परिवार और व्यक्तित्व का विकास, सुखी दम्पति, परिवार और समाज की आर्थिक स्थिति, व्यक्ति और परिवार, नागरिक परिवार, आर्थिक उत्पादन केन्द्र घर नहीं रहा, अन्य कर्तव्य, परिवार का भविष्य, परिवार और राष्ट्र, समुदाय, समुदाय का बाह्य ढाँचा, समुदाय का मनोवैज्ञानिक धरातल, समितियाँ एवं मानव की रुचि, समितियों का वर्गीकरण, राजनीतिक संस्थाएँ तथा समितियाँ, राष्ट्र के कार्य, सरल संस्कृतियाँ और शासन, सरल संस्कृतियों में राष्ट्र के अतिरिक्त नियन्त्रण के साधन, राष्ट्र का उद्गम, राज्यों का विकास, प्रजातन्त्र का विकास, राष्ट्र जिन कार्य के लिए अधिक उपयुक्त है, वे कार्य जो कि राष्ट्र नहीं कर सकता, राष्ट्र और विश्व, राष्ट्र-कल्याण-कारी संस्था, आधुनिक राजनीतिक समस्याएँ, राज्य और सामाजिक हित, आर्थिक संस्थाएँ, आर्थिक पद्धति, आर्थिक समितियाँ और अर्थ-व्यवस्था, आर्थिक जीवन का विकास, आधुनिक अर्थ-व्यवस्था, पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में सम्पत्ति का उत्पादन और वितरण, उद्योगों का सामाजिक नियन्त्रण, अर्थ-व्यवस्था के विकास के कारण, आर्थिक-हित और सामाजिक कार्य, आर्थिक-हितों पर रोक, अर्थ-व्यवस्था की कठिनाई, क्रियाशील आर्थिक संस्थाएँ, सांस्कृतिक संस्थाएँ, धार्मिक संस्थाएँ, जीवन दर्शन, धार्मिक संगठन, वैज्ञानिक खोजों का प्रभाव, आधुनिक प्रवृत्तियाँ, क्रीड़ा और मनोरंजन संस्थाएँ, संस्था-संकुल, संस्कृति और सभ्यता।

अध्याय ९

सामाजिक परिवर्तन

समाज एक प्रक्रिया है, सामाजिक परिवर्तन के कुछ स्थायी तत्त्व, सामाजिक परिवर्तन के प्रतिमान, परिवर्तन के परिचायक, सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाएँ, सामाजिक परिवर्तन चक्र की भाँति चलनेवाली प्रक्रिया, सामाजिक परिवर्तन—विकासवादी प्रक्रिया, श्रम-विभाजन, प्रतियो-गिता अथवा प्रतिस्पर्धा और द्वन्द्व अथवा विरोध, सहयोग अथवा सहकारिता और संगठन, सामाजिक प्रक्रिया और सामाजिक सम्बन्ध, सामाजिक विकास

की दिशा, सामाजिक परिवर्तन—उन्नति, विभिन्न समूह और उनमें परस्पर सम्बन्ध, अन्य सामाजिक प्रक्रियाएँ ।

अध्याय १०

जनसंख्या

जनसंख्या, जनसंख्या का निर्माण और उसका स्वरूप, स्थान सम्बन्धी प्रतियोगिता, सामाजिक प्रतियोगिता, जनसंख्या का परिमाण, माल्थ्यूस का जनसंख्या सम्बन्धी सिद्धान्त, जनसंख्या वृद्धि पर रोक, जनसंख्या नियन्त्रण के प्रयत्न, जनसंख्या पर विभिन्न प्रभाव, जनसंख्या वृद्धि, यन्त्र विज्ञान, यन्त्र विज्ञान के कार्य, यान्त्रिक-व्यवस्था और श्रम-सम्बन्धी संगठन, सम्पत्ति, सम्पत्ति का विभाजन, सामाजिक असन्तुलन, सामाजिक विगठन, सामाजिक विगठन के प्रकार, सामाजिक समस्याओं तथा विगठन के कारण, सामाजिक असन्तुलन के स्वरूप, सामाजिक विगठन से मुक्त होने के उपाय, धनहीनता, धनहीनता के कारण, धनहीनता के परिणाम, धनहीनता एवं आश्रित होने के कुपरिणामों से बचने के कुछ सामाजिक उपाय, अपराध, अपराधियों का वर्गीकरण, अपराधों की रोक-थाम के उपाय, दण्ड के उद्देश्य, युद्ध ।

अध्याय ११

सामाजिक नियन्त्रण

सामाजिक नियन्त्रण की आवश्यकता, सामाजिक नियन्त्रण के प्रकार, सामाजिक नियन्त्रण की सांस्कृतिक पृष्ठ भूमिका, सामाजिक नियन्त्रण के माध्यम, ऐजेन्सियाँ, देश विधि, धार्मिक विश्वास, जन सम्मति, सामाजिक नियन्त्रण की पद्धति, चिह्नादि, नियम आदि की सूचना और तत्सम्बन्धी ज्ञान, प्रचार, प्रेरणा, पुरस्कार और दण्ड, अन्य पद्धतियाँ, सामाजिक नियन्त्रण की समस्याएँ ।

अध्याय १२

सामाजिक मनोवृत्तियाँ

मनोवृत्तियाँ, मनोवृत्तियों और हितों का परस्पर सम्बन्ध, मनोवृत्तियों का विकास, सामाजिक सम्बन्धों में मनोवृत्तियों का हाथ, मनोवृत्तियों का वर्गीकरण, सामाजिक जीवन में विभिन्न हित, सामाजिक समूह और सामाजिक मनोवृत्तियाँ, सामाजिक प्रेरक कारण, समाजशास्त्र की मुख्य समस्या ।

विषय-सूची

अध्याय	विषय	पृष्ठ
	विषय-परिचय	१
१	—समाज-शास्त्र का विषय क्षेत्र	२९
२	—अन्य विज्ञानों के साथ संबंध	६६
३	—सामाजिक व्यवहार और उसका सगठन	७८
४	—वातावरण और मानव	१११
५	—सामाजिक पारिस्थिकी	१३५
६	—संस्कृति	१६३
७	—समाज का ढाँचा	२०७
८	—संस्थाएँ	२५५
९	—सामाजिक परिवर्तन	३४३
१०	—जन-संख्या	३७७
११	—सामाजिक नियंत्रण	४२५
१२	—सामाजिक मनोवृत्तियाँ	४३८

विषय-सूची

अध्याय	विषय	पृष्ठ
	विषय-परिचय	१
१	—समाज-शास्त्र का विषय क्षेत्र	२९
२	—अन्य विज्ञानों के साथ संबंध	६६
३	—सामाजिक व्यवहार और उसका संगठन	७८
४	—वातावरण और मानव	१११
५	—सामाजिक पारिस्थिकी	१३५
६	—संस्कृति	१६३
७	—समाज का ढाँचा	२०७
८	—संस्थाएँ	२५५
९	—सामाजिक परिवर्तन	३४३
१०	—जन-संख्या	३७७
११	—सामाजिक नियंत्रण	४२५
१२	—सामाजिक मनोवृत्तियाँ	४३८

विषय-परिचय

समाज-शास्त्र की आवश्यकता—मनुष्य का 'मनस' और उसकी वृत्तियाँ आदि मनोविज्ञान के रूप में अध्ययन का विषय बनने से पूर्व भी ठीक वैसी ही रही होंगी जैसी कि उसके पश्चात्। शरीर की बनावट और उसकी प्रवृत्तियाँ शरीर विज्ञान का अध्ययन होने से पूर्व भी वैसी ही थीं जैसी आज। इससे यही जान पड़ता है कि किसी भी ज्ञान-क्षेत्र को अथवा जीवन के अंग को अध्ययन का विषय बनाने से पूर्व भी उसका अस्तित्व रहा होगा। यह मानने योग्य तथ्य है। ठीक ऐसा ही समाज-शास्त्र के सम्बन्ध में भी कहा जा सकता है। शास्त्र के रूप में वैज्ञानिक ढंग पर 'समाज' और तत्सम्बन्धी तथ्यों का अध्ययन आरम्भ किये अभी एक 'अर्द्ध-शती' से अधिक काल नहीं हुआ है किन्तु मानव तो समाज सेवी, समाज-प्रिय इससे पूर्व भी था ही। अतः समाज का संगठन तो उससे कहीं पूर्व हो चुका था। तब फिर हमें समाज को, मानव के सामाजिक पारस्परिक सम्बन्धों को, उसकी सामाजिक क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं को अध्ययन का, खोज का विषय क्यों बनाना पड़ा? इस प्रश्न का उत्तर खोजने के लिए हमें लगभग एक शती पूर्व उस काल तक अतीत में पीछे खिसक जाना पड़ेगा जिसमें कि समाज-शास्त्र की कल्पना की गई थी। सर्वप्रथम "समाज-शास्त्र" (Sociology) शब्द का प्रयोग अगस्त कास्त (Auguste Comte) ने किया था। उन्होंने इस शब्द का प्रयोग मानव-समाज अथवा मानव-समूहों का वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन करने की ओर संकेत करते हुए किया था। युगों पूर्व का मानव, सृष्टि के आदि काल का मानव अथवा वैज्ञानिक युग से पूर्व का मानव भी उतना ही जिज्ञासु रहा होगा जितना कि आज का मानव है। उसने भी सृष्टि को समझना, जानना चाहा होगा और यह भी सम्भव है कि वह प्रकृति का स्वामी न होकर उस समय उससे भयभीत रहा हो। उसे रहस्यमयी प्रकृति अपने आप से अधिक शक्तिमयी दिखाई दी होगी और ऐसे वातावरण में उसने अपने ही ढंग से सृष्टि और उसके रहस्यों के विषय में कुछ कल्पनाएँ कर ली होंगी जिन्हें वह पूर्ण रूपेण सत्य समझने लगा था। इन्हीं कल्पनाओं ने कुछ समय पश्चात् घने विश्वासों का रूप धारण करके मानव मन को हर प्रकार से जकड़ लिया। किन्तु ऐसी अवस्था सदा तो रह ही नहीं सकती थी। धीरे धीरे मानव प्रकृति से दूर एवं भयभीत न रहकर उसके रहस्यभेदन करने

लगा और फिर उसका स्वामी बनता गया। विज्ञान ने उसे प्रकृति पर अधिकार करना सिखाया। उसने उस पर अधिकार किया और भली प्रकार किया। यहाँ तक कि वह प्रकृति और उसके वैभव को पूरी तरह लूटना और उससे लाभ उठाना चाहने और जानने लगा। साथ ही साथ उसकी विध्वंसात्मक शक्ति भी बढ़ी। विज्ञान ने उसे निर्माण करना भी सिखाया और विध्वंस करना भी। वह दोनों का ही प्रयोग करता गया। उसने प्रकृति के अतिरिक्त मानव को मानव के ही शरीर से रोग आदि दूर करने के भी उपाय सिखाये और ऐसे सुन्दर मूल्यवान मानव-शरीर को क्षण मात्र में नष्ट कर डालना भी सिखा दिया। द्वितीय विश्व युद्ध में भी मानव ने विज्ञान द्वारा प्राप्त अपनी दोनों ही प्रकार की शक्तियों का चमत्कार देखा और दिखाया। फलस्वरूप मानव को मानव के ही हाथों अत्याचार, भूख, दरिद्रता, राजनीतिक दीनता, वर्ग द्वन्द आदि का लक्ष्य बनना पड़ा। एक ओर तो विज्ञान की सहायता से मानव प्रकृति को चेरी बनाने के लिए इच्छुक था और दूसरी ओर उसने देखा कि इससे मानव का हित तो वह कर नहीं पाया और यदि उसने कुछ मानव-हित साधना की भी तो वह अहित, दुःख और चिन्ता की अपेक्षा न्यून ही रही। यदि आनन्द मिला भी तो कुछ ही लोगों को। अधिकांश मानव तो दीन, दुःखी, दरिद्र और व्याकुल ही रहे। प्रायः सब ही देशों में राजसत्ता भी कुछ व्यक्तियों के ही हाथों में रही और अधिकांश व्यक्ति विज्ञानप्रदत्त सुख सौभाग्यादि से वंचित ही रह गये।

ऐसी अवस्था से जो परिणाम होना था वही हुआ अर्थात् मानव असन्तुष्ट ही रहा। यह कहना तो सत्य न होगा कि विज्ञान के युग से पूर्व मानव की आर्थिक और सामाजिक अवस्था इस काल की अपेक्षा अच्छी थी किन्तु इतना तो कहा ही जा सकता है कि जहाँ एक ओर मानव की, प्रकृति को अधिकृत करके उसे अपने लक्ष्य तक ले जाने की शक्ति बढ़ गई थी वहीं दूसरी ओर स्वयं अपने ऊपर, मानव के ऊपर उसका अधिकार उसकी शक्ति घटती जा रही थी। वह स्वयं मानव-सम्बन्धों पर उतना अधिकार नहीं रख पा रहा था। और इस प्रकार उसकी इन दो शक्तियों का संतुलन बहुत ही बिगड़ गया था। अतः प्रकृति के किसी अंश तक स्वामी हो जाने के पश्चात् मानव को स्वयं अपने समूह पर, अपनी समस्याओं पर अधिकार करने की चिन्ता हुई। जैसा कि हम कह ही चुके हैं कि युद्धों ने मानव को उसकी निजी समस्याओं सम्बन्धी दीनता का और भी निखरा हुआ रूप दिखाया। अतः

मानव इस सम्बन्ध में विचार करने के लिए विवश हो गया। एक ओर वह देख रहा था विज्ञान की उन शक्तियों को, उन अनुसन्धानों को जो कि कुछ ही क्षणों में विध्वंस का भयानक रूप उपस्थित कर सकती हैं, उन शक्तियों को जो कि मानव-शरीर के अत्यधिक कष्टदायक रोगों की शान्ति कर सकती हैं, उन शक्तियों को जिनके द्वारा मानव क्षणों में अपनी शक्ति को बिना ही व्यय किये हजारों मीलों की दूरी पार कर सकता है और दूसरी ओर उन शक्तियों का कुछ व्यक्तियों के हाथों में ही बन्द रहना, उन शक्तियों के द्वारा मानव मात्र का उपकार न होना, उन शक्तियों के होते हुए भी उन सुविधाओं का केवलमात्र कुछ लोगों के लिए ही सुलभ होना, उन शक्तियों के होते हुए भी बेकारी, भूख आदि का होना आदि आदि। अब यह प्रश्न उठा कि समाज कैसा होना चाहिए। यह तो विवादास्पद विषय ही नहीं है कि समाज ऐसा होना चाहिए जिसमें सब ही व्यक्ति सहकारिता के भाव से स्वार्थ और परार्थ दोनों को ही लक्ष्य में रख कर कार्य करें। किन्तु ऐसा अब तक क्यों नहीं हो सका और किस प्रकार भविष्य में हो सकेगा यह जानने के लिए यह आवश्यक है कि आज दिन की सामाजिक बुराइयों का कारण खोजा जाये। इस प्रकार की खोज करते हुए हमें यह जान पड़ता है कि मानव ने आज तक प्रकृतिदत्त देन, प्राकृतिक साधनों की खोज करने में तो अपनी समस्त शक्ति, बुद्धि लगा दी किन्तु उसने मानवीय साधनों अर्थात् मानव-शक्ति—बौद्धिक और शारीरिक, मानवीय ध्येय की आवश्यकता आदि की न तो उतनी खोज ही की और न वह उनका मानव-हित में ठीक ढंग से उपयोग ही कर सका। ऐसा क्यों नहीं हो सका यह विचारणीय है। मानव ने प्रकृति और तत्सम्बधी अनुसन्धान तो इतने परिश्रम, लगन और उत्साह से किये तब फिर वह अपने से ही सम्बन्धित खोजें और उनका उपयोग क्यों न कर पाया। इसका कारण यही था कि मनुष्य समाज के सम्बन्ध में अधिकतर अज्ञान रहा। उसने समाज के विषय में सोचने, जानने, खोजने और विचारने की आवश्यकता का उस समय तक अनुभव नहीं किया। अतः लगभग एक शताब्दी पूर्व काम्त और अन्य समाज-शास्त्रियों ने इस मत का प्रतिपादन करना आरम्भ किया कि हमारी समस्त सामाजिक बुराइयों, वेदनाओं का कारण हमारी समाज सम्बन्धी अज्ञानता ही है। अतः हमें समाज के विषय में अधिकाधिक ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। किन्तु उस समय तक उनके सम्मुख केवल वे ही पद्धतियाँ थीं जिन्होंने मानव को प्रकृति-सम्बन्धी खोजों में सफलता दिलाई थी। इन समाज-शास्त्रियों ने उन्हीं पद्धतियों को लेकर

अपना कार्य आरम्भ करना चाहा। ऐसा करने में उद्देश्य एवं ध्येय यही था कि समाज-शास्त्र का अध्ययन मानव को सुखी सामाजिक जीवन तक ले जाये। उनका विचार था कि समाज-सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करके उसका उपयोग समाज को उन्नत करने में, मानव के सामाजिक जीवन को सुखी बना सकने में किया जायेगा। और इसी विचार ने समाज-शास्त्र को जन्म दिया। अतः हमें 'समाज' सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करके समाज को उन्नत एवं मानव को सामाजिक दृष्टि से सुखी बनाने के लिए ही समाज-शास्त्र की आवश्यकता है।

समाज-शास्त्रियों की कठिनाइयाँ—उस समय के विद्वानों ने अपने कार्य के गुरुत्व का सम्भवतः उतना अनुमान नहीं लगाया था जितना कि वह था। अतः इन सौ वर्षों के परिश्रम के पश्चात् भी हम यह नहीं कह सकते हैं कि मानव समाज-सम्बन्धी तथ्यों एवं रहस्यों को जान गया है उनके उपयोग में ला सकने की बात तो दूर की है।

समाज-शास्त्रियों के मार्ग में अनेकों कठिनाइयाँ थीं। आरम्भ में तो उन्हें नकारात्मक तथ्यों की जाँच करने में ही संलग्न रहना पड़ा। 'समाज' क्या है? यह जानने के लिए वह क्या नहीं है यह देखना भी तो आवश्यक है। अतः समाज-शास्त्र के अध्ययन की नींव पड़ने के पश्चात् बहुत-सा समय तो यह निश्चित करने में ही लगा देना पड़ा कि समाज क्या नहीं है। यद्यपि इस प्रकार की खोजों का भी अपना उपयोग था किन्तु वह रचनात्मक तो हो ही नहीं सकता था? उसका तो अधिक से अधिक यही उपयोग था कि वह हमें 'समाज' को समझ पाने में सहायता दे सके।

समाज-शास्त्रियों के सम्मुख एक और भी कठिनाई थी। यद्यपि मानव आदि काल में विभिन्न भूखण्डों को लेकर बस गया और उसने अपने अपने समूह अथवा समाज बना लिये जिनका कि मुख्य कारण उसका स्वभाव से ही समाज-प्रिय जीव होना था, तथापि उसमें, उसके सब ही समूहों और समाजों में सृष्टि के रहस्यों के प्रति तीव्र जिज्ञासा का भाव बना रहा। उस समय तक वैज्ञानिक अनुसन्धानों का कहीं पता भी नहीं था। अतः उसने अपनी जिज्ञासा शान्त करने के लिए सृष्टि के रहस्यों से सम्बन्धित कुछ कल्पनाएँ कीं और धीरे धीरे उन्हें मान लिया। इसी प्रकार उसने अपने प्रारम्भिक रीति-रिवाजों, प्रथाओं को भी सिद्ध करने के लिए कुछ तर्कों को जन्म दिया। उसके ये 'परम्परागत विश्वास' (Folklore) उसके जीवन में, मन-प्राण में इतने गहरे जम गये कि वह उन्हें अपने समाज

का आधार स्तम्भ-सा ही समझने लगा। इस प्रकार के विश्वास प्रायः सब ही प्राचीन जातियों के समाजों में पाये जाते हैं। इन्हीं विश्वासों ने वैज्ञानिक युग के आदि काल में विज्ञान के मार्ग में भी रोड़े अटकाये थे ? गैलीलियो तक को इस प्रकार के विश्वासों के हाथों ही दुःख उठाना पड़ा था। यद्यपि समाज-शास्त्र के अध्ययन में इस प्रकार के प्रारम्भिक विश्वासों एवं तर्कों का अपना एक स्थान है फिर भी इन्होंने समाज-शास्त्र के वैज्ञानिक ढंग पर अध्ययन करने के मार्ग को कठिन तो अवश्य बना दिया था। यद्यपि इन्हीं विश्वासों एवं तर्कों ने किसी सीमा तक जातियों के बौद्धिक एवं मानसिक संघर्ष काल में उन्हें दार्शनिक विचार-धारा की ओर मुड़ जाने के लिए संकेत भी किया और किसी एक सीमा तक दिशा निर्देश भी किया। ऐसा करके उन्होंने मानव को उन्नति की ओर ले जाने में महत्त्वपूर्ण सहायता की। इस दृष्टि से हमें इन परम्परागत विश्वासों का महत्त्व और उनकी उपयोगिता स्वीकार करनी पड़ती है। मानव की सामाजिक उन्नति में परम्परागत विश्वास अपना स्थान रखते हैं। फिर भी यह तो सत्य ही है कि इन्होंने ही कुछ समय तक समाज-शास्त्रियों को उन्नति पथ पर अग्रसर नहीं होने दिया, अटका रखा।

संघर्ष और उसका परिणाम—अब कुछ विचारक तो पुरातन के प्रति अपने उत्कट प्रेम के कारण अथवा निजी स्वार्थों के कारण अथवा ऐसे ही किसी मोह के कारण इन विश्वासों को बुद्धि एवं तर्क का विषय बनाकर उनका समर्थन करने के प्रयत्न करने लगे। दूसरी ओर कुछ अन्य विद्वान नवीन की खोज में अथवा निजी असन्तोष के कारण, अथवा सर्व-जन-हित-भावना के कारण इन विश्वासों की खोखली नींवें खोजने तथा उनके स्थान पर किन्हीं ठोस विश्वासों को रखने का प्रयत्न करने लगे। इन दो विचारक-दलों के बीच संघर्ष होता रहा और इस प्रकार के विचार-संघर्ष का अवश्यंभावी परिणाम था दार्शनिक विचार शैली का समाज-शास्त्र के क्षेत्र में लाया जाना। किन्तु इससे समाज के सम्बन्ध में मानव को कुछ विशेष ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ फिर भी समाज-सम्बन्धी विचारों का प्रादुर्भाव तो हुआ ही। वैज्ञानिक ढंग से समाज-सम्बन्धी तथ्यों का संग्रह और उन पर उसी ढंग से विचार होने से पूर्व उन पर दार्शनिक ढंग से सोचा जाने लगा। इन दार्शनिक समाज-शास्त्रियों ने समाज-सम्बन्धी कुछ उपयोगी विचारधाराएँ दीं भी। इनके साथ भी यह कठिनाई रही कि यह अपने पक्ष अथवा मत का ही अधिकतर समर्थन करने के प्रयत्न करते रहे। अतः समाज-शास्त्र का निष्पक्ष अध्ययन नहीं हो पाया।

ऐतिहासिक पृष्ठ भूमिका—वैदिक काल का समाज उन्नत और सुखी रहा होगा। उस समय तक न केवल पारिवारिक वरन् राष्ट्रीय जीवन का भी किसी न किसी रूप में विकास हो चुका था। इसी उन्नत सामाजिक अवस्था के विकास का वर्णन अथर्ववेद (अष्टमं काण्डम्—दशम सूक्तम्) में इस प्रकार मिलता है :—

विराड् वा इदमग्र आसीत्

तस्या जाताया: सर्वम बिभेदियेमेवेदं भविष्यतीति—१

सोद क्रामन् सा गार्हपत्ये न्यक्रामत्—२

गृहमेधी गृहपतिर्भवति य एवं वेद—३

सोद क्रामन् सा सभायां न्यक्रामत्—८

यन्त्यस्य सभां सभ्यो भवति य एवं वेद—९

सोद क्रामन् सा समितौ न्यक्रामत्—१०

अर्थात् सृष्टि के आदि में केवल जनता, मनुष्य-समाज ही था और उसे व्यवस्थाहीन, राजविहीन देखकर सब भयभीत हो गये और सोचने लगे कि क्या सदा ऐसा ही रहेगा। तत्पश्चात् कुटुम्ब बने, जिनमें गृहपति बने। तत्पश्चात् सभा और फिर समिति बनी। इससे यह जान पड़ता है कि वैदिक काल का समाज न केवल कुल आदि से ही परिचित था वरन् उस समय तक विभिन्न सामाजिक संस्थाओं को नियन्त्रित करने के लिए राष्ट्र की भी कल्पना कर ली गई थी। अर्थात् वैदिक काल का मानव राजनीतिक चेतना से सर्वथा शून्य नहीं था। सम्भवत: युद्धकालीन कठिनाइयों ने उसे समाज की राजनीतिक व्यवस्था पर सोचने विचारने को भी बाध्य किया था। परिणामस्वरूप वैदिक साहित्य से लेकर स्मृति और महाभारत काल तक राज धर्म पर, जनता के सुख के लिए बनाई गई विभिन्न व्यवस्थाओं पर बहुत कुछ कहा गया है। किन्तु सर्वाधिक प्रभावोत्पादक सहकारिता का सिद्धान्त है और सम्भवत: उसी को समाज की आधार-शिला माना गया होगा। ऋग्वैदिक काल भी युद्ध-शून्य नहीं था। अत: यह तो नहीं कहा जा सकता कि सहकारिता के ही सिद्धान्त पर उस युग के सब ही लोग चलते थे। यदि ऐसा होता तो ईश्वर से उसकी प्राप्ति के लिए प्रार्थना न करनी पड़ती और युद्धों की चर्चा भी न होती किन्तु यह सम्भव है कि एक समाज के, समूह के मानव अपने पारस्परिक सम्बन्धों के नियन्त्रण के लिए सहकारिता के सिद्धान्तों को लेकर चलने पर ही विश्वास करते हों। ऋग्वेद के मन्त्रों से यह भाव स्पष्ट हो जाता है :—

"सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे सं जाना ना उपासते॥" १०. १९१. २.

"समानो मंत्रः समितिः समानी समानं मनः सहचित्तमेषाम। समानं मंत्रमभि मंत्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि।" १०. १९१. ३.

"समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः। समानमस्तु वो मना यथा वः सु सहासति॥" १०. १९१. ४.॥

"दृते दृꣳह मा मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्तां। मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षो मित्रस्य चक्षुषा समीक्षा महे।" यजु ३६. १८.

अर्थात् "ईश्वर सब प्राणियों को आदेश करता है कि हे मनुष्यो! तुम सब एक होकर गति करो, कार्य करो, एक सा बोलो; तुम ज्ञानियों के मन एक से हों। तुम उसी प्रकार व्यवहार करो जिस प्रकार उत्तम ज्ञानवान् अपने भाग को करते हैं।"

"हे मनुष्यो! तुम लोगों का विचार एक है, सभा एक है, मन के साथ चेतना भी समान है, मैं तुमको समान विचार से अभिमन्त्रित करता हूँ। समान ही अन्नादि देता हूँ।"

"तुम्हारा लक्ष्य एक हो, तुम्हारा हृदय एक हो, तुम्हारा मन एक हो, जिससे तुम्हारा बल उत्तम हो।"

फिर मानव प्रार्थना करता है :—

"हे अज्ञान नाशक, मुझे दृढ़ कर। सब प्राणी मुझको मित्र की दृष्टि से समान भाव से देखें। मैं सब भूतों को मित्र की दृष्टि से समान रूप से देखता हूँ। हम परस्पर मित्र की दृष्टि से देखते हैं।"

इससे यह जान पड़ता है कि ईश्वरीय आज्ञा के रूप में वैदिक काल का मानव यह तो मानता ही था कि समाज और पारस्परिक सम्बन्धों की आधार-शिला सहकारिता ही है किन्तु उस समय और उसके पश्चात् भी 'समाज' के लक्षण और सामाजिक सम्बन्धों की यद्यपि वैज्ञानिक ढंग से विवेचना नहीं की गई थी किन्तु प्राचीन भारतीय समाज में समाज-सम्बन्धी विचारों का सर्वथा अभाव ही हो ऐसी बात भी नहीं थी।

प्राचीन यूनान में नगर साम्राज्य तो थे ही। सम्भवतः उनका सर्वोत्तम उदाहरण ऐथन्स था। समाज और उसके विभिन्न अंगों को गूँथ सकने के

लिए शासन भी था। परिवार आदि अन्य सामाजिक संस्थाएँ शासन के अधीन-सी ही थीं। धर्म आचार शास्त्र की अपेक्षा सौन्दर्य शास्त्र के अधिक निकट था। यूनान के नगर साम्राज्यों में परस्पर प्रायः युद्ध होते ही रहते थे। शासन न तो पूर्णतया एकछत्र आतंकवादी शासन ही था और न जनतन्त्र ही। जनता प्रायः या तो ग्रामीण थी और या नागरिक, या तो धनी थी और या निर्धन। लगभग ४०० वर्ष ईसा से पूर्व युद्ध, महामारी, आर्थिक एवं राजनीतिक कठिनाइयाँ इतनी अधिक बढ़ गईं कि लोगों ने परिवर्तन की आशा से भविष्य की ओर देखना आरम्भ कर दिया। प्लेटो एक ऐसे समाज-दर्शन के पथ-प्रदर्शक विचारक थे जो कि क्रान्ति एवं सामाजिक सुधारों में विश्वास करते थे। उन्होंने एक आदर्श समाज का सुझाव दिया। ऐसे समाज में प्रायः जीवन के सब ही क्षेत्रों का राष्ट्र के अधीन होना आवश्यक था। परिवार की आवश्यकता की ओर प्लेटो का ध्यान नहीं था। यहाँ तक कि बालकों को भी वह राष्ट्र की ही सम्पत्ति मानते थे और उनके भरण-पोषण का भार भी राष्ट्र पर ही डालते थे। जन्मगत भिन्नताओं और तदानुसार वर्गों को वह नहीं मानते तथा ऐसा विश्वास करते थे कि प्रत्येक व्यक्ति को सर्वाङ्गरूप से अपने विकास कर सकने की पूर्ण सुविधाएँ दी जानी चाहिए किन्तु ये सब उसकी प्रकृतिदत्त योग्यताओं के ही अनुसार दी जानी चाहिए। जिन व्यक्तियों में प्रकृतिदत्त गुण एवं योग्यताएँ सर्वाधिक हों उन्हें शासक बनाना चाहिए चाहे उनके माता-पिता का व्यवसाय कुछ भी क्यों न रहा हो। इन्हें वह दार्शनिक (Philosophers) कहते हैं और उनके मतानुसार राष्ट्र के शासक दार्शनिक ही होने चाहिए क्योंकि वह नागरिकों में सबसे अधिक बुद्धिमान और योग्य होते हैं। उनसे कम बुद्धिमान व्यक्तियों को योद्धा होना चाहिए ताकि वह अपने राष्ट्र की अन्य सम्भवतः कम विकसित एवं सभ्य राष्ट्रों के आक्रमणों से रक्षा कर सकें। सबसे कम बुद्धिवाले व्यक्तियों को श्रमजीवी होना चाहिए। यद्यपि इस समाज के सब ही व्यक्तियों को समाज में एक-सा स्थान नहीं प्राप्त होगा फिर भी उनमें से प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता के अनुसार समाज की अधिकाधिक व्यापक जनहित सम्बन्धी सेवा कर सकेगा। और आत्म-विकास की सुविधाएँ तो सबको एक-सी मिल ही सकेंगी। शासकों की राजसत्ता, उनकी शक्ति अत्यधिक होगी किन्तु उसका उपयोग केवलमात्र सार्वजनिक हित के ही लिए किया जा सकेगा। सम्भवतः प्लेटो का विश्वास मानव के श्रेय स्वभाव में था। उसका विश्वास था कि अच्छी शिक्षा मनुष्य

को निस्वार्थ, त्यागी और उदार बना सकती है। इसी भाव से प्रेरित होकर उन्होंने शासकों को विशेष ढंग से शिक्षा देने की व्यवस्था दी। जनता में सर्वाधिक बुद्धिशाली व्यक्ति लेकर उन्हें उचित शिक्षा दिलाकर ही शासक बनाया जाय यही उनका सुझाव था। किन्तु उनकी कल्पना का आदर्श राज्य (Republic) सम्भवतः अपने वास्तविक रूप में पृथ्वी पर आ ही नहीं सकता है। कम से कम उसे लाने के उपाय अभी तक किसी को ज्ञात नहीं हैं क्योंकि इस राज्य के अवतरित होने के लिए समाज के सब ही सदस्यों का, जनता का उसी प्रकार की विचार-धारा में शिक्षित होना आवश्यक है और उस प्रकार की शिक्षा उसी ढङ्ग के समाज में दी जा सकती है। अतः यह एक समस्या ही है कि आदर्श राज्य को किस प्रकार सम्भव किया जाए। प्लेटो ने जिस आदर्श राज्य का सुझाव ऐथन्स के लोगों के समक्ष रखा वह प्रायः नेताओं और सशक्त लोगों की दृष्टि में जँचा नहीं क्योंकि वह पूर्णतया क्रान्ति लाने वाला था। उससे एकबारगी ही समाज में परिवर्तन होना आवश्यक हो जाता था। उन्हीं के एक शिष्य अरस्तु (Aristotle) ने नेताओं आदि की रुचि को छू लेने वाली विचार-धारा उपस्थित की। यह विचार-धारा अधिक क्रियात्मक भी थी। उन्होंने यह देखा कि मानव स्वभाव से ही, जन्म से ही समाजप्रिय अथवा सामाजिक जीव है। (Man is a social animal) अतः उसका सामाजिक जीवन उसके लिए प्राकृतिक है, और उसके स्वभाव की ही अभिव्यक्ति है। इसी प्रकार विभिन्न प्राकृतिक और स्वाभाविक प्रवृत्तियों के आधार पर ही मानव परिवार और अन्य छोटी-बड़ी सामाजिक संस्थाएँ बनाता है और अन्त में इस सब से अधिक शक्तिशाली, सर्वोपरि संस्था बनती है राष्ट्र। यह सब कुछ मानव अपनी मूल प्रवृत्तियों को सन्तुष्ट करने के ही लिए करता है और उन मूल प्रवृत्तियों का आधार है उसका सामाजिक जीव होना। कुछ लोग जो नेता होने के योग्य होते हैं नेता होते हैं और जो दास होने के योग्य होते हैं, वह दास होते हैं। ऐसा क्यों है? क्योंकि वह ऐसा है। क्योंकि मानव ऐसा है। यही उनका उत्तर था। और इस प्रकार का उत्तर सब ही प्रकार की कटु आलोचनाओं से बचकर निकल सकने का एक उपाय है। वह अपने सिद्धान्त को जो कि यह बताता है कि समाज का आधार मानव-प्रकृति है, सिद्ध करने के लिए एक ही तर्क देते हैं और वह यह है कि "क्योंकि ऐसा समाज है।" किसी वस्तु अथवा स्थिति का अस्तित्व मात्र ही

उसके उद्गम के कारण सिद्ध करने के लिए पर्याप्त प्रमाण नहीं माना जा सकता है।

रोमन साम्राज्य स्थापित हुआ। उनकी सेना-शक्ति अजेय मानी गई। किन्तु कठिनाई के समय में उन्हें भी अरस्तु की विचार-धारा का आश्रय लेना पड़ा; यद्यपि उनकी विचार-धारा अरस्तु की विचार-धारा से मूल रूप में सर्वथा भिन्न थी। वे मानव को स्वभाव से ही स्वार्थी और दुष्ट मानकर विधि-विधान आदि (Legal machinery) द्वारा उसे समाज में ठीक ढंग से रखने पर विश्वास करते थे।

ईसाई मत के प्रादुर्भाव के साथ साथ परम्परागत विश्वासों में भी परिवर्तन हुए। ईसाई मत और रोमन साम्राज्य की सत्ता परस्पर गुँथ से गये। इस विश्वास का प्रचार होने लगा कि मानव में आत्मा (Soul) होती है और शरीरपात के पश्चात् मानवात्मा दूसरे रूप में, जगत में अपना अस्तित्व रखती है, वह नष्ट नहीं हो जाती है। इतनी तो हुई धार्मिक विश्वासों की बात, जिसे कि किसी भी उपाय से तर्क की कसौटी पर कसा ही नहीं जा सकता है किन्तु इससे कुछ आगे चलकर यह भी माना गया कि मानव भगवान की एक विशेष रचना है और वह भगवान् की ही प्रतिमूर्ति रूप में है तथा अन्य प्राणियों से सर्वथा भिन्न है अतः ईश्वरीय विधान, के अतिरिक्त अन्य कोई भी विधि-विधान उस पर लागू नहीं किया जा सकता है। और यूरोप में चर्च तथा ईसाई धर्मोपदेशकों को ईश्वर का प्रतिनिधि माना जाता था अतः उनकी आज्ञाएँ ही मानव के लिए मान्य मानी गईं। इस प्रकार की व्यवस्था को मानना ही उस समय एक अच्छे समाज का लक्षण माना गया था। किन्तु इस प्रकार की धर्माधार स्वीकृति (Scholastic) व्यवस्था भी सदा तो बनी रह सकती ही नहीं थी।

सुधार-युग (Period of Reformation) भी आया जब कि चर्च के विशेषाधिकारों को लेकर प्रश्न किये जाने लगे। जनता अब परम्परागत उन विश्वासों को भी प्रश्न का, आलोचना का विषय बनाने लगी जो कि चर्च द्वारा स्वीकृत एवं प्रतिपादित थे। यद्यपि ऐसा कर पाना कुछ सरल नहीं था फिर भी समाज के वैज्ञानिक अध्ययन की नींव इसी काल में पड़ी। अब तक समाज का अध्ययन दार्शनिक ढंग पर ही किया गया था और दार्शनिक ढंग अधिकतर सैद्धान्तिक ही होता है। इस युग में समाज के क्रियात्मक रूप के भी वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन करने की परम्परा की नींव

पड़ी। यद्यपि समाज के वैज्ञानिक अध्ययन के मार्ग में अनेकानेक कठिनाइयाँ थीं जिनमें उन व्यक्तियों का अभाव सबसे बड़ी कठिनाई थी जो कि समाज का वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन कर सकें और स्वयं उस समाज में प्रचलित परम्परागत विश्वासों के प्रभाव से बचे भी रह सकें।

मोन्टेस्क्यू (Montesquieu) ने योरुपीय लोगों के इस विश्वास को हटाने का प्रयत्न किया कि उन्हीं के रीति-रिवाज, प्रथाएँ आदि ठीक हैं। अब तक वे लोग यह तो जान ही गये थे कि अन्य देशों और जातियों की अपनी अपनी प्रथाएँ आदि भी हैं जो कि योरुपीय जातियों की प्रथाओं से भिन्न हैं, फिर भी वे यही मानते रहे कि उनकी प्रथाएँ ही सर्वश्रेष्ठ हैं, उचित हैं और ठीक हैं। मोन्टेस्क्यू ने अपने इस विश्वास का प्रतिपादन किया कि 'उचित' और 'श्रेष्ठ' का मापदण्ड भिन्न भिन्न जातियों के लिए भिन्न भिन्न होता है और वह तो उस जाति की सामाजिक परिभाषाओं पर आश्रित एवं आधारित होता है। इसी अपने विश्वास के कारण मोन्टेस्क्यू यह मानने को तत्पर नहीं थे कि योरुपीय नैतिक मापदण्ड ही उचित है, ठीक है। अब यह प्रश्न किया जा सकता है कि कौन से ऐसे कारण हैं जो कि किसी एक समाज में प्रचलित व्यवहार, प्रथाओं आदि को दूसरे समाज की प्रथाओं आदि से भिन्न करते हैं। इस सम्बन्ध में अनुसन्धान कर पाने की दृष्टि से उन्होंने सब ही जातियों की सामाजिक व्यवस्था के विषय में तथ्य संग्रह करना आरम्भ किया। और उन्हीं के आधार पर उन्होंने कुछ निष्कर्ष भी निकाले। यद्यपि वह जिन निष्कर्षों पर पहुँचे थे वह बिलकुल ठीक ही हों ऐसी बात नहीं है क्योंकि उनके तथ्य भी सर्वथा निर्दोष एवं निष्पक्ष नहीं थे। अतः उन्होंने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि किसी देश की जलवायु का उसकी सामाजिक व्यवस्था पर घना प्रभाव पड़ता है। इसी आधार पर उन्होंने बहुत-सी सामाजिक प्रथाओं की व्याख्या करने का प्रयत्न किया।

वस्तुतः काम्त के समय से ही समाज-शास्त्र का वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन करना आरम्भ हुआ। काम्त का तो यहाँ तक विश्वास था कि मनुष्य जैसे ही समाज विज्ञान का विकास कर लेगा वैसे ही वह स्वयं सामाजिक दृष्टि से अपना भाग्यविधाता बन सकेगा और उस अवस्था में वह समाज के सब ही सदस्यों का हित साधन कर सकेगा। प्रमाणस्वरूप उन्होंने यह मत उपस्थित किया कि मानव के तथा समाज के मानसिक विकास की तीन अवस्थाएँ होती हैं—विश्वासाधार (Theological), तात्त्विक (Meta-

physical) और वैज्ञानिक (Scientific)। मानव अभी तक अपने सामाजिक विकास की तात्त्विक अवस्था तक ही पहुँचा है किन्तु हर्ष का विषय है कि वह अवस्था लगभग अब समाप्त ही होनेवाली है और वह ज्यों ही वैज्ञानिक ढंग से अपनी सामाजिक समस्याओं का अध्ययन करना सीख लेगा त्यों ही उसकी सामाजिक उन्नति का द्वार खुल जायेगा। किन्तु कान्त को भी अपने उद्देश्यों में बहुत अधिक सफलता नहीं मिली और सम्भवतः उसका कारण यही था कि वह बहुत अधिक आशावादी थे किन्तु उनके मत से प्रायः बहुत से समाज-शास्त्री सहमत हो गये। मानव के विचार करने का ढंग और जिन प्रतीकों (Symbols) की सहायता से वह विचार करता है, उसकी जीवन व्यवस्था (Mode of life) को बनाने में अपना पर्याप्त प्रभाव रखते हैं। मानव उन्नति के पथ पर है और यह आशा की जा सकती है कि वह कभी न कभी निश्चित ज्ञान (Positive Knowledge) प्राप्त कर लेगा। कान्त के निश्चित ज्ञान-दर्शन (Positive philosophy) का महत्त्व जो भी कुछ हो उनके समाज-शास्त्र-सम्बन्धी विचार सर्वथा वैज्ञानिक तो नहीं कहे जा सकते हैं।

श्रीयुत एच० स्पेन्सर (H.Spencer) ने सब ही सामाजिक अंगों (Elements) का अन्योन्याश्रित होना प्रमाणित किया। उनके विचार में शरीर की भाँति ही समाज भी एक सम्पूर्ण है जिसके विभिन्न अवयव भी होते हैं। मानव शरीर की भाँति इसका विकास भी प्राकृतिक चुनाव (Natural selection) द्वारा ही हुआ है और अब भी यह वातावरण की अनुकूलता (Adjustment to the environment) और सर्वाधिक कुशल ही जीवित रहे, (Survival of the fittest) के आधार पर विकसित होता जा रहा है। सम्भवतः यह उस समय तक विकसित होता जायेगा जब तक कि पूर्ण नहीं हो जाता है। स्पेन्सर ने समाज को भले ही जीव-विज्ञान के तत्त्वों के साथ मिलाकर देखना चाहा हो किन्तु विकास सम्बन्धी विचार समाज-शास्त्र को श्रीयुत डार्विन तथा अन्य जीव-विज्ञान के विकासवादी विशेषज्ञों से ही प्राप्त हुए।

अब तक मानव अधिकतर परम्परागत विश्वासों से घिरा हुआ था किन्तु विकासवादी सिद्धान्त ने उसे उन विश्वासों से मुक्ति दिलाई। अब उसे यह विश्वास होने लगा कि समाज विकास के पथ पर है और इस दृष्टि से उसका वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन किया जा सकता है। जब मानव ने शारीरिक विकास किया है और उसके पथ पर है तो फिर मानव की हर

प्रकार की उन्नति सम्भव है और वह उस पथ पर है यह मान लेना अनुचित न होगा। लगभग पिछली अर्द्ध-शती में ही समाज-शास्त्रियों ने परम्परागत विश्वासों से मुक्त होकर मानव-विकास में विश्वास रखते हुए समाज का वैज्ञानिक अध्ययन किया है और अब वह वैज्ञानिक ढंग से समाज के उद्गम, विकास, तथ्यों आदि के विषय में अनुसन्धान करने और सोचने लगा है। ज्यों ज्यों इस दिशा में उन्नति होती जायेगी समाज-शास्त्र सम्बन्धी अध्ययन मानव-हित सम्बन्धी कार्यों में प्रगतिशील होता जायेगा।

समाज क्या है ? अब तक तो हम यही देख रहे थे कि समाज-शास्त्र का अध्ययन करने के लिए मानव को परम्परागत विश्वासों के चंगुल से मुक्ति प्राप्त करके उदार मन से वैज्ञानिक ढंग पर निष्पक्ष भाव से चलकर समाज का अध्ययन करना होगा। अब प्रश्न यह होता है कि समाज-शास्त्र क्या है ? उसकी परिभाषा कैसे की जा सकती है ? इसमें कोई सन्देह नहीं कि जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है समाज-शास्त्र वह ज्ञान, विज्ञान अथवा शास्त्र है जिसमें समाज-सम्बन्धी तथ्यों का अध्ययन किया जाता हो। किन्तु यह भी तो प्रश्न हो सकता है कि समाज क्या है ? समाज की परिभाषा क्या है ? अतः हम अब यही देखेंगे कि समाज क्या है ? प्रोफेसर लिन्टन (Linton) समाजों को व्यक्तियों और संस्कृतियों के संगठित समूह मानते हैं और इस प्रकार के संगठित समूहों को अन्तिम रूप से उन समूहों के सदस्य व्यक्तियों के संगठित व्यवहारों का दोहराया जाना मानते हैं। अतः समाज का वास्तविक सम्बन्ध व्यक्तियों के व्यवहार, आचार से ही होता है। श्रीयुत मेक आइवर (Mac Iver) और पेज (Page) के मतानुसार समाज मानव जाति के व्यवहार आदि को संयमित करने, उसकी स्वाधीनता को नियन्त्रित करने, बहुत से समूह, बँटवारे के आधार, सहकारिता, अधिकारसत्तादि तथा प्रथाओं आदि की एक व्यवस्था है। यह व्यवस्था परिवर्तनशील है और सरल नहीं है। यह सामाजिक सम्बन्धों का जाल है। इसे सामाजिक सम्बन्धों का परिवर्तनशील रूप भी कह सकते हैं।

जो हो, यह तो निश्चित ही है कि मानव-स्वभाव में सामाजिक तत्त्व जन्मगत ही होते हैं। मनुष्य स्वभाव से ही एकान्तप्रिय नहीं होता। वह अन्य मनुष्यों के सम्पर्क में आना ही चाहता है। अतः समाज मनुष्यों का वह समूह है जिसमें उन सबका परस्पर एक दूसरे से कुछ न कुछ सम्बन्ध होता है। इस प्रकार के अन्तः सम्बन्ध (Inter-relation) के दो आधार हैं। एक तो यह कि प्रायः बहुत से ऐसे स्वाभाविक तत्त्व हैं जो कि प्राय सब ही मनुष्यों में पाये जाते हैं। ये साधारण मानवीय तत्त्व (Likeness)

मनुष्यों को परस्पर निकट लाने में सहायक होते हैं। यदि ये तत्त्व न होते तो सम्भवत: मानव समाज निर्माण न कर पाता। दूसरी ओर यदि केवल यही तत्त्व होते और सम्पूर्ण मानव स्वभाव इन्हीं में सीमित होता तो सब ही मानव भेड़ों के झुण्ड की भाँति अथवा चींटियों के दल की भाँति सदा-सर्वदा एक-सा ही व्यवहार करते। सिद्धान्त, मत, विचार आदि बुद्धि-जन्य कार्य तथा ऐसे ही अन्य सामाजिक कार्य मानव में भी न पाये जाते। किन्तु ऐसा नहीं है मानव में परस्पर सामञ्जस्य के अतिरिक्त विरोधी तत्त्व (Difference) भी हैं। सब ही मानव सर्वथा एक-से नहीं हैं इसी से वह परस्पर सामाजिक सम्बन्ध उतनी अच्छी तरह स्थापित कर पाते हैं। अत: हमें कहना चाहिए कि समाज मानवों के परस्पर सम्बन्ध निर्धारित करनेवाली संस्था है। मानव का जीवन समाज के होने से ही सुखी एवं सुव्यवस्थित हो पाता है। अत: यह तो निश्चित ही है कि समाज मानवों का, व्यक्तियों का समूह है और यह समूह अथवा सामूहिक जीवन सम्भवत: मानव-जीवन के लिए आवश्यक भी है किन्तु दूसरी ओर समाज का भी व्यक्तियों के अतिरिक्त और अस्तित्व ही क्या रह जाता है। व्यक्तियों से ही तो समाज बनता है। मानव को एकत्रित होकर रहने की संस्कार-जन्य इच्छा होती है और यही समाज को बनाती है। अत: मानवों से मिलकर समाज बनता है। किन्तु वह सब ही मानव सामाजिक दृष्टि से विभिन्न तत्त्व न होकर परस्पर गुँथ जाते हैं। तब ही समाज का निर्माण होता है। व्यक्तियों के एक बड़े झुंड को एक स्थान पर एकत्रित करने मात्र से ही समाज नहीं बन जाता है वरन् उनमें से प्रत्येक मानव के दूसरों के साथ कुछ न कुछ सम्बन्ध होते हैं। और उन सम्बन्धों का आधार होता है सार्वजनिक हित। सार्वजनिक हित में प्रत्येक व्यक्ति का हित भी निहित रहता है यद्यपि वह किसी एक व्यक्ति-विशेष का ही हित नहीं होता है। अत: समाज मानव प्राणियों का, व्यक्तियों का एक ऐसा समूह है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपना कुछ न कुछ, किसी न किसी रूप में, स्थान रखता है और उन सब व्यक्तियों से मिलकर ही वह समूह बनता है अर्थात् सब ही व्यक्ति उस समूह का ही अंश होते हैं। व्यक्ति समाज का एक अंश है, इकाई (Unit) है और इसी प्रकार की अनेकों इकाइयों अथवा अंशों के मिलने से ही समाज बनता है। यह सब ही चेतन हैं, क्रियाशील हैं, गतिवान् हैं अत: यह न केवल क्रिया की स्वीकृति, उसका ग्रहण ही करते हैं वरन् स्वयं भी सोचते विचारते एवं करते हैं। मानव होने के नाते उनकी क्रियाशीलता बुद्धि-जन्य व्यवहार का रूप धारण करती है और यही कहलाते हैं उनके कर्म; इन्हीं के द्वारा उनके परस्पर सम्बन्धों की

सृष्टि होती है। समाज भी तो तब ही बन पाता है जब कि उसके प्रत्येक अंश का दूसरे अंशों से कुछ न कुछ सम्बन्ध होता है। सम्बन्धों की यह शृंखला, ये बन्धन ही समाज में व्यवस्था उत्पन्न करते हैं और व्यवस्थित होने के कारण ही मानव-समूह समाज कहलाता है। यदि मानव-प्राणियों में इस प्रकार के परस्पर सम्बन्ध न होते तो सम्भवतः वे समाज का निर्माण न कर पाते। इन सम्बन्धों के कुछ आधार भी होते हैं। कुछ ऐसी रुचियाँ, कुछ ऐसे सार्वजनिक हित अथवा आवश्यकताएँ होती हैं जो कि इन सब ही व्यक्तियों अथवा इकाइयों पर अपना प्रभाव रखती हैं और उन्हीं को लिये दिये ये सम्बन्ध बनते चले जाते हैं। यद्यपि इन सब में प्रबल वह मनोवैज्ञानिक सत्य द्वारा खोजी गई मानव की मनोवृत्ति है जो कि उसे इकाई नहीं रहने देती, जो कि उसे अनेक के बीच एक बने रहने से ही सन्तुष्ट नहीं होने देती है और जो कि उसे अनेकों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने के लिए बाध्य करती है। अतः मानव के हित के लिए इन सम्बन्धों को समझना, अध्ययन का विषय बनाकर इन पर गम्भीरतापूर्वक मनन, विचार करना आवश्यक हो जाता है क्योंकि इन्हीं की नींव पर तो समाज का भव्य भवन खड़ा हुआ है। ये सम्बन्ध प्रायः मानव-जीवन के सब ही क्षेत्रों में अपना स्थान रखते हैं और समाज मानव-जीवन के सब ही क्षेत्रों के सम्बन्धों को लेकर ही तो चलता है। समाज इन सम्बन्धों की क्रीड़ास्थली भी है और इनकी पूर्णता, इनका एकीकरण भी। समाज इन सब ही सम्बन्धों को पृष्ठभूमिका देता है, उन्हें बल देता है और फिर उनका नियन्त्रण भी करता है अतः मानव के सब ही प्रकार के बाह्य सम्बन्धों का आधार समाज ही है। समाज को लेकर ही मानव अपने सब ही बाह्य सम्बन्धों की सृष्टि करता है यद्यपि उसके आन्तरिक सम्बन्ध भी सामाजिक प्रभाव से सर्वथा अछूते ही रह जाते हों, सो बात नहीं है। व्यक्ति समाज की देन होता है और समाज इन्हीं व्यक्तियों, इकाइयों का एक समूह होता है जिसमें इन सब ही इकाइयों का आवश्यक स्थान तो होता ही है उसके अतिरिक्त उसके निर्माण में उनका महत्त्व होता है उनका योगदान देने का अधिकार रखना। अतः प्रत्यक्ष अथवा परोक्षरूप से समाज मानव के समग्र जीवन पर, उसके कर्मों पर छाया रहता है किन्तु वह उसके व्यक्तित्व को, इकाई के नाते उसके अस्तित्व को नष्ट नहीं कर डालता वरन् विकसित होने में सहयोग भी देता है। यही उसका कार्य है, यही उसका महत्त्व है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं होता है कि समाज कुछ एक व्यक्ति-विशेष अथवा मान्य समूह-विशेष का नाम है वस्तुतः लापियेर महोदय (Lapiere) के शब्दों में समाज

मानवों के एक दल का नाम नहीं है वरन यह तो उस मिश्रित अन्तः-सम्बन्धों के, विचारों के नमूने की ओर संकेत करता है जो कि उस मानव दल में उत्पन्न होते और पनपते हैं।

अतः समाज अन्तः सम्बन्धों सम्बन्धी व्यवस्था है। उस व्यवस्था का अध्ययन समाज-शास्त्र कहलाता है। समाज-शास्त्र का जन्म इस उद्देश्य को लेकर हुआ है कि समाज के उद्गम, निर्माण, व्यवस्था आदि का अध्ययन करके तथा उस अध्ययन को विशेष रूप से उपयोग करके मानव के सामाजिक जीवन को अधिक उन्नत, पूर्ण एवं सुखी बनाया जा सके क्योंकि यदि मानव का सामाजिक जीवन सुखी हो गया तो उसका उसके व्यक्तिगत जीवन पर भी तो प्रभाव पड़ेगा ही। अतः समाज-शास्त्र का मुख्य उद्देश्य मानव को अधिक सम्पन्न, अधिक सुखी और अधिक उन्नत बनाना ही है।

समाज-शास्त्र के कुछ एक उपयोगी शब्द और उनके अर्थः—

समाज तथा मानव-जीवन के अन्तःसम्बन्धों का अध्ययन करते समय कुछ शब्दों का बार बार प्रयोग किया जाता है। इससे यह ज्ञात होता है कि समाज में मानव के अन्तःसम्बन्धों के अध्ययन का आधार केवल मात्र 'समाज' शब्द ही नहीं है अन्य भी शब्द हैं। समाज-शास्त्र सम्बन्धी अध्ययन में हम उन शब्दों का प्रयोग बार बार करेंगे अतः उनके अर्थ एवं भावार्थ समझ लेना अच्छा होगा। यूँ तो वे सब ही शब्द ऐसे हैं जिनका कि प्रयोग हम जीवन में, प्रति दिन की भाषा में अनेकों बार सरलता से करते ही रहते हैं किन्तु वहाँ दृष्टिकोण न तो वैज्ञानिक ही होता है और न कोई विशेष ही तथा वक्ता और श्रोता दोनों ही यह समझ लेते हैं कि किस प्रसंग में किस शब्द का प्रयोग किया जा रहा है। यहाँ हमारा दृष्टि-कोण विशेष भी है और वैज्ञानिक भी होना ही चाहिए; अतः उस दृष्टिकोण से हम इन शब्दों का क्या अर्थ लेते हैं यह समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है। इन शब्दों में 'समाज' एक मुख्य स्थान रखता है। समाज से हम क्या समझते हैं यह तो हम देख ही चुके हैं। किन्तु अब देखना यह है कि समाज शब्द का हम समाज-शास्त्र के अध्ययन में किस प्रकार विस्तृत ढंग से प्रयोग करते हैं। यह तो हम देख ही चुके हैं कि समाज एक मानव-समूह है और वह भी ऐसा समूह है जो कि मानव के सब ही सामाजिक अन्तःसम्बन्धों को लेकर ही बना है। जब भी हम समाज शब्द का प्रयोग करते हैं हमारा ध्यान अधिकतर इन्हीं सम्बन्धों की ओर होता है। समाज हमारे लिए केवल मात्र वह संगठन, वह व्यवस्था अथवा वह अनुशासन ही नहीं है जो कि मानवों को एकत्रित कर देता है वरन् वे सामाजिक अन्तःसम्बन्ध हैं

जिनसे समाज का निर्माण होता है, या जिन्हें समाज कहा जाता है। वे सम्बन्ध क्या हैं ? कैसे हैं ? यह जानना और समझना भी समाज शास्त्र का ही कार्य है। इस प्रकार के सम्बन्ध वहीं हो सकते हैं जहाँ कि एक दूसरे की स्वीकृत प्राप्त करके एक दूसरे के प्रति व्यवहार किया जाये और उस व्यवहार का आधार किसी प्रकार की सर्वजन स्वीकृति अथवा सहमति हो। यद्यपि मानव में परस्पर कुछ ऐसे भी सम्बन्ध अथवा व्यवहार होते हैं जिन्हें सरलतापूर्वक सामाजिक नहीं कहा जा सकता है यदि सामाजिक सम्बन्धों में हम उन्हीं सम्बन्धों को सम्मिलित करना चाहें जो कि सर्वजन सम्मत अथवा एकता की भावना से ओत-प्रोत हों, किन्तु उन कटुता पूर्ण अथवा समाज विरोधी सम्बन्धों के रहते हुए भी मानव जीवन में अधिकांश सम्बन्ध ऐसे ही हैं जो कि एकता की भावना ही दर्शाते हैं। हमें तो समाज सम्बन्धी एवं समाज विरोधी दोनों ही प्रकार के सम्बन्धों का अध्ययन करना है किन्तु इन दोनों प्रकार के सम्बन्धों का वर्गीकरण करने के लिए एक आधार खोज लेना अच्छा रहेगा। वस्तुतः वे सब ही सम्बन्ध सामाजिक सम्बन्ध कहला सकते हैं जिनका आधार सामुदायिक भावना (Sense of Community) अथवा एकत्रित होने की, परस्पर निकट आने की भावना होती है। जो सम्बन्ध इस प्रकार की भावना से रहित होते हैं अथवा इस प्रकार की भावना के विरुद्ध होते हैं उन्हें समाज विरोधी सम्बन्ध माना जाता है। समाज-शास्त्र के विद्यार्थियों के लिए सामाजिक और समाज विरोधी दोनों ही तरह के सम्बन्धों का जानना, समझना अत्यावश्यक है किन्तु मानव में यदि सामाजिक सम्बन्धों की स्थापना हो सकने की कोई सम्भावना ही न होती, मानव यदि अधिकतर इस प्रकार के सम्बन्ध न रखता होता तो समाज का अस्तित्व ही न रह जाता अतः समाज-शास्त्र का बहुत कुछ कार्य सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन करना ही होता है। अभी तक तो हम मानव की ही बात करते रहे किन्तु पारस्परिक, निकट लाने की भावना युक्त सम्बन्ध केवल मानवों में ही होते हों; ऐसी बात नहीं है। अन्य प्राणियों में भी तो सामुदायिक भावना पाई ही जाती है अतः उनका भी समाज होता है और सामाजिक सम्बन्ध भी होते हैं यद्यपि हमारी दृष्टि में वे उतने स्पष्ट नहीं होते हैं। छोटे से छोटे प्राणियों में यहाँ तक कि चींटियों आदि में भी सामाजिक सम्बन्ध होते हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि सब ही प्राणियों के समाज और सामाजिक संगठन होते हैं यद्यपि उनमें एक दूसरे से भिन्नता हो सकती है। बुद्धि के विकास के साथ ही साथ ये सम्बन्ध भी विकसित होते जाते हैं और मानव-समाज में तो इनका अत्यधिक विकसित

रूप दिखाई देता है । अतः समाज सामाजिक सम्बन्धों से निर्मित होता है और इनके अध्ययन करने की समाज-शास्त्र में आवश्यकता पड़ती है ।

समुदाय (Community)—मानव के जीवन में समाज का बहुत बड़ा स्थान है क्योंकि वह उन सब ही सम्बन्धों को लेकर चलता है जो कि मानव के सामाजिक जीवन और व्यवहार के अंग हैं किन्तु समाज तो एक विशाल समूह का नाम है । उसके भीतर ही नगर, ग्राम, जाति आदि समूह भी होते हैं । इन्हें समुदाय (Community) कहते हैं । यह उस समूह का नाम है जहाँ कि मानव प्राणियों को एक साथ मिल-जुलकर रहना पड़ता है और इस प्रकार के सम्बन्धों के लिए आधार-शिला होती हैं जीवन की साधारण, एक-सी सुविधाएँ । यह वह समूह है जिसमें कि मानव अपने सम्पूर्ण सामाजिक सम्बन्धों को लेकर रहता है । उदाहरणार्थ—मैं अध्यापिका हूँ । एक विद्यालय में अध्यापन कार्य करती हूँ किन्तु वह अध्यापन कार्य मेरे संपूर्ण जीवन और सब ही सम्बन्ध को पूर्णतया अपने ही भीतर नहीं समा पाता है । अध्यापन कार्य के अतिरिक्त भी मेरी व्यक्तिगत और सामाजिक आवश्यकताएँ होती हैं, सम्बन्ध होते हैं अतः मेरा सम्पूर्ण जीवन और उसका आधार किसी भी एक उस संस्था अथवा समूह में समा नहीं जाता है जो कि मेरे जीवन के किसी एक पक्ष से सम्बन्धित हो । किन्तु समुदाय (Community) का सम्बन्ध मेरे सम्पूर्ण जीवन और उसके हितों से होता है । इसका यह भी अर्थ नहीं है कि पुरातन काल की परिस्थितियों के अनुकूल अथवा पुरातन यूनान के नगर साम्राज्य की भाँति जीवन की सारी सुविधाएँ किसी एक नगर अथवा देश तक ही सीमित हो जायँ । मैं एक नगर में रहती हुई भी उससे कहीं अधिक उदार, विशाल जाति से सम्बन्धित हो सकती हूँ । इस प्रकार के समूह के लिए क्षेत्र की आवश्यकता है । रहने का स्थान तो होना ही चाहिए तब ही इस प्रकार का समूह बन पाता है । वस्तुतः आज संसार पहले की अपेक्षा बहुत छोटा होता जा रहा है । ज्यों ज्यों वैज्ञानिक युग के प्रभाव से यातायात की सुविधाएँ बढ़ती जा रही हैं मानव के बन्धन ओछे होते जा रहे हैं फलस्वरूप सामुदायिक मनोवृत्ति के लक्षण अधिकाधिक उदार होते जा रहे हैं फिर भी भौगोलिक सीमाएँ और धरती पर वास किसी भी समुदाय (Community) का मुख्याधार तो अभी बना ही हुआ है । यद्यपि भौगोलिक सीमाएँ भी आज अपना अर्थ उस दिन से भिन्न रखती हैं जिस दिन संसार आज से कहीं अधिक बड़ा और दूरवर्ती-सा दिखाई देता था । सभ्यता के विकास ने समुदाय से सम्बन्धित भौगोलिक सीमाओं के अर्थ को भी अपेक्षाकृत उदार कर दिया है । इनका

यद्यपि समुदाय के अस्तित्व को बनाये रखने में उतना अधिक महत्त्व नहीं रह गया है फिर भी यह नहीं कहा जा सकता है कि क्षेत्रीयता का महत्त्व समुदाय में रह ही नहीं गया है यद्यपि यह सत्य है कि अब यह उतनी अधिक महत्त्व-पूर्ण वस्तु नहीं रह गई है। वस्तुतः समुदाय मनोवृत्ति एवं जातीयता का मुख्याधार तो है मानव के सम्पूर्ण जीवन के एक से हितों का होना। जिन मानवों के हित और हिताधार एक से ही होंगे वह एक समूह-विशेष से सम्बन्धित होंगे। आज से कुछ एक वर्ष पूर्व तो हम सम्भवतः किसी न किसी उदार दृष्टिकोण से बिरादरी तक को इस प्रकार का समुदाय (Community) मान सकते थे क्योंकि उस समय तक एक ही बिरादरी के लोगों में परस्पर घनिष्ठ सामाजिक सम्बन्ध रहते थे तथा उसी समूह के व्यक्ति परस्पर आदान-प्रदान आदि कर पाते थे। सम्भवतः उस बिरादरी की सीमाओं के बाहर उनके हितों का प्रश्न ही नहीं होता था किन्तु आज तो अवस्था बहुत परिवर्तित हो चुकी है। सभ्यता के इस युग में न तो बिरादरी की सीमाएँ उतनी दृढ़ ही रह गई हैं और न मानव ही अपने सम्पूर्ण हित-साधन के लिए उसे पर्याप्त समझता है अतः आज के युग में जाति की परिभाषा और रूप-रेखा दोनों ही परिवर्तित हो गई हैं। यह तो सत्य है कि आज स्थानीय अथवा भौगोलिक सीमाओं का महत्त्व उतना अधिक नहीं रह गया है फिर भी मानव को अपनी सामाजिक वृत्ति को सन्तुष्ट करने के लिए सब ही प्रकार की जाति-व्यवस्थाओं की आवश्यकता है। इनमें वह भी आ जाती हैं, जो कि भौगोलिक सीमाओं में सीमित हैं, और वह भी जो इस प्रकार के बन्धन-रहित हैं। जो हो, समाज-शास्त्र में जहाँ भी समुदाय (Community) शब्द का प्रयोग किया जायेगा वहाँ इसी भाव से किया जायेगा कि वह एक ऐसा समूह है जिसका कि सम्बन्ध अपने सदस्यों के सम्पूर्ण जीवन और तत्सम्बन्धी हितादि से रहता है तथा प्रायः जिसके सब ही सदस्य मिलकर धरती के एक भाग-विशेष पर अधिकार रखते हैं। समाज इससे कुछ अधिक, अपूर्ण-सा होता है। समाज तो सामाजिक सम्बन्धों की वह व्यवस्था है जिसे लिये दिये हम जीवन यापन करते हैं और समुदाय (Community) उस योजना के अनुरूप ही संगठित जीवन-व्यवस्था होती है। समाज मानव की अन्तः क्रियाओं और अन्तःसम्बन्धों का नाम है और जाति उन्हीं सम्बन्धों आदि के क्रियात्मक रूप को, मूर्त रूप को सम्भव करती है। मानव के सामाजिक जीवन के लिए जाति की आवश्यकता है और अत्यधिक है क्योंकि वही तो हमें वास्तव में उन व्यक्तियों को, उस समूह को दिखाती है जो कि समाज को निर्मित करते हैं। इस भाव को मेक आइवर

(Mac Iver) समुदाय (Community) की परिभाषा में स्पष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। उनके मतानुसार जाति मानव के सामाजिक जीवन का कोई भी एक सम्पूर्ण क्षेत्र है जैसे कि ग्राम, नगर, देशादि। यह कोई भी वह क्षेत्र है जिसमें कि मानव साधारणतया मिल-जुलकर जीवन यापन करते हैं। और उसी क्षेत्र के अन्दर मानव स्वाधीनता से परस्पर व्यवहार करते हैं। इस प्रकार का व्यवहार उनके जीवन के विभिन्न क्षेत्रों तक विस्तृत रहता है और इस प्रकार इस क्षेत्र में साधारण सामाजिक जीवन दिखाई देता है। गिन्सबर्ग (Ginsberg) आदि अन्य विद्वानों का भी यह मत है कि जाति मनुष्यों का वह समूह है जिसमें कि प्राय: साधारण ढंग से जीवन-यापन किया जाता है और इस प्रकार के जीवन-यापन करने के कारण स्वरूप एवं फलस्वरूप जितने भी विभिन्न प्रकार के सम्बन्ध होते हैं वह सब ही पाये जाते है। जाति मानव के लिए समाज के रूप में जीवन-यापन करना सम्भव कर देती है। प्राय: जाति के रूप में मानव इसलिए एकत्रित रहता है कि वहाँ उसके सब ही प्रकार के हितों की सामूहिक रूप से रक्षा होती रहती है और वह स्वयं ही उनकी रक्षा करनेवालों में से एक होता है। अत: जाति मानव के सामाजिक जीवन में प्रमुख स्थान रखती है। वहीं पर मानव अपने जन्मगत एकत्रित होने, साथ रहने के संस्कार की पूर्ति कर पाता है, उसे सन्तुष्ट कर पाता है। सम्भवत: वहीं वह अपनी व्यक्तिगत उन्नति, अपने व्यक्तित्व का विकास करने की भी सुविधाएँ प्राप्त करता है। वहीं पर रहकर वह सामाजिक जीव बन पाता है। यद्यपि यह आवश्यक नहीं है कि सामाजिक जीव वही हो जो कि समाज के हित को ध्यान में रखकर ही काम करता हो। फिर भी कोई भी व्यक्ति सामाजिक जीवन में अधिक रुचि रखता हो अथवा न्यून किसी न किसी जाति से तो उसका सम्बन्ध होता ही है और यह सम्बन्ध सामाजिक दृष्टि से उसके लिए हितकर ही होता है। लुगड बर्ग (Lundberg) जाति के लिए कुछ कुछ भौगोलिक दृष्टि से स्थान का होना तथा किसी न किसी सीमा तक अन्त:सम्बन्धों का होना आवश्यक समझते हैं। और इन दोनों के अतिरिक्त किसी सीमा तक संगठन अथवा व्यवस्था का होना भी आवश्यक समझते हैं।

समितियाँ—(Associations) सम्पूर्ण जीवन के हितों का साधन करने के आधार पर मानव सामूहिक ढंग से संयोजित जाति का सदस्य तो होता है किन्तु उन सब ही हितों का एकबारगी एक ही ढंग से तो साधन हो नहीं पाता है अत: उसे वैसा कर पाने के लिए साधन खोजने पड़ते हैं। सम्पूर्ण जीवन के हित भी तो विभिन्न प्रकार के होते हैं और साधारण तथा

प्रधान हित तो सबके एक हो सकते हैं, इसी आधार पर जाति का संगठन भी किया जाता है किन्तु अधिक विस्तार में जाने पर तो सदस्यों के हित और उनकी रुचियाँ तनिक भिन्न हो जाती हैं। यदि ऐसा न होता तो मानव और पशु में भेद भी तो कुछ नहीं रह जाता। अतः एक तो हित-साधन सम्भव करने के लिए और रुचि-वैचित्र्य को सन्तुष्ट करने के लिए मानव को अपने ध्येय तक पहुँच पाने के विभिन्न साधन, माध्यम खोजने पड़ते हैं। इनके द्वारा ही वह अपने ध्येय तक पहुँच पाता है। इन्हीं को समितियाँ कहते हैं। किसी भी समाज और जाति में इस प्रकार की समितियाँ होती हैं। ये समितियाँ ध्येय प्राप्ति के साधनस्वरूप होती हैं। वस्तुतः मानव अपने ध्येय की प्राप्ति के लिए तीन मार्ग पकड़ता है। एक तो है प्रत्येक व्यक्ति का एक दूसरे की सहायता के बिना ही अपना मार्ग लेकर (चलना)। इस मार्ग का अपना ही महत्त्व है किन्तु वह महत्त्व दार्शनिक और नैतिक हो सकता है, सामाजिक तो नहीं है। मुक्ति पथ के पथिक एकाकी चल सकते हैं किन्तु साधारण जीवन के पथिक के लिए यह पथ न केवल कठिन ही है, वरन् दुरूह, अग्राह्य-सा ही हो जाता है। यही कारण है कि इस पथ के पथिकों की संख्या न्यूनातिन्यून ही रह जाती है। दूसरा मार्ग है अन्य व्यक्तियों के विरोध द्वारा, संघर्ष द्वारा अपने ध्येय की पूर्ति। किन्तु यह मार्ग एक तो मानव के समाज-प्रिय स्वभाव के विरुद्ध है दूसरे कुछ इतना अधिक उलझा हुआ-सा है कि इसमें मानव की, यदि ध्येय प्राप्त कर भी ले तो, शक्ति आदि का ह्रास ही अधिक होता है। आदि मानव ने सम्भवतः इसी कारण इस मार्ग को त्याग दिया था। यद्यपि आज भी समाज में कुछ परिवर्तित, संशोधित ढंग से इसका प्रचलन है किन्तु उससे भी अधिक श्रेयस्कर तीसरा मार्ग है। वह है सहयोग का, सहकारिता का मार्ग। किसी ध्येय की प्राप्ति के लिए किसी भी मनुष्य का एकाकी नहीं वरन् सामूहिक ढंग से प्रयत्न करना जिसमें कि प्रत्येक एकाकी व्यक्ति भी योग दान देता हो और वह भी फल का उतना ही भाग प्राप्त करे जितना कि कोई भी अन्य करेगा। साधारणतया यही ध्येय-प्राप्ति का सर्वोत्तम सामाजिक ढंग का उपाय भी है। इसी के आधार पर समितियाँ बनाई जाती हैं।

ये समितियाँ भी दो प्रकार की होती हैं। कुछ तो वे समितियाँ होती हैं जो कि मानव को उसके जीवन के किसी एक पक्ष को लेकर ध्येय तक पहुँचाने के लिए बनाई जाती हैं और जिनका कार्यकाल कुछ बहुत अल्प नहीं होता है। इनका कार्यक्षेत्र भी अधिक विस्तृत हो सकता है किन्तु कुछ ऐसी भी समितियाँ होती हैं जो किसी उद्देश्य-विशेष को लेकर

काल-विशेष के लिए ही बनाई जाती हैं। और उनकी अवधि भी उस कार्य-विशेष के होने तक ही सीमित होती है। कभी कभी ऐसा भी होता है कि किसी उद्देश्य के सम्मुख आ जाने पर ही उसकी पूर्ति के लिए समिति संगठित कर ली जाती है। अतः समिति वह मानव-समूह है जिसका कि संगठन किसी उद्देश्य-विशेष अथवा मानव के सामाजिक जीवन के किसी क्षेत्र-विशेष को व्यापक ढंग से उद्देश्य मानकर उसी की पूर्ति के लिए किया जाता है। यह उद्देश्य उस समिति के सब ही सदस्यों के लिए एक-सा मान्य एवं स्वीकृत होता है। समिति अथवा इस प्रकार का संगठन समुदाय के भीतर ही होता है यद्यपि इसे ही समुदाय नहीं कहा जा सकता है। जाति इस प्रकार की सब ही समितियों को आधार-शिला होती है। उसी रंगमंच पर, उसी पृष्ठ-भूमिका को लेकर अनेकों ऐसे संगठन बनते हैं।

समुदाय का उद्देश्य मानव को सम्पूर्ण जीवन-यापन की सुविधा, उसके लिए क्षेत्र देना है। समुदाय में मानव का सम्पूर्ण जीवन प्रतिफलित होता है किन्तु समिति किसी एक ही उद्देश्य को, जीवन के अंग विशेष को लेकर ही बनाई जाती है। वह उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए, लक्ष्य की प्राप्ति के लिए आवश्यक होती है किन्तु सम्पूर्ण मानव-जीवन से उसका वैसा सम्बन्ध नहीं होता है। किन्तु उस उद्देश्य विशेष से उसका घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। आर्यसमाज एक समिति है। मैं यदि आर्यसमाज की सदस्या हूँ तो वह केवल उन धार्मिक विश्वासों के लिए ही तो हूँ जो मेरे लिए एक उपासना का विशेष ढंग निर्धारित करते हैं। मेरे जीवन के धार्मिक विश्वासों के अतिरिक्त अन्य किसी भी पक्ष से आर्यसमाज का कोई भी सम्बन्ध नहीं है। मैं अध्यापिका हूँ किन्तु जीविकोपार्जन के अतिरिक्त अध्यापन कार्य का मेरे जीवन के अन्य पक्षों से कोई सम्बन्ध नहीं है। मैं बैडमिन्टन क्लब की सदस्या हूँ किन्तु शारीरिक खेल-कूद, विशेषतया बैडमिन्टन खेल के अतिरिक्त मेरे जीवन के अन्य पक्षों से इस क्लब का कोई सम्बन्ध नहीं है अर्थात् समितियों का सम्बन्ध जीवन के विभिन्न पक्षों से, उद्देश्यों और उनकी पूर्ति से होता है सम्पूर्ण जीवन से नहीं कि जिससे कि समुदाय का सम्बन्ध है। हमारी सम्पूर्ण श्रद्धा-भक्ति, समस्त शक्ति किसी भी समिति के लिए न्योछावर हो सकती है किन्तु हमारा उससे सम्बन्ध केवल मात्र उसी एक उद्देश्य को लेकर ही होता है जो कि जीवन का एक पक्ष है सम्पूर्ण नहीं, किन्तु जीवन के तो अनेकों पक्ष होते हैं अतः समुदाय में अनेकों समितियाँ होती हैं। और किसी भी समिति का उद्देश्य चाहे कितना भी अधिक महत्त्वपूर्ण क्यों न हो, होता एकांगी

ही है सर्वक्षीण नहीं। समितियाँ हमारे जीवन के बहुत से पक्षों को अपने में समेट लेती हैं फिर भी कुछ भाग तो ऐसा शेष रह ही जाता है जिसका कि सम्बन्ध केवलमात्र सामुदायिक व्यवस्था से हो होता है। वस्तुतः समुदाय में तो हम जन्म लेते हैं, पलते हैं, बड़े होते हैं। वह तो हमें प्राप्त होती है किन्तु समितियों का हम निर्माण करते हैं। कभी कभी ऐसा निर्माण हम पूर्वजों के अनुभवों पर करते हैं और कभी कभी अपनी नवीन आवश्यकताओं के अनुभवों के कारण। जो हो समुदाय के भीतर कुछ विशेष उद्देश्यों को लेकर जो संगठन किया जाता है उसे समिति कहा जा सकता है। मेक आइवर समिति का लक्षण इस प्रकार करते हैं कि यह वह संगठन है जो कि सोच-विचार कर किसी उद्देश्य की सामूहिक ढंग से पूर्ति करने के लिए बनाया गया हो और वह उद्देश्य इसके सदस्यों के लिए मान्य एवं स्वीकृत हो।

इस लक्षण के अन्तर्गत प्रायः वे सब ही समितियाँ आ जाती हैं जिन्हें हम धार्मिक मत, व्यवसायिक समूह, कला-संगीत परिषद् आदि आदि नामों से समझते हैं। गिन्सबर्ग के मतानुसार समिति मानवों के उस समूह को कहते हैं जहाँ कि उन मानवों ने एक साधारण सर्वव्यापी संगठन किया हो, और इस उद्देश्य से किया हो कि वह किसी ध्येय विशेष की प्राप्ति कर सकें। अतः समिति समुदाय का ही पाक्षिक रूप है। यह तो हम देख ही चुके हैं कि समुदाय मानव के सम्पूर्ण जीवन से संबंधित होता है जबकि समिति का सम्बन्ध किसी उद्देश्य विशेष से होता है यद्यपि वह उद्देश्य उस जाति के प्रायः सब ही मानवों से सम्बन्धित होता है फिर भी वह ही उस समुदाय के सब ही सदस्यों का एक मात्र लक्ष्य, उद्देश्य हो ऐसी बात नहीं होती है। यह आवश्यक नहीं है कि समिति विधान द्वारा स्वीकृत ही हो। यह भी आवश्यक नहीं है कि उसका लिखित विधान और लिखित नियमावली हो फिर भी उसके कुछ सर्वजन स्वीकृत नियमादि होते हैं, भले ही वे अलिखित ही हों किन्तु उनका प्रभाव तो होता ही है।

'परिवार' और 'राष्ट्र' के सम्बन्ध में तनिक भ्रम हो ही जाता है कि यह 'समुदाय' में सम्मिलित होने चाहिए अथवा समितियों में। इनका व्यापक प्रभाव इन्हें समुदाय की श्रेणी में रखने की ओर ही मत देता जान पड़ता है। वस्तुतः नवागन्तुकों, बालकों के लिए समुदाय की ही भाँति परिवार का प्रभाव और उसकी सत्ता सर्वोपरि होती है। बालक प्रायः अपने जीवन के सब ही अंगों एवं आवश्यकताओं के लिए परिवार पर ही आश्रित रहता है। पुरातन काल में तो बालकों के ही लिए नहीं वरन् वयस प्राप्त लोगों के लिए भी

अर्थात् सब ही व्यक्तियों के लिए परिवार की शृंखलाएँ पूर्णतया सशक्त थीं और उन्हें परिवार में ही रह कर जीवन की पूर्णता का आभास होता था। आधुनिक सभ्यता ने परिवार की सीमाओं और शक्तियों में न्यूनता अवश्य की है। अब वह समुदाय की भाँति केवल बालकों के लिए ही जीवन का सम्पूर्ण क्षेत्र बन पाता है। ज्यों ज्यों बालक वयस्क होता जाता है, ज्यों ज्यों उसके व्यक्तित्व का विकास होता जाता है, वह परिवार के अतिरिक्त समुदाय में अन्य आश्रय स्थल भी प्राप्त करता जाता है। अतः परिवार उसके जीवन के एक-आध ही क्षेत्र से सम्बन्धित रह जाता है अतः परिवार को समिति मान लेना ही अधिक नीति संगत जान पड़ता है।

राष्ट्र भी एक ऐसी ही समिति है जिसकी सत्ता उसे लगभग समुदाय की भाँति ही मानव-जीवन के सम्पूर्ण से सम्बन्धित मनवाने लगती है। वस्तुतः राष्ट्र भी मानव के केवल मात्र नागरिक जीवन अथवा राष्ट्रीय जीवन से ही सम्बन्धित होती है यद्यपि मानव के राष्ट्रीय जीवन का क्षेत्र और उसका प्रभाव अत्यधिक विस्तृत है। एक युग ऐसा भी था जब कि राष्ट्र भी मानव के सम्पूर्ण जीवन पर छा जाना चाहता था किन्तु आज तक परिस्थितियाँ परिवर्तित हो चुकी हैं। यद्यपि यह निर्विवाद सत्य है कि राष्ट्र ही एक मात्र ऐसी समिति है जिसे मानव की इच्छा अनिच्छा से कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखना पड़ता है। यद्यपि परिवार को भी स्वेच्छा से त्याग देना अथवा ग्रहण करना व्यक्ति के चुनाव पर, उसकी इच्छा-अनिच्छा पर आश्रित नहीं होता है किन्तु परिवार में दाम्पत्य जीवन के लिए तो ऐसी सुविधा है ही। इसके अतिरिक्त भी परिवार में रक्त-सम्बन्ध भले ही हो एकत्रित रहने का बन्धन उतना व्यापक नहीं है किन्तु मानव को राष्ट्र को तो मानना ही पड़ता है अतः राष्ट्र के अधिकार की सीमाएँ अन्य सब ही समितियों से अधिक व्यापक हैं। राष्ट्र को मानव के अन्य सब ही सम्बन्धों को किसी सीमा तक नियन्त्रित करने का भी अधिकार प्राप्त होता है। राष्ट्र व्यक्ति के व्यक्तिगत विकासादि के लिए भी उत्तरदायी होता है; संक्षेप में राष्ट्र मानव के सुखी जीवन के लिए उत्तरदायी होता है अतः उसके कर्त्तव्य की सीमाएँ सुविस्तृत होती हैं। उसके उद्देश्य व्यापक होते हैं किन्तु फिर भी वह मानव के पारिवारिक सम्बन्ध पर अधिक दूर तक अधिकार नहीं रख पाता है। नागरिक जीवन के अतिरिक्त भी मानव का व्यक्तिगत जीवन और तत्सम्बन्धी उद्देश्य होते हैं अतः यह कहना भूल होगी कि मानव-जीवन के सम्पूर्ण उद्देश्य केवल मात्र राष्ट्र में ही आ जाते हैं अतः अधिकाधिक राष्ट्र को एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण समिति ही माना

जा सकता है; एक ऐसी समिति माना जा सकता है जो कि सामुदायिक को चलाती है। किन्तु किसी भी अवस्था में राष्ट्र है समिति ही, समुदाय व्यवस्था नहीं क्योंकि वह जाति के अन्तर्गत ही मानव-जीवन के कुछ पक्षों को लेकर चलता है।

संस्थाएँ—समाज तो वह व्यवस्था है जिसके अनुसार मानव अन्तः सम्बन्ध चलते हैं। जाति वह समूह है जिसमें इस प्रकार की व्यवस्था मूर्त की जाती है, लागू होती है। समिति वह समूह है जो कि समुदाय के भीतर रहते हुए भी उद्देश्य विशेष की पूर्ति के लिए साधनस्वरूप होता है। किन्तु इतने से ही सम्पूर्ण कार्य सम्पन्न नहीं हो जाता है। समिति के कार्य को रूप (Form) देने के लिए संस्था की आवश्यकता होती है। प्रायः समिति और संस्था में वही सम्बन्ध है जो कि समाज और समुदाय में होता है। मेक आइवर के मतानुसार संस्थाएँ समाज में मानव-समूह के वह संगठित और व्यवस्थित रूप हैं जो कि सामाजिक मानवों के सम्बन्ध व्यक्त करते हैं।[९] भले ही वे किसी प्रकार से अमूर्त दिखाई देते हों किन्तु उनका फल, उनके प्रभाव मूर्त ही होते हैं। इस प्रकार की संस्थाओं की स्थापना समितियों द्वारा की जाती है और ये समितियाँ समुदाय का ही अंग होती हैं अतः समुदाय इन्हें स्वीकृत करता है ऐसी अवस्था में इन्हें प्रथाएँ (Customs) भी कहा जा सकता है।

प्रथाएँ—प्रथाएं वे चेतन कर्म होते हैं जिन्हें जाति की स्वीकृति से किया जाता है अथवा जो जाति में सर्वजन सम्मत होते हैं। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि प्रथाएँ किसी भी मानव-समूह अथवा समाज में जीवन यापन के वे ढंग होते हैं जिन्हें उस मानव-समूह अथवा समाज में मान्यता प्राप्त हो जाती है। अर्थात् वे ढंग केवल मात्र स्वीकृत ही नहीं होते हैं वरन् उन्हें मान्यता भी प्राप्त होती है। स्वीकृत (Accepted) के पीछे किसी आदेश की ध्वनि नहीं होती है, केवल मात्र जो कुछ किया जाये उसकी स्वीकृति ही होती है अर्थात् न करने पर कोई प्रश्न ही नहीं उठ सकता है किन्तु मान्यता प्राप्त (Sanctioned) के पीछे तनिक-सी 'करना ही चाहिए' की ध्वनि-सी रहती है। और न करने पर सम्भवतः उस समाज में उत्तर भी देना पड़ता है।

प्रथाएँ सम्भवतः कुछ कर्मों का प्रारम्भिक रूप होती हैं जो कि कुछ आगे चलकर संस्थाओं में परिवर्तित हो जाता है। संस्थाओं को जन स्वीकृति भी प्राप्त होती है और उनका बाह्य रूप सर्वजन सम्मति भी होता है। प्रथाएँ इतनी अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं होती हैं। प्रथा तो व्यवहार का

एक ढंग (Mode) होता है किन्तु संस्था उस व्यवहार की अनिवार्य शर्त-सी (Condition) होती है। प्रथाओं का अधिक सम्बन्ध हमारे व्यक्तिगत सम्बन्धों से होता है जब कि संस्था का अधिकतर सम्बन्ध समष्टि से होता है। प्राय: संस्था का विस्तार वर्तमान के अतिरिक्त अतीत और भविष्य तक भी होता है। अत: यदि किसी संगठित समूह की ओर संकेत करना हो तो उसे समिति कहा जा सकता है किन्तु यदि किसी कार्य के ढंग की ओर इंगित करना हो जो संस्था कहा जा सकता है। उदाहरणार्थ—परिवार एक समिति है इसके उद्देश्य की पूर्ति के लिए विवाह, उत्तराधिकार आदि संस्थाओं की स्थापना की गई है। इस समिति की आवश्यकता इसलिए पड़ी कि मानव में कुछ एक जन्मगत संस्कार है जैसे कि पिता या माता बनने की इच्छा आदि। उन्हें सन्तुष्ट करने के लिए परिवार की आवश्यकता है। इसी प्रकार शिक्षण, प्रशिक्षण आदि वे हित (Interests) हैं जिनकी पूर्ति के लिए विद्यालय की आवश्यकता है और विद्यालय के के इस हेतु को, उद्देश्य को पूरा करने के लिए अध्यापन, परीक्षा आदि संस्थाओं की आवश्यकता है।

समूह—हम समूह शब्द का प्रयोग करते रहे हैं। समूह केवल मात्र जाने अन-जाने व्यक्तियों का एक स्थान पर एकत्रित हो जाना मात्र ही नहीं है। विभिन्न उद्देश्य से विभिन्न व्यक्तियों का एक स्थान पर अचानक एकत्रित हो जाना केवल मात्र भीड़ (Crowd) ही कहला सकता है समूह (Group) नहीं। समूह मानवों का एकत्रित होना तो है किन्तु इस प्रकार एकत्रित होने में उनमें परस्पर किसी प्रकार के स्पष्ट सामाजिक सम्बन्धों का होना अत्यन्त आवश्यक है। जब तक कि उन सब ही एकत्रित व्यक्तियों में परस्पर किसी भी प्रकार का सामाजिक सम्बन्ध नहीं होगा वह झुंड भीड़ ही कहला सकेगा, समूह नहीं। समिति और समूह में यही अन्तर है कि समिति वह समूह है जिसे व्यक्त रूप से किसी विशेष हेतु को लेकर संगठित किया गया हो। सिनेमा भवन में अनेकानेक मानव एकत्रित होते हैं किन्तु उनको ठीक ठीक अर्थ में समूह नहीं कहा जा सकता है यद्यपि उन सबका ही उद्देश्य एक कथा विशेष की अभिव्यक्ति को रजतपट पर देखना है किन्तु उनके परस्पर सामाजिक सम्बन्ध प्राय: नहीं-से ही होते हैं। इसी प्रकार बाजार में यद्यपि अनेकानेक मानव होते हैं किन्तु उनके उद्देश्य में तो उतना भी सामञ्जस्य नहीं होता है जितना कि सिनेमा भवन में एकत्रित लोगों के उद्देश्य में होता है अत: यह केवल मात्र भीड़ ही कहलाई जा सकती है। किन्तु विद्यालय की किसी भी एक कक्षा में एकत्रित मानव एक

उद्देश्य-विशेष रखते हैं। ज्ञानार्जन उन सब का सामान्य उद्देश्य है और उसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे वहाँ संगठित हुए हैं अतः मानवों का उस प्रकार एकत्रित होना समूह है और उस समूह के विभिन्न संगठन कक्षा आदि कहे जा सकते हैं और विद्यालय को समिति कहा जाता है।

समाज सम्बन्धी अध्ययन करने के लिए इन सब शब्दों के अर्थ और प्रयोग समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि इन्हीं के आधार पर हमारा समाज सम्बन्धी अध्ययन चल सकेगा। इस प्रकार के शब्दों मे परम्परागत विश्वास भी अपना स्थान रखते हैं किन्तु उनकी चर्चा हम पहले ही कर चुके है।

एक ढंग (Mode) होता है किन्तु संस्था उस व्यवहार की अनिवार्य शर्त-सी (Condition) होती है। प्रथाओं का अधिक सम्बन्ध हमारे व्यक्तिगत सम्बन्धों से होता है जब कि संस्था का अधिकतर सम्बन्ध समष्टि से होता है। प्राय: संस्था का विस्तार वर्तमान के अतिरिक्त अतीत और भविष्य तक भी होता है। अत: यदि किसी संगठित समूह की ओर संकेत करना हो तो उसे समिति कहा जा सकता है किन्तु यदि किसी कार्य के ढंग की ओर इंगित करना हो जो संस्था कहा जा सकता है। उदाहरणार्थ—परिवार एक समिति है इसके उद्देश्य की पूर्ति के लिए विवाह, उत्तराधिकार आदि संस्थाओं की स्थापना की गई है। इस समिति की आवश्यकता इसलिए पड़ी कि मानव में कुछ एक जन्मगत संस्कार है जैसे कि पिता या माता बनने की इच्छा आदि। उन्हें सन्तुष्ट करने के लिए परिवार की आवश्यकता है। इसी प्रकार शिक्षण, प्रशिक्षण आदि वे हित (Interests) हैं जिनकी पूर्ति के लिए विद्यालय की आवश्यकता है और विद्यालय के के इस हेतु को, उद्देश्य को पूरा करने के लिए अध्यापन, परीक्षा आदि संस्थाओं की आवश्यकता है।

समूह—हम समूह शब्द का प्रयोग करते रहे हैं। समूह केवल मात्र जाने अन-जाने व्यक्तियों का एक स्थान पर एकत्रित हो जाना मात्र ही नहीं है। विभिन्न उद्देश्य से विभिन्न व्यक्तियों का एक स्थान पर अचानक एकत्रित हो जाना केवल मात्र भीड़ (Crowd) ही कहला सकता है समूह (Group) नहीं। समूह मानवों का एकत्रित होना तो है किन्तु इस प्रकार एकत्रित होने में उनमें परस्पर किसी प्रकार के स्पष्ट सामाजिक सम्बन्धों का होना अत्यन्त आवश्यक है। जब तक कि उन सब ही एकत्रित व्यक्तियों में परस्पर किसी भी प्रकार का सामाजिक सम्बन्ध नहीं होगा वह झुंड भीड़ ही कहला सकेगा, समूह नहीं। समिति और समूह में यही अन्तर है कि समिति वह समूह है जिसे व्यक्त रूप से किसी विशेष हेतु को लेकर संगठित किया गया हो। सिनेमा भवन में अनेकानेक मानव एकत्रित होते हैं किन्तु उनको ठीक ठीक अर्थ में समूह नहीं कहा जा सकता है यद्यपि उन सबका ही उद्देश्य एक कथा विशेष की अभिव्यक्ति को रजतपट पर देखना है किन्तु उनके परस्पर सामाजिक सम्बन्ध प्राय: नहीं-से ही होते हैं। इसी प्रकार बाजार में यद्यपि अनेकानेक मानव होते हैं किन्तु उनके उद्देश्य में तो उतना भी सामञ्जस्य नहीं होता है जितना कि सिनेमा भवन में एकत्रित लोगों के उद्देश्य में होता है अत: यह केवल मात्र भीड़ ही कहलाई जा सकती है। किन्तु विद्यालय की किसी भी एक कक्षा में एकत्रित मानव एक

उद्देश्य-विशेष रखते हैं। ज्ञानार्जन उन सब का सामान्य उद्देश्य है और उसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे वहाँ संगठित हुए हैं अतः मानवों का उस प्रकार एकत्रित होना समूह है और उस समूह के विभिन्न संगठन कक्षा आदि कहे जा सकते हैं और विद्यालय को समिति कहा जाता है।

समाज सम्बन्धी अध्ययन करने के लिए इन सब शब्दों के अर्थ और प्रयोग समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि इन्हीं के आधार पर हमारा समाज सम्बन्धी अध्ययन चल सकेगा। इस प्रकार के शब्दों में परम्परागत विश्वास भी अपना स्थान रखते हैं किन्तु उनकी चर्चा हम पहले ही कर चुके है।

अध्याय १

समाज-शास्त्र का विषय क्षेत्र

उसकी कठिनाइयाँ—यह तो हम देख ही चुके हैं कि समाज-शास्त्र अपेक्षाकृत एक नवीन शास्त्र है। लगभग गत सौ वर्षों का काल ही इसका अधिकाधिक जन्मकाल माना जा सकता है। हमने यह भी देखा कि मानव की दुश्चिन्ता, दुर्दशा और हाहाकार के बीच इस शास्त्र का जन्म हुआ और यह भी स्पष्ट ही है कि यह अपने कुछ उद्देश्य रखता है। इन उद्देश्यों की पूर्ति कर पाना ही इस शास्त्र का उद्देश्य है और वह तब ही तो सफल हो सकेगा जब कि सर्वप्रथम उस विस्तार क्षेत्र को ठीक ठीक समझ लिया जाये जिसे लेकर उस उद्देश्य की पूर्ति की जा सकती है। अतः समाज-शास्त्र के विषय क्षेत्र को स्पष्ट कर लेना किसी भी समाज-शास्त्र के विद्यार्थी का सर्वप्रथम कर्तव्य है।

एक बात और भी है। समाज-शास्त्र एक सामाजिक ज्ञान, विज्ञान अथवा शास्त्र है। इसका स्पष्ट ही समाज से सम्बन्ध है और समाज प्रकृति की अपेक्षा कहीं अधिक प्रगतिशील है। उसके नियमों में भी प्रकृति के नियमों की अपेक्षा कहीं अधिक परिवर्तनशीलता है। प्रकृति के नियम सदा सर्वदा एक से ही रहते हैं। किन्तु समाज के नियमों में न केवल देश कालादि के प्रभाव स्वरूप परिवर्तन होते हैं वरन् एक ही देश में, लगभग एक ही काल में भी परिवर्तन होना सम्भव हो जाता है। मानव का शारीरिक धर्म, रसायनशास्त्र के साधारण नियम, भौतिक विज्ञान के मूलतः सिद्धान्त जैसे एक सौ वर्ष पूर्व थे ठीक वैसे ही आज भी हैं यह दूसरी बात है कि उस समय मानव उनके रहस्य समझ नहीं पाया था और आज समझता है किन्तु किसी भी समाज के नियम इन नियमों की अपेक्षा कहीं अधिक परिवर्तनशील है यद्यपि उनका आधार भी, हो सकता है कि उनकी अपेक्षा कम परिवर्तनशील हो। फिर भी इतना तो निर्विवाद सत्य है कि भौतिक, प्राकृतिक विज्ञानों की अपेक्षा समाज-शास्त्र अधिक प्रगतिशील है अतः विकास

के पथ के पथिक प्रगतिशील (Growing) शास्त्र के विषय क्षेत्र को सीमित तो क्या व्याख्या का विषय बना देना भी कठिन-सा हो जाता है। तिस पर यह एक समाज से सम्बन्धित विज्ञान है और समाज मानव जीवन का प्रधान क्षेत्र है अतः उससे सम्बन्धित शास्त्र का क्षेत्र तो सम्पूर्ण मानव जीवन ही होगा उसकी व्याख्या करना, उसका क्षेत्र, उसकी सीमाएँ निर्धारित करना कितना कठिन है यह सहज ही समझा जा सकता है। और यही कारण है कि समाज-शास्त्र के विषय क्षेत्र को लेकर ही समाजशास्त्रियों के दो दल हो गये हैं। यद्यपि गम्भीरतापूर्वक देखा जाय तो उन दोनों ही दलों के विचारकों की विचार-धाराएँ वस्तुतः एक दूसरे से अधिक भिन्न नहीं हैं। किन्तु उन विचार धाराओं का अध्ययन करते समय भी हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि मानव जीवन से सम्बन्धित होने के नाते समाज-शास्त्र का विषय क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत एवं उदार होना ही चाहिए क्योंकि मानव जीवन ही तो वस्तुतः हमारे लिए वह 'सम्पूर्ण' है जिसे हम अध्ययन का केन्द्र बिन्दु मानते हैं और सम्पूर्ण होने के नाते इसका विस्तार असीम होना स्वाभाविक ही है। हमें यह भी स्मरण रखना होगा कि प्रगतिशील ज्ञान होने के कारण समाज शास्त्र का क्षेत्र अभी तक पूर्णतया स्पष्ट, परिभाषित एवं सीमाबद्ध नहीं हो पाया है ऐसी अवस्था में उसकी चर्चा एवं अध्ययन करते हुए कुछ अधिक विस्तृत एवं उदार हो जाना समाज-शास्त्रियों के लिए सर्वथा स्वाभाविक ही है।

१८३९ ईसवी में अगस्त कास्त ने समाज-शास्त्र की एक नवीन विज्ञान के रूप में नींव रखी। इसका यह अर्थ नहीं है कि उन्होंने समाज-शास्त्र को जन्म दिया वरन् उन्होंने तो केवल एक दिशा का निर्देश किया। जो हो, उस समय से समाज-शास्त्र के सम्बन्ध में यह धारणा पाई जाने लगी कि यह "सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन" है। सामाजिक सम्बन्धों (Social relations) की बात करते ही हमें उन सब मानवीय अन्तःक्रियाओं का ध्यान आ जाता है जो कि मानव जीवन के साथ गुथी हुई हैं और जो विभिन्न व्यवस्थाओं के रूप में मानव जीवन को गति देती हैं। हमें उन तत्वों का भी ध्यान आ जाता है जो कि इन अन्तः क्रियाओं को और तज्जन्य सम्बन्धों को निर्मित करने में सहायक होते हैं तथा परिवर्तित भी करते रहते हैं। यह तो प्रायः सब ही समाजशास्त्री किसी न किसी रूप में मानने लगे हैं कि इन्हीं अन्तःसम्बन्धों एवं अन्तःक्रियाओं का अध्ययन समाजशास्त्र है। किन्तु ये अन्तःसम्बन्ध एवं अन्तःक्रियाएँ भी तो सर्वथा सरल, सीधी और थोड़ी-सी ही नहीं हैं। अतः यह भी तो प्रश्न उठता है कि इन विभिन्न व्यवस्थाओं

में गुथी हुई, अनेकानेक उलझी पुलझी अन्तःक्रियाओं और अन्तः-सम्बन्धों का अध्ययन किस प्रकार किया जाय। ज्ञान, विज्ञान एवं शास्त्रीय ढंग से अध्ययन करने के लिए तो यह आवश्यक है कि यह निर्णय कर लिया जाय कि इनका अध्ययन क्षेत्र क्या होगा और अध्ययन किस ढंग से किया जायगा। सर्वप्रथम हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि समाज शास्त्र का अध्ययन क्षेत्र क्या है।

दृष्टिकोण—यह तो हमने मान ही लिया है कि समाज-शास्त्र उस अध्ययन को कहते हैं जिसका कि सम्बन्ध मानव के अन्तःसम्बन्धों से हो। हम जो कुछ करते, देखते एवं जानते हैं उन सब ही का तो सम्बन्ध हमारे जीवन से होता है और जीवन उन सब ही सम्बन्धों को लेकर बनता है जो एक मानव के दूसरे मानव से होते हैं। अब प्रश्न यह है कि इन सम्बन्धों का अध्ययन किस दृष्टिकोण से किया जाए। मानव और उसके अन्तः-सम्बन्धों का अध्ययन हम इस दृष्टि से ही तो करते हैं कि मानव एक सामाजिक प्राणी है। जहाँ एक ओर समाज और मानव हमारे अध्ययन का विषय है वहीं दूसरी ओर मानव और मानव में परस्पर होनेवाले सम्बन्ध हमारे अध्ययन क्षेत्र में ही आते हैं। इन्हीं का समाज-शास्त्र में अध्ययन किया जाता है। कुछ एक विद्वानों का तो यह विचार है कि इन सब सम्बन्धों को लिए दिए समाज का सम्पूर्ण रूप से अध्ययन करना समाज-शास्त्र का विषय क्षेत्र होना चाहिए। किन्तु यह तो तब ही सम्भव हो सकता है जब कि समाज-शास्त्र का विषय अन्य सामाजिक विज्ञानों आदि से सर्वथा पृथक् करके देखा जाय और ऐसा करने का तो यह अर्थ होगा कि मानव सम्बन्धों के कुछ एक पक्ष ले लिये जायँ और उन्हीं के आधार पर समाज का विशेष रूप से अध्ययन किया जाय। इस दृष्टिकोण को विशेषात्मक कहा जा सकता है। अन्य कुछ एक समाज-शास्त्रियों का विश्वास है कि किसी भी ढंग के अध्ययन के लिए समाज-शास्त्र का विषय क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत है अतः विशेषाध्ययन के लिए समाज सम्बन्धी विषयों का पृथक् पृथक् क्षेत्र होना चाहिए और अपने अपने क्षेत्र में मानव के सामाजिक जीवन के प्रत्येक पक्ष का विशेषाध्ययन होना चाहिए। किन्तु इन सब के अतिरिक्त अर्थात् विभिन्न विज्ञानों के अन्तर्गत विशेषाध्ययन होने के अतिरिक्त भी एक ऐसे विज्ञान की आवश्यकता रह जाती है जो कि इन सब विभिन्न सामाजिक विज्ञानों के निष्कर्षों का समन्वय कर सके, साधारण ढंग से जीवन के सामाजिक पहलुओं का अध्ययन कर सके और अन्य उन पक्षों को अध्ययन का विषय बना सके जिन्हें कि प्रायः विशेष विज्ञान छोड़ दिया करते हैं।

अर्थात् समाज के विभिन्न पक्षों का नहीं वरन् सम्पूर्ण समाज का उसके विस्तार को विशेषाध्ययनों के लिए छोड़कर साधारण रूप से अध्ययन करे। सब ही विभिन्न पक्षों का विशेषाध्ययन जितना महत्त्वपूर्ण है उन सब पक्षों के अध्ययन के फलस्वरूप जिन निष्कर्षों तक पहुँचते हैं उनका समन्वयात्मक अध्ययन भी तो उतना ही आवश्यक है।

विशेषात्मक दृष्टिकोण—हमने अभी यह देखा ही था कि कुछ एक समाजशास्त्रियों के विचारानुसार समाज-शास्त्र समाज से सम्बन्धित एक विशेषाध्ययन है। इसका विषय क्षेत्र निश्चित और स्पष्ट है तथा अपने क्षेत्र में यह एक ढंग से विशेषाध्ययन है। साइमल इस प्रकार की विचार-धारा के प्रबल समर्थक हैं। उनकी विचारधारा का आधार यह है कि सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूप, उनके विषय और विषय-वस्तु में भेद किया जाना चाहिए। यद्यपि इन सम्बन्धों के कुछ अंश अपने कुछ एक स्वरूपों में अन्य विज्ञानों में भी अध्ययन का विषय होते हैं किन्तु उनके उस प्रकार के अध्ययन से भिन्न अध्ययन भी किया जा सकता है। प्रतियोगिता, श्रेणीबद्ध संगठन, श्रमविभाजन आदि सामाजिक जीवन के कुछ एक स्वरूप हैं किन्तु इनका अध्ययन विशेष विज्ञानों में भी किया जाता है जैसे जीवन में 'प्रतियोगिता का स्थान' अर्थशास्त्र का भी विषय है अतः समाज-शास्त्र का कार्य है कि वह इस प्रकार के सम्बन्धों को अन्य भूमिकाओं से उन विषयों से जिनमें वे विकसित होते हैं, पृथक् करके उनके अमूर्त रूप में अध्ययन का विषय बनाये। अतः अर्थशास्त्र, राजनीति, मानव-शास्त्र, विधान-शास्त्र, तुलनात्मक धार्मिक विश्वास आदि अन्य सामाजिक विज्ञान एवं शास्त्र तो रहेंगे ही, वे उन्हीं विषयों का अध्ययन भी करेंगे जिनका कि अध्ययन समाज-शास्त्र भी करता है किन्तु दोनों का दृष्टिकोण भिन्न होगा। अन्य विज्ञान एवं शास्त्र सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन उनके विषय एवं पृष्ठ भूमिकाओं के साथ करेंगे। सम्भवतः उनका उतना अधिक ध्यान उन सम्बन्धों की ओर नहीं होगा जितना कि उनके विषय, पृष्ठ भूमि एवं उन प्रभावों की ओर होगा जो कि उनके मुख्य विषय पर पड़ते हैं। उदाहरणार्थ, प्रतियोगिता का मानव जीवन में एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह एक सामाजिक सम्बन्ध है। इसका अध्ययन अर्थशास्त्र में भी किया जाता है किन्तु वहाँ इसका अध्ययन मानव जीवन में वैभव के उत्पादन एवं बँटवारे की दृष्टि से ही किया जायेगा। अर्थशास्त्र प्रतियोगिता का अध्ययन केवल मात्र सामाजिक सम्बन्ध होने के ही नाते नहीं करेगा वरन् करेगा अर्थशास्त्र में आर्थिक दृष्टि से उसका स्थान होने के नाते। किन्तु समाज-शास्त्र 'प्रतियोगिता' को केवल मात्र

सामाजिक सम्बन्ध होने के नाते ही अध्ययन का विषय बनायेगा। अत: दोनों का दृष्टिकोण भिन्न होगा। इसी प्रकार 'आज्ञा-पालन' का स्थान यद्यपि सामाजिक सम्बन्धों में है और राज-शास्त्र तथा समाज-शास्त्र दोनों ही उसका अध्ययन करेंगे किन्तु राजशास्त्र करेगा उसे सत्ता, अधिकार आदि के वातावरण में रखकर अर्थात् राजनीतिक दृष्टि से किन्तु समाज-शास्त्र उसका अध्ययन करेगा केवल मात्र सामाजिक सम्बन्ध होने के ही नाते। अत: समाज-शास्त्र सब ही सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन करेगा और वह भी केवल मात्र सामाजिक दृष्टिकोण से, उनके सामाजिक सम्बन्ध होने के दृष्टिकोण से।

वीर कान्दत् महोदय भी इस दल के विचारक हैं। उनके मतानुसार समाजशास्त्र एक ऐसा विशिष्ट ज्ञान, विज्ञान अथवा शास्त्र है जिसका सम्बन्ध मानव के उन मनोवैज्ञानिक अन्तिम स्वरूपों से है जो कि मानवों में परस्पर सम्बन्ध स्थापित कराते हैं।

समाज-शास्त्र का कार्य किसी समाज विशेष का अध्ययन करना नहीं हो सकता है वरन् उसका ध्येय तो अन्त: पर्यवेक्षित विश्लेषण द्वारा सामाजिक सम्बन्धों की मूलभूत श्रेणियों का अध्ययन करना है। इस प्रकार की मूलभूत श्रेणियों में सम्मान, लज्जा, प्रेम, घृणा, समर्पण, अन्य व्यक्तियों द्वारा स्वीकृति पाने की आवश्यकता, वे आवश्यक सूत्र जिनके द्वारा व्यक्ति वर्ग अथवा समूह के साथ सम्बन्धित रहते हैं, आदि को रखा जा सकता है। ये वे मूलभूत श्रेणियाँ है जिनमें प्राय: सब ही मानवीय सम्बन्धों को किसी न किसी रूप में सम्बन्धित किया जाता है। वस्तुत: समाजशास्त्री का कार्य इतिहास-कार की मान्य विषय वस्तु, घटना क्रम एवं विकासादि का वर्णन करना नहीं होना चाहिए, वरन् उसे तो उन सब के भीतर निहित सामाजिक सम्बन्धों और उन आधारभूत शक्तियों के विषय में खोज करना चाहिए अत: समाज-शास्त्र का क्षेत्र तो सामाजिक सम्बन्धों का मूलभूत आधार होना चाहिए।

समन्वयात्मक दृष्टिकोण—जान० ए० लुगडवर्ग समाज-शास्त्र के विषय क्षेत्र की चर्चा करते हुए पीत्रिम सोरोकिन द्वारा तैयार किए हुए उस चित्र की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं तथा उससे अपनी सहमति प्रकट करते हैं जिसमें कि उन्होंने समाज-शास्त्र का अन्य सामाजिक शास्त्रों के साथ सम्बन्ध स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। उनके विचारानुसार विश्व सम्बन्धी अथवा भौगोलिक तथा प्राणि शास्त्र एवं वनस्पति शास्त्र के अतिरिक्त समाज सम्बन्धी विषय-क्षेत्र भी होता है और सामाजिक विषय में भी दो क्षेत्र बन जाते हैं। एक क्षेत्र के अन्तर्गत तो आचार-शास्त्र, न्याय-शास्त्र, राजनीति, अर्थशास्त्र आदि सामाजिक विज्ञान अथवा शास्त्र आते हैं किन्तु

इनके अतिरिक्त भी कुछ सामाजिक विषय, तत्वादिक रह जाते है और वही व्यापक समाज-शास्त्र का विषय क्षेत्र बनाते हैं। अत: समाज-शास्त्र सब ही समाज सम्बन्धी तथ्यों को लेकर नहीं चलता है वरन् वह समाज के विशेष क्षेत्रों और तत्सम्बन्धी अध्ययन को विशेष सामाजिक विज्ञानों के लिए छोड़ कर अपने लिए सामाजिक विषय के केवल उन्हीं अंशों तथा सम्बन्धों को रखता है जो कि काल अथवा स्थान में अथवा दोनों में बार बार दोहराए जाते हैं और ऐसा होने के फलस्वरूप एक विशेष प्रकार की स्थिरता एवं व्यापकता का प्रदर्शन करते हैं। इतिहास अथवा अन्य इसी प्रकार के शास्त्रों की भाँति समाज-शास्त्र किसी व्यक्ति विशेष अथवा संस्था विशेष अथवा अवस्था विशेष का चित्रण नहीं करता है वरन यह शास्त्र एक अमूर्त विधि-व्यवस्था, अमूर्त सिद्धान्त देता है जिसके आधार पर दो अथवा अधिक प्रकार के सामाजिक परिवर्तन शीलताओं के बीच स्थापित सम्बन्धों की व्याख्या की जा सकती है अथवा वह साँचा (Type) देता है जिसमें किसी भी एक प्रकार के दोहराए जानेवाले सामाजिक विषयों को रखा जा सकता है। वस्तुत: अमूर्त सिद्धान्त आदि देना ही समाज-शास्त्र और अन्य ऐतिहासिक ढंग पर कार्य करनेवाले शास्त्रों में मुख्य भेद है। अत: यह स्पष्ट ही हो जाता है कि ऐसी अवस्था में समाज-शास्त्र केवल उन्हीं तथ्यों एवं सम्बन्धों को लेकर चलता है जो कि सब ही सामाजिक विषयों में पाये जाते हों। इसका तो यह अर्थ हुआ कि उन तथ्यों का जहाँ कहीं भी सामाजिक सम्बन्ध हो, पाया जाना अथवा दोहराया जाना सम्भव होना चाहिए। किन्तु ऐसी बात अन्य सामाजिक विज्ञानों एवं शास्त्रों के सम्बन्ध में लागू नहीं होती है। विशेष सामाजिक विज्ञान यद्यपि अपने क्षेत्र विशेष में ही अध्ययन करते हैं किन्तु फिर भी उनके क्षेत्र विशेष और अन्य वैसे ही सामाजिक विज्ञानों के विशेष क्षेत्र में कुछ न कुछ ऐसी समानता होती है जो कि सामाजिक है और जो किसी भी समय किसी भी सामाजिक-शास्त्र के विषय क्षेत्र में दोहराई जा सकती है। अत: सामाजिक-शास्त्रों में विशेषताओं के अतिरिक्त जो सामान्य व्यापक विषय क्षेत्र रह जाता है वही समाज-शास्त्र का विषय क्षेत्र है। इन्हीं व्यापक सामाजिक तथ्यों एवं सम्बन्धों को पृथक् करना, उनका वर्णन करना, उनका वर्गीकरण करना, उनका विश्लेषण करना और इस प्रकार उनका अध्ययन करना समाज-शास्त्र का कार्य है। यही विचारधारा सोरोकिन की है और इसी से लुण्डबर्ग सहमत हैं। अत: इनके विचारानुसार सब ही सामाजिक परिस्थितियों से सम्बन्धित तथा उन सब ही में व्यापक मानव अन्त:सम्बन्ध समाज-शास्त्र का अध्ययन विषय होते हैं। और

सम्भवत: यह माननीय अन्त:सम्बन्ध और अन्त:व्यवहार ही सब प्रकार की सामाजिक परिस्थितियों में व्याप्त रहते हैं। अत: इन्हीं के सम्बन्ध में खोज करना, सर्वाङ्गीण अध्ययन करना, समाज-शास्त्र का विषय क्षेत्र है। इसे अन्य विशेष सामाजिक-शास्त्रों के विषय क्षेत्रों से एकाकार करके देखना बड़ी भारी भूल होगी। इस दृष्टिकोण को समन्वयात्मक कहा जा सकता है अथवा नहीं यह विषय विवादास्पद हो सकता है किन्तु इतना तो निर्विवाद सत्य है कि इस दृष्टिकोण के समर्थक यह विश्वास करते हैं कि यद्यपि अन्य सामाजिक विज्ञानों की विशेष सामाजिक पक्षों के अध्ययन के लिए आवश्यकता है किन्तु उतने से ही मानव की समस्त सामाजिक अध्ययन सम्बन्धी आवश्यकता की पूर्ति नहीं हो जाती है अत: उनके अतिरिक्त भी समाज-शास्त्र अथवा एक ऐसे व्यापक समाज सम्बन्धी शास्त्र की आवश्यकता है जो कि उन सब के भीतर निहित व्यापक सामाजिक तथ्यों एवं सम्बन्धों का अध्ययन करे।

मानव समाजों का अध्ययन—वस्तुत: समाज-शास्त्र के अध्ययन का विषय है मानव का सामाजिक जीवन और मानव के सामाजिक जीवन का आरम्भ वहाँ से होता है जहाँ से वह अपने आपको किसी एक व्यवस्था का भाग समझने लगता है। नन्हा बालक तो स्वयं अपनी माँगों का ही ज्ञान रखता है और उनकी पूर्ति न होने पर विरोध करता है किन्तु ज्यों ही वह यह अनुभव करना आरम्भ करता है कि माता अथवा अन्य व्यक्ति उसके व्यवहारों पर ध्यान देते हैं, उनका मूल्य लगाते हैं, उसका सामाजिक जीवन आरम्भ हो जाता है क्योंकि यहीं से वह सम्भवत: यह अनुभव करना आरम्भ करता है कि वह परिवार का एक अंश है, भाग है। इसी प्रकार अन्य समूह भी धीरे धीरे उसे अपने ही लगने लगते हैं और वह अन्य सदस्यों के साथ अपने आपको भी उस समूह का, सामाजिक व्यवस्था का सदस्य, अंश समझने लगता है। सम्भवत: यह 'सह-सदस्यता' (Co-membership) का भाव एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सामाजिक सम्बन्ध है। सह-सदस्यता का आधार है व्यक्तियों का एक दूसरे के अन्तर को समझ पाना तता अन्योन्याश्रित होना (Sociality by interpenetration and Sociality by inter dependence) वस्तुत: सामाजिक जीवन का आधार मानव का मानव को, उसके हृदय को, भावों को समझ पाना और उससे किसी प्रकार के सम्बन्ध रखने की आवश्यकता होना ही है। दूसरों के भीत्तर देख पाने की शक्ति रहित किसी भी प्रकार का सामाजिक सम्बन्ध कैसे हो सकता है। इन्हीं के आधार पर समूह बनते हैं। ये समूह एक तो उन व्यक्तियों को

लेकर बनते हैं जो कि एक दूसरे के साथ किसी प्रकार विशेषकर स्पष्ट सामाजिक सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं और दूसरे उन व्यक्तियों से भी बनते हैं जो कि सदस्यता का अनुभव करते हैं। सम्भवतः समूह का विचार सम्भव भी इसीलिए हो पाता है कि यह विचार समूह के प्रत्येक सदस्य के मन में रहता है। यदि सदस्यों के मन में समूह की भावना न हो, यदि वह अपने आपको समूह का सदस्य न समझ सकें तो समूह स्थापित होना ही कठिन हो जाये। वस्तुतः समूह की स्थिरता उसके विभिन्न सदस्यों पर ही तो आश्रित रहती है। सम्भवतः समूह का अर्थ आज दिन के अर्थ से कुछ भिन्न हो जाता यदि सब ही मानव किसी भी एक ही समूह के सदस्य होते। हम विभिन्न 'समूहों' की चर्चा इसीलिए तो कर पाते हैं कि उनके सदस्यों तथा अन्य व्यक्तियों के बीच भेद रहता ही है और यह भेद ही तो उस समूह के अस्तित्व का कारण है। किसी भी एक समूह के सब ही सदस्यों के बीच एकता और अन्य सब ही व्यक्तियों से उनकी भिन्नता उस समूह को समूह बनाती है। कोई भी जाति, ग्राम, परिषद, सभा आदि इसी प्रकार के समूहों के उदाहरण हैं। किन्तु इतना ही जान लेने से तो 'मानव समूह' अथवा 'मानव समाज' का अर्थ स्पष्ट नहीं हो सकता है। अतः इनका कुछ अधिक दूर तक विश्लेषण करना आवश्यक जान पड़ता है किन्तु इतना तो कहा ही जा सकता है कि किसी भी मानव समूह का अध्ययन करते समय हमें उसकी एकता, पूर्णता, अपेक्षाकृत सामीप्य और अन्य समूहों से भिन्नता दिखाई देती है। समूह के भीतर ही उसके सदस्यों में कुछ न कुछ ऐसे तथ्य भी दिखाई देते हैं जो उनकी एकता को प्रकट करते हैं, उन्हें यह अनुभव कराते हैं कि वे सब किसी न किसी ढंग से सहकर्मी हैं, किसी न किसी प्रकार से सहयोगी हैं। उनमें एकत्व स्थापित है ही। इस प्रकार की एकता के अतिरिक्त किसी भी एक समूह में अपने उद्देश्यों आदि को लेकर एक प्रकार की पूर्णता दिखाई पड़ती है। वह समूह अपने आप में ही एक 'सम्पूर्ण' होता है तथा किसी अन्य समूह का भाग अंश अथवा अंग नहीं होता है। और ऐसी अवस्था में यह स्वाभाविक ही है कि उस समूह के सदस्य अन्य समूहों के सदस्यों की अपेक्षा अपने ही समूह के सदस्यों के साथ अपेक्षाकृत अधिक सामीप्य का अनुभव करें। और इन सब को देखते हुए यह सरलता से कहा जा सकता है कि ऐसी अवस्था में वह समूह अन्य समूहों से भिन्न तो दिखाई देगा ही। अतः यह भिन्नता भी उसकी विशेषता ही होगी। इन समूहों का अथवा कुछ अधिक उदार शब्दों में इन समूहों को लिए दिये मानव समाजों

का अध्ययन करना ही समाज-शास्त्र का उद्देश्य, लक्ष्य होना चाहिए यह भी एक विचारधारा है। किन्तु इन समाजों के अध्ययन करने का अर्थ भी तो उन सामाजिक सम्बन्धों का ही अध्ययन करना होगा जिनके आधार पर यह स्थापित हुए हैं। इसके अतिरिक्त समूहों अथवा समाजों की परिभाषा करना एक अत्यधिक कठिन कार्य है। यहाँ तक कि जो कुछ बातें हमने समूहों के सम्बन्ध में कही हैं यह आवश्यक नहीं है कि सब ही समूहों में वह ठीक ठीक लागू हों ही। फिर भी कुछ एक विद्वानों का मत है कि विभिन्न प्रकार के समाजों का अध्ययन करना समाज-शास्त्र का लक्ष्य होना चाहिए। विभिन्न प्रकार के समाजों का वर्गीकरण तथा उसके आधार खोजना भी समाज-शास्त्र का ही कार्य होना चाहिए।

मानव-समाज का अध्ययन—अब प्रश्न यह होता है कि प्रत्येक समूह जिसे कि हम समाज भी कह सकते हैं अन्य ऐसे ही समूहों अथवा समाजों से क्या सर्वथा भिन्न है? क्या प्रत्येक समूह को समाज कहना उचित है? क्या इसी आधार पर हम यह मान सकते हैं कि विभिन्न समाजों का अध्ययन करना समाज-शास्त्र का कार्य होना चाहिए। वस्तुतः यह तथ्य ही विवादास्पद है कि प्रत्येक समूह अन्य समूहों से सर्वथा भिन्न है। यदि ऐसा होता तो प्रायः एक समूह के व्यक्तियों के लिए दूसरे समूह के व्यक्तियों को, उनकी समस्याओं को समझना ही असम्भव हो जाता किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। हम एक समूह में होते हुए भी दूसरे समूहों की बात समझ तो जाते ही हैं अतः ऐसा जान पड़ता है कि मानव कुछ उतना अधिक विभिन्न समूहों में बँटा हुआ नहीं है। मानव-समाज वस्तुतः गम्भीरतापूर्वक देखने पर एक ही जान पड़ता है। अतः कुछ समाज-शास्त्रियों का विश्वास है कि समाज-शास्त्र का ध्येय मानव-समाज का ही अध्ययन होना चाहिए, मानव-समाजों का नहीं जैसा कि कुछ एक अन्य विचारक मानते हैं। इसका यह अर्थ हुआ कि समाज शास्त्र व्यापक दृष्टिकोण से मानव-समाज का अध्ययन करता है। किन्तु मानव-समाज को व्यापक एवं उदार दृष्टिकोण से देखने पर भी हमें उसके कई रूप दिखाई देते हैं। वेस्टर मार्क ने मानव-विवाह सम्बन्धी खोजें कीं, दुर्खेम ने मानव द्वारा की जानेवाली आत्महत्याओं से सम्बन्धित कारण की खोजें कीं, वेबर ने मानव के धार्मिक विश्वासों और उसके आर्थिक विकास में परस्पर सम्बन्ध खोजने का प्रयत्न किया। टोयनवी ने विश्वव्यापी मानव सभ्यता के विकास और पतन के सिद्धान्तों की खोज करने का प्रयत्न किया। प्रायः इन सब ही खोजों ने उन विश्वव्यापी सिद्धान्तों की ओर हमारा

ध्यान आकर्षित करने का प्रयत्न किया जो प्रायः सब ही मानव-समूहों में पाये जाते हैं और लागू होते हैं। साधारणतया इन्हीं तथ्यों को लेकर हम 'मानव-समाज' की चर्चा करते हैं। इस दृष्टि से हॉब हाउस का प्रयत्न अत्यन्त प्रशंसनीय है। उन्होंने संस्थाओं का तुलनात्मक अध्ययन करके 'मानव-मनस के विकास' तथा 'मानवत्व' की ओर ध्यान दिलाने का प्रयत्न किया है। उनके विचारानुसार समाज-शास्त्र बहुत से सामाजिक अध्ययनों का समन्वय है किन्तु समाज-शास्त्री को विशेषज्ञ की भाँति सामाजिक क्षेत्रों के विशेष भागों, अंशों का अध्ययन करना चाहिए और तत्पश्चात् सामाजिक अन्तःसम्बन्धों को दृष्टि में रखते हुए मुख्य विषयों को लेकर समन्वयात्मक अध्ययन करना चाहिए अर्थात् मानव के अन्तःसम्बन्धों के स्थायी आधार, सामाजिक विकास की साधारण अवस्थाओं, स्थिरता एवं परिवर्तन के साधारण कारणों आदि का अध्ययन करना चाहिए। मानव-समाज और मानव-समाजों में तानिक-सा अर्थ-भेद है। मानव-समाजों से हम उन विशेष मानव-समूहों की ओर संकेत करते हैं जो कि मानव की विशेष रूप से संगठित एकतापूर्ण और सम्भवतः अन्य समूहों से भिन्नता लिये हुए समाजें होती हैं। इस प्रकार की समाजों का सम्बन्ध देशों से अथवा भौगोलिक सीमाओं से भी हो सकता है। इस दृष्टिकोण से देखने पर विश्व भर के मानव केवल आकृति और मनःस्थिति से ही एक प्रकार के होंगे अन्य सब ही प्रकार से देखने पर भिन्न भिन्न ही दिखाई देंगे। 'मानव-समाज' से हम मानव-स्वभाव के उन तत्त्वों की ओर संकेत करते हैं जो कि प्रायः सब ही समाजों में किसी न किसी सीमा तक एक से ही पाये जाते हैं।

इतना तो हम देख ही चुके हैं कि समाज-शास्त्री समाज-शास्त्र के विषय क्षेत्र के विस्तार के सम्बन्ध में दो प्रकार के विचार रखते हैं। कुछ विचारक तो विभिन्न समाजों का विस्तृत एवं विशेष रूप से अध्ययन करना आवश्यक समझते हैं अन्य विचारक यह आवश्यक समझते हैं कि उन तत्त्वों का अध्ययन किया जाय जो कि मानव मात्र से सम्बन्धित होते हैं और जिन्हें हम मानव-विकास की तह में पा सकते हैं। पहले दल के विचारकों का विश्वास है कि किसी भी तथ्य को उसकी पृष्ठ भूमिका से पृथक् करके अध्ययन का विषय बनाना उचित नहीं है। इसी कारण वह आधुनिक तत्त्वों को पुरातन पृष्ठ भूमिकाओं में लागू करने के विरुद्ध ही मत देते हैं।

वस्तुतः दोनों ही दृष्टिकोण यदि अपने में पूर्ण समझे जायें तो एक बड़ी भारी भूल हो जायेगी। और विचारपूर्वक देखने पर विशेषात्मक और समन्वयात्मक दृष्टिकोणों में कुछ ऐसा भारी मौलिक

भेद भी नहीं दिखाई देता है। यदि सामाजिक सम्बन्धों को उनकी पृष्ठ भूमिकाओं से पृथक् करके अमूर्त रूप में अध्ययन का विषय बनाना ही है तो विभिन्न सामाजिक क्षेत्रों में इनका अध्ययन विशेषज्ञों द्वारा ही किया जा सकेगा। व्यापक अर्थों में समाज और तत्सम्बन्धी अध्ययन भी तो किसी न किसी ऐतिहासिक और मानवीय धरातल को लेकर ही किये जा सकते हैं। अतः समाज का विस्तृत रूप से विशेषाध्ययन करने की भी उतनी ही अधिक आवश्यकता है जितनी कि समाज का समन्वयात्मक अध्ययन करने की। इन दोनों ही दृष्टिकोणों की समाज-शास्त्र को आवश्यकता है और इनमें से किसी भी एक को लेकर और दूसरे को त्याग कर काम चलना कठिन है। वस्तुतः समाज-शास्त्र बहुत से सामाजिक-शास्त्रों एवं विज्ञानों के अध्ययन फलों को लेकर अपने विषय क्षेत्र का समन्वयात्मक अध्ययन करता है। अतः समाज-शास्त्र के विचार क्षेत्र में विशेषात्मक दृष्टिकोण से अध्ययन का विषय बनाये गये सब ही सामाजिक विज्ञानों के निष्कर्ष भी आ जाते हैं और व्यापक ढंग से अध्ययन का विषय बनाये हुए सामाजिक तत्त्व भी।

मानव के सामाजिक व्यवहारों का अध्ययन—कुछ विद्वान् समाज-विज्ञान के क्षेत्र को 'मानव के सामाजिक व्यवहार' (Human Social behaviour) तक ही सीमित कर देते हैं। मानव का सामाजिक व्यवहार मानव जीवन के सब ही सम्बन्धों को अपने भीतर नहीं ले पाता है। प्रोफेसर लिन्टन समाजों को व्यक्तियों के संगठित दल मानते हैं और संस्कृति को किसी भी एक समाज के सदस्यों के संगठित बार बार ही होनेवाली प्रतिक्रियाएँ मानते हैं। इन प्रतिक्रियाओं से 'सामाजिक व्यवहार' का निकट सम्बन्ध है। वस्तुतः हमारे निकट यद्यपि मानव-सम्बन्ध मानव के सामाजिक व्यवहार से कहीं अधिक अर्थ रखते हैं किन्तु मानव के सामाजिक व्यवहार द्वारा ही तो हम उसके अधिकांश सम्बन्धों को जान पाते हैं अतः मानव-समाज के अध्ययन करने के लिए हमारे पास मानव का सामाजिक व्यवहार एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण वस्तु है। किसी भी समाज के मानवों के विश्वास, मूल्यांकन के आधार, जातीय आकांक्षाएँ, आदर्श आदि की झलक उस समाज के मानवों के सामाजिक व्यवहार ही में तो दिखाई देती है अतः यह तो सत्य ही है कि जब भी कभी हम सामाजिक तथ्यों की चर्चा करते हैं अर्थात् 'वर्ग', 'राजनीतिक ढाँचा', 'मत', 'सम्प्रदाय', 'वाद', 'सामाजिक दल' आदि के विषय में सोचते हैं तो हमारा उद्देश्य किसी न किसी ढंग से मानव व्यवहार की ओर, उसके विश्वासों, मतों आदि की ओर संकेत करना ही होता

है। 'मत' अथवा 'वाद' का आधार विश्वासों के अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है और वे विश्वास सामाजिक धरातल से दूर परे के विश्वास तो हो ही नहीं सकते हैं। इसी प्रकार 'वर्ग' आदि का सम्बन्ध भी मानव के सामाजिक विश्वासों एवं व्यवहार से रहता ही है। समाज-शास्त्र का क्षेत्र, विषय-विस्तार इन्हीं सामाजिक विश्वासों एवं व्यवहार तक ही तो है। मानव के व्यवहार का अध्ययन करके ही तो हम उसके सामाजिक जीवन का, सम्बन्धों का अध्ययन कर पाते हैं। संस्कृति, धार्मिक मत, विश्वास आदि सब ही कुछ तो मानव-व्यवहार का ही आश्रय लेकर चलते हैं। अतः इन्हीं सबको लेकर तथा अपना निजी व्यवहार और अन्तः पर्यवेक्षण उसमें सम्मिलित करके हम समाज-शास्त्र का विषय बनाते हैं और हमारे सब ही सिद्धान्त अपना आधार इन्हीं मानव-व्यवहारों में खोजते हैं। ये ही मानव के सामाजिक व्यवहार हमें उसके अन्तःसम्बन्धों को समझने के लिए सिद्धान्त भी देते हैं। अतः समाज-शास्त्र को एक ऐसा विशिष्ट शास्त्र ही मानना चाहिए जो कि विशेषात्मक दृष्टिकोण से मानव के उन सम्बन्धों और व्यवहारों का अध्ययन करता है जिन्हें सामाजिक माना जा सकता है। यह आवश्यक नहीं है कि समाज-शास्त्र जिन व्यवहारों को अपनी खोज का विषय बनाये वे ऐसे ही व्यवहार हों जिन्हें कि देखा अथवा अनुभव किया जा सकता है अथवा जो कि निरीक्षण का विषय हैं। इन व्यवहारों में वे व्यवहार भी सम्मिलित किये जा सकते हैं जो कि इतिहासकार अपनी ऐतिहासिक खोजों के आधार पर हमारे सम्मुख रखते हैं अथवा जिन्हें मानव-शास्त्री खोजकर हमारे सम्मुख रखते हैं अथवा जो और किन्हीं ज्ञान-विज्ञानों, खोजों, अनुसन्धानों आदि के आधार पर हमारे सम्मुख आते हैं अतः मानव के सब ही प्रकार के सार्थक सामाजिक व्यवहार हमारी खोज का विषय हो सकते हैं। हम प्रायः 'वर्ग', 'श्रेणी', 'जाति', 'किसी एक विशेष प्रकार की आर्थिक व्यवस्था' आदि के विषय में विचार करते समय उसे उन व्यक्तियों से पृथक् करके देखने लगते हैं जो कि उनके साथ आवश्यक रूप से सम्बन्धित हैं। ऐसे अवसर पर हम सम्भवतः यह विस्मरण कर देते हैं कि व्यक्ति के व्यवहार के आधार अथवा व्यक्ति के व्यवहार को दिखानेवाले कुछ अपेक्षाकृत अधिक स्थिर एवं गम्भीर चिह्न होते हैं जो कि इन 'वर्ग', 'श्रेणी', 'जाति' आदि के द्वारा इंगित किये जाते हैं और वह मानसिक अवस्थाएँ ही तो हैं। इसका तो यह तात्पर्य हुआ कि मानव के मन की अवस्थाओं, विश्वासों आदि द्वारा उसका व्यवहार संचालित किया जाता है और वे मानसिक निर्माणाधार प्रत्यक्ष रूप से तो निरीक्षण का विषय

बनाये नहीं जा सकते हैं। इस प्रकार के व्यवहाराधार समाज-शास्त्र के अध्ययन के लिए आवश्यक तो हैं किन्तु हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि वे होते अमूर्त ही हैं। जो हो, श्रीयुत मेक्स वेबर (Max Weber) तो यही विश्वास करते हैं कि समाज-शास्त्र सम्बन्धी खोजों का आधार मानव का सामाजिक व्यवहार ही हो सकता है। ऐसा करते हुए वह सामाजिक विचारों का सुविस्तृत विश्लेषण करते हुए कहते हैं कि समाज-शास्त्र एक ऐसा विज्ञान है जो कि मानव के सामाजिक व्यवहार की सार्थक व्याख्या करने का प्रयत्न करता है अथवा जिसमें मानव के सामाजिक व्यवहारों के अर्थ समझने का प्रयत्न किया जाता है। अब स्वाभाविक रूप से ही यह प्रश्न सम्मुख आता है कि मानव के किन कर्मों को सामाजिक कहा जा सकता है और ऐसा कहने का आधार क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में वह सामाजिक कर्म की परिभाषा देते हैं। उनके मतानुसार कोई भी कर्म सामाजिक कहला सकता है किन्तु केवल उसी अवस्था में जब कि कर्ता स्वयं उस कर्म को ऐसा कर्म माने, समझे जिससे कि अन्य व्यक्तियों के व्यवहार का भी सम्बन्ध है और इसी भावना के साथ वह कर्म किया जा रहा हो। इसका तो यह तात्पर्य हुआ कि स्वयं कर्ता के विचारानुसार यदि उस कर्म का अन्य व्यक्तियों के व्यवहार से भी सम्बन्ध हो तब ही वह सामाजिक कर्म माना जा सकता है। यदि इस परिभाषा को मान लिया जाय तो फिर हमें कर्ता के निजी मत की व्याख्या भी अत्यन्त उदार ढंग से करनी पड़ेगी अर्थात् कर्ता के मत में हमें उसकी अर्द्धचेतन मानसिक प्रेरणाओं, प्रेरक कारणों आदि तथा चेतन मतादि सब ही को सम्मिलित करना पड़ेगा। इस युग तक तो हम देख ही चुके हैं कि मानव का जीवन केवल उसकी चेतना और तज्जन्य कार्यों तक ही सीमित नहीं रहता है वरन् हमारे सामाजिक व्यवहार, आचार आदि में मानसिक अर्द्धचेतन जगत् का भी पर्याप्त रूप में हाथ रहता ही है। हमारे कार्यों में से ऐसे कार्यों की संख्या पर्याप्त रहती है जिन्हें हम चेतनावस्था में जागृति में जान बूझकर नहीं करते हैं वरन् जो कि हमसे किये जाते हैं और इसलिए किये जाते हैं कि हमारे अर्द्धचेतन मन में उनके प्रेरक कारण उपस्थित रहते हैं। अतः कोई भी वह कर्म जिसका कि सम्बन्ध कर्ता के मतानुसार किसी प्रकार भी हो, किसी अन्य व्यक्ति के व्यवहार से हो; सामाजिक कर्म कहलाता है। और इसी प्रकार के कर्मों को समझना और उनकी सार्थक व्याख्या करना समाज-शास्त्र का क्षेत्र होना चाहिए, यही मेक्स वेबर का विचार है। इस प्रकार के कर्म ही तो मानव के समस्त जीवन को अपने आप में सीमित कर लेते नहीं हैं। अतः मानव-जीवन के केवल मात्र इस पक्ष को लेकर ही खोज करना,

अध्ययन करना समाज-शास्त्र का विषय होना चाहिए। यह समाज-शास्त्र के विषय विस्तार-सम्बन्धी विशेषात्मक दृष्टिकोण ही है। और इस विशेषात्मक दृष्टिकोण से देखने पर हमारा मुख्य कार्य यही हो जाता है कि हम सोच-विचार कर कर्म करनेवाले व्यक्तियों के व्यवहार को समझने का प्रयत्न करें। इस प्रकार का प्रयत्न प्रत्यक्ष रूप से व्यक्तियों के व्यवहार, आचार का निरीक्षण करके भी किया जा सकता है और अप्रत्यक्ष रूप से जातियों, वर्गों आदि की सभ्यता, संस्कृति आदि के आधार पर भी देखा जा सकता है। मानव-व्यवहार के कुछ पक्ष ऐसे भी होते हैं जिनसे कि व्यक्ति के अपने विश्वास और मत का उतना अधिक सम्बन्ध नहीं होता है फिर भी सामाजिक व्यवहार की नींव में उनका बड़ा भारी हाथ रहता है। उदाहरणार्थ—व्यक्ति अपने लिए ही अर्थ संग्रह करके घर में ही गाड़कर रखना भले ही चाहता हो किन्तु वह स्वेच्छा से जान-बूझ कर धन को बन्द करके रखने से उत्पन्न विपत्ति का कारण बनना नहीं चाहता है। अतः मानव के व्यवहार के फलस्वरूप भी कुछ सामाजिक सामूहिक कर्म हो जाते हैं, यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति उनसे कर्ता-रूप में सम्बन्धित नहीं होता है अथवा उनके विषय में पूर्णतया अज्ञ नहीं होता है। इस प्रकार के कर्म भी सामाजिक कर्म होते हैं यद्यपि ये उतनी अच्छी तरह मेक्स वेबर की परिभाषा में सम्भवतः ठीक नहीं बैठ पाते हैं। यह सत्य है कि साधारणतया तो सामाजिक क्रियाएँ, प्रतिक्रियाएँ, आदान-प्रदान व्यक्तियों के बीच ही चला करते हैं और उनका होना इसीलिए सम्भव होता है कि व्यक्ति चेतनावस्था अथवा अर्द्ध चेतनावस्था में उनके लिए उत्तरदायी होता है। उसके मन में उन कर्मों के प्रेरक कारणादि होते हैं किन्तु इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी सामाजिक कर्म, आदान-प्रदान आदि होते हैं जिनके लिए किसी भी व्यक्ति का कोई दायित्व नहीं होता है, कोई भी व्यक्ति उन्हें जान-बूझकर करने की न तो इच्छा ही करता है और न प्रयत्न ही, फिर भी वह अपने विस्तृत क्षेत्र एवं प्रभाव को लिये दिये हो ही जाते हैं। और इस प्रकार के प्रभाव, परिणाम जब एक बार अस्तित्व पा लेते हैं तो फिर वे सामाजिक वातावरण का ही भाग बन जाते हैं और भविष्य में होनेवाले ऐसे ही सामाजिक आदान-प्रदानों, कर्मादि पर प्रबल प्रभाव डालने लगते हैं। इस प्रकार के 'प्रतिक्रियात्मक परिणाम' (Retro-active effect) दो प्रकार के होते हैं। एक तो वे होते हैं जो कि पूरी घटना एवं परिस्थिति पर अपना प्रभाव डालते हैं और दूसरे वे जिन्हें कि व्यक्ति अथवा व्यक्ति-समूह अपने लिए सुविधाजनक अथवा असुविधाजनक पाते हैं और फिर वे उन्हें यदि

वे सुविधाजनक हुए तो जाने अथवा अनजाने रखना चाहते हैं और यदि असुविधाजनक हुए तो परिवर्तित कर देना चाहते हैं। अतः जो प्रारम्भ में इच्छा की, आकांक्षा की वस्तु नहीं था वही भविष्य की जानी अथवा अनजानी अकांक्षा का केन्द्र बन जाता है। कुछ वर्ष पूर्व तक 'विश्व-साम्राज्य' की कल्पना भी नहीं थी और वह किसी की आकांक्षा की वस्तु भी नहीं था किन्तु इधर कुछ ही वर्षों से तत्सम्बन्धी विचार मानव की किन्हीं अन्य इच्छाओं, आकांक्षाओं आदि से गुँथा मिला जब कि उत्पन्न हो ही गया है तो कुछ उसके प्रणेता उसे जीवन देने के लिए प्रयत्नशील भी हो गये हैं। अतः प्रारम्भ में जो कि आकांक्षा की वस्तु नहीं थी वही अब न केवल आकांक्षा की वस्तु हो गई है वरन् उसके लिए प्रयत्न भी होने आरम्भ हो गये हैं और सम्भव है कि किसी दिन वह हो भी जाय।

वास्तव में सामाजिक कर्म के द्वारा ही सामाजिक सम्बन्ध स्थापित किये जा सकते हैं। यदि सामाजिक कर्म ही नहीं होगा तो सामाजिक सम्बन्ध स्थापित ही किस आधार पर होंगे। अतः सामाजिक सम्बन्धों की नींव सामाजिक कर्मों पर ही रखी जाती है। समाजवाद की एक विशेष विचार-धारा (Formal School of Sociologists) के समर्थकों का ऐसा मत है कि समाजशास्त्रियों का मुख्य ध्येय वास्तविक सामाजिक कर्म एवं वास्तविक सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन करना ही है। इस विचार-धारा के साइमल, वीरकान्दत् वॉन वीसे आदि मुख्य प्रतिनिधि हैं। साइमल और वीरकान्दत् के विचारों के विषय में हम देख ही चुके हैं। साइमल के विचारानुसार तो 'सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूप' के कारण ही समाज-शास्त्र अन्य सामाजिक विज्ञानों से अपना पृथक् स्थान रखता है। अब कठिनाई तो यह है कि मानव के सामाजिक सम्बन्ध और उनका स्वरूप आदि भी तो किसी विशिष्ट प्रकार के समाज की सम्पूर्ण मूर्त पृष्ठ भूमिका को देखते हुए ही समझा जा सकता है। और इस प्रकार की मूर्त सामाजिक पृष्ठ-भूमिकाएँ स्वयं भी अनेकानेक प्रकार की अमूर्त भावनाओं, विचार-धाराओं, संस्कृति सम्बन्धी विश्वासों आदि के साथ ही समझी जा सकती हैं। भारतीय समाज में प्रचलित किसी साधारण से सामाजिक सम्बन्ध को समझ पाने के लिए उस समाज की सम्पूर्ण पृष्ठ भूमिका को देखना पड़ता है और वह सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति को समझे बिना किसी एक प्रथा को समझना कठिन हो ही जाता है।

साइमल के नेतृत्व, आज्ञाकारिता, प्रतियोगिता, श्रम-विभाजन आदि सामाजिक सम्बन्धों को उनकी मूर्त पृष्ठ भूमिकाओं से पृथक् करके

समझना कठिन हो जायेगा। वस्तुतः ये सब ही सामाजिक सम्बन्ध किसी न किसी पृष्ठ भूमिका को लेकर ही उत्पन्न हुए है। साइमल का ऐसा विश्वास तो है कि विभिन्न प्रसंगों से इन सम्बन्धों तथा तत्सम्बन्धी तथ्यों को अमूर्त रूप में ले लेना समाज-शास्त्रियों का कर्तव्य है। वीरकान्दत् भी हस्सरल से प्रभावित होकर लज्जा, प्रेम, घृणा आदि सम्बन्धों की विवेचना करते है जिनका आधार अन्य व्यक्तियों की स्वीकृति प्राप्त करना आदि होता है और जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि समाजशास्त्र का सम्बन्ध नेतृत्व, आज्ञाकारिता, दण्ड-विधान, संघर्ष, सत्ता आदि से होना चाहिए। इसका तो यह अर्थ हुआ कि समाज-शास्त्र का उतना अधिक सम्बन्ध सामाजिक सम्बन्धों से नहीं है जितना कि उनके 'स्वरूप' से और उसे अपने अध्ययन का विषय सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूप को ही मानना चाहिए।

वॉन वीसे के मतानुसार 'सम्बन्धों के सिद्धान्त' (Theory of Relationship) का आधार संयोग और वियोग (Association and dissociation) ग्रहण और त्याग (Approach and withdrawal) जैसे मुख्य भेद दर्शक सम्बन्ध-तथ्य ही है। और इसी विचारधारा के अन्तर्गत वह अनेकानेक सम्बन्धों और उपसम्बन्धों की व्याख्या करते है। स्वीकृति, मिलन, सहयोग आदि व्यक्ति के पारस्परिक संयोग दर्शक सम्बन्ध माने जा सकते है। प्रतियोगिता, विरोध आदि व्यक्तियों में वियोगात्मक सम्बन्ध माने जा सकते हैं।

इसी प्रकार समूहों में भी परस्पर मिलन एवं भिन्नतासूचक तथा इसी प्रकार के अन्य अनेकानेक सम्बन्ध पाये जाते हैं।

पार्क एवं बर्गीस भी सामाजिक प्रक्रियाओं का एक साधारण-सा वर्गीकरण करते है। इसके अन्तर्गत वह सामाजिक मिलन, सामाजिक अन्तःक्रियाओं, प्रतियोगिता, संघर्ष आदि को भी लेते हैं। अब यह बात भी विचारणीय है कि अभी तक सामाजिक सम्बन्धों की ही चर्चा की जा रही थी किन्तु अब 'सामाजिक प्रक्रियाओं' के विषय में भी विचार किये जाने लगे। अब प्रश्न यह उठता है कि इन दोनों में भेद क्या है। वस्तुतः यह माना जा सकता है कि सामाजिक प्रक्रियाएँ वस्तुतः दो व्यक्तियों अथवा समूह आदि के बीच होनेवाली क्रियाएँ हैं और सामाजिक सम्बन्ध वह क्षेत्र है जिसमे कि वे क्रियाएँ पाई जाती हैं। सामाजिक परिवर्तनादि को समझ पाने के लिए इन प्रक्रियाओं का समझना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है।

दुरखेम का मत है कि मानव वस्तुतः कोई भी कर्म सम्पूर्ण सामाजिक स्थिति से पृथक् होकर नहीं करता है वरन् उसके भीतर ही तथा उसको लेकर ही करता है। अतः जो कुछ भी हम करते हैं वह एक ऐसे सामाजिक वातावरण में, सामाजिक स्थिति में किया जाता है जिसमें कि हमारी सम्पूर्ण आकांक्षाओं, इच्छाओं, आशाओं आदि का स्थान होता है, जिसमें कि हमारी संस्कृति, माँगों, सामाजिक प्रथाओं, संस्कारों आदि का स्थान होता है। और यह सब हमारे अपने कार्यों पर तथा उन व्यक्तियों के कार्यों पर आश्रित होता है जिनसे कि हमारा सम्बन्ध होता है। किन्तु हम जिन वास्तविक सामाजिक स्थितियों में कर्म करते हैं वे भी तो सम्पूर्ण सामाजिक स्थितियों का अंग ही होती हैं और ये सम्पूर्ण सामाजिक स्थितियाँ, प्रथाओं, विधि-विधान, आकांक्षाओं, जीवन के सर्व स्वीकृत रीति-रिवाजों आदि को लेकर बनती हैं। अब हम इन सबको सम्पूर्ण सामाजिक स्थिति से भिन्न करके उनके अमूर्त विचार रूप में भी तो देख सकते हैं।

वस्तुतः यदि इस दृष्टिकोण से देखा जाय तो यह स्वाभाविक ही है कि वास्तविक मूर्त सामाजिक अन्तः परिवर्तन (Actual concrete social interchanges) कुछ पीछे रह जाते हैं और अधिक ध्यान अपेक्षाकृत अधिक उलझी हुई सामाजिक व्यवस्थाओं आदि की ओर अधिक जाता है। इस प्रकार की कुछ सामाजिक व्यवस्थाएँ, सामाजिक ढाँचे (Social Structure) सामाजिक नियन्त्रण (Social control) आदि से सम्बन्धित हैं। इन व्यवस्थाओं के सम्बन्ध में यह विचारणीय है कि इनमें एक प्रकार की युगकालीन स्थिरता-सी होती है जो कि इन्हें तथा इनसे सम्बन्धित संस्थाओं आदि को लगभग स्थायी-सा ही बना देती है। मैं स्वयं जिस विद्यालय की छात्रा थी आज सुदीर्घकाल के पश्चात् भी वह विद्यालय उसी प्रकार अपनी परम्पराओं आदि को लिये दिये खड़ा है। यद्यपि सामाजिक परिस्थितियों के परिवर्तनों के अनुसार उनमें भी कुछ परिवर्तन हुए हैं और ऐसा होना स्वाभाविक ही था फिर भी उसमें कुछ ऐसी वस्तु है जो कि उसे वह विशेष विद्यालय बनाये रखती है। विद्यार्थी, विद्यार्थिनियाँ आते-जाते रहते हैं किन्तु विद्यालय अपने समस्त व्यक्तित्व के साथ बना रहता है। अतः उसमें कुछ न कुछ ऐसे स्थिरता लिये हुए तत्त्व हैं जो कि साधारण, अवश्यंभावी कुछ परिवर्तनों को अपने में समाते और उठाते रहते हैं जिससे कि व्यवस्था की स्थिरता बनी रहे। ये व्यवस्थाएँ, ये प्रतिमान व्यक्ति के बनाये हुए नहीं होते हैं और न यह ही कहा जा सकता है कि ये अपने सब ही सदस्यों का कुल जमा हैं, एकत्रित किया गया स्वरूप है। वस्तुतः ये अपने सब ही एकत्रित

सदस्यों के स्वरूप से कुछ अधिक ही होता है। यद्यपि कुछ समाज-शास्त्री इन प्रतिमानों के स्वरूप को देखकर ही यह मानना चाहते हैं कि व्यक्ति के मनस के अतिरिक्त "सामाजिक मनस" (Group mind) भी होता है। और इस प्रकार सामाजिक मनस को लेकर सामाजिक व्यवस्थाओं, प्रतिमानों का अपना निजी व्यक्तित्व भी होता है। यह निजी व्यक्तित्व अपने ही ढंग से कार्य करता, करवाता है। चाहे हम इतनी दूर तक जाना उचित न भी समझें और यह विचार है भी विवादग्रस्त किन्तु इतना तो मान ही लेना पड़ता है कि सामाजिक तथ्य व्यक्तियों के भीतर नहीं होते हैं वरन् होते हैं बाहर और बाहर से ही हम पर पूर्णतया प्रभाव डालते हैं। केवल मात्र उन्हें ग्रहण कर पाने की शक्ति मानव के भीतर ही होती है। ये स्थिर व्यवस्थाएँ तथा तत्सम्बन्धी योजनाएँ परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तित भी होती रहती हैं। कुछ तो इतनी सर्वव्यापी होती हैं कि वे सारी ही जाति पर, उस जाति के सब ही मानवों पर लागू हो सकती हैं। अन्य कुछ एक ऐसी भी होती हैं जो कि केवल मात्र एक ही प्रकार की सामाजिक संस्था पर लागू होती हैं, दूसरी पर नहीं। अतः इतना तो निश्चित् ही है कि सामाजिक सम्बन्धों की आधार-शिला ये विभिन्न सामाजिक व्यवस्थाएँ आदि ही हैं। अतः कुछ समाज-शास्त्रियों का ऐसा भी विश्वास है कि समाज-शास्त्र का मुख्य कार्य मानव-समाजों, सामाजिक व्यवस्थाओं का अध्ययन करना ही होना चाहिए।

मानव के सामाजिक कर्म का सार्थक अध्ययन—हमारे अपने ही युग में समाजशास्त्रियों ने मानव के व्यवहार का अर्थ सहित अध्ययन करना आरम्भ किया और ऐसा करने की प्रवृत्ति ने उन्हें मानव के व्यवहार का अध्ययन करने की अपेक्षा मानव के कर्म, सामाजिक कर्म (Social action) का अध्ययन करने की ओर अधिक प्रेरित किया। वस्तुतः समाज-शास्त्री का लक्ष्य उतना अधिक यह नहीं है कि मानव ने कौन सा कर्म किया जितना कि यह है कि उसने किन अर्थों को लेकर, किस विचार से वह कर्म किया। अतः समाजशास्त्र का अध्ययन-क्षेत्र मानव के कर्म होने चाहिए न कि उसका समूचा व्यवहार। वस्तुतः इससे पूर्व भी मेक्स वेबर के विचारों की चर्चा करते हुए हमने सार्थक सामाजिक कर्म के अध्ययन की ओर संकेत किया था और इस ओर भी संकेत किया था कि किन कर्मों को सामाजिक माना जा सकता है। अब संक्षेप में सार्थक कर्म-अध्ययन की पद्धति की चर्चा कर लेना भी ठीक ही रहेगा। ऐसा कर पाने के लिए सामाजिक कर्मों की ओर साधारण मानव कर्मों की अपेक्षा अधिक ध्यान

देना आवश्यक है। यह भी देखना आवश्यक है कि कर्ता किस अथवा किन ध्येयों को लेकर सामाजिक कर्म करता है। सामाजिक स्थिति की सामयिक विवेचना (tentative characterization of the social situation) और उस स्थिति के मुख्य तथ्य में विश्लेषणात्मक भेद (analytic distinction between the chief factors in that situation) करना भी आवश्यक है और फिर उस स्थिति के मूल्यांकन व्यवस्था के प्रमुख पक्षों का, ध्येयादिक और उन अर्थों का पूर्ण अध्ययन किया जाना चाहिए जो कि उस स्थिति के लिए आवश्यक होते हैं।

वस्तुतः मानव का जीवन, यहाँ तक कि सामाजिक जीवन भी, उसका समस्त व्यवहार भी जो कि मानव-जीवन के लिए अत्यावश्यक है उन अर्थों के आधार पर ही तो बनता है जो कि अन्य व्यक्ति उसके कर्मों के साथ संलग्न करते हैं। इन अर्थों में यद्यपि मानव का सम्पूर्ण व्यवहार ही सामाजिक होता है फिर भी कुछ कर्म ऐसे होते हैं जो कि दूसरों के प्रति ही किये जाते हैं और उन्हें सहज ही अन्य कर्मों की अपेक्षा अधिक सामाजिक कहा जा सकता है। अतः मानव के कुछ कर्म तो प्रत्यक्ष रूप से सामाजिक होते हैं और अन्य कुछ कर्मों की सामाजिकता का आधार वे अपने आप में, स्वयं न होकर कुछ ऐसे अन्य तथ्य अथवा कर्म होते हैं जो कि स्वयं सामाजिक होते हैं।

'कर्म' उस प्रकार के व्यवहार की ओर संकेत करता है जो कि शब्द, चिह्नादि के द्वारा किसी भी भाव को कर्ता की ओर से अन्य व्यक्तियों के प्रति व्यक्त कर देता है। जिस कर्म को हम सामाजिक कहते हैं उसमें भावाभिव्यक्ति की शक्ति और सो भी कर्ता की अन्य व्यक्तियों के प्रति, तो रहती ही है साथ ही साथ कर्ता की ओर से ऐसी भावाभिव्यक्ति इच्छित और निश्चित होती है। और इच्छित तथा निश्चित से तात्पर्य यह है कि उसे प्रत्यक्ष अथवा अनुमान के आधार पर जाना, प्रमाणित किया जा सकता है।

इस प्रकार के कर्म का लक्ष्य दूसरों के प्रति कर्ता के ध्येय को पूरा करने की दिशा में पग बढ़ाना होता है। और हो सकता है कि स्वयं कर्ता भी अपने इस लक्ष्य से पूर्णतया परिचित न हो। ये कर्म जब परिवर्तनशील होते हैं तो सामाजिक प्रक्रियाएँ हो जाते हैं और अपरिवर्तनशील अवस्था में सामाजिक ढाँचे (Social Structures) हो जाते हैं।

यद्यपि यह दृष्टिकोण अपेक्षाकृत नवीन है किन्तु इसमें सत्य का बहुत बड़ा अंश है तथा समाजशास्त्र सम्बन्धी विषयों की खोजों के लिए

सार्थक समाजशास्त्र (Interpretive Sociology) तथा रचनात्मक आदर्श मापदण्ड विधान (Constructive typology) अत्यन्त उपयोगी हैं। मानव के कर्मों से ही उसका व्यवहार बनता है। और उसके कर्मों के पीछे निहित भावों, अर्थों आदि की खोज करना ही वास्तव में उसके कर्मों को, उनकी सामाजिकता को समझने की दिशा में ठीक प्रयत्न है। इसी प्रकार हमारे कर्म रचनात्मक आदर्शों में ही गूँथकर देखे, समझे जा सकते हैं अतः उन्हें उसी दृष्टि से देखना, जानना और जाँचना आवश्यक भी है। जो हो, वेबर, हावर्ड वेकर, टालकोट पारसनस, फ्लोरिन जनानिकी आदि के विचार में समाजशास्त्र का विषय-क्षेत्र मानव के सामाजिक कर्म ही होने चाहिए और उन्हीं का पूर्ण अध्ययन करके मानव के व्यवहार और तत्पश्चात् समाज को समझा जा सकता है।

विषय-विभाजन—दुर्खेम के मतानुसार समाज-शास्त्र के विषय का विभाजन इस प्रकार किया जा सकता है। सम्पूर्ण समाज-शास्त्र के विषय को तीन विभागों के अन्तर्गत रखा जाय। एक को सामाजिक स्वरूप-शास्त्र (Social Morphology) कह सकते हैं। इसमें भौगोलिक पृष्ठ भूमिकाओं का अध्ययन, जनता से सम्बन्धित तथा इसी प्रकार के अन्य तथ्यों का अध्ययन किया जा सकता है। दूसरे विभाग को सामाजिक शरीर विज्ञान कह सकते हैं। इसके अन्तर्गत धार्मिक विश्वास, नैतिकता, आर्थिक जीवन आदि परिवर्तनशील विषयों का अध्ययन किया जा सकता है। प्रायः इनमें से प्रत्येक विषय एक पृथक् विज्ञान एवं शास्त्र का विषय हो सकता है। और इन दोनों के अतिरिक्त एक साधारण व्यापक विभाग भी होना चाहिए जिसके अन्तर्गत अपेक्षाकृत अधिक विशेष सामाजिक प्रक्रियाओं के आधार-भूत व्यापक सामाजिक नियमादि की खोज करने का प्रयत्न करना चाहिए।

और एक प्रकार का विभाजन गिन्सबर्ग ने किया है। इनके मतानुसार समाज-शास्त्र के अध्ययन के लिए चार विभाग किये जा सकते हैं। सामाजिक स्वरूप-शास्त्र की आवश्यकता का तो यह भी अनुभव करते हैं और यह भी मानते हैं कि इनमें न केवल जनता के विभिन्न प्रकार एवं संख्या को ही सम्मिलित करना चाहिए वरन् समाज के ढाँचे, उसकी रूपरेखाएँ और सामाजिक समूहों एवं संस्थाओं के मुख्य स्वरूपों को भी सम्मिलित किया जा सकता है। दूसरा विभाग सामाजिक नियन्त्रण कहा जा सकता है। यह लगभग वैसा ही विभाग है जैसे विभाग को दुर्खेम ने सामाजिक शरीर-विज्ञान नाम दिया है। इसके अन्तर्गत विधि-विधान नैतिक नियमों, धार्मिक मतादि, परम्पराओं तथा ऐसे ही नियमादि का अध्ययन किया जाता है। तीसरा

विभाग है सामाजिक प्रक्रियाएँ। इस विभाग के अन्तर्गत व्यक्तियों तथा समूहों के बीच होनेवाले अन्तःसम्बन्धों का अध्ययन किया जा सकता है। इसी विभाग के अन्तर्गत सहयोग एवं संघर्ष, सामाजिक सामीप्य एवं भेद, विकास, सामाजिक उन्नति अवनति आदि का भी अध्ययन किया जाता है। अन्तिम विभाग को सामाजिक रोग विज्ञान कह सकते हैं। इसमें हम सामाजिक कठिनाइयों, असंतुलित सामाजिक व्यक्तित्व आदि को सम्मिलित कर सकते हैं।

इन दोनों ही प्रकार के विषय विभागों को देखकर इतना तो ज्ञात हो ही जाता है कि किन किन शीर्षकों को लेकर समाज-शास्त्र चलता है। सोरोकिन ने भी एक भिन्न प्रकार से विभाजन किया है। यह विभाजन उन नौ प्रकार के ढंगों को समझने का एक प्रयत्न है जिनके द्वारा विभिन्न विचारकों एवं विशेषज्ञों ने समाज-सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करने के यत्न किये हैं। यान्त्रिक वह ढंग है जिसमें कि सामाजिक विषयों को प्रायः भौतिक धरातल पर लाकर उन पर भौतिक विज्ञानों के नियमादि लागू किये जाते हैं। भौगोलिक तथा परिमाण के आधार पर भी अध्ययन किया जा सकता है। लेप्ले ने यह रीति खोजी थी और उन्होंने परिवार तथा उसकी भौगोलिक पृष्ठ भूमिका को इकाई मानकर कार्य करना चाहा था। भौगोलिक आधार पर अध्ययन करना भी एक ढंग है। एक ढंग शारीरिक प्रभेदों, जातीय गुणों, जन्मगत गुणों एवं शारीरिक चुनाव आदि को लेकर अध्ययन करना भी है। इसी ढंग पर जनता को लेकर भी अध्ययन किया जा सकता है। विभिन्न नैसर्गिक संस्कारों (instincts) के द्वारा मानव व्यवहार का अध्ययन करना भी एक ढंग हो सकता है। एक अन्य ढंग यह भी है कि सामाजिक अवस्थाओं का ही प्रत्यक्ष अध्ययन किया जाय। इनके अतिरिक्त सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक ढंग भी हो सकते हैं। ये तथा इसी प्रकार के अन्य वे प्रयत्न जिनके द्वारा समाज-शास्त्र का विषय निर्देशन किया गया है, यह सिद्ध करते हैं कि यह एक ऐसा ज्ञान है जिसका विषय क्षेत्र सुविस्तृत है, और जिसका सम्बन्ध मानव के साधारण सामाजिक एवं सामूहिक जीवन तथा उनकी प्रक्रियाओं से तो है ही, इनके अतिरिक्त मानव समाज के सब ही प्रकार के ढाँचों, संगठनों, परिवर्तनों तथा तज्जन्य परिणामों से भी है। और इसीलिए इस शास्त्र का सम्बन्धी मानव के अन्तःसम्बन्धों एवं उसके सांस्कृतिक उत्तराधिकार से भी हो ही जाता है। अतः इस शास्त्र का विषय क्षेत्र इतना अधिक विस्तृत है कि वह प्रायः मानव जीवन के सब ही पक्षों को किसी न किसी रूप में अपने ही भीतर ले लेता

है। इस सुविस्तृत विषय क्षेत्र के अध्ययन के विभिन्न प्रकार और वे दोनों दृष्टिकोण भी हम देख चुके हैं जिनमें से एक विशेषाध्ययन की ओर हमें आकर्षित करता है और दूसरा समन्वयात्मक अध्ययन का समर्थक है। हमने यह भी देखा कि इन दोनों ही दृष्टिकोणों की इस सुविस्तृत विषय विस्तार को समझ पाने के लिए आवश्यकता है। अतः समाज-शास्त्र प्रायः सब ही विशिष्ट सामाजिक शास्त्रों से सम्बन्धित तो रहता ही है और साथ ही साथ उनके अतिरिक्त व्यापक साधारण सामाजिक सम्बन्धों आदि का भी अध्ययन करता है। अब देखना यह है कि इस अत्यन्त विस्तृत विषय-क्षेत्रवान शास्त्र के प्रमुख कार्य कौन कौन से हो सकते हैं।

प्रमुख कार्य—समाजशास्त्र का विषय क्षेत्र देख चुकने पर यही जान पड़ता है कि समाजशास्त्र का मुख्य ध्येय मानव के लिए सामूहिक रूप से सुखी एवं सम्पन्न जीवन सम्भव करना है। यह तब ही हो सकता है जब कि एक ओर तो हम समाज के वर्तमान ढाँचे और उसके अंग प्रत्यंग, संगठन व्यवस्था आदि को भली प्रकार समझ सकें और दूसरी ओर उसके भीतर निहित उन आधारादि को जान, समझ सकें जो कि सब ही प्रकार के मानव अन्तः सम्बन्धों एवं अन्तःक्रियाओं के प्रेरक कारण होते हैं। ये सब कुछ जान समझकर ही यह निश्चय करना सम्भव हो सकता है कि मानव का सामूहिक जीवन किस प्रकार सुखी और सम्पन्न हो सकता है। इस मुख्य ध्येय को लेकर समाजशास्त्र के मुख्य कार्य निम्नलिखित होते हैं। सर्वप्रथम समाजशास्त्र को मानव के सब ही प्रकार के सामाजिक सम्बन्धों का वर्गीकरण करना चाहिए। ऐसा करना इसलिए भी आवश्यक है कि सब ही संस्थाओं, सभाओं, समितियों आदि का व्यक्तिगत अध्ययन प्रायः इतना बड़ा कार्य हो जायेगा जो कि असम्भव नहीं तो अत्यधिक कठिन अवश्य होगा अतः उसे अन्य सामाजिक विज्ञानों के लिए छोड़कर केवल विशेष वर्गीय संस्थाओं आदि का ही अध्ययन किया जा सके।

समाजशास्त्र को सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्षों का भी अध्ययन करना चाहिए। यद्यपि इस प्रकार का अध्ययन भी मुख्यतः तत्सम्बन्धी विशेष सामाजिक विज्ञानों का ही कार्य है किन्तु जहाँ तक उन विज्ञानों अथवा शास्त्रों का व्यापक सामाजिक प्रभाव क्षेत्र है वहाँ तक तो समाज-शास्त्र को भी उनका अध्ययन करना ही चाहिए।

समाजशास्त्र को मानव के सामाजिक जीवन के सब ही परिवर्तनों का भी अध्ययन करना ही होगा तथा उनके भीतर निहित स्थिरता के कारणों को

देखना जाँचना भी उसका ही कार्य है। किन्तु सामाजिक स्थिरता और परिवर्तन दोनों का ही व्यक्ति के व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है अतः समाजशास्त्र का एक प्रमुख कार्य यह भी है कि वह व्यक्ति के सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन करे। ये सम्बन्ध व्यक्ति के साथ, समुदाय के साथ, बाह्य वातावरण के साथ और स्वयं अपने ही अन्य व्यक्तित्व के साथ हो सकते हैं। अन्तिम सम्बन्ध के विषय में विभिन्न मत हो सकते हैं किन्तु आधुनिक मनोविज्ञान और उसके निष्कर्ष यह तो बता ही चुके हैं कि मानव का भीतरी जगत् सदा सर्वदा सन्तुलित ही रहता हो ऐसी बात नहीं है और मानव के भीतरी जगत् का सम्बन्ध बाह्य जगत् से बिलकुल ही न हो यह बात भी नहीं है अतः मानव के मन के भीतर ही होनेवाली हलचलें भी उसके बाह्य जीवन को प्रभावित करती हैं। अतः जीवन के किसी भी अंश को सर्वथा व्यक्तिगत कहना कठिन है। व्यक्ति की मनःस्थिति एक तो सामाजिक हो ही सकती है और यदि संकीर्ण अर्थों में व्यक्तिगत हो भी तो भी उसका व्यक्ति के सामाजिक जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। मानव के भीतर ही उसके दो व्यक्तित्व भी हो सकते हैं और इन दोनों व्यक्तित्वों के पारस्परिक सम्बन्ध उसके सामाजिक जीवन को अत्यधिक प्रभावित करते हैं अतः इनका अध्ययन किसी एक संकीर्ण सीमा तक करना भी आवश्यक हो जाता है क्योंकि इस प्रकार के सम्बन्ध ही मानव के सामाजिक असन्तुलन आदि का कारण हो सकते हैं। अतः इन्हीं सब कार्यों को लेकर समाज-शास्त्र को चलना चाहिए।

हमने अब तक समाज-शास्त्र के विषय क्षेत्र एवं प्रमुख कार्यों की चर्चा की है। अब देखना यह है कि इनके आधार पर हम समाज-शास्त्र की परिभाषा किस प्रकार कर सकते हैं।

परिभाषा—किसी भी शास्त्र का विषय क्षेत्र देख चुकने पर उसकी परिभाषा करना उतना कठिन कार्य नहीं रह जाता है। अतः हम समाज-शास्त्र के विषय क्षेत्र को दृष्टि में रखते हुए उसकी विभिन्न विचारकों, समाज शास्त्रियों द्वारा दी गई परिभाषाओं की चर्चा करेंगे।

गिन्सबर्ग के मतानुसार समाज-शास्त्र की परिभाषा 'समाज सम्बन्धी अध्ययन' कहकर दी जा सकती है और समाज के अध्ययन का तात्पर्य होता है मानव के अन्तःसम्बन्धों एवं अन्तःक्रियाओं का सर्वाङ्गीण अध्ययन। अतः यह कहा जा सकता है कि 'समाज-शास्त्र वह शास्त्र है जो

कि समाज अथवा मानव के अन्तःसम्बन्धों एवं अन्तःक्रियाओं के मूल तत्त्वों का अध्ययन करता है।'

मेक्सवेबर के विचारानुसार समाज-शास्त्र वह विज्ञान है जो कि 'सामाजिक कर्म' की सार्थक व्याख्या करने का प्रयत्न करता है। सामाजिक कर्म क्या है यह हम पहले ही देख चुके हैं तथा यह भी देख चुके हैं कि किसी भी कर्म को सामाजिक उसी अवस्था में कहा जा सकता है जब कि स्वयं कर्ता के विचारानुसार उसके कर्म का सम्बन्ध अन्य व्यक्तियों के व्यवहार से भी हो और वह इसी दृष्टि से किया गया हो कि उसका प्रभाव अन्य व्यक्तियों के व्यवहार पर भी पड़े। समाज-शास्त्र की इस प्रकार की परिभाषा हमारा ध्यान विशेषतया 'व्यक्ति के', कर्ता के 'व्यक्तिगत विचारानुसार' की ओर आकर्षित करती है। 'व्यक्ति के', कर्ता के मत में उसकी चेतन, अर्द्ध-चेतन सब ही प्रकार की प्रेरणाएँ, वृत्तियाँ सम्मिलित होंगी ही।

जॉन लुइस गिलिन और जॉन फिलिप गिलिन के मतानुसार उदार दृष्टि से देखने पर समाज-शास्त्र जीवित प्राणियों के एक दूसरे के संसर्ग में आने के परिणामस्वरूप उत्पन्न होनेवाली अन्तःक्रियाओं के अध्ययन को कहते हैं। परिभाषा अत्यन्त उदार है इसमें कोई सन्देह नहीं और यह परिभाषा जीवित प्राणियों में मानव के अतिरिक्त पशु आदि अन्य प्राणियों को भी ले ही लेती है। यद्यपि 'समाज' शब्द केवल मानव तक ही सीमित नहीं है, अन्य जीवों के भी समाज होते हैं और सहकारिता आदि सामाजिक प्रवृत्तियाँ अन्य जीवों में भी पाई जाती हैं किन्तु मुख्यतः समाज-शास्त्र में हम साधारण रूप से मानव व्यवहार एवं मानव सम्बन्धों को ही लेकर चलते हैं और इन व्यवहार एवं सम्बन्धों का आदि मूल है मानव की जिज्ञासु प्रकृति। समाज-शास्त्र के ज्ञान विज्ञान का अधिकतर सम्बन्ध उन प्रश्नों के उत्तरों से है जो कि मानव अपने आपसे अपने सामाजिक सम्बन्धों एवं उनके मूल्य में निहित प्रवृत्तियों को लेकर पूछता है। उन प्रश्नों को लेकर ही वह अपनी समस्याओं की सृष्टि करता है, उनका हल भी खोजता है और इन सबको लिये दिये जो ज्ञान विज्ञान हमारे सम्मुख आता है वही तो समाज-शास्त्र होता है। यद्यपि ठीक यही बात अन्य ज्ञान-विज्ञान, शास्त्रादि के विषय में भी कही जा सकती है किन्तु जितनी वह अन्य विज्ञान, शास्त्रादि के विषय में सत्य है उतनी ही समाज-शास्त्र के सम्बन्ध में भी सत्य है ही।

यह तो हम देख ही चुके हैं कि जॉन० ए० लुण्डबर्ग का ऐसा विश्वास है कि मानव समाज-शास्त्र उन मानवीय सन्तुलन के व्यावहारिक (human communicable adjustment) ढंगों, (technics) प्रणालियों

से सम्बन्ध रखता है, जिनका कि मानव समूहों में चिरकालीन संघर्षों के पश्चात् विकास हुआ है और ये संघर्ष मानव को परस्पर समझौता करके तथा अपने वातावरण से समझौता करके सन्तुलित होने के लिए करने पड़े। समाज-शास्त्र का विषय क्षेत्र निर्धारित करते हुए भी हमने उनके विचार देखे। वस्तुतः समाज-शास्त्र अथवा समाज सम्बन्धी विज्ञान का उदय तो उस समय हुआ जब कि मानव ने अपने सामूहिक व्यवहार सम्बन्धी कुछ तत्त्वों को वैज्ञानिक अध्ययन का विषय बनाना चाहा। यद्यपि इससे पूर्व भी अवैज्ञानिक ढंग से तो मानवों के अन्तःसम्बन्ध एवं अन्तःक्रियाएँ समझी जाती थीं किन्तु इन्हीं के वैज्ञानिक अध्ययन का नाम समाज-शास्त्र हुआ।

ऑगबर्न और नीम कॉफ भी यही संकेत करते हैं कि समाज-शास्त्र का उद्देश्य मानव के सामाजिक जीवन और उसके संस्कृति, प्राकृतिक वातावरण, जन्म-सम्बन्धी तत्त्वों तथा समूह आदि के साथ स्थापित सम्बन्धों का अध्ययन करना है।

मेकआइवर और चार्ल्स० एच० पेज के मतानुसार समाज-शास्त्र की विषय वस्तु सामाजिक सम्बन्ध तथा सामाजिक सम्बन्धों की वह व्यवस्था है जिसे कि हम समाज कहते हैं। समाज-शास्त्र ही एक मात्र ऐसा शास्त्र है जो कि सामाजिक सम्बन्धों को ही अर्थात् समाज को ही अध्ययन का विषय बनाता है।

हेरल्ड. ए. फेल्पस भी मानते हैं कि आधुनिक काल में समाज-शास्त्र सामाजिक सम्बन्धों के अध्ययन को ही कहते हैं और वह इस प्रकार के अध्ययन को ६ प्रमुख विभागों के अन्तर्गत रखते हैं। ये विभाग हैं उन सम्बन्धों के उद्गम, उनकी आधारस्वरूप इकाइयाँ, वे कारण जिनसे कि वे एकत्रित होते हैं अथवा उनमें भेद किये जाते हैं, सामाजिक प्रक्रियाएँ, वे समितियाँ तथा संस्थाएँ जिनमें सामाजिक परिवर्तन होते हैं तथा सामाजिक नियन्त्रण के कार्य।

ग्रेगरी और बिडगुड समाज-शास्त्र को वह शास्त्र मानते हैं जिसमें सामाजिक प्रक्रिया तथा उसके मुख्य निष्कर्षों—संस्कृति और व्यक्तित्व का अध्ययन किया जाता है और इस प्रकार इस शास्त्र का मुख्यतः उन प्रक्रियाओं से सम्बन्ध रहता है जो कि मानव संसर्ग से अर्थात् समूह आदि से उत्पन्न होती हैं। और इनमें से मुख्य संस्कृति एवं व्यक्तित्व ही तो हैं। संस्कृति में वे सब ही प्रथाएँ, विश्वासादि सम्मिलित हैं जो कि सामूहिक

जीवन का रूप निर्धारित करते हैं और व्यक्तित्व मानव के एक सांस्कृतिक वातावरण में सन्तुलित होने के भाव को दर्शाता है।

पार्क और वर्गीस समाज-शास्त्र को सामूहिक व्यवहार सम्बन्धी विज्ञान मानते हैं। साधारणतया सब ही विद्वान् समाज-शास्त्र को समाज अथवा सामाजिक तथ्य एवं ज्ञान सम्बन्धी विज्ञान मानते ही हैं। वार्ड, आर्थर फेमर वैंक्स, गिडिंग्स, रॉस लगभग इसी प्रकार तनिक से फेर बदल से समाजशास्त्र की परिभाषा करते हैं। स्माल उसे वह अध्ययन मानते हैं जो कि संसर्ग से प्रभावित होता है और संसर्ग को प्रभावित करता है। डीले और वार्ड उसे वह विज्ञान मानते हैं जो कि मानव संसर्ग और जो कुछ उसे लाभ पहुँचाये उसी का अध्ययन करता है। हिलर समाज-शास्त्र को मानव के आपसी सम्बन्धों का अध्ययन तथा जिन मापदंडों के द्वारा मानव का पारस्परिक व्यवहार नियन्त्रित होता है उनका अध्ययन मानते हैं। फेयर चाइल्ड इस शास्त्र को मानव और उसके वातावरण से सम्बन्धित अध्ययन मानते हैं। बोगार्डस इस शास्त्र को उन सामाजिक प्रक्रियाओं का अध्ययन मानते हैं जो कि सामाजिक वर्गों द्वारा व्यक्तित्व को विकसित एवं परिपक्व करने का कार्य करती हैं।

इस प्रकार समाजशास्त्र की अन्य अनेकों परिभाषाएँ की जा सकती हैं किन्तु अगस्त काम्त के काल से ही प्रयोग में लाये जानेवाले 'समाज-शास्त्र' शब्द को शाब्दिक परिभाषा में बाँध देना सम्भवतः उतना सरल भी नहीं है और सम्भवतः आवश्यक भी नहीं है। वस्तुतः किसी भी प्रगतिशील विज्ञान अथवा शास्त्र की सहज ही परिभाषा की भी नहीं जा सकती है और इस अध्ययन के साथ तो एक यह भी कठिनाई है कि इसका विषय क्षेत्र कुछ इतना अधिक विस्तृत है कि वह मानव के समग्र जीवन पर ही छा जाता है अतः अपने अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से तथा वैज्ञानिक ढंग पर अनुसंधान करना सम्भव करने के लिए यह आवश्यक ही जान पड़ता है कि इसके विषय क्षेत्र को दो भागों में बाँटकर तनिक सीमित एवं नियन्त्रित कर दिया जाए। इसी दृष्टिकोण से कुछ विज्ञानों अथवा शास्त्रों को सामाजिक विज्ञान अथवा सामाजिक शास्त्र नाम दे दिया गया है। इन सब ही शास्त्रों का सम्बन्ध मानव जीवन के किसी न किसी सामूहिक अथवा सामाजिक पक्ष से ही है किन्तु इनमें से प्रत्येक सामाजिक-शास्त्र मानव के सामाजिक जीवन के केवल मात्र उस ही पक्ष का विशेषाध्ययन करता है जो कि उसके विषय क्षेत्र के अन्तर्गत आता है। इस प्रकार मानव के सामाजिक जीवन के प्रायः बहुत से क्षेत्र अध्ययन का विषय बना लिये जाते हैं किन्तु इतना होते

हुए भी जैसा कि सोरोकिन और लुण्डबर्ग ने कहा है मानव के सामूहिक जीवन के कुछ साधारण व्यापक तथ्य अध्ययन का विषय बनने से रह ही जाते हैं तथा सामूहिक जीवन के विभिन्न पक्ष तो अध्ययन का विषय बन जाते हैं किन्तु सम्पूर्ण सामूहिक जीवन स्वयं अध्ययन का विषय नहीं बन पाता है अतः उसके लिए समाज-शास्त्र की आवश्यकता रह ही जाती है। अब इस प्रकार के मिश्रित तथा तनिक उदार विषय से सम्बन्धित शास्त्र की परिभाषा करना कुछ सरल कार्य नहीं रह जाता है फिर भी यह तो हमने प्रायः सब ही परिभाषाओं में देखा है कि इस शास्त्र का सम्बन्ध समाज से तथा मानव के सामाजिक जीवन से है। मानव समाज और मानव का सामाजिक जीवन उसके अन्तःसम्बन्धों से ही तो मिलकर बनता है अतः समाज-शास्त्र का सम्बन्ध मानव के अन्तःसम्बन्धों, पारस्परिक व्यवहार से तो होगा ही। इन सम्बन्धों के फलस्वरूप अन्तःकियाएँ होती हैं अतः अन्तःक्रियाओं से भी समाज-शास्त्र का सम्बन्ध होना ही चाहिए। वस्तुतः बिना विषय ज्ञान हुए परिभाषा देना सरल तो नहीं है फिर भी हम विद्यार्थियों की सुविधा के लिए, विषय के प्रारम्भिक ज्ञान के लिए यह कह सकते हैं कि समाज-शास्त्र की काम चलाऊ परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है। समाज-शास्त्र वह ज्ञान, विज्ञान अथवा शास्त्र है जिसमें मानव के सामाजिक जीवन का अध्ययन किया जाता है अर्थात् जिसमें मानव के सामाजिक अन्तःसम्बन्धों तथा सामाजिक अन्तःक्रियाओं का अध्ययन किया जाता है। इतना मान लेने के पश्चात् मानव के सामाजिक जीवन तथा उसके सामाजिक अन्तः सम्बन्धों, उसकी सामाजिक अन्तःक्रियाओं आदि का विश्लेषण, उनकी व्याख्या की जा सकती है और वह तो समाज-शास्त्र के अनुसंधान का, खोज का विषय होगा ही। समाज-शास्त्र की इसी परिभाषा को लेकर हम अपने विषय में आगे की ओर बढ़ेंगे। परिभाषा से यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि यह समाज सम्बन्धी अध्ययन है किन्तु अब प्रश्न यह उठता है कि इस प्रकार के अध्ययन को वैज्ञानिक ढंग पर किया जाये अथवा कलात्मक ढंग पर; अर्थात् समाज-शास्त्र को विज्ञान माना जाये अथवा कला।

स्वरूप— क्या समाज-शास्त्र विज्ञान है?—समाज-शास्त्र का विषय क्षेत्र हम देख ही चुके हैं। हमने उसकी परिभाषा करने का प्रयत्न भी किया है। अब प्रश्न यह है कि क्या समाज-शास्त्र एक विज्ञान है? इस प्रश्न का उत्तर देने से पूर्व हमें यह देखना होगा कि विज्ञान क्या है? उसकी रीति नीति आदि क्या हैं? इन प्रश्नों के उत्तर खोज लेने पर ही उन्हें हम समाज

शास्त्र में लागू करके देख सकेंगे कि वह कहाँ तक इस शास्त्र में ठीक बैठते हैं और तब ही हम यह भी कह सकेंगे कि समाज-शास्त्र विज्ञान है अथवा नहीं।

समाज-शास्त्र विज्ञान है—विज्ञान उस ज्ञान को कहा जा सकता है जिसमें तथ्यों का संग्रह किया जाये, उनका वर्गीकरण किया जाये, उनका तुलनात्मक एवं आलोचनात्मक अध्ययन किया जाए और फिर उस अध्ययन को परीक्षण का विषय भी बनाया जा सके तथा उस सबके आधार पर कुछ सिद्धान्त, व्यापक नियमों (Principles or general Laws) तक पहुँचा जा सके। ऐसा कर पाने के लिए प्रारम्भ में जिज्ञासा की, खोज करने के कारण की, अनुसंधान करने के कारण की आवश्यकता होती है। किसी भी प्रकार की खोज का कारण किसी न किसी प्रकार की बौद्धिक रोक (tension) अथवा जिस वस्तु अथवा विषय के विषय में खोज करना है उसका किसी प्रकार का असन्तुलन सम्बन्धी अनुभव करने में होता है। सन्तुलन (adjustment) वस्तुतः उस अवस्था की ओर संकेत करता है जिसमें किसी भी व्यवस्था (organism) की स्थिर स्थिति (equilibrium) होती है। और अर्द्ध-सन्तुलन अथवा अधूरे सन्तुलन अथवा असन्तुलन की अवस्था में ही 'रोग' की उत्पत्ति होती है। स्थिर स्थिति किसी भी व्यवस्था की सर्वाधिक सम्भावना (maximum probability) की अवस्था होती है। वस्तुतः हमने यह देखना चाहा था कि हम समाज-शास्त्र को वैज्ञानिक अध्ययन का विषय बना सकते हैं अथवा नहीं, समाजशास्त्र विज्ञान है अथवा नहीं। हमने ऐसा कर पाने के लिए यह देखना प्रारम्भ किया था कि समाजशास्त्र एवं सामाजिक व्यवस्था में वैज्ञानिक ढंग लागू किया जा सकता है अथवा नहीं। और ऐसा कर पाने से पूर्व ही हमने यह भी किसी सीमा तक मान लिया था कि समाज-शास्त्र मानव समूहों के अपने वातावरण में सन्तुलित होने के उन ढंगों, तरीकों आदि से सम्बन्धित है जिन्हें मानव ने युगों के निरन्तर परिश्रम एवं संघर्ष के पश्चात् खोज पाया है। अतः मानव के सन्तुलित होने के वैज्ञानिक ढंग होने के नाते समाज-विज्ञान सामाजिक विषय तो होगा ही। और इसी ढंग की विवेचना करके हम यह देखना चाहते हैं कि यह कहाँ तक समाजवाद के विषय की खोज करने में सहायक हो सकेगा। हमने विज्ञान की प्रारम्भिक चर्चा करते हुए 'सर्वाधिक सम्भावना' की बात की थी। किसी भी सामाजिक व्यवस्था से सम्बन्धित 'सर्वाधिक सम्भावना' की अवस्था को हम स्वस्थ अथवा साधारण (normal) अवस्था कहते हैं और यही 'स्थिर स्थिति' हुई। अब जब भी

कभी हमें कुछ बौद्धिक रोकों का सामना करना पड़ता है अर्थात् हम कुछ स्थानों पर अपने आप को अनभिज्ञ पाते हैं जहाँ से आगे, हम सोच समझ, चल ही नहीं पाते हैं तो वहीं बौद्धिक रोकें एकत्रित होकर प्रश्न का रूप धारण कर लेती हैं और इस प्रकार के जिज्ञासा धारण किये हुए प्रश्नों के साधारणतया तुरन्त ही दिए जानेवाले उत्तर अधिकतर काल्पनिक (Guess) माने हुए (Hypothesis) अथवा काम चलाऊ से उत्तर (Postulate) होते हैं। इस प्रकार के उत्तर विषय वस्तु (Data) को एकत्रित करने के लिए आधार का काम करते हैं और वही विषय वस्तु फिर भली प्रकार स्थापित की जाती है तथा उस प्रारम्भिक काम चलाऊ उत्तर को संशोधित करती है तथा उसकी परीक्षा भी करती है। इसी प्रकार के माने हुए, काम चलाऊ उत्तरों को बारबार उस विषय के छात्र, गम्भीर रूप से अध्ययन करनेवाले व्यक्ति अथवा विशेषज्ञ अथवा निरीक्षक परीक्षण का, निरीक्षण का विषय बनाते हैं और इस प्रकार बार-बार परीक्षणादि, निरीक्षणादि करके वह जिस व्यापक (Generaliyed) निष्कर्ष पर पहुँचते हैं वही सिद्धान्त, व्यापक नियम अथवा विधि-विधान से बन जाते हैं। अतः विज्ञान का विषय कुछ एक ऐसे प्रमाणित प्रस्ताव होते हैं जो कि तार्किक दृष्टि से उस व्यवस्था को पूर्ण-सा दिखाते हैं जिसके कि वह अंश हैं। वस्तुतः ये प्रस्ताव जितने अधिक व्यापक तथा विस्तृत विषय-परिचायक होते हैं उतना ही हमारा उस क्षेत्र में ज्ञान अधिक गम्भीर होता है। इन प्रस्तावों की व्यापकता ही उन्हें प्रामाणित बनाती है। कोई भी ज्ञान जिसके नियम अथवा वे प्रस्ताव जो कि स्वीकृत होकर नियम बन जाते हैं, व्यापक और प्रामाणित नहीं होते हैं, विज्ञान नहीं कहा जा सकता है। अतः विज्ञान कहला सकने के लिए भी किसी भी ज्ञान की विषय वस्तु का इस प्रकार से तथ्य-संकलन, तथ्य-वर्गीकरण, तथ्य-विश्लेषण, तथ्य-परीक्षण आदि होना अत्यन्त आवश्यक है; जिससे कि वे प्रस्ताव खोजे जा सकें जो कि सब ही वैसी अवस्थाओं में लागू हो सकें अथवा अवस्था विशेष में सब ही जगह लागू हो सकें अर्थात् व्यापक हों और उन्हें सरलता से वैसी सब ही अवस्थाओं में मापदण्ड की भाँति स्वीकार किया जा सकता हो। ये प्रस्ताव जैसे ही पूरी तरह व्यापक मान लिये जाते हैं और विभिन्न विद्वान् जैसे ही उनका परीक्षण करके उन्हें व्यापक और माप-दण्ड बनने के योग्य घोषित कर देते हैं वे उस ज्ञान के नियम, विधि अथवा सिद्धान्त बन जाते हैं और वह ज्ञान विज्ञान माना जाता है। इन विभिन्न प्रस्तावों के अन्तर्गत आनेवाले विभिन्न तथ्यों को, घटनाओं को एकत्रित करके कुछ ऐसे प्रस्तावों की खोज करना जो कि व्यापक हो तथा वर्ग प्रतीक हों या

तो अनुसंधानशाला में कार्य करके सम्भव किया जा सकता है और या फिर आँकड़े आदि संग्रहीत करके किया जा सकता है। सामाजिक अन्तः सम्बन्धों के विषय में ऐसा किया जाना सम्भव है। वस्तुतः सामाजिक, सांस्कृतिक आदि अन्तः सम्बन्ध भी वे अवस्थाएँ हैं जिनके साथ हम एक प्रकार का, हो सकता है कि वह प्राकृतिक तथ्यों को देखते हुए अपेक्षाकृत कुछ अधिक व्यक्तिगत और भावात्मक हो, समझौता करते हैं, निजी सन्तुलन करते हैं। अतः सामाजिक तथ्य-अनुसंधान की रीति-नीति, उसके ढंग की दृष्टि से देखने पर प्राकृतिक तथ्यों की भाँति ही माने जाने चाहिए। और ऐसी अवस्था में उन पर भी उसी वैज्ञानिक ढंग, पद्धति का प्रयोग किया जाना चाहिए जो कि प्राकृतिक तथ्यों पर किया जाता है।

लुण्डबर्ग के मतानुसार किसी भी विज्ञान अथवा शास्त्र को आधार रूप से कुछ बातें तो मानकर ही चलना पड़ता है। उदाहरण स्वरूप वह पाँच तथ्य देते हैं। प्रायः वे सारे ही अनुभव और विषय वस्तु जिनसे कि मानव का सम्बन्ध है, वातावरण में किसी व्यवस्था विशेष की उत्तर क्रियाएँ (The responses of the organisms in environment) ही तो हैं। यह भी मानना पड़ता है कि इन्हें समझ पाने के लिए कुछ चिह्नों का भी अविष्कार करना पड़ता है और ये चिह्न ही तो सब ही ऐसे ज्ञान के प्रत्यक्ष विषय हैं जिसे कि मानवों द्वारा समझा तथा एक दूसरे तक पहुँचाया जा सकता है। इन्ही चिह्नों तथा उन उत्तर-क्रियाओं से, जिनकी ओर ये चिह्न संकेत करते हैं, अमूर्त, व्यापक और अनुमानित सिद्धान्त अथवा विचार प्राप्त किये जाते हैं और उनके आधार पर ही सारे सिद्धान्त, नियमादिक की सृष्टि की जाती है। ये सब चिह्नात्मक, शाब्दिक रूप में दर्शाये जाते हैं और हम इनके प्रति भी उसी प्रकार उत्तर क्रियाएँ करते हैं जैसा कि किसी भी अन्य ऐसे तथ्य को लेकर करते हैं जो कि व्यवहार को उभारता है, सम्भव करता है। इस दृष्टि से देखने पर समाज शास्त्र को विज्ञान ही मानना होगा। वस्तुतः विषय वस्तु तो सब ही विज्ञानों की मानव उत्तर-क्रियाएँ (Human responses) ही हैं। भिन्नता का कारण वस्तुतः विषय वस्तु नहीं है, वरन् हमारी वे शाब्दिक अथवा चिह्न सम्बन्धी प्रणालियाँ हैं जिन्हें लेकर हम अपनी विभिन्न उत्तरक्रियाओं की व्याख्या करने लगते हैं। अतः जब कि विषय वस्तु एक ही सी है तो कोई कारण नहीं है कि जो अनुसंधान पद्धति एक ज्ञान की, शास्त्र की विषय वस्तु पर लागू हो वह दूसरे पर न हो। प्राकृतिक विज्ञानों की विषय वस्तु प्राकृतिक विश्व-सम्बन्धी तथ्य हैं

किन्तु वे अनुसन्धान तो मानव के उनसे सम्बन्धित अनुभवों को लेकर ही कर सकता है। वैज्ञानिक चाहे जितना भी निष्पक्ष हो, उसकी खोजें चाहें जितनी भी बाह्य (Objective) हों किन्तु 'मानव के अनुभव' से सर्वथा भिन्न होकर तो खड़ी हो ही नहीं सकेंगी क्योंकि मानव की खोज का आधार सम्भवतः वस्तु का यथार्थ अस्तित्व न होकर होता है मानव का तत्सम्बन्धी अनुभव मात्र ही, भले ही उसी अनुभव को हम वस्तु की यथार्थता कहकर प्रसन्न होते रहें। जो हो, प्राकृतिक विज्ञानों का सम्बन्ध प्रकृति और तत्सम्बन्धी तथ्यों से होता है जब कि समाजशास्त्र का सम्बन्ध मानव के मानव के प्रति होनेवाले सम्बन्धों से होता है।

हमने आरम्भ में ही देखा था कि विज्ञान का मुख्य कार्य है, तथ्य संकलन, उनका वर्गीकरण, उनका परीक्षण, उनका तुलनात्मक एवं आलोचनात्मक विश्लेषण एवं अध्ययन और इस सबके आधार पर सिद्धान्तों अथवा व्यापक नियमों के उल्लेख। इस प्रकार का अध्ययन निरीक्षण, परीक्षण एवं तुलनात्मक आलोचनात्मक अध्ययन के द्वारा किया जाता है। इस प्रकार के अध्ययन का कोई उपयोगी ध्येय होना चाहिए। अन्तिम कथन के विषय में विवाद हो सकता है। प्रश्न यह भी हो सकता है कि क्या कोई विज्ञान केवल मात्र वैज्ञानिक दृष्टि से खड़ा नहीं हो सकता है? यह क्यों आवश्यक हो कि प्रत्येक विज्ञान कोई ध्येय लेकर ही खड़ा हो। यद्यपि इस प्रकार के विवाद में पड़ना हमारा यहाँ उद्देश्य नहीं है फिर भी इतना तो कहना ही होगा कि समाजशास्त्र का उद्देश्य, ध्येय तो स्पष्ट है ही किन्तु प्रत्येक विज्ञान किसी न किसी प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष ध्येय को लेकर ही चलता है अन्यथा उसका अस्तित्व ही कठिन हो जाय। अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि वह ध्येय जिज्ञासा, शान्ति, रहस्य-भेद ही हो सकता है। जो हो, समाजशास्त्र मानव के सामाजिक अन्तः सम्बन्धों एवं अन्तःक्रियाओं से सम्बन्धित ज्ञान है। इस शास्त्र के अन्तर्गत उन सब ही तथ्यों का संग्रह किया जाता है जिन्हें कि मानव के सामाजिक अन्तःसम्बन्ध एवं अन्तःक्रिया कहा जा सकता है और उनका वर्गीकरण भी होता है तथा तुलनात्मक एवं आलोचनात्मक विश्लेषण भी और अध्ययन भी। निरीक्षण के अतिरिक्त इसके क्षेत्र में परीक्षण का भी प्रयोग किया जाता है यद्यपि वह सीमित अर्थों में ही किया जाता है और किया जा सकता है। वस्तुतः परीक्षण के लिए उन अवस्थाओं की पुनरावृत्ति आवश्यक है जिनमें कि तथ्य को रखा जाय तथा उन अवस्थाओं पर परीक्षण कर्ता का नियन्त्रण होना भी

आवश्यक है। यद्यपि यह उन अर्थों में सम्भव नहीं हो पाता है जिन अर्थों में कुछ प्राकृतिक तथ्यों के सम्बन्ध में सम्भव होता है किन्तु प्रत्येक विज्ञान की अपनी सीमाएँ भी होतीं हैं। सामाजिक विज्ञानों की सीमाओं की अभी हम चर्चा करेंगे। अतः सामाजिक तथ्यों का परीक्षण और आलोचनात्मक अध्ययन भी सम्भव है। अतः इसे किसी सीमा तक विज्ञान कहा जा सकता है।

सीमाएँ—सम्भवतः सब ही विज्ञानों को सीमाओं के भीतर रहकर ही चलना पड़ता है क्योंकि अभी तक हो सकता है कि हमें अपने कार्य संचालन करने की दशा में 'सर्वोत्तम पद्धति' का अभाव रहा हो किन्तु कोई भी विज्ञान पूर्ण होने का दावा तो कर नहीं सकता है अतः जब हम सीमाओं की चर्चा करते हैं तो यद्यपि यहाँ हमारा विशेष संकेत समाजशास्त्र की विज्ञान होने के नाते कार्य करने के मार्ग में जो कठिनाइयाँ आती हैं, उन कठिनाइयों अथवा उसकी जो सीमाएँ हैं, उन्हीं की ओर है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि उसके अतिरिक्त अन्य सब ही विज्ञान इन सीमाओं के बन्धन से सर्वथा मुक्त ही हैं। वस्तुतः यह तो हम कह ही चुके हैं कि कोई भी विज्ञान पूर्ण रूपेण बाह्य ही हो ऐसी बात नहीं है फिर भी प्राकृतिक विज्ञानों की अपेक्षा सामाजिक विज्ञानों की कठिनाई इस दिशा में अधिक है।

समाजशास्त्र को वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन का विषय बनाने में सब से पहली कठिनाई यह होती है कि प्रायः वे विषय वस्तुएँ जो अत्यन्त व्यापक होती हैं कठिनाई से ही विशेषाध्ययन का विषय बन पाती हैं। प्रायः यह विश्वास किया जाता है कि समाज में तो हम रहते ही हैं. सामाजिक तथ्य तो हमारे अत्यन्त निकट है हीं अतः इन्हें हम जानते समझते हैं ही। किन्तु यह भ्रमपूर्ण विचार है। तथ्यों से निकट सम्बन्ध होना अथवा उन्हें लिये दिये ही जीवित रहना उनका पर्याप्त वैज्ञानिक ज्ञान नहीं होता है। अतः यह मानना कि यह तो हमारे जीवन का अंश ही है यह सिद्ध नहीं करता है कि इन तथ्यों का गम्भीरता पूर्वक वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन नहीं किया जाना चाहिए। एक और कठिनाई सामाजिक विज्ञानों के सम्बन्ध में यह भी है कि अध्ययनकर्ता प्रायः पूर्णतया निष्पक्ष, उदासीन दृष्टिकोण रखकर अध्ययन नहीं कर पाता है। अध्ययन करना आरम्भ करते हुए तथा अध्ययन करते हुए भी उसकी निजी सैद्धान्तिक विचारधाराएँ पहले से ही मानी हुई (Preconceived) होती हैं और उन्हें लिए दिए ही वह अध्ययन करता है। यह स्वाभाविक ही है कि ऐसी दशा में उसका अध्ययन उसकी पूर्ववर्ती (Preconceived) विचार

धाराओं से प्रभावित होता है। और ऐसा होना किसी भी विज्ञान के लिए हानिकर है क्योंकि वह उसे निष्पक्ष और पूर्णतया सत्य निष्कर्षों तक पहुँचने नहीं देता है। एक और कठिनाई सामाजिक विज्ञानों के सम्बन्ध में यह भी होती है कि यद्यपि यह सत्य है कि प्रायः जो दो घटनाएँ एक दूसरे के पश्चात् अत्यधिक शीघ्रता से घटती है उनमें से पहली को कारण और दूसरी को कार्य कहा जा सकता है। यदि सदा सर्वदा उनका घटनाक्रम उसी प्रकार और उतनी ही शीघ्रता से चलता रहे तो उन दोनों को हम सहज ही कारण कार्य मान लेते हैं किन्तु सदा ही ऐसा होता हो, ऐसी बात नहीं है कभी कभी ऐसा भी हो जाता है कि वे दोनों ही घटनाएँ एक तीसरे निहित कारण से उत्पन्न होती हैं और वह कारण हमारी दृष्टि से छुपा ही रह जाता है। समाजशास्त्री प्रायः अपराध, दरिद्रता, बेकारी, युद्ध आदि सामाजिक घटनाओं के कारण खोजने में उन्हीं तथ्यों की ओर अधिक ध्यान देते हैं जो कि इनके साथ पाये जाते हैं अथवा शीघ्रतापूर्वक इनके पूर्व ही अपना अस्तित्व इनके प्रारम्भ में हीसमाप्त करते हैं। ऐसा कोई भी तथ्य पाते ही वे आश्वस्त हो जाते हैं कि उन्होंने कारण खोज लिया किन्तु वास्तव में यह कार्य इतना सरल नहीं है। यद्यपि कारण का निश्चय करने में किन्हीं दो घटनाओं का अन्तः सम्बन्ध, सह अस्तित्व बहुत ही उपयोगी सिद्ध हो सकता है किन्तु उसके और अंश, अंग भी तो हो सकते हैं अतः सब ही प्रकार की कारण सम्बन्धी सम्भावनाओं का विवेचन करने से पूर्व ही केवल सह-अस्तित्व के आधार पर कोई एक कारण निश्चय कर देने से भूल होने की सम्भावना रहती ही है। एक और कठिनाई नियमों की व्यापकता के सम्बन्ध में भी होती है। प्रायः पूर्णरूपेण परीक्षण के बिना भी नियमों को व्यापक स्वीकार कर लेने की प्रवृत्ति होती है और उसे रोकना ही उचित है। यदि हम सामाजिक विज्ञानों को भी उस स्तर पर खड़ा करना चाहते हैं जिस स्तर पर प्राकृतिक विज्ञान खड़े हैं तो हमें बिना परीक्षण किये और बिना पूर्णतया परीक्षण किये किसी भी अवस्था में नियमों की व्यापकता को स्वीकार नहीं करना चाहिए। इन सब कठिनाइयों से बचकर तो समाजशास्त्रियों को चलना ही चाहिए किन्तु एक ऐसी परीक्षण सम्बन्धी कठिनाई अथवा बन्धन है जिसके लिए समाजशास्त्री इच्छा करके भी कुछ विशेष नहीं कर पाते हैं। किसी अन्य प्रसंग में हमने देखा था कि प्राकृतिक विज्ञान अपने परीक्षण की अवस्थाओं का पूर्णतया नियन्त्रण कर सकते हैं, परीक्षणों की पूर्ववत् अवस्थाओं में जितनी बार चाहें पुनरावृत्ति कर सकते हैं, किन्तु सामाजिक

विज्ञानों के लिए ऐसा करना, कर पाना उतना सरल भी नहीं है और प्रायः सम्भव ही नहीं है। प्राकृतिक विज्ञानों के परीक्षणों में तो मानव प्राकृतिक वस्तुओं को विषय वस्तु बनाकर उनके लिए अपनी सुविधा अथवा इच्छानुसार अवस्थाएँ प्रस्तुत करके कार्य करता है किन्तु जहाँ मानव जीवन स्वयं ही विषय वस्तु हो वहाँ दो कारणों से परीक्षण के लिए वैज्ञानिक अवस्थाएँ उत्पन्न करना और उन्हीं अवस्थाओं में घटनाओं की पुनरावृत्ति करना कठिन हो जाता है। एक कारण तो यह है कि कोई भी मानव समाज जान बूझकर अपने आपको परीक्षण की वस्तु नहीं बनाना चाहता है और दूसरा कारण यह है कि इस प्रकार की परीक्षणों की अवधि अत्यन्त लम्बी होती है। उदाहरणार्थ राजनीति विज्ञान सम्बन्धी परीक्षण करने के लिए एक तो कोई भी जाति केवल परीक्षण-मात्र के लिए एक प्रकार विशेष की शासन प्रणाली की पुनरावृत्ति करने को तत्पर ही नहीं होगी। पूरे राष्ट्र को कोई भी परीक्षण की वस्तु इच्छा से, परीक्षण की भावना से नहीं बनाना चाहेगा और दूसरे एक बार ही परीक्षण-काल इतना लम्बा होगा कि परीक्षणकर्ता उसके फल देखने को जीवित भी कहाँ रह पायेंगे। फिर परीक्षण केवल सदा हितकर ही हों यह तो आवश्यक भी नहीं है अतः कौन सी जाति इस प्रकार का भय लेकर मानव के साथ खिलवाड़ करना चाहेगी। अतः हमें इस सम्बन्ध में इतिहास और ऐतिहासिक परिणामों पर ही अपने अध्ययन के लिए आश्रित रहना पड़ता है, यद्यपि यह ठीक ठीक अर्थों में परीक्षण नहीं होता है। इसके अतिरिक्त सुधारों की बात तो और है परीक्षण के मार्ग में मानव का स्वभाव, उसकी परम्परा-प्रियता, प्रथा-प्रियता आदि भी बाधक होती हैं। यद्यपि उसके इस स्वभाव का लाभ भी होता ही है फिर भी ठीक ढंग के वैज्ञानिक परीक्षण में यह प्रवृत्ति बाधक ही सिद्ध होती है। जिस पर सामाजिक विज्ञान प्रगतिशील है, उनकी विषय वस्तु उतनी स्थिर नहीं है जितनी कि प्राकृतिक विज्ञानों की है अतः हमें इन सब कठिनाइयों और बन्धनों को दृष्टि में रखते हुए ही चलना होगा।

समाजशास्त्र विज्ञान नहीं है—हम देख ही चुके हैं कि प्राकृतिक विज्ञानों और समाजशास्त्र की विषय वस्तु में भिन्नता है अतः कुछ विद्वानों का यह मत है कि समाजशास्त्र को विज्ञान मानना ही नहीं चाहिए क्योंकि इसकी विषय वस्तु सम्बन्धी खोज में सम्भावना (Probability) की मात्रा भी रहती है अतः इसके निष्कर्ष भी पूर्ण, निश्चयात्मक न होकर सम्भावना मात्र ही रह जाते हैं। एक दूसरा कारण वह यह भी देते हैं कि इसकी विषय वस्तु में केवल यथा वस्तु सत्य की खोज करना मात्र ही

नहीं होता है वरन यह भी तो देखना पड़ता है कि क्या होना चाहिए, आदर्श क्या हो सकता है। अतः इसे उस दृष्टि से नहीं देखा जा सकता है जिस दृष्टि से प्राकृतिक विज्ञानों को देखा जाता है। एक और तर्क यह भी दिया जा सकता है कि प्राकृतिक विज्ञानों की भाँति समाजशास्त्र अपने निष्कर्षों को केवल अमूर्त रूप में ही लेकर काम नहीं चला सकता है क्योंकि समाजशास्त्र के निष्कर्षों का मूल्य तो उनके क्रियात्मक होने में ही है और ऐसी अवस्था में समाजशास्त्र का विज्ञान की अपेक्षा कला माना जाना अधिक युक्तिसंगत लगता है। इन तर्कों के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि विज्ञान की परिभाषा इतनी संकीर्ण नहीं होनी चाहिए कि वह केवल मात्र प्राकृतिक विज्ञानों अथवा 'अस्तित्व सम्बन्धी विज्ञानों' (Positive or natural sciences) तक ही सीमित रह जाये। सामाजिक विज्ञान प्रगतिशील होते हैं अतः यह आवश्यक नहीं है कि उन्हें उन्हीं मापदण्डों से मापा जाय जिनसे कि प्राकृतिक विज्ञानों को अब तक मापा जाता रहा है। अन्य सब ही प्रकार से अपने बन्धनों, सीमाओं और कठिनाइयों को लिए हुए भी समाजशास्त्र वैज्ञानिक ढंग का प्रयोग कर ही पाता है अतः कोई कारण नहीं है कि उसे विज्ञान न माना जाए। "सम्भावना" सम्बन्धी कठिनाई के विषय में यह कहा जा सकता है कि आधुनिक युग की देन, कुछ ऐसे यन्त्रों का आविष्कार तो हुआ है और होता जा रहा है जो कि "सम्भावनाजन्य त्रुटियों" को यथासम्भव न्यून ही करते जायेंगे। समाजशास्त्र के निष्कर्षों के क्रियात्मक होने के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि यद्यपि उनकी उपयोगिता है, उनका लक्ष्य है, ध्येय है किन्तु ऐसा तो प्राकृतिक विज्ञानों के लिए भी होता ही है .अतः किसी ज्ञान का क्रियात्मक रूप अथवा उसकी उपयोगिता यह प्रमाणित नहीं करती कि वह विज्ञान नहीं है। अतः सब ओर देखते हुए हमें यह मानना ही पड़ता है कि समाजशास्त्र एक विज्ञान ही है, यद्यपि यह प्राकृतिक विज्ञानों से पृथक् ढंग का विज्ञान है और प्रायः ऐसे ही अन्य सब ही सामाजिक विज्ञान होते हैं।

पद्धति—यह तो मानना पड़ेगा कि सामाजिक तथ्यों के अध्ययनार्थ वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग करना ही पड़ेगा। अतः समाजशास्त्र की पद्धति तो वैज्ञानिक होनी ही चाहिए क्योंकि यह शास्त्र भी निष्पक्ष सामाजिक बाह्य ज्ञान प्राप्ति के ही ध्येय को लेकर चलता है और सम्भवतः इसी दृष्टि से दुर्खेम इस बात पर विशेष ध्यान देते हैं और दिलाते हैं कि सामाजिक तथ्यों का साधारण, व्यापक होना (Comme des Choses) आवश्यक है। ऐसा न होने पर सम्भवतः वह तथ्य व्यक्तिगत दृष्टिकोण से देखे जाकर

किसी भी विज्ञान का विषय नहीं रह पायेंगे। विज्ञान में बाह्य दृष्टिकोण का होना तो अत्यावश्यक है ही क्योंकि उसी दृष्टिकोण को लेकर व्यापक नियमों की सृष्टि की जा सकती है। अतः उनके मतानुसार सामाजिक तथ्यों को व्यापक अथवा अनेकों में से समान (Comme des choses) तथ्य समझकर ही अध्ययन का विषय बनाना चाहिए। अतः इस दृष्टि से वैज्ञानिक पद्धति तनिक से फेर-बदल के साथ समाजशास्त्र द्वारा अपने काम के लिए प्रयोग में लाई जा सकती है।

मुख्यतः समाजशास्त्र सम्बन्धी खोजों में दो पद्धतियाँ काम में लाई जाती हैं। आँकड़े सम्बन्धी शास्त्र अथवा संख्या गणित (Statistics) और घटना-अध्ययन (Case Study) अब देखना यह है कि ये पद्धतियाँ किस प्रकार समाजशास्त्र के विषय सम्बन्धी विभिन्न क्षेत्रों में लागू होती हैं।

समाजशास्त्र से सम्बन्धित एक समस्या तो यह है कि समाज के स्वरूप तथा उसके व्यक्तियों के साथ सम्बन्ध के विषय में समाजशास्त्रियों के मतों में भिन्नता पाई जाती है। प्रश्न यह होता है कि क्या समाज 'सत्य' (Reality) है और ऐसी अवस्था में क्या इसका अध्ययन सामाजिक प्रक्रियाओं के द्वारा किया जाना चाहिए अथवा समाज को व्यक्तियों का कुल टोटल मात्र मान कर करना चाहिए और ऐसी अवस्था में उसका अध्ययन व्यक्तियों के व्यवहार तथा मानसिक प्रक्रियाओं का विश्लेषण करके किया जाना चाहिए। वस्तुतः इन दोनों विभिन्न अवस्थाओं के लिए विभिन्न पद्धतियों की ही आवश्यकता पड़ती है अतः अध्ययन-पद्धति का निर्णय करने से पूर्व यह निश्चय कर लेना चाहिए कि हम समाज को एक ऐसा तत्त्व मानते हैं अथवा नहीं जिसका अस्तित्त्व उसके सदस्यों के अन्तः सम्बन्धों और अन्तः प्रक्रियाओं में ही निहित होता है। यदि हम ऐसा नहीं मानते हैं तो क्या हम उसे व्यक्तियों का एकत्रित होना मात्र ही मानते हैं?

समाज को 'सत्य' माननेवाले समाजशास्त्रियों में कान्त, दुर्खेम, साइमल, वेबर, सुमनेक, कूले, पार्क आदि का नाम लिया जाता है। इनमें से प्रत्येक ने समाजशास्त्र की खोज की कोई न कोई वैज्ञानिक पद्धति सम्मुख रखी है। प्रायः इनमें से दुर्खेम के अतिरिक्त किसी ने भी आँकड़े एकत्रित करके खोज करने की पद्धति का प्रयोग प्रायः नहीं किया है। इनकी पद्धतियों को क्रमशः सामाजिक लेखा-जोखा (Social Consensus), सामूहिक प्रतिनिधित्व (Collective representation), सामाजिक अन्तः सम्बन्धों के रूप (Social forms of interaction), विश्लेषण और अध्ययन के आदर्श माप-दण्ड (Ideal-type Analysis),

परम्परागत विश्वास और प्रथाएँ (Folkways and mores), सहानुभूति-पूर्ण स्वान्तः निरीक्षण (Sympathetic introspection) तथा सामुहिक व्यवहार (Collective behavior) कहा जा सकता है।

दूसरे दल के विचारकों ने मानव के व्यवहार और उसकी मानसिक प्रक्रियाओं आदि का विश्लेषण करना चाहा। तार्दे ने 'अनुकरण' करने की जन्मगत प्रवृत्ति अथवा संस्कार का प्रयोग मानव के सामाजिक व्यवहार के अध्ययन करने के लिए किया है। गिडिंग्स ने प्रकार—चेतना (The Consciousness of kind) का प्रयोग किया और सामूहिक व्यवहार (Collective behavior) के स्थान पर बहुसंख्यक व्यवहार (Pluralistic behavior) का प्रयोग करना अधिक ठीक समझा। अल्लपोर्त महोदय ने भी 'समूह' और 'संस्था' शब्दों को भ्रामक सिद्ध करते हुए व्यवहार की व्याख्या का आधार एक विशेष प्रकार की क्रियाओं (Prepotent reflexes) को माना है। गिडिंग्स और अल्लपोर्त दोनों ने ही संख्या गणित का प्रयोग किया है।

दोनों ही दलों के विचारकों के बीच समाजशास्त्र की पद्धति को लेकर पर्याप्त संघर्ष चला। वस्तुतः इतना तो मानना ही पड़ता है कि मानव व्यवहार का सामाजिक पहलू केवल मात्र मानसिक प्रक्रियाओं का अध्ययन करने से ही नहीं जाना जा सकता है वरन् उसके लिए मानव के अन्तः सम्बन्धों एवं अन्तः प्रक्रियाओं का अध्ययन भी करना पड़ता है। वस्तुतः दोनों ही दृष्टिकोण अपना अपना महत्त्व रखते हैं और हमें कुछ सामाजिक तथ्यों का अध्ययन करने के लिए एक और कुछ अन्य के लिए दूसरे दृष्टिकोण की आवश्यकता पड़ती है। इसी प्रकार दोनों ही पद्धतियों की आवश्यकता भी पड़ती ही है। अतः समाजशास्त्र को संख्या गणित (Statistics) और घटना-अध्ययन (Case study) दोनों ही पद्धतियों का यथा स्थान प्रयोग करना चाहिए।

———

अध्याय २

अन्य विज्ञानों के साथ सम्बन्ध

समाज-शास्त्र और अन्य सामाजिक विज्ञान—समाजशास्त्र की वैज्ञानिक प्रवृत्ति हम देख चुके हैं और यह भी देख चुके हैं कि समाजशास्त्र को विज्ञान मान लेने से हमें उसके विषयक्षेत्र को अधिक व्यवस्थित और वैज्ञानिक पद्धति के उपयुक्त बनाने का उत्तर-दायित्व लेना पड़ता है। किन्तु इस दिशा में आनेवाली कठिनाइयों की ओर भी हम संकेत कर ही चुके हैं। यह तो हम देख ही चुके हैं कि समाजशास्त्र की विषय वस्तु बहुत अधिक जटिल एवं उलझी हुई है। यही कारण है कि तथ्यों की पूर्णतया विश्वासपूर्वक व्याख्या करना प्राकृतिक विज्ञानों के विषयक्षेत्रों में जितना सरल है समाजशास्त्र के विषयक्षेत्र में उतना सरल नहीं है। प्राकृतिक विज्ञानों में तो विषय अथवा तथ्यों को विचारादि में बाँधकर रखने से उतनी हानि होने की सम्भावना भी नहीं है क्योंकि उन्हें क्रियात्मक रूप में लाने की उतनी शीघ्र आवश्यकता भी नहीं पड़ती है और देर तक उन्हें परीक्षण का विषय बनाये भी रखा जा सकता है किन्तु जैसा कि हम देख ही चुके हैं कि समाजशास्त्रों में उतनी परीक्षण सम्बन्धी सुविधा नहीं होती है।

काम्त ने पाँच मुख्य विज्ञान माने हैं। वह उन्हें नक्षत्र विज्ञान, भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान, शरीर विज्ञान और सामाजिक भौतिक विज्ञान कहते हैं। इस प्रकार का क्रम रखा गया है कि प्रत्येक दूसरा विज्ञान पहले द्वारा प्रभावित होता है और उस पर आश्रित होता है। अन्तिम होने के कारण समाज विज्ञान इस क्रम में विशेष स्थान रखता है। फिस्के और स्पेन्सर ने इस प्रकार की विचारधारा की आलोचना की है और मिल, वार्ड आदि अन्य विचारकों ने इसका समर्थन भी किया है। काम्त ने समाजशास्त्र को एक, सम्पूर्ण मानने पर बहुत ध्यान दिया है। और उनके विचारानुसार सामाजिक विषय, तथ्य अविभाजित ही रह सकते हैं अतः उन्हें उनके सम्पूर्ण रूप में ही अध्ययन का विषय बनाना चाहिए।

स्पेन्सर ने अन्य सब ही सामाजिक विज्ञानों को उप विज्ञान (Sub-sciences) माना है और इस दृष्टि से वह मानते हैं कि उन सब उप विज्ञानों के निष्कर्षों का समन्वय समाज-शास्त्र में किया जाना चाहिए। अतः समाज-शास्त्री का कर्त्तव्य ही यह हो जाता है कि वह सब ही सामाजिक विज्ञानों के निष्कर्षों का समन्वय करे। ऐसी अवस्था में इस शास्त्र का अन्य सामाजिक-शास्त्रों से पिता-पुत्र का सम्बन्ध हो जाता है। स्माल ने इस विचार-धारा का समर्थन किया और सम्भवतः इस कारण समर्थन किया कि प्रायः यही काम समाज-शास्त्री करते भी रहे हैं। वार्ड ने यह स्वीकार किया कि समाज-शास्त्र यद्यपि सब ही विशेष सामाजिक विज्ञानों का समन्वय नहीं है तो भी एक ऐसा सम्मिश्रण है जो कि उन सब विज्ञानों के समन्वय से ही उत्पन्न हुआ है।

गिडिंग्स ने समाज-शास्त्र को अन्य सब ही सामाजिक विज्ञानों से प्रथम करके देखा। इसी आधार पर यह कहा जा सकता है कि समाज-शास्त्र का अन्य सब ही सामाजिक शास्त्रों से घनिष्ठ सम्बन्ध है किन्तु इसलिए नहीं कि यह उन सब सामाजिक शास्त्रों का पिता, स्वामी अथवा समन्वय-कर्त्ता है वरन् इसलिए कि इसका विषय क्षेत्र उन सब शास्त्रों के सम्पूर्ण विषय क्षेत्रों के साथ ही साथ चलता है। इसके और अन्य सामाजिक विज्ञानों, शास्त्रों के विषय क्षेत्र में उतनी भिन्नता नहीं है जितनी कि दृष्टिकोण में। समाज-शास्त्र उस सम्पूर्ण विषय क्षेत्र में से, जो कि उसका और अन्य सब ही सामाजिक शास्त्रों का विषय क्षेत्र है, केवल आधारभूत और व्यापक तथ्यों को लेकर ही अपने अध्ययन का विषय बनाता है, वह केवल स्वरूप, रूपरेखाओं आदि को लेता है और उनके विस्तारादि को विशेष सामाजिक विज्ञानों के लिए छोड़ देता है। अतः समाज-शास्त्र न तो अन्य सामाजिक विज्ञानों का कुल टोटल है और न उनका समन्वय ही। वस्तुतः यह सब ही सामाजिक विज्ञानों की व्यापक धरातल (Common basis) है। इसके सिद्धान्त, विधि नियमादि अन्य सामाजिक विज्ञानों द्वारा मान्य नियमादि होते हैं यद्यपि वे सामाजिक विज्ञान इन नियमादि की खोज स्वयं नहीं करते हैं वरन समाजशास्त्र द्वारा की गई खोजों को नियम बनने के पश्चात् मानकर (As postulates) ही चलते हैं और इसी प्रकार समाजशास्त्र के नियम मानव जीवन के सम्पूर्ण सामाजिक विषयक्षेत्र को एक करने में सहायक होते हैं। अतः यह माना जा सकता है कि समाजशास्त्र सब ही सामाजिक विज्ञानों के समान धरातल का काम भी करता है और

स्वयं भी एक ऐसा विशेष सामाजिक शास्त्र है जो कि अन्य सामाजिक शास्त्रों के समकक्ष भी ठहरता है।

कभी कभी यह भी कहा जाता है कि समाजशास्त्र अन्य सब ही सामाजिक विज्ञानों की खोजों में सहायता देने वाली एक खोज प्रणाली मात्र है। जो भी कुछ हो, जब हम समाजशास्त्र का क्रियात्मक ढंग से किसी अन्य सामाजिक विज्ञान अथवा शास्त्र के साथ सम्बन्ध देखने का प्रयत्न करते हैं तो हमें यह तो दिखाई देता ही है कि वे दोनों परस्पर अन्योन्याश्रित होते हैं। कुछ काल पूर्व तक तो ऐसा विश्वास किया जाता था कि सब ही सामाजिक शास्त्र समाजशास्त्र पर आश्रित होते हैं। और इसका कारण यह दिया जाता था कि समाज अन्य सब ही प्रकार के सामाजिक समूहों, समुदायों, समितियों एवं संस्थाओं से पहले उत्पन्न हुआ है। उदाहरणार्थ—राजनीति विज्ञान को इस दृष्टिकोण से समाजशास्त्र का आश्रित विज्ञान ही मानना होगा क्योंकि राष्ट्र की स्थापना तो स्वभावतः समाज की स्थापना के पश्चात् ही हुई होगी अतः राष्ट्र के अंगों, तथ्यों, व्यवस्था आदि का अध्ययन उस समय तक करना कठिन है जब तक कि सामाजिक व्यवस्था और समाज का व्यापक स्वरूप नहीं समझ लिया जाता है। यही तर्क अन्य सब ही सामाजिक विज्ञानों के सम्बन्ध में लागू किया जा सकता है। अब क्रियात्मक रूप में इस सिद्धान्त को मानने में कठिनाई यह आती है कि समाजशास्त्र के अभी तक कोई सर्वमान्य एवं सर्वजन स्वीकृत अथवा निश्चित नियम आदि तो बन पाये नहीं हैं अतः उनके आधार पर ही यदि अन्य सामाजिक विज्ञानों का अध्ययन करना ही निश्चित करें तो सम्भवतः हमें प्रायः सब ही सामाजिक शास्त्रों, विज्ञानों के अध्ययन करने का विचार अभी त्यागना पड़ेगा। अतः समाजशास्त्र के निर्देशन के अन्तर्गत ही यदि अन्य सामाजिक शास्त्र कार्य करेंगे तो कुछ भी क्रियात्मक कार्य हो नहीं पायेगा। सत्य तो यह है कि समाजशास्त्र को अपने कार्य को सम्पन्न करने के हेतु प्रायः सब ही सामाजिक शास्त्रों का आश्रय लेना पड़ता है और सब ही सामाजिक शास्त्र अपनी समाज सम्बन्धी समस्याओं का हल खोजने के लिए समाजशास्त्र के निकट आते हैं। अर्थशास्त्री को सामाजिक नियन्त्रण, सामाजिक शक्तियाँ, प्रतियोगिता, सामूहिक व्यवहार आदि सम्बन्धी अपनी समस्याओं को सुलझाने के लिए समाजशास्त्र से सहायता लेनी पड़ती है और समाजशास्त्री को समाज के आर्थिक पक्षों को समझने के लिए अर्थशास्त्र की सहायता लेना होता है। प्रायः यही अवस्था

अन्य सब ही सामाजिक शास्त्रों की है अतः समाजशास्त्र को अन्य सामाजिक विज्ञानों का आश्रय स्थल, स्वामी अथवा धरातल तो नहीं माना जा सकता है। परस्पर इनमें आदान-प्रदान का सम्बन्ध अवश्य रहता है। यहाँ तक कि समाजशास्त्र को सब ही सामाजिक विज्ञानों का समन्वय भी नहीं कह सकते हैं। इसके अतिरिक्त सब ही सामाजिक शास्त्र कुछ इतने एक दूसरे से विषय क्षेत्र को लेकर गुंथे मिले रहते हैं कि उनमें अन्योन्याश्रय के अतिरिक्त और सम्बन्ध हो भी क्या सकता है। अतः यह मानना पड़ता है कि समाजशास्त्र और अन्य सब ही सामाजिक शास्त्र अन्योन्याश्रित हैं। इनमें परस्पर आदान प्रदान का मधुर सम्बन्ध चलता ही रहता है।

अब दूसरा प्रश्न यह होता है कि क्या सामाजिक विषय वस्तु (Social Phenomena) को विभाजित करके अध्ययन किया जा सकता है। वस्तुतः मानवाचार, मानव व्यवहार और उसके फल अर्थात् संस्कृति को अध्ययन करने के लिए एक ही मानना पड़ता है। सामाजिक विज्ञान तो इस 'एक' को अनेक करके ही अध्ययन का विषय बनाते हैं। प्रायः प्रत्येक समाज विज्ञान इसके एक पक्ष को लेकर विशेषाध्ययन करता है अतः इसे सम्पूर्ण रूप से अध्ययन का विषय बनाना तो शेष रह ही जाता है। वस्तुतः सामाजिक शास्त्रों को एक दूसरे से सर्वथा पृथक् नहीं किया जा सकता है। उनके बीच कहीं भी तो एक पूर्ण और सुदृढ़ प्राचीर नहीं खड़ी की जा सकती है अतः एक का विषय क्षेत्र दूसरे के विषय क्षेत्र के भीतर तक चला ही जाता है और एक के परिणाम दूसरे के परिणामों से टकराते ही हैं। यदि समाजशास्त्र पूर्णतया समन्वय कर पाता तो ऐसी अवस्था नहीं दिखाई देती। फिर भी आवश्यकता तो विशेषाध्ययन की है ही। विशेष रूप से जीवन के किसी एक पक्ष का अध्ययन किये बिना तो तत्सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त होगा नहीं और इसी प्रकार जीवन के विभिन्न पक्षों का ज्ञान प्राप्त करके ही तो मानव जीवन को समझा जा सकता है। किन्तु इतना सब होते हुए भी विशेषाध्ययन हमें 'ज्ञान की सम्पूर्णता' की भावना से पृथक् भी कर देता है। वस्तुतः मानव जीवन तो एक है, सम्पूर्ण है। सम्भवतः वह बहुत से टुकड़ों से जोड़कर नहीं बनाया गया है। यहाँ तक कि जब हम उसके पक्षों, पहलुओं की चर्चा करते हैं तब भी हमें यह पूर्णतया ध्यान में रखना चाहिए कि ये पक्ष उसके भाग नहीं हैं, हैं केवल विभिन्न कोणों से दिखाई देनेवाले पक्ष। अतः विशेषाध्ययन में केवल यही भय रहता है कि वह हमें सर्वथा इस बात को विस्मरण करने

के लिए ही विवश न कर दे कि ज्ञान तो अविभाजित है, पूर्ण है। अतः समाजशास्त्र हमारा ध्यान ज्ञान की पूर्णता एवं व्यापकता की ओर दिला सकता है यद्यपि क्षेत्रीय दृष्टि से भी हमें ज्ञान के दर्शन होते हैं। अतः मानव के जीवन, सामाजिक जीवन को लेकर, उसके पक्षों को लेकर विभिन्न सामाजिक विज्ञानों ने अपने अपने अध्ययन विषयक्षेत्रों का चयन कर लिया। सब ही ने अपने अपने क्षेत्रों में अध्ययन किया किन्तु जिसका अध्ययन किया, जिसके पक्षों का अध्ययन किया वह तो एक ही है अतः इन सब ही अध्ययनों को एकत्रित करने से, इनका समन्वय करने से जो ज्ञान प्राप्त होता है वह तो उस एक के, सम्पूर्ण के सम्बन्ध में प्राप्त ज्ञान होना चाहिए। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि समाज-शास्त्र का अन्य सामाजिक शास्त्रों के साथ अन्योन्याश्रय का सम्बन्ध तो है ही, समन्वय का भी सम्बन्ध है और इन दोनों ही प्रकार के सम्बन्धों को लेकर उसे चलना चाहिए। अब प्रश्न यह होता है कि समन्वयात्मक कार्य अन्य सामाजिक अथवा दूसरे प्रकार के विज्ञानों को न देकर समाज-शास्त्र को ही क्यों दिया जाए? अभी तक समाज-शास्त्र का जो विषयक्षेत्र रहा है वह व्यापक तो अवश्य था किन्तु व्यापक होने मात्र से ही तो उसे सब ही सामाजिक विज्ञानों का धरातल माना नहीं जा सकता है। इस प्रश्न को हल करने के लिए कुछ आधुनिक विचारक यह सुझाव देते हैं कि एक और शास्त्र 'सामाजिक विज्ञानों के दर्शन अथवा तत्त्व ज्ञान' (A Philosophy of Social sciences) नाम से आरम्भ किया जाए जो कि सब ही सामाजिक विज्ञानों के धरातल बनने का, उनमें समन्वय उत्पन्न करके जीवन को 'सम्पूर्ण' रूप से अध्ययन करने का ही लक्ष्य लेकर चले। यह शास्त्र वर्तमान समाजशास्त्र की भाँति केवल वर्णनात्मक एवं विश्लेषणात्मक न होकर विचारात्मक भी होगा। इस प्रकार का शास्त्र अथवा ज्ञान समाज-शास्त्र से भिन्न होगा क्योंकि उसका विषय समाज और सामाजिक सम्बन्ध आदि न होकर होंगे सामाजिक शास्त्र, उनकी पद्धतियाँ, उनके सिद्धान्त और उनके निष्कर्षादि। अब एक दूसरा प्रश्न यह भी हो सकता है कि 'सामाजिक शास्त्रों के दर्शन' के अतिरिक्त क्या समाज-शास्त्र की भी आवश्यकता रह जाती है? प्रश्न जितना उलझा हुआ और कठिन है उसका उत्तर भी कुछ उतना ही कठिन जान पड़ता है। यह सत्य है कि मानव जीवन का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है और उसके प्रत्येक पहलू के अध्ययन के लिए विभिन्न सामाजिक विज्ञानों की आवश्यकता है और उन सब विज्ञानों के अतिरिक्त केवल मात्र समाज,

सामाजिक अन्तः सम्बन्ध और सामाजिक कर्मादि के अध्ययन के लिए समाज-शास्त्र की भी आवश्यकता है। यह शास्त्र लगभग उसी स्तर पर खड़ा होता है जिस पर कि अन्य सामाजिक विज्ञान खड़े होते हैं और इन सबके अतिरिक्त समाज-शास्त्र सहित इन सब ही सामाजिक विज्ञानों के ज्ञान, विज्ञान, निष्कर्ष, पद्धतियों आदि को लिए दिए सम्पूर्ण मानव जीवन तथा उसके प्रकृति के साथ सम्बन्धादि को सम्पूर्ण रूप में अध्ययन का विषय बनाने के लिए इनके दर्शनशास्त्र अथवा तत्त्वज्ञान की आवश्यकता है। यदि यह मान लिया जाए तो समाजशास्त्र और अन्य सब ही सामाजिक शास्त्रों का सम्बन्ध तो परस्पर अत्यन्त घनिष्ठ तथा अन्योन्याश्रय का ही होगा और 'सामाजिक दर्शन' एक प्रकार से इन सब के धरातल का, समन्वय का कार्य करेगा अथवा वह व्यापक पृष्ठभूमि देगा जो कि मानव के सम्पूर्ण जीवन को लेकर चलेगी जिसका कि अन्य सब ही सामाजिक विज्ञान आंशिक रूप से अध्ययन करते हैं।

अभी तक तो हम समाजशास्त्र का अन्य सामाजिक विज्ञानों के साथ साधारण सम्बन्ध देखने का प्रयत्न कर रहे थे और ऐसा करते हुए हमें जान पड़ा कि इन सबके एक प्रकार से दार्शनिक अध्ययन करने की भी आवश्यकता है। अब हम समाजशास्त्र का कुछ सामाजिक शास्त्रों के साथ विशेष सम्बन्ध देखने का प्रयत्न करेंगे।

अर्थशास्त्र—अर्थशास्त्र यद्यपि मानव का ही अध्ययन करता है किन्तु इस प्रकार का अध्ययन आर्थिक दृष्टि से अथवा मानव की आवश्यकताओं, उनकी पूर्ति के लिए उत्पादन करने और उत्पादित वैभव के बँटवारे को लेकर करता है। अतः अर्थशास्त्र एक ओर तो मानव और उसकी आवश्यकताओं आदि का अध्ययन करता है और दूसरी ओर 'वैभव' का अध्ययन करता है। इस प्रकार का अध्ययन करते हुए अर्थशास्त्र कुछ दूर तक अमूर्त सिद्धान्तों को लेकर ही चलता है और यह इस दृष्टि से आवश्यक भी है कि यह एक मानव जीवन के विशेष पक्ष का विशेषाध्ययन है किन्तु एक तो इस प्रकार का अध्ययन उस समय तक सफलतापूर्वक किया ही नहीं जा सकता है जब तक कि मानव के सामाजिक वातावरण का, उसके सामाजिक अन्तःसम्बन्धादि का ज्ञान न कर लिया जाय और दूसरे इस प्रकार के अध्ययन का लाभ ही क्या है, उसकी उपयोगिता ही क्या है यदि वह मानव के सामाजिक जीवन के साथ सन्तुलित न हो पाये। 'वैभव' और 'जनहित' यह दो विभिन्न शब्द हैं, इनकी सीमाएँ, इनके अर्थ भिन्न भिन्न हैं। अर्थशास्त्र में वैभव को

जिस अर्थ में लिया जाता है वह आवश्यक रूप से 'जनहित' के साथ सन्निहित ही हो, ऐसी बात नहीं है। यद्यपि आधुनिक अर्थशास्त्री मानव के सूक्ष्म गुणादि को भी 'वैभव' की दृष्टि से देखने का प्रयत्न करने लगे हैं अर्थात् कर्मकारों की कर्म-सम्बन्धी योग्यता को भी मूल्याङ्कन की दृष्टि से महत्त्व देने लगे हैं फिर भी वे मुख्यतः उन्हीं वस्तुओं से आर्थिक अध्ययन की दृष्टि से सम्बन्ध रखते हैं जो मानव द्वारा इच्छित होती हैं, जिनकी प्राप्ति सुलभ नहीं है और सीमित भी है, जो हस्तान्तरित की जा सकती हैं और इस दृष्टि से जिनका मूल्य आँका जाता है। अतः अर्थ-शास्त्री का विषय-क्षेत्र ऐसी ही वस्तुओं का उत्पादन, बदलना और वितरण करना है। अर्थशास्त्री इतना तो जानता है कि मानव उस वस्तु को अधिक महत्त्व देता है जो कि न्यून मात्रा में पाई जाती है किन्तु ऐसा क्यों होता है यह विचारना अर्थशास्त्री का कार्य नहीं है। अर्थशास्त्री वस्तुओं के आदान-प्रदान की अवस्थाओं का अध्ययन करना है, आर्थिक दृष्टि से वस्तु कही जानेवाली वस्तुओं के उत्पादन की, बँटवारे की अवस्थाओं आदि का अध्ययन करता है किन्तु यह विचार करना उसका क्षेत्र नहीं है कि एक व्यक्ति मधुर संगीत की एक पंक्ति सुनने की अपेक्षा मदिरा का एक घूँट पीना क्यों अधिक पसन्द करता है। वह यह मान लेता है कि मानव साधारणतया रोटी के टुकड़े को दार्शनिक तत्त्व अथवा धार्मिक उपदेश सुनने की अपेक्षा अधिक पसन्द करता है। वह यह जानने का प्रयत्न करता है कि मानव किस वस्तु को किसी वस्तु की अपेक्षा अधिक महत्त्व देता है किन्तु यह जानना उसका क्षेत्र नहीं है कि मानव इस प्रकार महत्त्व किस आधार पर देता है। और इन दोनों वस्तुओं में से 'सर्वोच्च श्रेय' की दृष्टि से किस वस्तु का अधिक महत्त्व होना चाहिए। 'अन्तिम-मूल्य' की खोज भी उसका विषय नहीं है। महत्त्व देने के साधारण सिद्धान्तों को अर्थशास्त्री मानकर ही चलते हैं। इसी प्रकार मानव के मानसिक तत्त्वों का भी यद्यपि अर्थशास्त्री अध्ययन तो नहीं करता है किन्तु उनके आर्थिक जीवन पर पड़नेवाले प्रभावों से अछूता भी तो नहीं रह पाता है। अतः वह इन्हें ज्यों का त्यों मनोविज्ञान से लेकर अपने काम के लिए उपयोग में ले आता है।

अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। मानव एक सामाजिक प्राणी तो है ही। उसकी मानवीय आवश्यकताएँ शारीरिक भी होती हैं और मानसिक भी। इनमें से कुछ व्यक्तिगत भी होती हैं किन्तु अधिकांश का सम्बन्ध तो समाज से ही होता है अतः मानव की

आवश्यकताओं, उनकी पूर्ति के साधनों और उनके बँटवारे के उपायों का अध्ययन करते हुए हमें उसके सामाजिक जीवन, सामाजिक अन्तः-सम्बन्धों, सामाजिक कर्मों का ज्ञान करना आवश्यक हो जाता है किन्तु मानव का आर्थिक जीवन उसके सामाजिक जीवन पर प्रभाव भी डालता है अतः इन दोनों शास्त्रों का परस्पर अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है।

मनोविज्ञान—मनोविज्ञान मानव के मानसिक अनुभवों, मानसिक प्रक्रियाओं आदि का अध्ययन करता है। इस प्रकार का अध्ययन मुख्यतः व्यक्ति के मनस का ही होता है किन्तु कुछ विचारकों ने व्यक्ति के 'मनस' के अतिरिक्त 'सामूहिक मनस' (Group mind) की भी चर्चा की है अतः साधारणतया मनोविज्ञान व्यक्ति के मनस का अध्ययन करता है और सामाजिक मनोविज्ञान मानव की सामूहिक, मानसिक मनोवृत्तियों, मानसिक प्रक्रियाओं आदि का अध्ययन करता है। वस्तुतः मानव के अन्तःसम्बन्धों का, भले ही वह सामाजिक हो, अध्ययन उसके मनस और मानसिक प्रक्रियाओं को समझकर ही किया जा सकता है। समूह, समुदाय, समिति, संस्थाओं आदि की स्थापना में भी मानव के 'मनस' और उसकी मानसिक प्रक्रियाओं की ही प्रधानता रहती है। अतः व्यक्ति के तथा समूह के मनस और उसकी प्रक्रियाओं को समझना समाज-शास्त्र के कार्य में सहायता पहुँचाता है। अतः इन दोनों शास्त्रों का भी परस्पर अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है और समाजशास्त्र का सामाजिक मनोविज्ञान से तो और भी अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध है।

आचार-शास्त्र—मानव का आचार कैसा होना चाहिए इस पर आश्रित होता है कि उसका आचार एक विशेष ढंग का ही क्यों होना चाहिए। मानव व्यवहार और आचार उसके समाज का एक सदस्य होने पर ही तो आश्रित रहता है। आचार-शास्त्र का मुख्य उद्देश्य यह देखना है कि मानव का आचार कैसा होना चाहिए। और यह देखने के लिए कोई न कोई ऐसा आचार का स्तर होना चाहिए जिससे यह अनुमान लगाया जा सके कि आचार कैसा हो। आचार का इस प्रकार का मापदण्ड किसी ध्येय को लेकर ही खोजा जा सकता है। अतः आचार-शास्त्र को 'सर्वोच्च श्रेय' और उसके साथ ही साथ समाज में प्रचलित अथवा अप्रचलित किन्तु माननीय 'श्रेय' और 'उचित' को समझना, खोजना पड़ता है। और इस प्रकार के सर्वोच्च, सर्वोत्तम श्रेय का सर्वहितकारी होना तो अनिवार्य गुण होगा ही। आचार-शास्त्र के नियमों का जन्म प्रथाओं के रूप में हुआ था अतः आचार-शास्त्र

के नैतिक नियम समाज की धरती पर ही तो अवतरित हुए होंगे। इस दृष्टि से आचार-शास्त्र और समाज-शास्त्र का घनिष्ठ सम्बन्ध है। यों भी आचार व्यवहार सामाजिक अन्तः सम्बन्धों को लेकर ही तो चलते हैं।

विधि-शास्त्र और अपराध-शास्त्र—मानव के सामाजिक जीवन में न्यूनातिन्यून करणीय, माननीय होते हैं वे नियम जो विधि के रूप में उपस्थित किये जाते हैं। ये वे राष्ट्रीय नियमादि होते हैं जिनका पालन न करना अपराध माना जाता है और दण्डनीय भी होता है। हमें क्या करना चाहिए में जो अनिवार्य नियम होते हैं वे हो जाते हैं देश-विधि और शेष बन जाते हैं नैतिक नियम। समाज के ढाँचे को समझ कर ही अपराध, उसके कारणादि, निवारण के नियमादि, विधि का अध्ययन किया जा सकता है। समाज की सुव्यवस्था के लिए, मानव के सुखी एवं शान्त जीवन के लिए ही तो विधि, कानून की आवश्यकता होती है अतः विधि-शास्त्र का भी समाज-शास्त्र से सामाजिक विज्ञान होने के नाते अतीव घनिष्ठ सम्बन्ध है।

राजनीति-शास्त्र—राजनीति-शास्त्र के अन्तर्गत मानव को नागरिक के नाते, राष्ट्र के सदस्य के सम्बन्ध से अध्ययन का विषय बनाया जाता है। मानव का व्यक्तिगत जीवन तो है ही, उसके सामाजिक जीवन के भीतर भी एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंश है राष्ट्रीय जीवन का। वह व्यक्ति होते हुए नागरिक, राष्ट्र का सदस्य भी होता है। उस दृष्टि से उसका, उस व्यवस्था का जिसका कि वह अंग है, अर्थात् राष्ट्र का, शासनादि का अध्ययन करना राजनीति-शास्त्र का कार्य है। इस शास्त्र का भी समाज-शास्त्र से घनिष्ठ सम्बन्ध है क्योंकि मानव के राष्ट्रीय जीवन का उसके सामाजिक जीवन, सामाजिक अन्तः सम्बन्धादि से अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है।

अन्य सामाजिक-शास्त्र—नृ शास्त्र अथवा मानव-शास्त्र (Anthropology) रक्त-जाति शास्त्र (Ethnology) आदि का भी समाज-शास्त्र से अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है क्योंकि मानवशास्त्र मानव के उद्गम और तत्सम्बन्धी अध्ययन करता है तथा रक्त-जाति शास्त्र मानव की विभिन्न रक्त सम्बन्धी जातियों के उद्गमादि का अध्ययन करता है और इनकी समाज के अध्ययन के लिए बहुत आवश्यकता पड़ती है अतः इन अध्ययनों से सम्बन्धित शास्त्रों का समाज-शास्त्र से घनिष्ठ सम्बन्ध होना स्वाभाविक ही है।

इतिहास—समाजशास्त्र और इतिहास की विषय सामग्री में उतना अधिक अन्तर नहीं है जितना कि पाठ्यपद्धति और दृष्टिकोण में। इतिहास मानवता के जीवन में होने वाली घटनाओं का लेखा-जोखा

रखता है, उन्हें सजाता सँवारता है और उनका स्थान कहाँ होना चाहिए यह देखता है, मानवता की दृष्टि से उनके महत्त्व का मूल्यांकन करता है। समाजशास्त्र उन साधारण मानव मनोवृत्तियों का अध्ययन करता है जो कि इन घटनाओं, सामाजिक आन्दोलनों के भीतर निहित रहती हैं और उनका संचालन करती हैं। और फिर उनका मानवता के लिए हितकर होने की दृष्टि से मूल्यांकन भी करता है। वस्तुतः समाजशास्त्री और इतिहासकार दोनों को ही उन घटनाओं का मूल्यांकन तो करना ही पड़ता है। इतिहासकार घटनाओं के अतीत क्रम को ध्यान में रखकर चलता है किन्तु समाजशास्त्री अतीत को वर्तमान में रखकर भी देखता है। समाजशास्त्री को तो इतिहासकार के निष्कर्षों, खोजों को लेकर उनका उपयोग करना ही पड़ता है। यद्यपि विचारकों में समाजशास्त्र और इतिहास के एक ही विषयक्षेत्र होने के प्रश्न पर तीव्र मतभेद है फिर भी यह तो कहा ही जा सकता है कि इन दोनों शास्त्रों के विषय-क्षेत्रों में उतनी समता तो है ही जितनी कि समाजशास्त्र तथा अन्य सामाजिक विज्ञानों के विषय-क्षेत्रों में है। फिर भी सामाजिक सिद्धान्त और सामाजिक इतिहास ये दो विषय है किन्तु एक दूसरे के सन्निकट हैं। समाजशास्त्र को उपयोगी बनाने की दृष्टि से उसे इतिहास अर्थात् मानव के विभिन्न प्रयत्नों और उनके परिणामों से परिचित करना अत्यन्त आवश्यक है। इसके अतिरिक्त समाजशास्त्र को अपने सिद्धान्तों के परीक्षण के लिए भी इतिहास से ही सामग्री का चयन करना पड़ता है क्योंकि सारे ही सामाजिक परीक्षण अन्य प्राकृतिक विज्ञानों की भाँति अनुसन्धानशालाओं, परीक्षणगालयों में नहीं किये जा सकते हैं। दूसरी ओर सामाजिक दृष्टिकोण से न देखने पर इतिहास में उल्लिखित घटनाओं का मूल्य ही क्या रह जाता है। पुरातन का, अतीत का लेखा जानना इसी लिए तो मानव के लिए आवश्यक है कि वह उसे वर्तमान को समझने और भविष्य की योजनाएँ बनाने में सहायता देता है। अतः इतिहास और समाजशास्त्र का भी परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है।

जीव-विज्ञान (प्राणि-विज्ञान तथा वनस्पति विज्ञान)—यद्यपि हम प्राकृतिक विज्ञानों की चर्चा कर चुके हैं किन्तु जीव-विज्ञान ने समाजशास्त्र से कुछ इतना अधिक निकट सम्पर्क रखा है कि उसकी चर्चा पृथक् किये बिना काम नहीं चल सकेगा। अतः यह देख लेना आवश्यक जान पड़ता है कि जीव-विज्ञान का समाजशास्त्र से क्या और कैसा सम्बन्ध है। मानव की सामाजिक उन्नति का आदर्श, स्वरूप अथवा ध्येय

निश्चित करने से पूर्व यह जान लेना आवश्यक-सा जान पड़ता है कि उसका उद्गम कैसे हुआ, किन पद्धतियों उपायों एवं कारणों से उसमें परिवर्तन हुए और होने की सम्भावना है, और उसका शेष विश्व अर्थात् प्रकृति एवं अन्य प्राणियों के साथ क्या सम्बन्ध है। और यह सब तब ही तो जाना जा सकता है जब कि सर्वप्रथम हम मानव की शारीरिक एवं मानसिक शक्तियों को, उनकी बनावटों को जान सकें। अपने लिए उन्नति-पथ निर्धारित करते हुए मानव को यह तो जान ही लेना चाहिए कि उसके बन्धन कौन कौन से हैं और वह अपनी शक्तियों का विकास कैसे कर सकता है अर्थात् उसे अपनी प्रकृति को तो सर्वप्रथम समझ लेना चाहिए। मानव ने जिस शीघ्रता से प्रकृति पर विजय पाना आरम्भ किया और उसमें सफल भी होता गया वह शीघ्रता वह अपने मानसिक और नैतिक विकास की दिशा में नहीं ला पाया। इस सबका कारण खोजने की भी आवश्यकता है।

सर्वप्रथम तो यह देखना आवश्यक जान पड़ता है कि किसी भी एक ही रक्त जाति से सम्बन्धित व्यक्तियों में भी शारीरिक और मानसिक शक्ति से सम्बन्धित भिन्नता क्यों दिखाई देती है? क्या इसके भी कोई जन्मगत कारण हैं? यदि हों, तो उनका महत्त्व तो अत्यधिक होगा ही। वस्तुतः इस प्रकार के प्रभेद केवल मात्र वातावरण के प्रभावों के फलस्वरूप ही हों, यह तो ठीक नहीं जान पड़ता है क्योंकि वातावरण तो उन शक्तियों अथवा गुणों के विकास में सहायक हो सकता है जो कि पहले से ही मानव के भीतर अविकसित रूप में रहते हैं, भले ही उनका अस्तित्व मात्र ही रहता हो किन्तु जो शक्ति मानव के भीतर शून्य रूप है, है ही नहीं, उसका विकास कोई भी वातावरण कैसे कर पायेगा। डार्विन महोदय के विकासवादी सिद्धान्त ने प्राकृतिक चुनाव' के सिद्धान्त को देकर यह सिद्ध कर दिया है कि सृष्टि की रचना एक समय कहीं एक काल में नहीं हो गई थी वरन् वह स्वयं विकसित हो रही है। भूगर्भ-शास्त्र (Geology) धीरे धीरे अपनी खोजों से विश्व के इतिहास का एक बहुत बड़ा अतीत हमारे सामने लाता जा रहा है।

इतना संकेत तो मिल ही चुका था कि प्रारम्भ में कुछ एक सादे रूप थे जो कि विकसित होकर अन्य रूपों में परिवर्तित होते गये और इसी प्रकार विश्व-विकास का कार्य चलता गया। अनेकों विचारकों के पश्चात् लामार्क ने प्रयोग में लाने अथवा न लाने को किसी सीमा तक विकास का आधार बनाना चाहा। उनके विचारानुसार व्यक्ति अपने किसी अंग विशेष का

विकास उसके प्रयोग में लाने अथवा न लाने के आधार पर ही कर अथवा न कर पाया। यह डार्विन से पूर्व की बात थी। १८५९ में डार्विन की पुस्तक (Origin of species) प्रकाशित हुई। और इसने जीवशास्त्र के इतिहास में एक नवीन युग उपस्थित कर दिया। विकासवादी विचार-धारा का समाजशास्त्र पर भी प्रभाव पड़ा और जीवशास्त्रीय सिद्धान्तों को समाजशास्त्र के क्षेत्र में भी लागू किया जाने लगा। यहाँ तक ही नहीं इन सिद्धान्तों के आधार पर स्पेन्सर जैसे विद्वानों ने आचार-शास्त्र और राजनीति-शास्त्र तक में नवीन विचारशैलियों को जन्म दे डाला। समाजशास्त्र के अंग परिवार आदि में भी इन सिद्धान्तों का प्रवेश होने लगा। इन सब का और भले ही कुछ भी प्रभाव हो इसने यह तो सिद्ध कर दिया कि जीव-शास्त्र की खोजों का भी समाजशास्त्र के तथ्यों पर कितना प्रभाव पड़ता है। यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से जीव-शास्त्र और समाजशास्त्र का कोई उतना घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं है किन्तु एक की खोजों का दूसरे के विषय पर प्रभाव पड़ता ही है अतः किसी एक सीमा तक इन दोनों शास्त्रों का परस्पर सम्बन्ध स्वीकार कर लेना ही उचित जान पड़ता है।

वस्तुतः मानव जीवन से सम्बन्धित होने के कारण समाजशास्त्र का लगभग सब ही ज्ञान, विज्ञान एवं शास्त्रों से किसी न किसी प्रकार का सम्बन्ध रहता ही है, और हमें यही मानकर चलना चाहिए।

अध्याय ३

सामाजिक व्यवहार और उसका संगठन

सामाजिक जीवन का प्रारम्भ—मानव के सामाजिक जीवन का प्रारम्भ कब और कैसे हुआ यह एक विचारणीय प्रश्न है। हो सकता है कि कभी किसी एक काल में मानव एकाकी तथा व्यक्तिगत जीवन ही व्यतीत करता रहा हो, और तत्पश्चात् उसने सामाजिक जीवन का आरम्भ किया हो। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसके स्वभाव में प्राकृतिक रूप से ही कुछ ऐसे गुण हैं जो कि उसके सामाजिक जीवन की ओर प्रेरित करते हैं। उन्हीं के आधार पर मानव को सामाजिक जीव तक माना जाता है किन्तु उसके स्वभाव में कुछ समाज विरोध तत्त्व भी तो हैं ही अतः यह देखना आवश्यक हो जाता है कि उसके सामाजिक जीवन का प्रारम्भ कैसे हुआ। ऐसा कर पाने के लिए यह देख लेना आवश्यक है कि मानव के सामाजिक जीवन में कौन से प्रमुख तत्त्व हैं।

हम इससे पूर्व भी संकेत कर चुके हैं कि 'समाज' केवलमात्र मानव प्राणियों में ही हो, ऐसी बात नहीं है। पशुओं में भी समाज होते हैं, हो सकते हैं। किन्तु मानव का सामाजिक जीवन सम्भवतः अन्य प्राणियों के सामाजिक जीवन से भिन्न है और अधिक विकसित तो है ही। यह एक निर्विवाद सत्य है। इसका एक तो कारण यह है कि मानव ही एक ऐसा प्राणी है जो कि भाषा का भली प्रकार प्रयोग करता है, बोलता, सीखता, लिखता और पढ़ता है। और सम्भवतः भाषा का उपयोग करके ही वह अन्य बहुत से ऐसे कार्य कर पाया है जो कि मानव की प्रकृति पर विजय की घोषणा करते हैं। यद्यपि कुछ अन्य पशुओं ने भी बुद्धि के चिह्न दिखाये हैं किन्तु मानव सब ही प्राणियों से अधिक बुद्धिमान् है, यह सत्य है। भाषा मानव के लिए जन्मगत गुण ही है। यह समूह अथवा सामूहिक जीवन की देन नहीं हो सकती है क्योंकि बहुत से अन्य प्राणी भी सामूहिक जीवन व्यतीत करते हैं किन्तु उन्हें भाषा और बोलने पर अधिकार प्राप्त नहीं है। अतः अन्य प्राणियों से अधिक मानव में बोलने की और अपनी समस्याओं को समझकर

सुलझाने, हल करने की योग्यता होती है। बोलने के अतिरिक्त मानव में सीखने की भी अद्भुत क्षमता होती है। वह अनुसरण तो करता ही है आस-पास के वातावरण से बहुत कुछ सीखता भी है किन्तु इस सबका उचित उपयोग मानव तब ही तो कर पाता है जब कि उसका वातावरण उसके विकास में सहायक हो। अतः मानव के सामाजिक जीवन एवं तत्सम्बन्धी अनुभवों में प्राकृतिक वातावरण का बहुत भारी हाथ रहता है। वातावरण के अतिरिक्त सामाजिक उत्तराधिकार अथवा सामाजिक प्रथाएँ, परम्पराएँ आदि उसके सामाजिक जीवन पर प्रभाव डालती हैं। उसके जन्म और समाज में स्थिति तथा उस समूह का भी उस पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है जिसमें वह जन्म लेता है। इन विभिन्न प्रकार के प्रभावों का मानव के सामाजिक जीवन से क्या और कैसा सम्बन्ध है इसकी चर्चा हम यथास्थान करेंगे किन्तु इतना तो निश्चित ही है कि आज हम जिस मानव की चर्चा करते हैं वह इन सब प्रभावों से प्रभावित होकर ही खड़ा रहता है। अब देखना यह है कि क्या कभी वह काल भी रहा होगा जबकि मानव इन प्रभावों से शून्य और एकाकी था। यदि ऐसा कभी कोई समय था ही तो किस प्रकार उसके पश्चात् मानव के सामाजिक जीवन का आरम्भ हुआ।

उस युग की कल्पना करना भी कठिन है जब कि मानव का जीवन प्रायः एकाकी था। आज हम उस मानव को भले ही 'जंगली' अर्थात् गुफाओं आदि में रहनेवाला कह लें किन्तु उस समय भी उसका जीवन सर्वथा एकाकी था, यह कहना कठिन है। उस युग में भी स्त्री-पुरुष के परस्पर सम्बन्ध तो रहते ही होंगे, बच्चों का जन्म होता ही होगा, भले ही उस समय तक पिता का, पति का उत्तरदायित्व आदि कल्पना से भी परे के विचार रहे हों। जो हो, मानव एकाकी होते हुए भी, उस समय भी आत्म-रक्षा करने के लिए और विशेषतया हिंसक पशुओं के विरुद्ध आत्मरक्षा करने के लिए एक से अधिक हो जाता ही होगा। यह वह अवस्था रही होगी जब कि अग्नि से मानव परिचित हो गया होगा, आत्मरक्षा के लिए उसने जैसे भी हो हथियारों का प्रयोग करना आरम्भ कर दिया होगा और दलीय जीवन नहीं तो कम से कम पारिवारिक जीवन तो आरम्भ कर ही दिया होगा। अतः एकबारगी एकाकी जीवन तो मानव का कदाचित् ही कभी रहा हो किन्तु पारिवारिक जीवन तो कुछ देर तक रहा ही होगा। इसका यह अर्थ नहीं है कि आज के युग में मानव का पारिवारिक जीवन है ही नहीं। अन्तर केवल इतना ही है कि आज

यद्यपि मानव परिवार में रहता है, परिवार का सदस्य होता है फिर भी उसका जीवन केवलमात्र परिवार तक ही सीमित नहीं हो जाता है। वरन् परिवार उसके जीवन में एक स्थान रखते हुए भी 'एकमात्र' नहीं होता है जब कि उस युग में मानव के समग्र जीवन की इतिश्री परिवार में ही थी। आज भी लंका और कुछ अन्य स्थानों पर कुछ ऐसे बिखरे हुए मानव-परिवार हैं जो कि पेड़ों पर, गुफाओं में अथवा अत्यन्त प्राचीन काल की ही भाँति बनी हुई झोपड़ियों में रहते हैं। कभी कभी वर्षा-ऋतु में एक ही गुफा में दो तीन परिवार भी रह जाते हैं किन्तु उनके जीवन में न तो कोई व्यवस्था ही है, न शृङ्खला ही और न सामाजिक संगठन ही। हो सकता है कि संगठित सामाजिक जीवन से पूर्व सब ही मानव इसी प्रकार रक्त सम्बन्ध के आधार पर परिवार बनाकर पारिवारिक जीवन में ही रहते हों और उनका वासस्थान गुफाएँ आदि ही होती हों। किसी विपत्ति के आने पर वे सम्भवतः आस-पास एकत्रित हो जाते हों किन्तु यह भी उनके संगठन का आधार न होकर अस्थायी एकत्रित होना मात्र ही होता होगा। परिवार ही तब मानव के सामाजिक जीवन का सम्पूर्ण होता होगा जबकि आज के युग में परिवार मानव के सामाजिक जीवन का एक अंशमात्र ही है, सम्पूर्ण नहीं। जो हो मानव के सामाजिक जीवन का आरम्भ 'परिवार' को लेकर ही हुआ होगा। 'परिवार' के पश्चात् ही अन्य सामाजिक समूह स्थापित हुए होंगे।

सामाजिक विकास के विभिन्न काल—मानव की सभ्यता के पूर्व की अवस्था गुफा आदि में रहकर शिकार करके जीवन यापन करने की अवस्था ही रही होगी। इसी स्थिति को मृगया करने तथा मछली पकड़कर जीवन यापन करने की अवस्था अथवा काल (The hunting and fishing stage) कहा जा सकता है। जो हो परिवार को अत्यन्त प्राचीन सामाजिक समूह माना जा सकता है और सम्भवतः सामाजिक जीवन की पूर्वावस्था में यह ही एकमात्र सामाजिक समूह रहा होगा। जब इस प्रकार कुछ परिवार गुफाओं आदि में एक स्थान पर रहते होंगे तो उन परिवारों को आसपास ही दूसरे स्थान पर वैसे ही अन्य परिवारों के रहने का सम्भवतः आभास भी नहीं होता होगा। और यदि होता भी होगा तो बहुत धुँधला-सा ही। वर्ग भेद की तो चर्चा ही क्या सम्भवतः उस समय तक संगठित रूप में युद्ध भी नहीं होते होंगे। शिकार को लेकर छोटे मोटे व्यक्तियों अथवा परिवारों में लड़ाइयाँ तो होती ही होंगी किन्तु संगठित ढंग पर युद्ध करना मानव की

उस समय तक कल्पना में भी नहीं रहा होगा। और ऐसी अवस्था में वैवाहिक सम्बन्ध भी परिवार के ही व्यक्तियों में सीमित रहते होंगे। सम्भवतः उस समय तक दल, दलपति, दास, स्वामी, सम्पत्ति आदि की भी कल्पना नहीं की गई होगी। मानव तब तक प्रकृति से उतना अधिक परिचित भी नहीं हो पाया होगा अतः प्रकृति पर विजय प्राप्त करने की बात तो बहुत ही दूर की होगी। किन्तु प्राकृतिक घटनाओं, दैवी विपत्तियों से तो उसका समय समय पर परिचय होता ही होगा और यह भी सम्भव है कि वह उन सबका सम्बन्ध किसी अपने से दूर परे की ऐसी शक्ति से लगाता हो जिससे कि वह बहुत ही अधिक भय खाता था। अतः इसी भय के कारण जादू-टोने, भूत-प्रेत आदि में उसका विश्वास रहा होगा। यद्यपि आज हमारे पास कोई भी तो ऐसा उपाय नहीं है जिससे कि हम उस काल की अवस्था जान सकें। यह भी आवश्यक नहीं है कि उस काल का रहन-सहन ठीक वैसा ही हो जैसा कि हमें आज के दो एक ऐसे समूहों का देखने को मिलता है जिनके जीवन का मुख्य केन्द्र परिवार ही है। फिर भी इतना तो माना ही जा सकता है कि उस काल के सामाजिक जीवन की सीमाएँ परिवार तक ही थीं। उस युग का सामाजिक संगठन तो अनिश्चित था ही, रीति-नीति, प्रथा आदि भी मनवाने का रंग-ढंग अनिश्चित ही रहा होगा और सम्भवतः इस सब का कारण मानव की विचारधारा का ही अनिश्चित होना था। यह भी सम्भव है कि उस समय तक मानव ने सोचना विचारना आरम्भ भी न किया हो। वस्तुतः उस युग तक तो मानव का एकमात्र ध्येय अपनी शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति मात्र ही रहा होगा। और मृगया आदि से वह अपनी भूख तथा अन्य सरल उपायों से वह अपनी और ऐसी ही शारीरिक आवश्यकताएँ पूर्ण कर लिया करता होगा किन्तु यह भी सम्भव है कि उस काल तक मानव एक स्थान पर उसी को निवासस्थान बनाकर रहना भी न सीख पाया हो और उस समय तक उसका जीवन घूमते-फिरते रहनेवालों का ही जीवन रहा हो। हम पहले ही कह चुके हैं कि यद्यपि इस जीवन के पीछे आज दिन के उच्च सामाजिक गुण एवं तथ्य निहित नहीं थे। मानव का जीवन अत्यन्त सरल, सीधा और प्रायः एकरस निश्चित-सा ही था फिर भी वह एकबारगी एकाकी नहीं था। उसमें यद्यपि सभ्यताजन्य सामाजिकता नहीं थी फिर भी पारिवारिक एकता तो रही ही होगी। किन्तु इस समय तक भी अनिश्चितता का ही साम्राज्य था। वस्तुतः सभ्यता

के साथ साथ ही निश्चितता का उदय होता है। सम्भवतः पहले विश्वासों में दृढ़ता, निश्चितता आती है और उसके पश्चात् ही तो वैज्ञानिक दृढ़ विश्वासों के आधार पर निश्चितता का प्रादुर्भाव होता है। कुछ ऐसी संस्थाएँ भी दिखाई देती हैं जो कि आज के समाज में स्थापित संस्थाओं से इतनी अधिक भिन्न हैं कि उन्हें पुरातन 'जंगली' अथवा 'प्रारम्भिक युग' का चिह्न माना जा सकता है। प्रायः ऐसी वे ही संस्थाएँ हैं जिनका कि स्वरूप सुनिश्चित और स्पष्ट नहीं है। अब यह तो कहा जा सकता है कि ये संस्थाएँ हमारे युग से कहीं पूर्व, सुदूर अतीत में सभ्यता की छाया से परे रही होंगी किन्तु यह नहीं कहा जा सकता है कि ये संस्थाएँ अपने प्रारम्भिक रूप में ही जीवित रह गईं अथवा विकसित तो हुईं किन्तु भली प्रकार विकसित न हो पाईं। यह भी हो सकता है कि इनमें से कुछ ऐसी हों जिनका कि केवल आंशिक विकास हुआ हो और सहस्रों वर्षों की गम्भीर खाई ने उनकी रूपरेखा अत्यधिक परिवर्तित कर दी हो। एक और भी बात है। जहाँ तक संस्थाओं का सम्बन्ध है हम केवल मात्र योरुप के प्रचलित समाज को ही लेकर चलते हैं किन्तु योरुप के समाज के अतिरिक्त अन्य देशों के समाज में प्रचलित संस्थाएँ भी यह आवश्यक नहीं है कि प्रारम्भिक युग की ही प्रतीक हों अथवा उनके विकास का स्तर अभी तक प्रारम्भिक युग का ही हो। यह भी तो हो सकता है कि कुछ संस्थाओं का विकास योरुप की संस्थाओं के विकास से भिन्न ढंग पर हुआ हो और वह उस ढंग से विकसित होकर आज अपने उन्नत रूप में हों। संस्थाएँ भले ही किसी भी देश की हों अस्पष्टता और तज्जन्य अव्यवस्था सभ्यता के चिह्न नहीं हैं। वस्तुतः स्पष्टता, सुव्यवस्था, निश्चित स्वरूप आदि सभ्यता की दिशा में उन्नति की ओर संकेत करते हैं। किसी भी समाज में संस्थाओं, समितियों एवं संगठनादि का निश्चित स्वरूप प्रत्येक, व्यक्ति के लिए न्याय प्राप्ति की सुविधा और सुगमता, प्रत्येक व्यक्ति के लिए साधारण जीवन की सुरक्षा और जीवन यापन की आवश्यक सुविधाओं की प्राप्ति सुलभ होना उस समाज की उन्नत सभ्यता के चिह्न होते हैं। इसी प्रकार वैज्ञानिक आधारों पर भूतप्रेतादि के भय से मुक्त होकर विश्व के रहस्यों को समझ पाने की चेष्टाएँ करना मानव को उन्नति की ओर ले जानेवाले प्रयत्न होते हैं। आज से सहस्रों वर्ष पूर्व का मानव विद्युत् शक्ति, वर्षा, आँधी यहाँ तक कि वायु से बाँसों के खोखले स्थानों में से निकलनेवाले शब्दों तक से अपरिचित रहा होगा। शरीर-रक्षा, प्राण-रक्षा तो नैसर्गिक संस्कार है ही अतः उसे प्राण रक्षा के लिए इन सबसे भी भय ही लगता होगा। यही नहीं

अपने पूर्वजों की मृत्यु ने भी उसे एक प्रकार की सहानुभूति ही तो प्रदान की थी अतः वह यह कल्पना करके सन्तुष्ट होना चाहता होगा कि उसके पूर्वज मृत्यु के पश्चात् भी किसी न किसी रूप में जीवित है और वह उस रूप से भी भय खाने लगा होगा क्योंकि वह स्वरूप उसका परिचित भी नहीं था और उसके अनुभव की वस्तु भी नहीं था। ऋतु-परिवर्तन तक उसके भय का कारण होता होगा। अतः चारों ओर की, हर प्रकार की, एक ढंग की अनिश्चितता ने उसके मन को भिन्न-भिन्न प्रकार के भय से भर दिया होगा और उन भय-कारणों से मुक्ति प्राप्त करने के लिए उसने उनकी पूजा करना आरम्भ किया होगा। सम्भवतः 'प्रारम्भिक-काल' में मानव के पारिवारिक जीवन की यही अवस्था रही होगी। यदि उसके कुछ संगठन भी रहे होंगे जैसे परिवार आदि तो उनकी सीमाएँ भी अनिश्चित और अस्पष्ट-सी ही होंगी तथा उनमें भी परस्पर स्थापित अन्तः सम्बन्धों का आधार ममता रही होगी अथवा भय। इससे इतना तो निश्चितप्राय ही जान पड़ता है कि संगठन और विश्वासों की शिथिलता, अस्पष्टता और अनिश्चितता आदि का सम्बन्ध निम्न कोटि की अथवा प्रारम्भिक सभ्यता से ही लगाया जा सकता है।

जान पड़ता कि प्रारम्भिक मृगया और मत्स्याहार के जीवन के पश्चात् गुफाओं में रहनेवाले आदि मानव ने कुछ पशुओं पर विजय प्राप्त करना आरम्भ किया। अपनी सहायता के लिए, दासता के लिए उन्होंने कुछ पशुओं को पालतू कर लिया और वे पशु मानव की सम्पत्ति बनने लगे। सम्भवतः मानव ने यहीं से प्रकृति पर विजय करना प्रारम्भ किया। और यहीं से निजी सम्पत्ति की भावना का भी आरम्भ हुआ हो सकता है कि इसी अवस्था में मानव ने परिवार की सीमाओं को विस्तृत करना भी आरम्भ कर दिया हो। सम्भवतः छोटे मोटे दलों की भी नींव यहीं से पड़ी होगी। अभी तक मानव कृषि विज्ञान से सर्वथा अनभिज्ञ रहा होगा तब ही तो उसके लिए घूमते-फिरते रहना सम्भव था। इसके बाद ही मानव ने धरती की छाती फाड़कर अपने लिए अन्न निकाल पाना सुलभ किया। यह हमारी सभ्यता की तीसरी सीढ़ी थी। कृषि करना आरम्भ करने पर मानव को एक स्थान पर आवश्यक रूप से रहना भी पड़ा और यहीं से हमारे स्थिर जीवन का आरम्भ हुआ। एक ओर तो मानव पशुधन के रूप में निजी सम्पत्ति के लाभों का आस्वादन कर चुका था और दूसरी ओर कृषि के कारण उसे एक स्थान पर स्थिर होकर रहना पड़ा। सम्भवतः उसने यह भी अनुभव किया होगा कि अच्छी, उपजाऊ भूमि के ग्राहक और भी व्यक्ति अथवा दल हो सकते हैं अतः उपजाऊ भूमि उसी

के साथ साथ ही निश्चितता का उदय होता है। सम्भवतः पहले विश्वासों में दृढ़ता, निश्चितता आती है और उसके पश्चात् ही तो वैज्ञानिक दृढ़ विश्वासों के आधार पर निश्चितता का प्रादुर्भाव होता है। कुछ ऐसी संस्थाएँ भी दिखाई देती हैं जो कि आज के समाज में स्थापित संस्थाओं से इतनी अधिक भिन्न हैं कि उन्हें पुरातन 'जंगली' अथवा 'प्रारम्भिक युग' का चिह्न माना जा सकता है। प्रायः ऐसी वे ही संस्थाएँ हैं जिनका कि स्वरूप सुनिश्चित और स्पष्ट नहीं है। अब यह तो कहा जा सकता है कि ये संस्थाएँ हमारे युग से कहीं पूर्व, सुदूर अतीत में सभ्यता की छाया से परे रही होंगी किन्तु यह नहीं कहा जा सकता है कि ये संस्थाएँ अपने प्रारम्भिक रूप में ही जीवित रह गई अथवा विकसित तो हुई किन्तु भली प्रकार विकसित न हो पाई। यह भी हो सकता है कि इनमें से कुछ ऐसी हों जिनका कि केवल आंशिक विकास हुआ हो और सहस्रों वर्षों की गम्भीर खाई ने उनकी रूपरेखा अत्यधिक परिवर्तित कर दी हो। एक और भी बात है। जहाँ तक संस्थाओं का सम्बन्ध है हम केवल मात्र योरुप के प्रचलित समाज को ही लेकर चलते हैं किन्तु योरुप के समाज के अतिरिक्त अन्य देशों के समाज में प्रचलित संस्थाएँ भी यह आवश्यक नहीं है कि प्रारम्भिक युग की ही प्रतीक हों अथवा उनके विकास का स्तर अभी तक प्रारम्भिक युग का ही हो। यह भी तो हो सकता है कि कुछ संस्थाओं का विकास योरुप की संस्थाओं के विकास से भिन्न ढंग पर हुआ हो और वह उस ढंग से विकसित होकर आज अपने उन्नत रूप में हों। संस्थाएँ भले ही किसी भी देश की हों अस्पष्टता और तज्जन्य अव्यवस्था सभ्यता के चिह्न नहीं हैं। वस्तुतः स्पष्टता, सुव्यवस्था, निश्चित स्वरूप आदि सभ्यता की दिशा में उन्नति की ओर संकेत करते हैं। किसी भी समाज में संस्थाओं, समितियों एवं संगठनादि का निश्चित स्वरूप प्रत्येक, व्यक्ति के लिए न्याय प्राप्ति की सुविधा और सुगमता, प्रत्येक व्यक्ति के लिए साधारण जीवन की सुरक्षा और जीवन यापन की आवश्यक सुविधाओं की प्राप्ति सुलभ होना उस समाज की उन्नत सभ्यता के चिह्न होते हैं। इसी प्रकार वैज्ञानिक आधारों पर भूतप्रेतादि के भय से मुक्त होकर विश्व के रहस्यों को समझ पाने की चेष्टाएँ करना मानव को उन्नति की ओर ले जानेवाले प्रयत्न होते हैं। आज से सहस्रों वर्ष पूर्व का मानव विद्युत् शक्ति, वर्षा, आँधी यहाँ तक कि वायु से बाँसों के खोखले स्थानों में से निकलनेवाले शब्दों तक से अपरिचित रहा होगा। शरीर-रक्षा, प्राण-रक्षा तो नैसर्गिक संस्कार है ही अतः उसे प्राण रक्षा के लिए इन सबसे भी भय ही लगता होगा। यही नहीं

अपने पूर्वजों की मृत्यु ने भी उसे एक प्रकार की सहानुभूति ही तो प्रदान की थी अतः वह यह कल्पना करके सन्तुष्ट होना चाहता होगा कि उसके पूर्वज मृत्यु के पश्चात् भी किसी न किसी रूप में जीवित हैं और वह उस रूप से भी भय खाने लगा होगा क्योंकि वह स्वरूप उसका परिचित भी नहीं था और उसके अनुभव की वस्तु भी नहीं था। ऋतु-परिवर्तन तक उसके भय का कारण होता होगा। अतः चारों ओर की, हर प्रकार की, एक ढंग की अनिश्चितता ने उसके मन को भिन्न-भिन्न प्रकार के भय से भर दिया होगा और उन भय-कारणों से मुक्ति प्राप्त करने के लिए उसने उनकी पूजा करना आरम्भ किया होगा। सम्भवतः 'प्रारम्भिक-काल' में मानव के पारिवारिक जीवन की यही अवस्था रही होगी। यदि उसके कुछ संगठन भी रहे होंगे जैसे परिवार आदि तो उनकी सीमाएँ भी अनिश्चित और अस्पष्ट-सी ही होंगी तथा उनमें भी परस्पर स्थापित अन्तः सम्बन्धों का आधार ममता रही होगी अथवा भय। इससे इतना तो निश्चितप्राय ही जान पड़ता है कि संगठन और विश्वासों की शिथिलता, अस्पष्टता और अनिश्चितता आदि का सम्बन्ध निम्न कोटि की अथवा प्रारम्भिक सभ्यता से ही लगाया जा सकता है।

जान पड़ता कि प्रारम्भिक मृगया और मत्स्याहार के जीवन के पश्चात् गुफाओं में रहनेवाले आदि मानव ने कुछ पशुओं पर विजय प्राप्त करना आरम्भ किया। अपनी सहायता के लिए, दासता के लिए उन्होंने कुछ पशुओं को पालतू कर लिया और वे पशु मानव की सम्पत्ति बनने लगे। सम्भवतः मानव ने यहीं से प्रकृति पर विजय करना प्रारम्भ किया। और यहीं से निजी सम्पत्ति की भावना का भी आरम्भ हुआ। हो सकता है कि इसी अवस्था में मानव ने परिवार की सीमाओं को विस्तृत करना भी आरम्भ कर दिया हो। सम्भवतः छोटे मोटे दलों की भी नींव यहीं से पड़ी होगी। अभी तक मानव कृषि विज्ञान से सर्वथा अनभिज्ञ रहा होगा तब ही तो उसके लिए घूमते-फिरते रहना सम्भव था। इसके बाद ही मानव ने धरती की छाती फाड़कर अपने लिए अन्न निकाल पाना सुलभ किया। यह हमारी सभ्यता की तीसरी सीढ़ी थी। कृषि करना आरम्भ करने पर मानव को एक स्थान पर आवश्यक रूप से रहना भी पड़ा और यहीं से हमारे स्थिर जीवन का आरम्भ हुआ। एक ओर तो मानव पशुधन के रूप में निजी सम्पत्ति के लाभों का आस्वादन कर चुका था और दूसरी ओर कृषि के कारण उसे एक स्थान पर स्थिर होकर रहना पड़ा। सम्भवतः उसने यह भी अनुभव किया होगा कि अच्छी, उपजाऊ भूमि के ग्राहक और भी व्यक्ति अथवा दल हो सकते हैं अतः उपजाऊ भूमि उसी

के अधिकार में रह सकेगी जो कि अपने बाहुबल से उसकी रक्षा करने में समर्थ हो और ऐसा करना एक व्यक्ति अथवा परिवार के लिए सम्भव नहीं है। इसके अतिरिक्त भूमि से अन्न उत्पन्न करने के लिए भी सम्मिलित शक्ति की आवश्यकता पड़ी होगी। एक स्थान पर रहने के कारण जीवन में भी तनिक-सी स्थिरता आई ही होगी; अतः यहीं से कई कई परिवारों ने एक ही स्थान पर बसकर ग्राम्य जीवन आरम्भ किया होगा। इसका यह अर्थ नहीं है कि इससे पूर्व प्रत्येक परिवार अपना एकाकी जीवन लेकर ही चलता था। युद्ध, आक्रमणादि ने पहले भी कई कई परिवारों को सम्मिलित होकर दल आदि बनाने के लिए विवश किया था किन्तु वे दल भी ग्राम्य जीवन स्थापित नहीं कर पाये थे क्योंकि उनका कोई विशेष वासक्षेत्र नहीं था। कृषि के आविष्कार ने ऐसा करना सम्भव कर दिया।

प्रायः सभी प्रारम्भिक मानव रक्त-जातियों ने ग्राम्य जीवन का आस्वादन किया होगा। इस काल की इससे पूर्व के काल से विशेषता यही थी कि कृषि के आविष्कार के साथ साथ इस युग के मानव ने भूमि के एक विशेष खण्ड को लेकर उसी पर स्थायी रूप से बसना आरम्भ कर दिया था और वह भूखण्ड मानवों के उस दल के जो कि उस पर बसता था सम्मिलित रूप से अधिकार में था। वे सभी व्यक्ति उसमें कृषि करते थे और प्रायः एक ही स्थान पर रहते भी थे। अनेकानेक घूमते-फिरते मानवों का, दलों का स्थान स्थान पर बस जाना अर्थात् प्रत्येक दल का एक भूखण्ड लेकर उस पर ही स्थायी रूप से जम जाना गाँव कहा जा सकता है। अतः असंख्य परिवार इस प्रकार से पृथक्-पृथक् भूखण्ड लेकर अपने छोटे-छोटे दलों में बस गये। इसका यह अर्थ नहीं है कि उन्होंने मृगया का, घूमने-फिरने आदि का सर्वथा त्याग कर दिया और कृषि करना ही प्रारम्भ कर दिया; वरन् अब भी वे आंशिक रूप से कृषिकार बने और आंशिक रूप में शिकारी भी बने रहे, आखेट आदि भी करते ही रहे। अब तक सम्भवतः परिवार का मुखिया वह व्यक्ति बनाया जाता था जो सर्वाधिक बलिष्ठ होता था। इसी प्रकार कई परिवारों के सम्मिलित दल का मुखिया भी बलिष्ठ व्यक्ति ही चुना जाता होगा। किन्तु उस समय तक मुखिया चुनने आदि की व्यवस्था में भी अस्पष्टता और अनिश्चितता की ही मात्रा अधिक रही होगी किन्तु स्थायी वासस्थान हो जाने पर जीवन में भी कुछ अधिक स्थिरता, कुछ अधिक निश्चितता का समावेश हो गया होगा। प्रत्येक परिवार अपना 'गृह', वासस्थान बनाने लगा और परिवारों के मुखियों ने मिलकर ग्राम सभा

आदि की नींव डाली। ग्राम-सभा के साथ ही साथ ग्राम के मुखिया पद की भी स्थापना हुई होगी। और सम्भवत: इस प्रकार के कई ग्रामों में बसनेवाले एक ही दल के व्यक्तियों का कोई दलपति अथवा दल का मुखिया भी होता होगा अत: ग्राम-समुदाय की स्थापना हो गई। सम्भवत: परिवार के पश्चात् यह पहला ही मानव सामाजिक समूह था जिसकी कि स्थापना हुई। ग्राम समुदाय किसी सीमा तक अपने आप में ही पूर्ण था। उसे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कहीं बाहर जाना नहीं पड़ता था। प्राय: उसके सब ही सदस्यों की आवश्यकताएँ ग्राम से ही पूरी हो जाती थीं। ग्राम का शासन भी ग्राम के भीतर उसके सदस्यों द्वारा ही हो जाता था। यह एक ऐसा सामाजिक जीवन था जो यद्यपि अत्यन्त संकीर्ण और सीमित रूप में था तथापि मानव के सामाजिक जीवन का एक रूप अवश्य था। आज दिन भी यदि हम किसी बहुत ही नगर से दूर, यातायात के सुलभ साधनों से परे के ग्राम में मानव के सामाजिक जीवन का अध्ययन करें तो सम्भवत: हमें ग्राम जीवन के पुरातन रूप की तनिक सी झलक दिखाई दे जाये। इस प्रकार के ग्रामों में साधारण नागरिक जीवन की हलचलों और सभ्य संसार की गति-विधि का प्रभाव नहीं पड़ पाता है। यद्यपि इनसे हम केवल उस प्रकार के जीवन का अनुमान मात्र ही कर सकते हैं क्योंकि युगों की लम्बी खाई ने विश्व का चित्र कुछ इतना अधिक परिवर्तित कर दिया है कि आज का मानव उस युग के जीवन की यथार्थ रूप में कल्पना भी नहीं कर पाता है। फिर भी इतना तो है ही कि ग्राम जीवन अत्यन्त संकीर्ण जीवन था क्योंकि कोई भी एक ग्राम अपने आप में ही इतना पूर्ण होता था कि उसे अन्य ग्रामों से सम्बन्ध स्थापित करने की सम्भवत: प्रारम्भिक युग में आवश्यकता ही नहीं पड़ती थी। और कोई भी वह सामाजिक व्यवस्था जो कि अपने आप में ही पूर्ण होगी अथवा स्वयं सन्तुष्ट रहना चाहेगी जीवन को संकुचित तो बना ही देगी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अब मानव के जीवन में अधिक स्थिरता और निश्चितता आती जा रही थी। फिर भी घर-परिवार का महत्त्व अत्यधिक था और सम्भवत: उसी के आधार पर सामाजिक जीवन की नींव खड़ी की गई थी। सम्भवत: यही कारण है कि आज भी भारतीय सभ्यता में परिवार और पारिवारिक जीवन की पवित्रता का बहुत बड़ा स्थान है। मानव के अधिकारों का प्रश्न भी उसके पारिवारिक जीवन से ही आरम्भ हुआ होगा। हो सकता है इसी काल में पुरुष और स्त्री के बीच श्रम का

विभाजन भी हुआ हो। सम्भवतः इस युग के पूर्व तक पुरुष और स्त्री में, उनके साधारण जीवन यापन के लिए आवश्यक कार्यों में उतनी भिन्नता न रही हो किन्तु कृषि जीवन में स्त्रियों और पुरुषों के कार्यों में भिन्नता आ गई। हथियारों में भी विकास हुआ ही होगा। भारत की सिन्धु की वादियों में बसनेवाली जातियाँ तो सम्भवतः इस युग से आगे बढ़ चुकी थीं। मोहन-जो-डेरो आदि स्थानों की खुदाइयों से यह तो ज्ञात हो ही चुका है कि उस युग में वहाँ पक्की ईंटों का प्रयोग किया जाता था तथा नगरों का भी निर्माण हुआ होगा। ऐसी अवस्था में सिन्धु वादी की सभ्यता तो सम्भवतः नागरिक सभ्यता रही होगी। किन्तु वैदिक आर्यों का जीवन तो किसी सीमा तक ग्राम्य जीवन ही कहा जा सकता है। यदि ऋग्वैदिक आर्यों को ग्राम्य जीवन के युग का प्रतीक माना जाये तो यह मानना ही होगा कि सभ्यता की दृष्टि से वह बहुत आगे बढ़ चुके थे। तथा उनकी सभ्यता की उत्तरी अमेरिका के आदिवासियों की सभ्यता से कहीं, किसी प्रकार भी तुलना नहीं की जा सकती है। जो हो हम यहाँ वैदिक आर्यों के ग्राम जीवन और उनकी सभ्यता की चर्चा न करके केवल इतना ही कह देते हैं कि मानव ने अपने ग्राम जीवन काल में सामाजिक जीवन का विकास किया और सम्भवतः इसी काल में उसकी सभ्यता, उसकी संस्कृति, उसकी धार्मिक मतावलियों, नैतिक एवं राष्ट्रीय विचार-धाराओं का भी विकास हुआ किन्तु यह उसके ग्राम जीवन के प्रौढ़ काल की बातें हैं। इस समय तक वह सामाजिक जीवन के सहकारिता, श्रम-विभाजन, वस्तु-मूल्यांकन, संगठन आदि आवश्यक तत्त्वों से परिचित हो चुका था। सम्भवतः उसका धातु से भी परिचय हो गया था और वह हल आदि कृषि के साधनों तथा इनके लिए पशुओं की सहायता प्राप्त करने की अपने लिए सुविधाएँ भी प्राप्त कर चुका था। उसने अपने ही ढंग से न्याय सम्बन्धी सुविधाएँ भी कुछ न कुछ प्राप्त कर ही ली थीं और मानवाधिकारों के सम्बन्ध में भी विचार करना आरम्भ कर दिया था। वैदिक आर्यों ने तो तत्त्वज्ञान सम्बन्ध गहन प्रश्नों के हल खोजने भी आरम्भ कर दिये थे। जो हो साधारणतया ग्राम्य जीवन ने मानव के सामाजिक जीवन को विकास की ओर मोड़ा और वहीं से सामाजिक संगठन, सामाजिक व्यवस्था एवं राष्ट्रीय शासन की नींव पड़ना आरम्भ हुआ।

यद्यपि ग्राम्य जीवन में भी मानव ने कला और उद्योग-धन्धों का आवश्यकतानुसार आविष्कार कर लिया था फिर भी उद्योग-धन्धों की

प्रगति होती गई। मानव आवश्यकतानुसार कृषि द्वारा उत्पन्न अन्न के अतिरिक्त वस्त्रादि को बनाने लगा और उसका व्यवसाय भी करने लगा। वस्तुओं के लेन-देन के स्थान पर मूल्यांकन पद्धति का प्रचलन हुआ और नागरिक जीवन की नींव पड़ी। नगर बसाये गये, व्यापार आरम्भ किया गया, शिल्पादि का जन्म हुआ और मानव ने अधिकाधिक प्रकृति के रहस्यों का भेदन करना आरम्भ किया। ग्राम्य जीवन की सीमाएँ अभी तक संकुचित थीं नागरिक जीवन ने उन्हें विस्तृत एवं उदार बनाया। धीरे धीरे ग्राम का स्थान नगर लेने लगे और नगरों का संगठन होने लगा। प्रगतिशील राष्ट्र और उन्नतिशील समाज मानव के जीवन को नियन्त्रित करने लगे। किन्तु नागरिक समुदाय का उदय सम्पूर्ण देश अथवा सम्पूर्ण जाति को लेकर ही हुआ। यद्यपि प्राचीनकाल में यूनान में दास-प्रथा ने वैज्ञानिक साधनों के प्रति उनकी उत्सुकता और आकांक्षा को उतनी अधिक प्रेरणा नहीं दी जिसके फलस्वरूप वह यन्त्रादि की ओर अधिक आकर्षित नहीं हो पाये फिर भी नागरिकता और तज्जन्य अधिकार भावना को वहाँ भी प्रेरणा मिली ही थी। किन्तु ये अधिकार मानवाधिकार नहीं थे, वरन् थे एक वर्गविशेष के अधिकार। मानवता की भावना का उदय यूनान में भी समुचित रूप में नहीं हो पाया। वैज्ञानिक आविष्कारों ने मानव को प्रकृति के ऊपर अधिकाधिक अधिकार दिला दिये। मानव के नागरिक जीवन और वैज्ञानिक आविष्कारों ने, यन्त्रों की सहायता से विकसित और उन्नत उसके उद्योग-धन्धों आदि पर आश्रित आर्थिक जीवन ने उसके सामाजिक जीवन को अत्यन्त जटिल और मिश्रित सा बना दिया। सभ्यता का उदय हुआ। एक ओर तो भूमि के अधिकार की दृष्टि से बँटवारे होते रहे और दूसरी ओर कल-कारखानों को लेकर जीवन की जटिलता बढ़ती ही गई। दोनों ही ओर इच्छित सहयोग की भावना से कहीं अधिक बलपूर्वक श्रम छीन लेने की भावना ही अधिक व्याप्त होती रही। प्रकृति से विजय प्राप्त कर चुकने पर मानव के मानव से संघर्ष बढ़ते गये। दासता का युग समाप्त भी हो गया फिर भी मानव का दासत्व नहीं मिट पाया और मिश्रित जटिल जीवन, कठिन आर्थिक समस्याओं और आर्थिक जीवन की विषमताओं तथा सब ही कहीं स्वेच्छा से दिये गये सहयोग की भावना के अभाव ने मानव के लिए मानवाधिकार, स्वतन्त्रता, न्याय आदि प्रश्नों को खड़ा कर दिया। सामाजिक जीवन की विषमताएँ भी बहुत दूर तक इन प्रश्नों के उदय होने में उत्तरदायी हैं। वैज्ञानिक आविष्कारों के आधार पर स्थित सभ्यता, यातायात की सुविधाएँ,

पर कार्य करता गया। उद्योग-धन्धों के इस युग में तो इस सिद्धान्त का ही बोलबाला है यहाँ तक कि प्रत्येक क्षेत्र में विशेषज्ञों की आवश्यकता का अनुभव बहुत ही अधिक किया जाने लगा है। और चाहे जो भी कुछ हो मानव का आर्थिक वातावरण उसके सामाजिक जीवन और आचार-व्यवहार पर बहुत अधिक प्रभाव डालता है। किसी भी जाति की आर्थिक स्थिति उसकी सामाजिक अवस्था पर भी प्रभाव डालती ही है। आधुनिक युग में तो देश की आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन करने का अर्थ स्पष्ट ही उसकी सामाजिक अवस्था में भी परिवर्तन कर देना ही होता है। सभ्यता के युग में आर्थिक व्यवस्थाएँ विश्व की सामाजिक स्थिति पर भी किसी एक सीमा तक अधिकार, नियन्त्रण रखती हैं। पिछले कुछ युद्धों के कारण तो स्पष्ट रूप से आर्थिक ही रहे थे। यही नहीं, साधारण जीवन में रहन-सहन की रीति-नीति, विचारों की उदारता, प्रथाएँ, परम्पराएँ, रंग-ढंग आदि सभी कुछ तो आर्थिक वातावरण के आधार पर निश्चित होते हैं। एक अत्यन्त साधारण सा उदाहरण सम्भवतः हमारी विचारधारा को स्पष्ट कर देगा। एक बालक धनी परिवार में जन्म लेता है। बाल्यकाल से ही उसका अपना साबुन, तौलिया पृथक् रहा है। उसे वातावरण ने दूसरे के द्वारा प्रयोग में लाये हुए साबुन तौलिये से घृणा करना ही सिखाया है, यही उसका स्वभाव बन गया है और यही उसकी स्वच्छता का आदर्श है। ऐसा करना उसका स्वाभाविक आचार-व्यवहार सा हो गया है। वह दूसरे लोगों के साथ व्यवहार करते हुए भी ऐसा करना उचित और एक ही साबुन तौलिये का अनेकों मनुष्यों के द्वारा प्रयोग में लाना अनुचित समझता है। एक अन्य बालक अभावग्रस्त दरिद्र परिवार में जन्म लेता है जहाँ साबुन तौलिये तो प्रदर्शन की वस्तु के रूप में भी उसने नहीं देखे, वरन् उसका सारा परिवार एक ही दरी पर, एक ही रजाई ओढ़ कर सोता था। इस बालक के स्वच्छता सम्बन्धी विचार पहले बालक के स्वच्छता सम्बन्धी विचारों से सर्वथा भिन्न होंगे ही। अतः इन दोनों का स्वच्छता से सम्बन्धित सामाजिक आचार-व्यवहार भी सर्वथा भिन्न ही होगा और उसका कारण है वस्तुतः दोनों का अत्यधिक भिन्न आर्थिक वातावरण। अधिक उदार अर्थ में यदि मान लें तो इसे भी सामाजिक वातावरण में ही सम्मिलित कर सकते हैं। व्यक्ति पर ही नहीं, जातियों और देशों की सामाजिक स्थितियों पर, व्यवहार आदि पर भी उनकी आर्थिक अवस्थाओं का गहरा प्रभाव पड़ता ही है। आर्थिक वातावरण के परिवर्तन का प्रभाव किसी भी जाति अथवा समुदाय की समितियों, संस्थाओं, संगठनों पर

भी पड़ता है । भले ही सामाजिक परिवर्तन का कारण आर्थिक परिवर्तन न हो किन्तु ये दोनों चलते प्रायः साथ ही साथ हैं। यहाँ तक कि आर्थिक जीवन के वैज्ञानिक विकास ने नगर में बसनेवाले व्यक्तियों की सामाजिक स्थिति कुछ ऐसी कर दी है कि उसमें प्रथाओं का भी उतना अधिक महत्त्व आज नहीं रह गया है। उसमें प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपने व्यक्तिगत ढंग पर जीवन के ढंगों की खोज कर सकता है, विचारों का आदान-प्रदान कर सकता है अतः प्रथाओं का उतना महत्त्व नहीं रह गया है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि मानव सामाजिक शक्तियों के बन्धनों से सर्वथा मुक्त होकर व्यक्ति मात्र ही रह गया है। प्रथाओं के स्थान पर अब उसका बन्धन हो गई है जन-सम्मति, जिसका कि आज उसके मन पर, उसके जीवन पर अत्यधिक प्रभाव है।

आज दिन का हमारा सामाजिक वातावरण बाह्य की अपेक्षा कुछ अधिक आन्तरिक सा हो गया है। आज वह कुछ मानसिक और भीतरी सा ही होता जा रहा है। आज का मानव बाह्य वातावरण की, बाह्य स्थिति की अपेक्षा, उनसे सम्बन्धित विचारों से कुछ अधिक प्रभावित हो रहा है। अतः वह यह देखने लगा है कि इन सब का उसके जीवन के क्रियात्मक रूप पर क्या प्रभाव पड़ता है। आधुनिक आर्थिक व्यवस्था प्रकृति की देन को तो अधिक से अधिक विकसित करने के उपाय खोजती जा रही है किन्तु मानव के भीतर ही जिनका अस्तित्व है ऐसे अनेकों गुणों के विकास का उपाय खोज पाने की सम्भवतः उसे सुविधा ही नहीं हुई अथवा वह उसके कार्य क्षेत्र से अब तक बाहर ही रहा। अतः सामाजिक वातावरण आज आर्थिक वातावरण से कुछ अधिक होकर मानव के मन पर पड़ने वाले सूक्ष्म प्रभावों को भी अपने में ही सम्मिलित करता है और इन सब का ही मानव जीवन पर प्रभाव पड़ता है। आचार-व्यवहार तो मानव के जीवन का एक अंग ही है और जो कुछ व्यवहार हम देखते हैं वह तो कर्ता के चरित्र का ही दिग्दर्शन कराता है। चरित्र का निर्माण होता है वातावरण के प्रभावों को लेकर ही तो। मानव अधिकतर तो वही बनता है जो कि उसका वातावरण उसे बनाता है। अतः वातावरण का ही मानव के व्यवहार पर भी प्रभाव पड़ता है। हर प्रकार से देखने पर यही जान पड़ता है कि मानव के सामाजिक जीवन के विकास के साथ और उसके आचरण, उसके व्यवहार के साथ वातावरण का घनिष्ठ सम्बन्ध है क्योंकि यह उन सब पर प्रभाव डालता है। यह सत्य है कि वातावरण का प्रभाव सभी मानवों पर एक सा नहीं पड़

पाता है और इसका कारण हम देख ही चुके हैं। वह यह है कि मानव यन्त्र से भिन्न है। वह जीव है और उस पर प्रभाव डालना केवल मात्र प्रभाव डालनेवाले पर ही आश्रित नहीं रहता है वरन् उसके उस प्रभाव को ग्रहण करने पर भी आश्रित होता है। तिस पर प्रभाव डालने की रीति भी भिन्न-भिन्न हो सकती है और उसके फलस्वरूप प्रभाव की मात्रा भी भिन्न हो सकती है। अतः यह भी सम्भव है कि किसी व्यक्ति-विशेष पर वातावरण का प्रभाव कुछ त्रुटि पूर्ण पड़ पाया हो, न्यून पड़ पाया हो अथवा उतना गम्भीर न हो जितना कि अन्य व्यक्तियों पर साधारणतया पड़ता है किन्तु किसी-न-किसी सीमा तक तो यह प्रत्येक अवस्था में मानना ही पड़ता है कि मानव का सम्पूर्ण जीवन, उसका सम्पूर्ण आचरण, उसका समस्त व्यवहार उसके वातावरण की किसी-न-किसी अंश में छाप तो लिये ही रहता है अतः यह तो कहा ही जा सकता है कि मानव के सामाजिक जीवन पर, उसके व्यवहार पर उसके वातावरण का गहरा प्रभाव पड़ता है।

सभ्यता का विकास—वस्तुतः मानव-सभ्यता का आरम्भ 'कृषि' का आविष्कार होने तथा एक ही स्थान पर वास करने की प्रथा के साथ साथ हुआ। कृषि करने से पूर्व मानव जिस प्रकार का जीवन-यापन करता था उसमें घूम-फिरकर शिकार आदि करके भोजन जुटा पाना तो सम्भव था किन्तु एक ही स्थान पर जमकर रहने की सुविधा नहीं थी। उस समय तक सम्भवतः प्रकृति ही मानव को हर प्रकार से नाच नचाया करती थी। उस समय तक मानव का जीवन अधिकतर एकाकी था। चुधा और सुरक्षा प्रायः इन्हीं दो को लेकर वह जीवन-यापन करता था। यहाँ तक कि वासस्थान की समस्या भी उसके सम्मुख कुछ ऐसी विकट समस्या नहीं थी क्योंकि उसे अपने आखेट की खोज में निरन्तर स्थानान्तरित होते ही रहना पड़ता था। यद्यपि वासस्थान, वस्त्र और यहाँ तक कि कार्य-व्यवसाय, श्रम-समझौते आदि का भी उदय मानव की जीवन सम्बन्धी आवश्यकताओं के ही कारण हुआ किन्तु यह हुआ धीरे धीरे और वह भी मानव के सामूहिक जीवन की नींव पड़ जाने के पश्चात् ही। घूम-फिरकर ही जीवन-यापन करनेवाला, खानाबदोश मानव जब कृषि करने लगा तो उसे स्वभावतः एक ही स्थान पर अर्थात् कृषि-योग्य धरती के पास ही रहने की आवश्यकता का अनुभव हुआ। यही नहीं उसे यह भी ज्ञात पड़ा कि ऐसा कर पाने के लिए उसे अन्य व्यक्तियों के भी सहयोग की आवश्यकता है ताकि वे सब मिल-जुलकर अपने लिए आवश्यकतानुसार अन्न उत्पन्न

कर सकें जिससे कि उन्हें भोजन की खोज में दूर न जाना पड़े। इस प्रकार समूह में रहकर ही मानव ने समाज की नींव डाली। सम्भवतः प्रारम्भिक समाज में भूमि पर जनता का सामूहिक अधिकार ही रहता होगा। सभ्यता का आरम्भ तो वहाँ से हुआ जहाँ से कि 'भूमि-सम्पत्ति पर अधिकार' सम्बन्धी व्यवस्था की गई। हो सकता है कि पहले जो भूमि भिन्न भिन्न परिवारों ने सम्मिलित अथवा पृथक्-पृथक् अपने उपयोग के लिए, अन्न उपजाने के लिए ही कृषि के अर्थ प्रयोग में ली होगी वही कुछ काल पश्चात् उन्हीं परिवारों की सम्पत्ति मान ली गई। उस युग में भूमि ही तो एकमात्र उत्पादन का साधन थी अतः भू-सम्पत्ति ने वर्गविहीन समाज में वर्गों की उत्पत्ति की होगी। यहीं से बँटवारे का आधार व्यक्ति की आवश्यकता न होकर हो गया उसकी भू-सम्पत्ति और उसकी उत्पादन-शक्ति। भू-सम्पत्ति पर अधिकार का आधार भी आनुवंशिक हो गया। जनसंख्या की वृद्धि तो अनिवार्य थी ही अतः कुछ ऐसे भी व्यक्तियों का समाज में होना आवश्यक था जिनके पास कुछ भी भू-सम्पत्ति के नाम पर नहीं था। मानव स्वतन्त्र एवं एकाकी जीवन यापन की रीति-नीति विस्मरण कर चुका था। दूसरी ओर भू-सम्पत्ति के अधिकारी परिवारों में से कुछ परिवारों का ऐसा होना भी सम्भव ही था जो कि अपनी सारी भूमि को कृषि के उपयोग में अपने ही बाहुबल और परिश्रम के द्वारा नहीं ला पाते थे अतः श्रमिकों द्वारा कृषि करवाना आरम्भ हुआ। इस प्रकार की भू-व्यवस्था का अनिवार्य परिणाम था व्यक्तिगत-सम्पत्ति का उदय। यहीं से 'प्रतियोगिता' ने अपना कार्य करना आरम्भ कर दिया। इस युग से पूर्व का मानव केवल मात्र 'वर्तमान' के लिए ही कार्य करता था किन्तु इस युग का मानव वर्तमान के साथ ही साथ भविष्य के लिए, अपनी सन्तान के लिए भी कार्य करता था।

कृषि-कार्य के लिए मानव को साधनों की भी आवश्यकता पड़ी और उसने पशुओं को पालतू बनाकर उनसे कृषि-कार्य में सहायता लेना आरम्भ किया। अतः सम्पत्ति की सीमाएँ भूमि से बढ़कर पशुओं तक आ गईं। श्रमिक, जो कि वस्तुतः उस युग में दास मात्र ही थे निम्न वर्ग के गिने जाने लगे क्योंकि प्रायः वे और पशु एक ही सा कार्य करते थे। पशु भी जो कि 'सभ्यता के युग' से पूर्व मानव का शत्रु था अब मित्र और सहायक बन गया किन्तु मानव और मानव में भेद बढ़ता ही गया। सम्भवतः जिस प्रकार एक युग में, सभ्यता के उषाकाल में पशु ने मानव और मानव के बीच भेद की नींव रखी थी उसी प्रकार यन्त्रों का आविष्कार और उनकी लोकप्रियता

सम्भवतः इस युग में मानव के लिए दरिद्रता और बेकारी के रूप में एक अन्य ही प्रकार की दासता की नींव रखने जा रहे हैं। कृषि-कार्य को सुलभ बनाने के लिए अन्य औजारों का भी आविष्कार हुआ। सुरक्षित स्थान और कृषि-योग्य भूमि ने सम्भवतः सामूहिक भू-सम्पत्ति को जन्म दिया और ऐसा होने के परिणामस्वरूप न केवल समष्टिगत जीवन ही आरम्भ हुआ वरन् पारिवारिक जीवन भी सुदृढ़ और सुव्यवस्थित होता गया। व्यक्तिगत सम्पत्ति रखने की प्रथा का आरम्भ होने से कृषि-सम्बन्धी दासत्व की नींव पड़ी और धीरे धीरे वर्ग-भेद बढ़ने लगे।

एक ही स्थान पर बसनेवाले व्यक्ति ग्राम की सृष्टि कर बैठे। अपनी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति एक ही स्थान पर कर पाना ग्राम की विशेषता हो गई। किन्तु जनसंख्या तो बढ़नी ही गई अतः ग्रामों की संख्या भी बढ़ती गई और ऐसी अवस्था में प्रत्येक ग्राम को अपनी अपनी थोड़ी-बहुत शासन-व्यवस्था भी स्थापित करनी ही पड़ी। धीरे धीरे इन ग्रामों में परस्पर संघर्ष बढ़े, विषमताएँ आदि भी बढ़ीं। ग्रामों की संख्या बढ़ जाने के कारण तथा एक ओर तो औजारों के नवीन आविष्कारों से और दूसरी ओर भू-सम्पत्ति सम्बन्धी नियमादिकों के कारण मानव को व्यावसायिक तथा यातायात सम्बन्धी सुविधाएँ बढ़ाने की बात भी सोचना आवश्यक जान पड़ने लगा। यन्त्रादि के आविष्कारों के तथा यातायात की सुविधाओं के साथ ही साथ मनुष्य की आवश्यकताएँ भी बहुमुखी हो उठीं तथा यह भी आवश्यक नहीं रह गया कि मनुष्य स्वयं अपने अथवा अपने परिवार के लिए अन्न उत्पन्न करे। अतः नगरों की स्थापना हुई और व्यवसाय तथा यातायात की अधिकाधिक सुविधाएँ तथा तत्सम्बन्धी खोजें की जाने लगीं। कृषि द्वारा उत्पादित वस्तुओं का व्यापार अधिक बढ़ा और वर्गों के बीच का भेद बढ़ता ही गया।

सामाजिक संगठनों पर प्रभाव—यह तो हम देख ही चुके हैं कि सभ्यता का विकास मानव के एक स्थान पर जम कर बैठ जाने से ही हुआ। मानव एकाकी से पारिवारिक और फिर ग्रामीण, तत्पश्चात् नागरिक हुआ। एकाकी मानव केवल मात्र अपनी प्राकृतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करके तथा सुरक्षित रहकर ही सन्तुष्ट था, उसके लिए वर्तमान से अधिक और कुछ विचारणीय सम्भवतः था ही नहीं। पारिवारिक मानव को भविष्य की ओर, अपनी सन्तति की सुख-सुविधाओं की ओर देखना किसी एक सीमा तक आवश्यक हो गया। इस स्तर पर उसने आज ही के

'पेट भरने' की बात से कुछ आगे बढ़कर भविष्य में भी 'पेट भर सकने' की बात पर ध्यान दिया। इसी के साथ साथ खेती आरम्भ हुई तथा एकत्रित करने की प्रवृत्ति ने, सम्पत्ति अधिकार की भावना ने भी जन्म लिया। ग्रामीण मानव को अपनी सीमाएँ कुछ अधिक बढ़ाकर समष्टि तक ले जानी पड़ीं। उसका विचार-विस्तार, दृष्टि का लक्ष्य अतीत के इतिहास को लेकर वर्तमान और भविष्य की समस्याओं तक फैल गया। राजनीतिक विचारधारा का जन्म सभ्यता के विकास के साथ साथ हुआ और यह पनपती चली गई। ग्राम के मुखिया से आरम्भ करके राष्ट्र के प्रधान मन्त्री और राष्ट्रपति तक का जन्म हुआ। साधारण कृषि के औजारों से लेकर वैज्ञानिक अनुसन्धानों के फलस्वरूप उत्पन्न अणुबम तक दिखाई दिये। साधारण सृष्टि तत्त्व की खोज से लेकर उच्चातिउच्च दार्शनिक गम्भीर विवेचनाएँ विचारकों ने उपस्थित कीं। मानव सभ्यता की दौड़ में बढ़ता चला गया। उसने जीवन की सामान्य सुविधाओं से लेकर उसके चरम लक्ष्य तक की चर्चा कर डाली। नागरिक मानव ने अपने व्यक्तित्व और उसके सन्तुलित अथवा असन्तुलित रहन के मनोवैज्ञानिक, आर्थिक एवं हर प्रकार के कारणों की खोज करने की चेष्टाएँ कीं। आज हम सभ्य युग के मानव हैं। प्रकृति पर अपना साम्राज्य स्थापित करने के लिए वैज्ञानिक अनुसन्धानों की सहायता से हम निरन्तर प्रयत्नशील हैं। नागरिक जीवन की शिक्षा, दीक्षा, विचार-धारा और रहन-सहन का स्तर, आर्थिक समस्याएँ एवं उलझनें लिये-दिये ही विज्ञान के इस युग में हम आगे बढ़ते जा रहे हैं। अतः यह तो स्पष्ट ही हो जाता है कि सभ्यता का विकास हमारे प्रत्येक ढंग के सामाजिक संगठन पर अपना प्रभाव डालता ही है। हमारी विचार-धारा आधुनिक अनुसन्धानों से प्रभावित होती है और वह अपना प्रभाव सामाजिक जीवन और सामाजिक संगठनों पर छोड़ती है। यही तो है हमारा आज दिन का जीवन। उदाहरण-स्वरूप 'औद्योगिक-व्यावसायिक-समुदाय' (Industrial-Commercial Community) का जन्म सभ्यता के विकास का ही परिणाम है। जो हो, आज दिन भी हमारे ग्रामीण और नागरिक समूह तथा सभी सामाजिक संगठन सभ्यता के विकास से प्रभावित होते हैं और होते रहेंगे।

ग्राम-संगठन—प्रायः ग्राम-संगठन का आधार है 'कृषि'। प्रारम्भिक संगठन होने के कारण यह आवश्यक ही था कि जीवन की सभी आवश्यकताएँ ग्राम में ही पूरी हो सकें अतः ग्राम प्रायः आत्मनिर्भर ही होते हैं। साधारण जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति कर पाने योग्य

वस्तुओं का उत्पादन ग्राम में ही किया जाता है। जनसंख्या न्यून तथा अधिक व्यस्त जीवन न होने के कारण ग्राम प्रायः परिवारों का एक ऐसा संगठन सा हो जाता है जिसमें सभी एक दूसरे से परिचित होते हैं तथा जहाँ समाज का व्यक्ति पर, परिवार पर अत्यधिक दबाव रहता है। अतः वह अपने आप में ही एक समुदाय है, प्राथमिक समूह है जो कि अपने सभी सदस्यों के हर प्रकार के हितादिक की रक्षा भी करता है और उनके विकास में सहायक भी होता है। यही नहीं, ग्राम्य जीवन के एकाकी और पृथक् होने के कारण तथा वहाँ के सामाजिक जीवन के केन्द्रित और गुथे हुए होने के कारण ग्रामवासियों का अपने ग्राम को प्यार करना, अपना मानकर चलना, आवश्यक हो जाता है। कृषि धरती और इसी कारण प्रकृति के निकट है अतः कृषक भी प्रकृति के निकट ही रहता है। प्रकृति के अधिकाधिक निकट होने के कारण और विज्ञान के उतने अधिक समीप न होने के कारण ग्राम्य जीवन की एक विशेषता है अलौकिक शक्तियों में विश्वास करना तथा प्रकृति-पूजा। अन्धविश्वास भी इनके साथ आता ही है। यही नहीं, सामाजिक सत्ता की भी व्यक्ति पर इतनी अधिक अधिकार-भावना हो जाती है कि लोकापवाद का भय व्यक्ति को बहुत अधिक रहता है और किसी एक सीमा तक वह उसके व्यवहार आदि को भी नियन्त्रित करता है।

ग्राम्य जीवन का विकास और उसकी आवश्यकताएँ—कृषि और ग्राम का घनिष्ठ सम्बन्ध है। कृषि के द्वारा मानव-जीवन की एक बहुत बड़ी और महत्त्वपूर्ण आवश्यकता की पूर्ति की जाती है। अतः कृषि की तो सदा-सर्वदा मानव को आवश्यकता रहेगी ही और इसका यह तात्पर्य है कि खुले हुए विस्तृत खेतों पर कृषि करनेवाले कृषकों के बसने के लिए समीपवर्ती ग्रामों की भी आवश्यकता होगी ही किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं होना है कि ये ग्राम नगरों की आधुनिक सुविधाओं से एकबारगी वंचित ही रखे जायें। अपनी सभी अच्छी प्रथाओं और परम्पराओं को रखते हुए भी ग्राम अपना विकास कर सकते हैं। न केवल यही कि यातायात की सुविधाएँ देकर नगर और ग्रामों के बीच की दूरी को न्यून किया जा सकता है और इस प्रकार ग्रामवासियों को ग्राम की सुविधाओं के साथ साथ आवश्यकता पड़ने पर नगरों से भी कुछ सुविधाएँ प्राप्त करने का अवसर दिया जा सकता है, वरन ग्रामों में भी कुछ आवश्यक जीवन-सुविधाओं का प्रबन्ध किया जा सकता है जैसे अस्पताल, पाठशाला आदि। हमारे देश की पंचवर्षीय योजना में इस दिशा की ओर संकेत भी किया गया है और

इस प्रकार ग्राम्य जीवन को अधिकाधिक विकसित और उन्नत किया जा सकता है।

ग्रामों की उन्नति के लिए कुछ बातों की आवश्यकता है। ग्राम समुदाय के लिए नेतृत्व की अत्यधिक आवश्यकता होती है। ग्राम पाठशाला के अध्यापक सहज ही इस प्रकार के नेता हो सकते हैं किन्तु कठिनाई तो यह है कि न केवल हमारे ही देश में वरन प्रायः अधिकांश देशों में ग्रामों की पाठशालाओं के लिए ऐसे अध्यापक मिलते ही नहीं हैं जिनमें सचमुच नेतृत्व शक्ति हो, जिनकी शिक्षा-दीक्षा उच्चकोटि की हो, जिनका मानसिक एवं बौद्धिक विकास इस ढंग का हुआ हो कि वह दूसरों के लिए आदर्श बन सकें। नेतृत्व का वास्तविक अर्थ तो यह है कि उचित विचारों को उचित और अधिकारी व्यक्तियों तक पहुँचाया जा सके और ऐसा करते हुए यह जान भी न पड़े कि कुछ किया जा रहा है। इस प्रकार के नेता कृषकों में से भी उत्पन्न हो सकते हैं। किन्तु ऐसा होना तब ही सम्भव है जब कि उनमें न केवल विचार शक्ति और जाग्रति हो वरन यह दृढ़ विश्वास भी हो कि जो हमें करना चाहिए वह हम कर सकते हैं तथा वे वैसा कर पाने का ढंग और रीति भी जानते हों। मिल-जुलकर कार्य करने की भावना का होना भी अत्यावश्यक है। सामाजिक आवश्यकता के अनुसार कार्य करने में किसी भी व्यक्ति को कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए तथा सामाजिक हित-सम्बन्धी कार्य करने के लिए व्यक्तिगत आर्थिक लाभ की ओर दृष्टि होना ही नहीं चाहिए। सार्वजनिक हित के कार्यों को करने के लिए कई आस पास के ग्रामों का मिल जाना भी व्यावहारिक दृष्टि से उपयोगी होता है। जीवन के वास्तविक हितों का समझ लेना भी ग्रामवासियों के लिए आवश्यक है। वास्तविक अर्थों में सहयोग, सहानुभूति और सार्वजनिक हित के कार्यों में पूर्ण विश्वास की भावना हुए बिना ग्रामों का सामाजिक जीवन न तो उन्नत ही हो सकता है और न सुखी ही। अतः ग्राम जीवन में आदर्श व्यक्तियों का नेतृत्व करके, ग्रामवासियों को अपने उदाहरण द्वारा सुखी एवं उन्नत जीवन के पथ पर अग्रसर करना अत्यन्त आवश्यक है।

नगरों की स्थापना—यह तो हम देख ही चुके हैं कि मानव ने सर्वप्रथम गुफाओं के जीवन के पश्चात् कृषि करना आरम्भ करते ही ग्राम बसाये। कृषि को आधारस्वरूप लेकर भूमि पर अधिकार करके जहाँ कई एक कुटुम्ब बस गये वहीं ग्राम हो गये। वहीं से ग्राम्य जीवन की आत्मनिर्भरता का आरम्भ हुआ और वहीं श्रम-विभाजन

के विचार का जन्म हुआ। यहीं नहीं, वहीं सम्भवत: मानव ने अपना सामाजिक जीवन भी आरम्भ किया। किन्तु सदा तो ऐसी अवस्था रही नहीं अत: सभ्यता के उदय के साथ-साथ, विज्ञान के युग के प्रादुर्भाव होने के कारण यन्त्रों का युग आया और मनुष्य की उत्पादन शक्ति बढ़ने लगी। अत: वह अपनी सामान्य आवश्यकता से अधिक उत्पादन करने लगा किन्तु साथ ही साथ उसने अपनी आवश्यकताओं में भी वृद्धि करना आरम्भ कर दिया। यहीं से नगरों का जन्म हुआ। नगरों के उदय के काल को व्यापारिक एवं औद्योगिक क्रान्तियों का काल कहा जा सकता है क्योंकि वैज्ञानिक आविष्कारों ने यन्त्रों को जन्म दिया और यन्त्रों की सहायता से औद्योगिक जगत में क्रान्ति लाई गई। अब उस ग्रामीण आदर्श पर अधिक देर तक नहीं चला जा सकता था कि अपनी आवश्यकता के अनुसार ही उत्पादन करो और उसे उपयोग में ले आओ। अब उत्पादन आवश्यकता पूर्त्ति के लिए न करके किया जाने लगा 'बाज़ार' के लिए, विक्रय के लिए। वैज्ञानिक उन्नति ने यातायात के साधनों की उन्नति की और फलस्वरूप व्यापारिक दृष्टि से आयात-निर्यात के साधनों का भी विकास हुआ। जब वस्तुओं का एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना सुलभ हो गया तो नगरों में विशेष वस्तुओं की मंडियाँ बनने लगीं और कुछ लोगों ने यही व्यवसाय अपना लिया कि वह आस-पास के ग्रामों से वस्तु-विशेष लाकर एक स्थान पर एकत्रित करके उनकी प्राप्ति अथवा उन्हें क्रय कर पाना सुलभ कर दें। ये व्यक्ति कहलाये व्यापारी और वे स्थान कहलाने लगे 'नगर'। नगरों के उदय का मुख्य कारण तो सम्भव यही रहा होगा किन्तु यह भी सम्भव है कि कुछ व्यक्तियों ने आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का संग्रह करके कुछ लोगों को अपने अधीन कर लिया हो और फिर साधारण स्थान अर्थात् ग्राम से पृथक् होकर किसी एक स्थान पर अपनी सुख-सुविधा के साधन एकत्रित करके वहीं वास करने लगे हों। यह भी सम्भव है कि इस प्रकार के श्री-सम्पन्न अनेकों व्यक्तियों के वासस्थान ही 'नगर' बन गये हों जो कि कुछ आगे चलकर वस्तुओं की 'मंडियाँ' भी बन गईं।

तेरहवीं सदी के आस-पास व्यापार में उन्नति होने के फलस्वरूप विश्वभ्रमण की भावना ने ज़ोर पकड़ा। ज्ञान संवर्द्धन होने के कारण जन-साधारण ने राजा, सामन्त और पुरोहित वर्ग के विरुद्ध योरप में आन्दोलन उठाया। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, विचारों की धार्मिक दासता से भी मुक्ति हो, ऐसे विचारों की वृद्धि हुई। शताब्दियों से पीड़ित, दलित कृषक मज़दूर भी

व्यापारी वर्ग का साथ दे रहा था। शासन प्रायः सामन्तों के हाथ में था, धार्मिक विश्वासों की बेड़ियाँ अत्यन्त दृढ़ता से व्यक्ति के इहलोक और परलोक दोनों को ही जकड़ रही थीं अतः ईसाई मत के सुधारवादी दल के अग्रणी मार्टिन लूथर ने अपना स्वर ऊँचा किया। इसी युग में अन्य स्वतन्त्रता के समर्थकों ने भी अपने विचार रखे और आर्थिक जगत् में भी अल्पतम हस्ताक्षेप (Laissey Faire) अर्थात् व्यापार में राज्य की ओर से न्यूनातिन्यून ही हस्तक्षेप होने की भावना की प्रबलता दिखाई देने लगी। व्यापारी वर्ग भी यही चाहता था कि वह कृषकों से माल लेकर और सीधे ही बेचकर व्यापार अधिक से अधिक बढ़ा सके।

विज्ञान अथवा इसी प्रकार की सभ्यता के आधार पर बनाई गई व्यवस्थाओं की उन्नति ने उद्योग-धन्धों की उन्नति की। यन्त्रों का निर्माण होता गया और उनका केन्द्र भी नगर ही बनते गये। श्रम की खोज में ग्रामों से अनेक व्यक्ति आ-आकर नगरों में बसने लगे और बड़े बड़े औद्योगिक केन्द्रों को लेकर नगर बसे। सभ्यता का विकास होता ही गया, वैज्ञानिक साधनों की, यन्त्रों की उन्नति होती ही गई और नगरों के जीवन का क्षेत्र और चाव बढ़ता ही गया। सामाजिक जीवन भी इन्हीं के साथ साथ उन्नत होता गया। अनेकानेक नवीन सामाजिक संस्थाओं का जन्म हुआ, सांस्कृतिक उन्नति के द्वारा उन्मुक्त हुए नगर ही एक प्रकार से नवयुग की सभ्यता के प्रधान केन्द्र बन गये।

नागरिक जीवन और ग्राम जीवन में अन्तर—ग्राम जीवन में आवश्यकताएँ, जीवन-यापन की सुविधाएँ कम थीं और उनकी पूर्ति प्रायः ग्राम में ही हो जाया करती थी अतः आत्मनिर्भरता की मात्रा अधिक होने के कारण स्थानीय भक्ति (local patriotism) अधिक था। यद्यपि श्रम-विभाजन के सिद्धान्त का जन्म ग्रामों में ही हो गया था किन्तु वह उतनी अधिक तीव्रता एवं पूर्णता से लागू नहीं हो सका था। आवश्यकताओं की वृद्धि होने के साथ ही साथ श्रम-विभाजन का प्रभाव और क्रियात्मक रूप भी अधिक विस्तृत एवं व्यापक होने लगा और नागरिक जीवन की स्थापना हो जाने पर आत्मनिर्भरता के आदर्श पर चल पाना कठिन हो गया। अतः नगरों को अन्न आदि तथा उद्योग-धन्धों के लिए कच्चे माल की उत्पत्ति के लिए ग्रामों पर निर्भर हो जाना पड़ा क्योंकि दोनों ही कार्य एक स्थान पर और एक ही दल के व्यक्तियों के लिए कर पाना कठिन था। नगर यद्यपि सभ्यता, वैज्ञानिक सुविधाओं आदि की दृष्टि से ग्रामों से पृथक् हो गये किन्तु उन पर खाद्य सामग्री और कच्चा माल प्राप्त करने की दृष्टि से

सम्बन्धित अथवा निर्भर ही रहे। नगरों में उद्योग-धन्धे भी विभिन्न प्रकार के आरम्भ हो गये अतः विभिन्न प्रकार के काम-काजवाले व्यक्ति बिना किसी प्रकार के विशेष सम्बन्ध के एकत्रित रहने लगे। अतः नगरों में ग्रामों की भाँति स्थानीय भक्ति एवं नगरवासियों में ग्रामवासियों की भाँति परस्पर स्नेह की भावना उतनी अधिक न बढ़ सकी। नगर में प्रायः ग्रामों की भाँति एक ही सी विचार-धारा, सामाजिक संगठन आदि के व्यक्तियों का रहना सम्भव नहीं हो पाया। अतः नगर एक ऐसा स्थान बन गया जहाँ कि विभिन्न व्यक्ति विभिन्न विचार-धाराएँ लेकर अपने अपने व्यवसायों में रहते हुए जीवन-यापन करने लगे। फलस्वरूप उनके सामाजिक सम्बन्ध भी कुछ अधिक व्यवस्थित एवं पूर्णतया संगठित नहीं हो पाये। यूँ नगर को कई समुदायों का समुदाय कहा तो जा सकता है क्योंकि एक ही नगर में कई प्रकार के मानव-समूह दिखाई देते हैं फिर भी उन समुदायों में भी कुछ पारस्परिक लगाव तो दिखाई देता ही है।

ग्राम्य जीवन में सामुदायिक एकता तो थी ही उससे भी अधिक पारिवारिक एकता थी। अतः सारा परिवार मिलकर धरती की छाती फाड़कर अपनी आवश्यकतानुसार अन्न उत्पन्न करता था। सब ही व्यक्ति प्रायः सम्मिलित परिश्रम करके वस्त्रादि संग्रह करते थे अर्थात् परिवार के सभी सदस्यों की आवश्यकताओं की पूर्ति एक से ही ढंग पर होती थी अतः उनमें परस्पर लगाव भी अधिक रहता था। नागरिक जीवन में पारिवारिक एकता क्षीण होने लगी। परिवार के सदस्यों को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए विभिन्न समूहों का सदस्य बनना पड़ा, जिससे कि उनकी व्यावसायिक वृत्तियाँ एक ही सी नहीं रह पायीं। आर्थिक दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति के स्वतन्त्र हो जाने के कारण अथवा भिन्न भिन्न मार्ग लेकर चलने के कारण पारिवारिक एकता की ग्रन्थियाँ ढीली होने लगीं। प्रत्येक व्यक्ति समूह अथवा परिवार से उतना अधिक सम्बन्धित नहीं रह गया जिससे कि उसे अन्य व्यक्तियों के मतामत का उतना अधिक ध्यान रखने की आवश्यकता हो, अतः उस इस प्रकार की आवश्यकता की अनुभूति भी नहीं होने लगी। अतः ग्राम्य जीवन में जो ग्राम्य-समुदाय का प्रत्येक व्यक्ति पर अधिकार था वह नागरिक जीवन में नगर-समुदाय का होना कठिन हो गया। प्रत्येक नागरिक कुछ अधिक व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अनुभव करने लगा। पारिवारिक एकता का जो पूर्ण रूप ग्राम के जीवन में दिखाई देता था नागरिक जीवन में उसका प्रायः अभाव सा ही दीख पड़ने लगा। जन सम्पत्ति का मूल्य भी ग्राम्य जीवन

की अपेक्षा नागरिक जीवन में कम ही रह गया। अतः नागरिक जीवन में एक प्रकार की लापरवाही, चरित्र-शैथिल्य सा आ गया जिसके कारण मनुष्य की परम्पराओं, प्रथाओं आदि के प्रति आस्था न्यून हो गई किन्तु इससे एक तो लाभ हुआ ही कि मानव ने स्वतन्त्रता से व्यक्तिगत रूप में भी सोचना-समझना आरम्भ किया यद्यपि इस प्रकार की सामाजिक तथा पारिवारिक बन्धनों की शिथिलता ने और अनेक प्रकार से मनुष्य की हानि भी की ही; किन्तु पारिवारिक बन्धनों की पकड़ भी एक तो मानव पर सर्वथा ही ढीली हो गई हो ऐसी बात नहीं थी और दूसरे उन बन्धनों का स्थान नागरिक जीवन में अन्य बन्धनों ने भी ले लिया। हम देख ही चुके हैं कि ग्राम्य जीवन में व्यक्ति के जीवन पर परिवार का बहुत बड़ा प्रभाव था और नागरिक जीवन ने उस प्रभाव को न्यून कर दिया। उसके स्थान पर बाह्य प्रभावों की प्रधानता हो गई। ग्राम्य जीवन के युग तक, उस जीवन में प्रायः एक से विचारों, सिद्धान्तों का ही अधिक प्रचलन होता था। विचारों का मत-भेद थोड़ा बहुत रहता ही होगा किन्तु उसका भी महत्व इतना अधिक इसलिए नहीं था कि ग्राम प्रायः एक परिवार की भांति ही था जहाँ सब एक दूसरे से परिचित थे और उस जगत् के अतिरिक्त अन्य सभी जगतों से सर्वथा अनभिज्ञ थे। ऐसी अवस्था में एक तो उस जीवन से सर्वथा भिन्न नवीन विचार धाराएँ वहाँ तक पहुँच ही नहीं पाती थीं और यदि किसी वहीं के व्यक्ति के मन में किसी नवीन विचार का उदय भी हुआ तो वह उसे दूर तक ले जा नहीं पाता था क्योंकि छोटा सा ही क्षेत्र होने के कारण वहाँ सामाजिक नियन्त्रण के कठिन हो सकने की पूरी पूरी सम्भावना तो थी ही। नागरिक जीवन में एक तो जन-संख्या अधिक हुई और फिर विभिन्न ग्रामों के व्यक्ति विभिन्न विचार-धाराएं लेकर एक स्थान पर एकत्रित हुए। अपरिचित होने के कारण किसी भी एक परिवार का दूसरे पर पूरा दबाव भी नहीं था जिससे पारिवारिक बन्धनों की शृंखलाएँ भी क्षीण होने लगीं अतः सब मिला-जुलाकर बाह्य प्रभावों का ही व्यक्ति के जीवन पर अधिक अधिकार होने लगा और उसने जीवन के विभिन्न रंग-ढंगों पर विचार करना आरम्भ कर दिया। अभी तक वह अपने जीवन के केन्द्र को परिवार में ही देखता था किन्तु अब उसने अपने पर आत्मनिर्भर होना, अपने ही दृष्टिकोण से जीवन दर्शन पर विचार करना आरम्भ किया। यहीं से व्यक्तिवाद की भावना का जन्म हुआ और वह पनपने लगी।

व्यक्तिवादी विचारधारा ने मानव को अधिकाधिक असन्तुष्ट किया।

ग्य जीवन तक मानव जीवन की सम्पूर्ण वैज्ञानिक सुविधाओं से अनभिज्ञ था। अपने ग्राम के अतिरिक्त बाह्य जगत् का उसे ज्ञान भी न्यून था और वह उसके लिए व्याकुल भी नहीं था। सम्भवतः वैसा करना सरल भी नहीं था। ऐसी अवस्था में बालक जन्म से ही अपने ग्राम और वहाँ के जीवन को ही आदर्श मानना सीखता रहता था और उस जीवन के अतिरिक्त सुविधाओं की उसे कल्पना भी नहीं थी। नागरिक जीवन ने आर्थिक कारणों के फलस्वरूप जीवन की विशेष सुविधाएँ कुछ लोगों के लिए तो अत्यन्त सुलभ कर दीं और कुछ लोग उन्हें दूर ही दूर से देख तो पाते हैं किन्तु प्राप्त नहीं कर पाते है। मानव को यह ज्ञान तो हुआ कि सुख-सुविधा है किन्तु वह हमारे लिए दुर्लभ है इस प्रकार का विश्वास भी पनपने लगा। अतः उनकी प्राप्ति की इच्छा और तज्जन्य असन्तोष बढ़ने लगा। वह सन्तोष और तृप्ति जो कि वैज्ञानिक सुविधाओं की प्राप्ति से पूर्व मानव अपने अल्पज्ञान के युग में ग्राम्य जीवन में पाता था उससे दूर होने लगी। अतः नागरिक जीवन में मानव के मन में असन्तोष और अतृप्ति बढ़ने गये। आवश्यकताएँ बढ़ीं और काम बढ़ा। मानव का परिश्रम बढ़ा और काम की अधिकता ने उसे कुछ तो यूँ ही असन्तुष्ट सा कर दिया और कुछ नगर के विभिन्न प्रकार के वातावरण और उनके साथ सन्तुलित होने की कठिनाइयों ने उसे अशान्त कर दिया। ग्राम्य जीवन में वातावरण की विविधता थी ही नहीं अतः सन्तुलन का प्रश्न उतना कठिन नहीं था जितना कि नागरिक जीवन में हो गया। अतः व्यक्ति के व्यक्तित्व का असन्तुलित विकास उसके लिए और भी अधिक दुःखदायी हो गया। परिणामस्वरूप अपराधों की वृद्धि हुई। ग्राम्य जीवन की सरलता, जनसंख्या का अल्प होना, परम्पराओं एवं प्रथाओं आदि में दृढ़ विश्वास होना आदि कुछ ऐसे कारण थे जो कि मानव को अपराध की ओर जाने से रोकते थे। नागरिक समाज में जनसंख्या की अधिकता, असन्तुलित व्यक्तित्व, काम की अधिकता, असन्तोष, आर्थिक स्थिति, वैषम्य, पारिवारिक जीवन का न्यून प्रभाव आदि कारणों ने अपराधों में वृद्धि कर दी। यही कारण है कि ग्रामों की अपेक्षा अधिकतर अपराधों की सृष्टि नागरिक जीवन में ही होती है।

व्यक्ति के स्वातन्त्र्य की आवश्यकता तो है। यदि व्यक्ति सर्वथा सभी ओर से सामाजिक दासता के कठोर, कठिन बन्धनों में सदा-सर्वदा इस प्रकार जकड़ा ही रहे कि श्वास भी न ले सके तो संसार में किसी भी भौतिक विचारधारा, अनुसन्धान, आविष्कार आदि की सम्भावना ही नष्ट

हो जाय। अत: व्यक्ति के स्वतन्त्र विचार करने की आवश्यकता है किन्तु यह सन्देहास्पद है कि वह विचारधारा कहाँ तक व्यक्ति की स्वतन्त्र विचारधारा होती है। वस्तुत: उसकी पृष्ठ भूमिका भी तो व्यक्ति ने वातावरण से ही प्राप्त की होती है। जो हो, किसी एक सीमा तक यह माना जा सकता है कि 'व्यक्तित्व' भले ही समाज की सम्पूर्ण रूप से छाप लिये दिये ही हो अपने भीतर कुछ ऐसे तत्त्व भी रखता है जो कि समाज-विरोधी नहीं होते हुए भी समाज की प्रचलित प्रथाओं आदि से भिन्न, सर्वथा भिन्न विचार-धारा की ओर ले जानेवाले हो सकते हैं। फिर भी सामुदायिक केन्द्रीकरण की सामाजिक उन्नति के लिए, मानव के सामूहिक हित के लिए आवश्यकता है ही। किन्तु नागरिक जीवन में सामुदायिक केन्द्रीकरण की पकड़ भी ढीली हो जाती है। व्यक्ति परिचितों के सम्मुख समाज विरोधी कार्य करते हिचकता है किन्तु वही कार्य बड़ी सरलतापूर्वक अपरिचितों के बीच कर पाता है। इसी प्रकार व्यक्ति जो कार्य अकेले करने से भय खाता है वही सामाजिक विरोध को प्रकट करने वाले कार्य समूह के साथ सहज ही कर डालता है। ग्राम्य जीवन में प्राय: सभी अपने परिचित होते थे अत: उनके सम्मुख कोई भी ऐसा कार्य करना व्यक्ति के अत्यधिक साहस का परिचायक होता था जो कि सामाजिक नियन्त्रण के विरुद्ध हो। साधारणतया लोग ऐसा नहीं करते थे। यद्यपि कुछ एक अत्यधिक साहसी व्यक्ति समाज के विरुद्ध खड़े होने का प्रयत्न करते भी थे किन्तु सामुदायिक एकता, सामुदायिक केन्द्रीकरण उन्हें वैसा करने नहीं देता था। नागरिक जीवन में वैसी अवस्था नहीं रही। अत: नागरिक जीवन में सामाजिक विघटन की सम्भावना ग्राम्य जीवन की अपेक्षा कुछ अधिक हो गई।

जिस प्रकार ग्राम्य जीवन का आधार था कृषि उसी प्रकार नागरिक जीवन का आधार हो गया किसी सीमा तक शिल्प और उद्योग-धन्धे और उनसे संलग्न अन्य ऐसे ही कार्य। कृषि जहाँ प्रकृति से अधिक साम्य, सामीप्य स्थापित करती है शिल्प उद्योगादि प्रकृति से कुछ दूर कृत्रिम साधनों से पूर्ण जीवन की ओर ले जानेवाले होते हैं।

हमने पहले भी इस ओर संकेत किया है कि नगरों में अपराधों की संख्या अधिक होती है और उनका रूप भी अपेक्षाकृत विकट होता है। प्राय: बहुत बड़े नगरों में जहाँ जीवन अधिक क्लिष्ट होता है बालकों में भी अपराध की प्रवृत्ति पाई जाती है। किन्तु नागरिक जीवन भी तो सामाजिक जीवन का केन्द्र है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि ग्राम्य जीवन आज भी जीवित है और सम्भवतः तब तक जीवित रहेगा जब तक कि साधारणतया मानव कृषि पर किसी न किसी अंश में आश्रित रहेगा और मानव को कृषि पर आश्रित तो रहना पड़ेगा ही अतः आज हमारे सम्मुख ग्राम्य और नागरिक दोनों ही प्रकार के जीवन-चित्र हैं किन्तु ग्राम्य जीवन में यद्यपि सरलता अधिक है किन्तु वैज्ञानिक युग की सुविधाओं और तज्जन्य सभ्यता के विषय में अभिज्ञता भी है अतः एक को दूसरे की अपेक्षा अच्छा अथवा बुरा कहना तनिक कठिन है अतः यही अधिक उचित जान पड़ता है कि 'नगर' को समझकर उसकी समस्याओं का हल खोजा जाये।

नगर क्या है ?—अभी तक हम यह देख रहे थे कि ग्राम्य जीवन और नागरिक जीवन में क्या अन्तर है अब तनिक इस ओर ध्यान देना सम्भवतः ठीक ही होगा कि ग्राम से भिन्न, उद्योग-धन्धों का केन्द्र, नवीन सभ्यता का उद्गम स्थान नगर है क्या।

प्रोफेसर मुनरा के मतानुसार नगर लोगों के एक ऐसे बहुत बड़े समूह का नाम है जिसकी कुछ सामाजिक विशेषताएँ होती हैं। यह समूह एक भूखण्ड को अपने अधिकार में रखता है। वहाँ उसका स्वायत्त शासन भी होता है। यह समूह अपनी आर्थिक, तथा अन्य समस्याओं को सुलझाने में व्यस्त रहा करता है। वस्तुतः नगर अपनी आर्थिक, राजनीतिक, विधि-विधान सम्बन्धी, सामाजिक सभी प्रकार की समस्याएँ लेकर चलता है। वस्तुतः देखने पर ग्राम भी अपने आप में पूर्ण दिखाई देता था किन्तु नगर और ग्राम में यह भारी अन्तर है कि ग्राम्य जीवन का मुख्य आधार कृषि और भूमि होता है जब कि नागरिक जीवन का मुख्य आधार उद्योग-धन्धे, शिल्पादि होते हैं। अतः ग्राम और नगर का मुख्य आधार ही इतना भिन्न है कि दोनों में भारी अन्तर होना स्वाभाविक ही हो जाता है।

जो भी कुछ हो, नागरिक जीवन के कानूनी, राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक सभी पक्ष होते हैं। प्रायः आधुनिक युग में सभी बड़े नगरों के कुछ न कुछ स्वायत्त शासन जन्य कानूनी अधिकार होते ही हैं। नगरपालिका अथवा कार्पोरेशन होने के कारण नगर का एक अपना व्यक्तित्व हो जाता है और उसके कुछ कानूनी अधिकार आदि भी होते हैं। इन अधिकारों में से कर लगाना बड़ा ही महत्त्वपूर्ण अधिकार है।

नगर राष्ट्र और राष्ट्रीय शासन-व्यवस्था का भी एक आवश्यकीय अंग होता है। यद्यपि उसे स्वायत्त शासन का अधिकार प्राप्त होता है किन्तु वह

अधिकार सीमित ही होता है पूर्ण नहीं। अर्थात् स्वायत्त शासन भी सम्पूर्ण देश के शासन के अन्तर्गत रहकर ही चल पाता है। अतः राजनीतिक ढंग से नगर का महत्व तो होता है यहाँ तक कि राजनीतिक विचार धाराओं में संशोधन, परिवर्द्धन, परिवर्तन आदि भी नगरों में ही अधिकतर होते हैं; नवीन राजनीतिक विचार धाराओं का जन्म भी अधिकतर नगरों में ही होता है फिर भी नगर राष्ट्रीय शासन के अंग ही रहते हैं, भले ही वह आवश्यक अंग हों। नागरिक संगठन का मुख्य आधार आर्थिक तो है ही। सिन्धु आदि की सभ्यता के प्रतीक नगरों के भग्नावशेष हमारे सम्मुख हैं। उनसे लेकर यदि आज दिन के आधुनिकतम नगरों तक को आर्थिक दृष्टि से देख डाला जाये तो सम्भवतः यह कहना सिद्ध हो सके कि नगर आर्थिक दृष्टि से वह स्थान है जहाँ कि ग्राम की धरती द्वारा उत्पादित कच्चे माल का विभिन्न प्रकार से उपयोग किया जाता है। कृषि द्वारा धरती ने एक प्रकार से कुछ वस्तुएँ हमें दीं। दूसरे प्रकार से मानव ने धरती की छाती फाड़कर लोहा, कोयला आदि वस्तुएँ उसमें संग्रहीत कीं और फिर बुद्धि-बल से इन सबकी सहायता से जीवन के लिए उपयोगी नवीनाति-नवीन साधनों की उत्पत्ति की। यह उत्पत्ति स्थल ही काल पाकर नगर हो गये। अतः जीवन के नवीन उपयोगी वैज्ञानिक साधनों से युक्त स्थल नगर कहलाये और वहाँ इन वस्तुओं की उत्पत्ति भी होने लगी और उनका बँटवारा भी, भले ही वह बँटवारा एक अपने ही ढंग का हो जिसे कि हम अन्यायपूर्ण भी कह सकते हैं। इसके अतिरिक्त नगरों में अन्य विभिन्न प्रकार के व्यापारादि भी होते हैं। व्यक्तिगत पूँजी का आर्थिक उपयोग नगरों में ही हो पाता है। अतः आर्थिक दृष्टि से नगरों का एक विशेष प्रकार का महत्व है।

इन सबके अतिरिक्त नगरों का सामाजिक महत्व भी स्वतः सिद्ध है। आज से कुछ ही वर्ष पूर्व तक हमारे ही देश के ग्रामों में स्कूल, अस्पताल आदि का अभाव था। जब कि नगरों में इन सब का प्रबन्ध था ही। यहाँ तक कि नागरिक जीवन में मनोरंजन के सामूहिक स्थानों और साधनों का भी अभाव नहीं है। अतः एक प्रकार का सामाजिक जीवन भी नगरों में होता ही है भले ही वह बिखरा हुआ सा ही हो किन्तु उसमें एक अपने ढंग की चमक तो होती है और उसका महत्व भी मानना ही पड़ता है। जो हो, हमने यह तो देख ही लिया कि नगर एक ऐसा मानव-समूह है जो कि भिन्नता को किसी न किसी प्रकार एकता में बाँधे रखता है, जिसमें यद्यपि विभिन्न व्यवसाय व्यापार लिये दिये व्यक्ति बसते हैं यहाँ तक कि

विभिन्न भाषा-भाषी, विभिन्न विचार एवं विश्वास लिये-दिये मानव और मानव परिवार रहते हैं किन्तु समस्त प्रकार की भिन्नता होते हुए भी वह एक ही नगर में रह पाते हैं क्योंकि एक ही नगर में विभिन्न प्रकार के छोटे-मोटे समूह रह पाने की सुविधा होती है। और इसका कारण सम्भवतः यह है कि नगर बहुत बड़े क्षेत्र-फल को लेकर बनता है और उसमें विस्तार बढ़ाते जाने की शक्ति भी होती है। अतः यह देख लेना भी उचित होगा कि नगरों का विस्तार कितना हो सकता है ?

नगरों का विस्तार — प्रायः पिछले कुछ वर्षों से यह देखा जा रहा है कि नगरों की सीमाएँ विस्तृत ही होती चली जा रही हैं। इसका कारण एक तो जनसंख्या की वृद्धि है ही, इसके अतिरिक्त दूसरा कारण यह भी है कि प्रायः लोगों में ग्राम छोड़कर नगर में आकर बस जाने की प्रवृत्ति भी देखी जाती है। यद्यपि उसके भी कई एक कारण हैं। व्यापार की, जीविका कमाने की सुविधा, सामाजिक बन्धन का उतना अधिक कड़ा न होना, जीवन की चमक-दमक आदि भी कुछ कारण हो सकते हैं किन्तु इसका परिणाम यह अवश्य होता है कि नगर बढ़ते ही चले जा रहे हैं। हमारे ही देश में नहीं वरन् विश्व भर में पिछली शताब्दी में नगरों का बढ़ना एक विशेष उल्लेखनीय बात है। किन्तु नगरों के विस्तार का अर्थ इतना ही नहीं है कि वह बढ़ गये वरन इसका मानव के सामाजिक जीवन पर विशेष प्रभाव पड़ता है।

कलकत्ता, बम्बई की सड़कों पर, सड़कों के किनारे पैदल चलनेवालों के मार्ग पर, बगीचों आदि में रात्रि में अनेकों व्यक्तियों का पड़ा रहना हमारे नगरों के बेढंगे रूप से बढ़ने का प्रमाण है। हमारे ही देश में नहीं अन्य देशों में भी बड़े बड़े नगरों में 'निवासस्थान' की समस्या एक कठिन समस्या बन गई है। वस्तुतः बड़े नगरों की जनसंख्या इस शीघ्रता से और इतनी अधिक बढ़ गई है कि रहने के स्थान प्रायः सभी लोगों को नहीं मिल पाते हैं और अधिकांश लोग जिन स्थानों में वास करते हैं वह साधारणतया देश की आर्थिक स्थिति और उसके रहन-सहन के स्तर को देखते हुए भी अत्यधिक अस्वास्थ्यकर और असुविधाजनक होते हैं। यदि नगरों की जनसंख्या इस प्रकार से बढ़ती रही तो वास-स्थान की समस्या का हल खोज पाना और भी अधिक कठिन हो जायगा।

वासस्थान के अतिरिक्त पानी, बिजली आदि का समुचित प्रबन्ध

कर पाना तथा गलियों, सड़कों आदि का प्रबन्ध तथा उनकी देख-रेख की व्यवस्था धीरे-धीरे समस्याएँ बनती जा रही हैं। जनसंख्या अधिक होने और नगर का विस्तार अधिक होने से नगर में ही एक स्थान की दूरी दूसरे स्थान से बहुत अधिक हो जाती है और आने-जाने के समुचित साधनों का पूरा पूरा प्रबन्ध न होना कष्टकर एवं असुविधाजनक भी होता है। कलकत्ता, बम्बई, दिल्ली आदि बड़े नगरों में यह समस्या भी विचारणीय होती ही है यद्यपि विश्व में इनसे भी बड़े नगर हैं। हमारे देश में बड़े नगरों में भी अभी तक पृथ्वी के भीतर मार्ग बनाने की आवश्यकता नहीं पड़ी है फिर भी जिन देशों में ऐसा किया गया है उन देशों की भी इस समस्या का पूर्ण हल हो ही गया हो, ऐसी बात नहीं है। विश्व के अन्य बड़े देशों में कुछ और भी वैज्ञानिक सुविधाएँ इन समस्याओं का हल करने के लिए काम में लाई जा रही हैं किन्तु उनसे भी इन समस्याओं का पूरा हल नहीं हो पाया है और इसका कारण यह है कि अधिकाधिक वैज्ञानिक सुविधाएँ उपस्थित कर देना मात्र ही इन समस्याओं का वास्तविक हल नहीं हो सकता है। वस्तुतः नगरों का विकेन्द्रीकरण होना चाहिए।

नगर का विस्तार एक सीमा-विशेष तक ही रह पाता तो अच्छा होता किन्तु यदि ऐसा कर सकना सम्भव नहीं है, यदि नगरों की वृद्धि को, उनके विस्तार को किसी प्रकार से सीमित किया ही नहीं जा सकता है तो उनका केन्द्रीकरण तो रोका जा सकता ही है। अतः नगरों के विकास की क्षेत्रीय योजनाएँ (regional planning) तो बनाई ही जा सकती हैं। उनकी औद्योगिक, आर्थिक, सामाजिक तथा स्थानीय आवश्यकताओं को देखते हुए उनके आधार पर ही क्षेत्रीय योजनाएँ बनाई जा सकती हैं। और इन योजनाओं में न केवल वासस्थान वरन् नगरों की जन-स्वास्थ्य, शिक्षा, मनोरंजन आदि सभी प्रकार की समस्याओं की ओर ध्यान दिया जा सकता है।

नगरों की समस्याएँ—ग्रामों में यद्यपि आय उतनी अधिक नहीं होती है जितनी कि नगरों में हो सकती है किन्तु ग्रामों का रहन-सहन का स्तर भी प्रायः नगरों के रहन-सहन के स्तर से न्यून ही होता है। प्रायः ग्रामों में व्यक्तियों की आय में उतना अधिक अन्तर नहीं होता है जितना कि नगरों में होता है। धनी और निर्धन दोनों ही नगरों में पास ही पास रहकर भी आर्थिक दृष्टि से दो किनारों पर खड़े होते हैं और उनके बीच का अन्तर अत्यधिक हो सकता है। प्रायः नगरों में व्यक्तियों की आय

में भारी अन्तर तो होता ही है और यह अन्तर ही निर्धन को और भी अधिक निर्धन करके दिखाता है। इसके अतिरिक्त बेकारी, रहन-सहन के स्तर की उँचाई और महँगाई नागरिक जीवन की आर्थिक विषमताओं को और भी अधिक स्पष्ट कर देते हैं। सामाजिक जीवन पर इस प्रकार की आर्थिक विषमताओं और तज्जन्य अन्य वैषम्यों का भी प्रभाव पड़ता है और यह नागरिक जीवन की एक समस्या बन गई है। मानव के जीवन को संतुलित न होने देने में इनका भी हाथ हो सकता है।

हम देख ही चुके हैं कि नगरों का जन्म मुख्यत: उद्योग-धन्धों के कारण ही हुआ और पिछले कुछ वर्षों में तो उद्योग-धन्धों की ओर अधिकाधिक ध्यान दिया जाने लगा है। वैज्ञानिक साधनों एवं सुविधाओं की वृद्धि के साथ साथ उद्योग-धन्धे भी बढ़ते जा रहे हैं किन्तु नगरों में उद्योग-धन्धों (industries) को आरम्भ करने में किसी विशेष प्रकार की योजना की प्राय: आवश्यकता नहीं पड़ती है। यह भी पूरी तरह विचार नहीं किया जाता है कि नगर-विशेष में उद्योग-विशेष के आरम्भ करने का उस स्थान के औद्योगिक जीवन पर क्या और कैसा प्रभाव पड़ेगा ? परिणाम यह होता है प्राय: कहीं भी, किसी भी उद्योग को आरम्भ कर दिया जाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि स्थानीय कुछ कारण उसमें सहायक अथवा बाधक होते हैं किन्तु अधिकतर तो किसी व्यवसायी के किसी उद्योग को आरम्भ करने की इच्छा पर ही उसका स्थान-विशेष पर आरम्भ किया जाना निर्भर करता है। कहीं कहीं तो स्थानीय कुटीर उद्योगों को इस प्रकार के कार्य से हानि भी पहुँची है और उसके परिणामस्वरूप बेकारी में वृद्धि, शिल्प-विशेष में शिक्षित व्यक्तियों का स्थानान्तरित करना आदि भी हुआ है। अत: उद्योग-धन्धों का बिना स्थानीय कुटीर उद्योग अथवा अन्य इसी प्रकार के व्यवसायों को हानि पहुँचाये हुए आरम्भ कर पाना भी नगरों की एक समस्या है।

नगर तो बसे हैं, बसते जा रहे हैं और बसे हुए नगर बढ़ते भी जा रहे हैं, नवीन नगर बसाये भी जा रहे हैं किन्तु कुछ गाँव और कस्बे इन्हीं नगरों का बसना सम्भव हो पाने के लिए उजड़ भी तो गये। अत: सब मिलाकर देखना तो यह है कि देश की कहीं हानि तो नहीं हो रही है और किस प्रकार से देश को कम से कम हानि करके अधिक से अधिक लाभ पहुँचाया जा सकता है।

नगरों की वृद्धि के साथ साथ यातायात के साधनों में वृद्धि होना स्वाभाविक ही था। अन्य अनेक ऐसे साधनों में से एक रेलगाड़ी भी है।

रेलगाड़ी और मोटरबस के लिए पटरियाँ और सड़कें बनाने के लिए जंगलों को समाप्त करना पड़ा जिसका कि प्रभाव कृषि पर बहुत अच्छा नहीं हुआ। इसके अतिरिक्त यातायात की समस्या का पूर्णतया हल भी नहीं हो पाया केवल इन विभिन्न प्रकार के यातायात के साधनों के लिए स्थान देने का भार नगरों पर पड़ा ही।

यह तो हम देख ही चुके हैं कि नगरों में वासस्थान एक समस्या बन ही चुका है और वासस्थान का जो कुछ प्रबन्ध पाया भी जाता है वह भी सन्तोषजनक नहीं है। वासस्थान की कठिनाई, अस्वास्थ्यकर स्थान में वास, महँगाई के कारण पुष्टिकारक खाद्य पदार्थों का अभाव, धूल, धुआँ, स्थानाभाव से कूड़ा-कचरा नगर से दूर ले जाने के समुचित प्रबन्ध का अभाव आदि नगरों की कम आयवाली जनता के स्वास्थ्य पर बहुत ही बुरा प्रभाव डालते हैं। कानपुर में राजयक्ष्मा की बहुतायत इसी का एक उदाहरण है। यूँ भी नगरों में रोग और बालमृत्यु की संख्या अधिक होती है। यद्यपि नगरों में अस्पताल आदि की सुविधाएँ होती हैं। स्वायत्त शासन के अन्तर्गत नागरिकों के स्वास्थ्य की देख-भाल भी की जाती है। अतः यह भी एक विचारणीय प्रश्न है कि नगरों की जनता के स्वास्थ्य की रक्षा कैसे की जाये।

कम आयवाले नागरिकों के बाल-बच्चे तो शिक्षा सम्बन्धी सुविधाओं का भी समुचित लाभ नहीं उठा पाते हैं। प्रायः उन्हें स्कूल, कालिज आदि होते हुए भी नगर में रहनेवाले परिवार का भार वहन करने के लिए बालकों को छोटी आयु में ही किसी न किसी काम पर लगा ही देना पड़ता है। कुछ लोग अपने परिवारों को ग्रामों में ही रहने देते हैं किन्तु उस अवस्था में पारिवारिक जीवन न होने के कारण और दोषों की सृष्टि होती है।

यूँ भी नगर में जनसंख्या अधिक होने के कारण तथा विभिन्न प्रकार के सामाजिक समूह होने के कारण कुछ शृंखलाहीनता सी पाई जाती है। धनाभाव और व्यय करने के लिए स्थान और वस्तुओं की प्रचुरता तथा उन सबका घना प्रलोभन भी अपराध वृत्ति को जाग्रत करने में सहायक होता है। परिणामस्वरूप नगरों में अपराध भी एक समस्या हो जाते हैं। यहाँ तक कि बाल अपराध और संगठित ढंग पर किये जानेवाले अपराध भी नागरिक जीवन को दूषित करते रहते हैं। सुधार और दण्ड दोनों ही प्रकार के प्रबन्धों के होते हुए भी नागरिक जीवन अपराधों में कमी नहीं कर पा रहा है। अतः इसके हल करने के उपाय भी सोचे जाने चाहिए।

नागरिक एवं ग्रामीण समूह—हमने नागरिक और ग्राम्य जीवन की मुख्य विशेषताएँ देखीं। यह भी देखा कि जनसंख्या की वृद्धि और वैज्ञानिक अनुसन्धानों के साथ ही साथ नगरों की भी वृद्धि हो रही है तथा बड़े नगरों का विस्तार और भी अधिक होता जा रहा है। ग्राम और नगर दोनों ही समाज के अंग हैं। मानव-समूह दोनों ही स्थान पर रहता है और दोनों की जिस प्रकार रूपरेखाएँ भिन्न हैं उसी प्रकार समस्याएँ भी भिन्न हैं। जनसंख्या की वृद्धि और कृषि-योग्य भूमि का सीमित होना तथा उसकी भी उपज में न्यूनता होती जाने के कारण ग्रामीण लोगों में से भी कुछ को कृषि का आश्रय छोड़कर मजदूरी करने के लिए विवश होना पड़ता है और साधारणतया इसका अर्थ होता है ग्राम छोड़कर नगर में आ जाना। जमींदारी प्रथा का उन्मूलन करके तथा कृषक को धरती का स्वामी यदि बनाया भी जा सके तो भी केवल मात्र भूमिधर हो जाना ही कृषक जीवन की आर्थिक समस्याओं को हल नहीं कर देता है। नगरों की न केवल बाजार सम्बन्धी सुविधाएँ वरन अन्य सुविधाएँ भी ग्रामीण को नगर की ओर आकर्षित करती रहती हैं। किन्तु नगरों की जितनी आवश्यकता है ग्रामों की भी उससे कम आवश्यकता नहीं है क्योंकि व्यापार, व्यवसाय, उद्योग-धन्धे भी तो किसी एक सीमा तक कृषि पर भी आश्रित होते ही हैं अतः कृषि और ग्राम नागरिक जीवन के लिए किसी सीमा तक आवश्यक तो हैं ही। ग्राम्य जीवन में सामाजिक बन्धन इतने कड़े हो सकते हैं कि वह व्यक्ति के व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य का ही गला घोंट दे किन्तु नगर में सामाजिक बन्धन ही नहीं सम्बन्ध भी इतने क्षीण हो सकते हैं कि वह उच्छृङ्खलता को ही प्रोत्साहन देने लगे। अतः दोनों ही सामाजिक समूहों में सुधार की आवश्यकता भी है और गुञ्जाइश भी। यही कारण है कि न तो ग्राम्य समाज ही मानव को सुखी बना पाया है और न नागरिक समाज ही। अतः दोनों ही समूहों का अध्ययन करके, वहाँ के सामाजिक अन्तः-सम्बन्धों, अन्तःक्रियाओं को देख-समझकर इस ओर दृष्टि डालना चाहिए कि किस प्रकार से मानव को सामाजिक दृष्टि से इन दोनों ही समूहों में सुखी किया जा सकता है।

अध्याय ५

सामाजिक पारिस्थिकी

मानव और परिस्थिति—मानव प्राय: अपनी मूल एवं प्राकृतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बाह्य जगत् अथवा अपने वातावरण पर ही निर्भर रहता है। वस्तुत: उसकी आवश्यकताओं की सृष्टि तो बहुधा उसके भीतर से ही होती है। किसी प्रकार की भीतरी बेचैनी से मुक्त होकर चैन पाने के लिए वह कुछ करना चाहता है। उदाहरणार्थ क्षुधापीड़ित होने पर भोजन करना, तृषित होने पर जल पीना आदि चाहता है किन्तु ये सभी क्रियाएँ-प्रतिक्रियाएँ वह अपने वातावरण से प्रेरित होकर ही तो करता है। अत: मानव के जीवन तथा उसके व्यक्तित्व के निर्माण होने में उसके वातावरण का बहुत हाथ रहता है। हम यह तो देख ही चुके हैं कि मानव का सामाजिक जीवन उसके वातावरण जन्य प्रभावों से कहाँ तक प्रभावित होकर चलता है अत: मानव जीवन, विशेषतया मानव के सामाजिक जीवन और उसके वातावरण का घनिष्ठ सम्बन्ध होना स्वाभाविक ही है। मानव केवल मात्र वातावरण से प्रभावित ही नहीं होता है वरन उसे प्रभावित करता भी है। मानव के, व्यक्ति के आन्तरिक वातावरण अथवा मानसिक परिस्थितियों का निर्माण तो बहुत कुछ उसके बाह्य वातावरण विशेषतया सामाजिक सम्पत्ति के अनुरूप ही होता है किन्तु उसके बाह्य वातावरण में सामाजिक परिस्थितियाँ तो आती ही हैं उसकी भौगोलिक परिस्थिति, प्राकृतिक परिस्थिति और सीमाएँ, आनुवंशिकता आदि भी सम्मिलित हैं। यद्यपि किसी एक सीमा तक व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास का आधार उसकी आनुवंशिक सम्पत्ति भी होती है किन्तु इस दिशा में वातावरण का प्रभाव भी विचारणीय है। अब आवश्यक प्रश्न यह उठता है कि समाज भी तो वातावरण के प्रभावस्वरूप ही संगठित हो पाई होगी अत: वातावरण के प्रभाव का अध्ययन करने के लिए क्या हमें सामाजिक परिस्थितियों पर ही आश्रित रहना चाहिए और इस प्रश्न का उत्तर पिछली एक शताब्दी में लगभग अनेकानेक विचारकों ने देने की चेष्टा की है। इसी चेष्टा के फलस्वरूप 'पारिस्थिकी' (Ecology) का जन्म हुआ। वस्तुत: इतना तो मानना ही पड़ता है कि मानव के व्यक्तित्व और उसके

सामाजिक जीवन पर भूमि की बनावट, जलवायु, प्राकृतिक पदार्थों और उनकी बनावट, प्रादेशिक एवं क्षेत्रीय तथा जनसंख्या के कारण होनेवाले परिवर्तनादिक का गम्भीर प्रभाव पड़ता है अतः समाजशास्त्र का किसी भी प्रकार का अध्ययन मानव और उसके वातावरण का अध्ययन किये बिना पूरा नहीं हो सकता है। यद्यपि वह वातावरण जिसमें रखकर हम मानव का अध्ययन करते हैं उसका प्राकृतिक वातावरण ही होता है। सेमुअल स्मिथ ने इस प्रकार के अध्ययन के उद्देश्य स्पष्ट करते हुए बताया है कि इस प्रकार के अध्ययन में मानव को उसके सांस्कृतिक तथा संस्थात्मक वातावरण से भिन्न तथा प्राकृतिक वातावरण में ही रख कर अध्ययन का विषय बनाते हैं। अर्थात् एक ही स्थान पर रहने वाले मानवों में प्रतियोगिता की भावना के द्वारा संघर्ष उत्पन्न होना और सहयोगिता की भावना के द्वारा सन्तुलित होने की चेष्टा का पाया जाना अनिवार्य है। इन्हीं को लेकर तो उसके सामाजिक जीवन का विकास होता है अतः इन सब का मानव के साथ, उस पर अपना प्रभाव छोड़ते हुए अध्ययन किया जाना अत्यावश्यक है। इसी विषय को लेकर जो शास्त्र मानव का अध्ययन करता है उसे मानव-पारिस्थिकी (human ecology) कहा जाता है। समाजशास्त्र से सम्बन्धित किसी भी विषय का अध्ययन करने के लिए मानव-पारिस्थिकी शास्त्र की कितनी आवश्यकता है और उसका कितना महत्त्व है यह तो इसी से स्पष्ट हो जाता है कि पिछले कुछ वर्षों में ही इस विषय का गम्भीर अध्ययन किया गया है और आज भी किया जा रहा है तथा इतने ही काल में इस विषय ने अनेकानेक समाजशास्त्रियों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लिया है। इतना ही नहीं मानव और संस्थाओं, विशेषतया सामाजिक संस्थाओं के सांकेतिक सम्बन्धों के क्षेत्रीय अथवा स्थानीय अथवा अन्य प्रकार के पक्षों का अध्ययन करने की भी समाजशास्त्र के अन्तर्गत अत्यधिक आवश्यकता है और इस प्रकार के अध्ययन को 'सामाजिक पारिस्थिकी' कहा जा सकता है। सामाजिक-पारिस्थिकी ही इस अध्याय में हमारा मुख्य अध्ययन-विषय है।

मानव-पारिस्थिकी

विचारकों में मतभेद—यद्यपि इस विषय का अध्ययन करनेवाले विभिन्न दल अपनी अपनी विचार-धाराएँ रखते हैं किन्तु इस विषय में तो सभी एकमत हैं कि इसके अन्तर्गत मानव और उसके वातावरण का अध्ययन किया जाता है। उस अध्ययन के क्षेत्र, वातावरण के

विस्तार और तत्सम्बन्धी सिद्धान्तों, विचारों आदि के विषय में मतभेद हो जाते हैं। एक दल के विचार में 'मानव और उसके वातावरण' सम्बन्धी अध्ययन के क्षेत्र को मानव-शरीर (human organism) से किसी एक सीमा तक मिलाया जा सकता है। इस दल के समर्थक प्राकृतिक विज्ञान को समाज-विज्ञान के साथ समन्वित रूप में देखने का प्रयत्न करते हैं। श्रीयुत बेयूस (Bews) जो कि एक वनस्पति-शास्त्री हैं, इन्हीं विचारों के समर्थक हैं। उनके मतानुसार प्राकृतिक तथा सामाजिक सभी प्रकार के विज्ञान मानव को ही केन्द्रस्वरूप लेकर अपने अनुसन्धान, अपनी खोजें आदि करते हैं अर्थात् मानव का ही अध्ययन करते हैं। वनस्पति-शास्त्री मानव के वातावरण से सम्बन्धित अध्ययन को अपने ही ढंग से देखता है। भूगोल-शास्त्री अपने ढंग से देखता है और इसी प्रकार अर्थ-शास्त्री, नृसमूह-शास्त्री (ethnographer) आदि अपने अपने ढंग से देखते हैं। इनके अतिरिक्त समाज-शास्त्रियों में भी इस ज्ञान के क्षेत्र के सम्बन्ध में मतभेद है ही।

सभी समाज-शास्त्री भी मानवीय इकोलोजी के विस्तार एवं विषय-क्षेत्र के सम्बन्ध में एकमत नहीं रखते हैं। कुछ विचारक इसे प्राकृतिक क्षेत्रों का अध्ययन मानते हैं अथवा मानव का वह अध्ययन मानते हैं जिसका कि आधार क्षेत्रीय हो। आर० एम० मेकआईवर का ऐसा ही मत है। सम्भवतः ल्युण्डबर्ग भी इसे सम्पूर्ण समाज विज्ञान का सन्तुलन-सा ही मानते हैं। इसी प्रकार कुछ अन्य विद्वान भी इस विषय में अपने अपने मत देते हैं किन्तु मेकेन्जी की परिभाषा के आधार पर हम यह कह सकते हैं, कि सामाजिक पारिस्थिकी मानव तथा संस्थाओं के सांकेतिक सम्बन्धों (symbiotic relation) के क्षेत्रीय अथवा स्थानीय पक्षों के अध्ययन से सम्बन्धित है। इस विज्ञान का उद्देश्य निरन्तर परिवर्तित होती हुई संस्कृति में मानव की अन्तःक्रियाओं आदि के फलस्वरूप जनसंख्या तथा संस्थाओं की क्षेत्रीय व्यवस्थाओं में निहित तथा उनके आधारस्वरूप परिवर्तित होनेवाले प्रतिमानों के आधारभूत सिद्धान्तों तथा तथ्यों एवं तत्त्वों की खोज करना है। पार्क और वर्गीस ने तो पशु-पारिस्थिकी का अध्ययन भी इसी उद्देश्य से किया कि उससे आधारभूत सिद्धान्त लेकर उन्हें मानव-पारिस्थिकी में लागू करके देखना अच्छा रहेगा किन्तु अधिकतर इस प्रकार का अध्ययन अमरीका की घनी बस्तियों में ही होता रहा और उसके सिद्धान्तों पर भी वहाँ के वातावरण का पर्याप्त प्रभाव पड़ा ही।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि विभिन्न विचारक मानव-पारिस्थिकी के विषय पर न केवल विभिन्न विचार ही रखते हैं वरन् उसका क्षेत्र भी विभिन्न ढंग से निर्धारित करते हैं। उदाहरणार्थ—पार्क समुदाय पर अधिक ध्यान देते हैं, मुकर्जी विशेष क्षेत्रीय वर्णन पर अधिक ध्यान देते हैं। इसी प्रकार अन्य अनेक विचारक अपने अपने ही दृष्टिकोण से इस विषय और तत्सम्बन्धी समस्याओं पर प्रकाश डालते हैं। इन विभिन्न दृष्टि-कोणों को लेकर तो हम यहाँ पर नहीं चल सकेंगे क्योंकि ऐसा करने में हमारे लिए सबसे बड़ी बाधा है सीमित पुस्तकाकार। अतः यहाँ हमारा दृष्टिकोण यथासम्भव वही रहेगा जो कि विवादग्रस्त न हो।

परिवर्तन और उनका आधार—'मानव-पारिस्थिकी' उन तत्त्वों की खोज करने की चेष्टा करती है तथा उन्हीं का वर्णन भी करती है जिनका कि मानव समुदाय के बाह्य संगठन, सीमाओं आदि पर प्रभाव पड़ता है। वस्तुतः मानव समाज के भीतर ही तो 'समुदाय' होता है अतः समाज और समुदाय में भेद होना आवश्यक है। समुदाय के भीतर व्यक्ति, समूह, संस्थाएँ आदि भी रहती ही हैं। जिस प्रकार समाज और समुदाय को एक ही नहीं कहा जा सकता है और उन्हें भिन्न करके समझना आवश्यक है उसी प्रकार यह भी समझना आवश्यक है कि बाह्य दृष्टि से समुदाय परिवर्तनशील भी है तथा वह व्यक्ति, समष्टि, समूह, संस्थाओं आदि से मिल कर ही बनता है। यदि इतना मान लिया जाये तो यह भी मानना पड़ेगा कि ऐसी दशा में एक ही वस्तु के विभिन्न अंग होने के सम्बन्ध से इनमें परस्पर कुछ न कुछ सम्बन्ध तो होगा ही। यह सम्बन्ध प्रायः शृंखला की कड़ियों के परस्पर सम्बन्ध के अनुरूप ही होता है। वस्तुतः इन सबको मिला कर देखा जाये तो जान पड़ता है कि यह कुछ अन्योन्याश्रित प्राकृतिक क्षेत्रों की एक शृंखला है। इसमें से प्रत्येक प्राकृतिक क्षेत्र दूसरे ऐसे ही क्षेत्र के भीतर रहता है और इनमें से प्रत्येक क्षेत्र का नियन्त्रण संचालन एक ऐसे केन्द्र के द्वारा होता है जो कि अत्यधिक महत्वपूर्ण होता है। ये क्षेत्र अपनी बनावट और सामाजिक सम्बन्धों, अन्तः सम्बन्धों में एक दूसरे से भिन्न होते हैं और इनकी भिन्नता का आधार किसी एक सीमा तक उनके केन्द्र से होनेवाले सम्बन्ध पर भी आश्रित होता है अर्थात् उस क्षेत्र का स्वरूप जो कि केन्द्र से दूसरे की अपेक्षा अधिक दूर है केन्द्र के समीप स्थित क्षेत्र के स्वरूप से भिन्न होगा और इस भिन्नता का कारण क्षेत्रों का केन्द्र से दूर अथवा निकट स्थित होना होगा। मानव के लिए कर्तृत्व अथवा कर्तृत्व का

मूलाधार अवस्था परिवर्तन शक्ति (locomotive powers of man) अथवा इच्छानुसार हिलना-डुलना ही जीवित रहने तथा परिस्थितियों के अनुसार अपने आप को बना सकने, उनमें सन्तुलित हो पाने का साधन है। समाज की स्थायी दशा अथवा सन्तुलन (equilibrium or balance) जब कि एक बार छेड़ ही दिया जाता है तब सभी प्रकार के स्थानीय सम्बन्धों को परिवर्तित करने तथा उनकी परस्पर सम्बन्धित स्थिति को निश्चित करने का कार्य प्रतियोगिता (competition) के द्वारा ही किया जाता है। परिवर्तन होते रहते हैं यह निश्चित ही है और तत्सम्बन्धी प्रमाण केन्द्रीकरण (centralization), विकेन्द्रीकरण (decentralization) पृथक्करण (segregation) एकत्रीकरण (concentration) आदि में खोजे तथा पाये जा सकते हैं। प्रायः यहाँ तक तो मानवीय-पारिस्थिकी पर विचार रखने वाले विभिन्न विद्वान सहमत होते हैं। मानव में कर्तृत्व-शक्ति है। वह स्वयं इच्छा करके, निर्धारित करके अपने पथ पर चल सकता है। उसमें बढ़ने की भी शक्ति है और प्रतियोगिता के द्वारा आगे बढ़ना आक्रमण (invasion) और स्थान लेना, संक्रमण (succession) उसके जीवन में चलते ही रहते हैं और इन्हीं के द्वारा मानवीय क्षेत्रीय तथा अन्य सम्बन्ध परिवर्तित भी होते रहते हैं। किन्तु इन सबका मूलाधार ढाँचा है अथवा प्रक्रिया; इस प्रश्न पर विचारकों में मतभेद हो जाता है और उनके उत्तर के आधार पर दो दल बन जाते हैं। एक दल के विचारक सामाजिक ढाँचे और उसके संगठन को ही अध्ययन का केन्द्र बनाकर चलते हैं और दूसरे दल के विचारक सामाजिक प्रक्रिया पर अधिक ध्यान देते हैं।

सामाजिक ढाँचा और उसका संगठन—कुछ विचारकों का ऐसा विश्वास है कि मानव और उसके वातावरण, उसकी परिस्थितियों आदि का अध्ययन सामाजिक ढाँचे को केन्द्र मान कर ही किया जा सकता है। वस्तुतः मानवीय वातावरण के अध्ययन की चर्चा करते ही हमारा ध्यान 'समुदाय' की ओर जाता है। वस्तुतः मानव और उसके सामाजिक वातावरण की किसी भी प्रकार की चर्चा 'समुदाय' का अध्ययन किये बिना तो की ही नहीं जा सकती है। अतः 'समुदाय' इस प्रकार के अध्ययन का मूल-आधार होता है। समुदाय का अध्ययन करते समय उसके और समाज के बीच का भेद समझ लेना उचित जान पड़ता है क्योंकि मानव-पारिस्थिकी के विषय क्षेत्र के अन्तर्गत 'समुदाय' ही स्पष्टतः आता है। इस दृष्टि से देखने पर जान पड़ता है कि समुदाय उन तथ्यादिक

(factors) के पारस्परिक सम्बन्धों का प्रतिनिधित्व करता है जो कि एक ही स्थान पर साथ जीवन-यापन करने से सम्बन्ध रखते हैं, जिनकी ओर स्पष्टतः अन्य सामाजिक विचारकों की दृष्टि नहीं गई है और इसी कारण से उन्हें सामाजिक तथ्यादिक नहीं कहा जा सकता है। अब यदि समुदाय को ही मानव के सामाजिक जीवन का मूल स्रोत मान लिया जाए तो यह मानना ही पड़ेगा कि मानव-पारिस्थिकी के अन्तर्गत समुदाय का ही अध्ययन किया जाता है किन्तु ऐसा करते हुए हम यह मान लेते हैं कि मानव के सामाजिक जीवन में प्रतियोगिता तथा तत्सम्बन्धी प्रक्रिया का बहुत बड़ा स्थान है और इस प्रकार की प्रक्रिया के स्वाभाविक फल-स्वरूप समुदाय का जन्म होता है। उसका अध्ययन करने के लिए हमें जन-समूह और संस्थाओं तथा उनकी स्थापना आदि से सम्बन्धित क्षेत्रीय व्यवस्था (location) आदि को परीक्षण का विषय बनाना पड़ेगा। इस दृष्टि से समुदाय का अध्ययन कर पाने के लिए कुछ विचारकों ने सर्व प्रथम वनस्पति तथा जीव-समुदायों का अध्ययन किया और उसी अध्ययन के आधार पर कुछ सिद्धान्तों की खोज करके उन्हें मानव-समुदाय में लागू करने की चेष्टा की। इस प्रकार के अध्ययन का कुछ लाभ तो हुआ ही और आज तक भी कुछ उन्हीं सिद्धान्तों को लेकर विचारक अपने विषय को लेकर चलते हैं। वस्तुतः वनस्पति और जीव-पारिस्थिकी ज्ञान ने ही हमें यह दिखाया है कि समुदाय स्थानीय क्षेत्र स्थित व्यक्तियों की एक राशि ही है। व्यक्तियों को, इकाइयों को जीवित रहने के लिए कुछ न कुछ करते रहना अर्थात जीवित रहने के लिए प्रयत्न करते रहना पड़ता है और ऐसा कर पाने में सहायक कुछ शर्तों में से एक है 'प्रतियोगिता'। प्रतियोगिता व्यक्ति को, मानव को आगे बढ़ने के लिए, बने रहने के लिए उत्साहित करती रहती है। और ऐसा होना हमारे जीवन की एक आवश्यकता है भी, किन्तु इस व्यापक आवश्यकता की पूर्ति के लिए अर्थात् इस व्यापक आवश्यकता को देखते हुए परस्पर ठीक ठीक सन्तुलित तथा 'स्थान प्राप्त' होने के लिए 'सहयोग' भी एक साधन है। अतः हमें 'प्रतियोगिता-सहयोग' (competitive co-operation) की आवश्यकता होती है। इसी ढंग की परिस्थितियों को मानव-पारिस्थिकी के विद्वान् परस्पर सहयोग अथवा सिम्बायोसिस (symbiosis) कह सकते हैं। वस्तुतः सिम्बायोसिस (symbiosis) शब्द का प्रयोग वनस्पति-पारिस्थिकी के विद्वानों ने उस अवस्था को समझाने के लिए किया है जिसमें कि विभिन्न

प्रकार की आवश्यकताओं वाले पौधों को एक साथ रखा जाता है और वे प्राय: एक दूसरे को जीवित रहने के लिए सहायता करते रहते हैं। मानव समाज में श्रम-विभाजन इसी प्रकार की व्यवस्था (symbiotic conditions) है। और इनके अतिरिक्त भी व्यक्ति शारीरिक स्तर पर आपस में जितने भी प्रकार के अर्द्ध सामाजिक एवं मूलत: शारीरिक सन्तुलनादिक स्थापन करता है उन्हें 'बायोटिक' (biotic) कहा जाता है। जीवन का ताना-बाना वस्तुत: व्यक्ति के प्रति जीवित रहने और प्राप्त करने के बँटवारे के आधार पर होनेवाले सम्बन्धों एवं समीकरण करने की चेष्टाओं की शृंखलाएँ हैं। किसी भी व्यक्ति का श्रम-विभाजन सम्बन्धी कार्य में स्थान (niche in the division of labour, his function) इस आधार पर निर्धारित किया जाता है कि उसने जीवित रहने के लिए प्राप्ति और बँटवारे (acquisition and distribution of sustenance) में कितना भाग लिया है। यह व्यक्ति-समुदाय वातावरण के साथ साम्यावस्था प्राप्त करता है। इस प्रकार आवश्यकताओं का प्राकृतिक देन के साथ समीकरण हो जाता है। अब जब कि वातावरण और समुदाय के बीच की साम्यावस्था छेड़ दी जाती है तथा नवीन तथ्यादिक आकर समावस्था अथवा उस शान्ति को नष्ट कर देते हैं तब असाम्यावस्था, असन्तुलित अवस्था अथवा विषमावस्था उत्पन्न हो जाती है। ऐसी अवस्था में समीकरण करने तथा पुन: स्थिति प्राप्त करने के लिए नवीन प्रक्रियाओं का जन्म होता है। जैसा कि हम कह चुके हैं प्राय: इन सभी सिद्धान्तों का जन्म वनस्पति तथा जीव-पारिस्थिकी शास्त्र के अध्ययन के फलस्वरूप ही हुआ था किन्तु इन्हें मानव-समुदाय पर भी लागू किया जा सकता है क्योंकि मानव-समुदाय भी तो स्थानीय-क्षेत्र-स्थित (spatially located) व्यक्तियों की एक राशि ही है। आधुनिक युग में एक ऐसे समुदाय में जहाँ कि श्रम के विभाजन का सिद्धान्त कार्यान्वित होता है तथा अनजाने में ही व्यक्तियों को एक दूसरे से लाभ पहुँचता है हमें प्रतियोगिता-सहयोग का रूप स्पष्ट ही दृष्टिगोचर हो जाता है।

वस्तुत: समुदाय की प्राकृतिक व्यवस्था में तो प्रतियोगिता का ही प्रमुख स्थान है। स्थान तथा पारिस्थिकीय स्थिति (ecological position) प्राप्त करने के लिए होनेवाले संघर्ष को प्रतियोगिता में सम्मिलित किया जाता है और इस प्रकार की प्रतियोगिता को लिये-दिये ही जो स्थिति उत्पन्न होती है उसे समुदाय की प्राकृतिक अवस्था माना जा सकता है। यह तो जीवन का एक ऐसा पक्ष है जो कि प्राय: सभी जीवियों में पाया जाता है। इस

प्राकृतिक अवस्था के ऊपर इसके सदस्यों का नियन्त्रण करने के लिए समाज तो ऊपर से लाद दिया जाता है। अतः समाज की अपेक्षा प्रतियोगिता के ऊपर आधारित समुदाय अधिक प्राकृतिक भी है और अधिक व्यापक रूप से संगठित भी है। सम्भवतः समाज को निश्चित रूप से लानेवाले और संगठित करनेवाले कारणों में से भी एक है। वस्तुतः दोनों में अन्तःक्रिया सम्बन्ध भी है किन्तु विचारकों का यह दल समाज और उसके सभी परिवर्तनों की व्याख्या समुदाय की मूल अभिव्यक्तियों को लेकर ही करता है। इनके मतानुसार व्यक्तियों का राशीकरण तो होता ही है और ऐसा कर पाने के लिए मानव को, व्यक्तियों को अर्द्ध सामाजिक अथवा जीवीय सन्तुलनादि कर पाने के लिए संघर्ष (biotic struggle) भी करना ही पड़ता है। ऐसी अवस्था में प्रथाओं आदि का बीच में आ पड़ना स्वाभाविक ही है और इस प्रकार की प्रथाओं द्वारा बाधा पहुँचने पर मानव आर्थिक प्रतियोगिता तक पहुँच जाता है। यद्यपि ऐसी अवस्था में भी यह आवश्यक नहीं है कि वह नैतिक अथवा इसी प्रकार के जीवन के किसी अन्य स्तर तक पहुँच ही गया हो। आर्थिक प्रतियोगिता के प्रादुर्भाव ने हमें बायोटिक समुदाय के स्तर से ऊँचे उठने के लिए विवश कर ही दिया है। अब यह प्रश्न उठ सकता है कि मानव-समुदाय की परिभाषा क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में पार्क मानव-समुदाय से सम्बन्धित कुछ अत्यावश्यक तथ्य देते हैं। उनके मतानुसार मानव समुदाय वह जनसंख्या है जिसका आधार क्षेत्रीय हो और वह पूर्णतया उसी क्षेत्र, स्थान अथवा धरती से सम्बन्धित हो जिस पर कि उसका अधिकार है। और यह भी आवश्यक है कि समुदाय में व्यक्ति अन्योन्याश्रित रूप में ही रहते हों तथा उनके इस प्रकार रहने के आधार अधिकतर सामाजिक न होकर परस्पर-सहयोग (symbiotic) हो। कीन की दृष्टि में पारिस्थिकी ढाँचा समुदाय का एक अंगमात्र है। इस प्रकार वास्तविकता से उसके एक आवश्यक अंग को पृथक् करके अमूर्त रूप में देखना निश्चित सामुदायिक जीवन को सरल करना ही है।

समुदाय की भले ही किसी भी प्रकार की परिभाषा की जाये इतना तो मानना ही पड़ेगा कि समुदाय व्यक्तियों का राशीकरण है और इसे प्रतियोगिता-सहयोग का आधार लेकर ही चलना पड़ता है। अतः किसी भी दृष्टि से मानव के सामाजिक जीवन के किसी भी प्रकार के अध्ययन का आरम्भ उसी अवस्था से करना होगा जहाँ कि व्यक्तियों को अर्द्ध सामाजिक अथवा जीवीय सन्तुलनादि, समीकरणादि करने के लिए संघर्ष भी करना

पड़ता है और उस अवस्था (biotic community) को छोड़कर चल सकना हमारे लिए सम्भव नहीं होगा।

जो भी हो विचारकों का यह दल 'समुदाय' को लेकर ही चलता है और यह विश्वास करता है कि सामाजिक ढाँचा और उसका संगठन ही हमारे अध्ययन का मुख्य विषय होना चाहिए। इसी दृष्टि से यह समुदाय के भौगोलिक एवं भूतल सम्बन्धी पक्ष का अध्ययन करता है।

समुदाय : उसका भौगोलिक पक्ष—वस्तुतः समुदाय का अध्ययन करते समय दो पक्षों की ओर ध्यान दिया जा सकता है। उसका भौगोलिक तथा भूतल सम्बन्धी तथ्यों को लेकर अध्ययन करना एक पक्ष है और उसकी शारीरिक अथवा जीवीय स्थितियों का अध्ययन दूसरा पक्ष है। जो हो, किसी एक सीमा तक यह तो मानना ही पड़ता है कि भूतल, जलवायु, प्राकृतिक पदार्थ तथा अन्य ऐसे ही प्राकृतिक तथ्य जो कि भौगोलिक हैं, मानव के सामाजिक जीवन के विकास को यथेष्ट रूप से प्रभावित करते हैं। 'अन्न-जल' 'मिट्टी का प्रभाव' आदि प्रचलित भारतीय कथन बहुत कुछ इसी प्रकार के प्रभाव की ओर संकेत करते हैं। अरस्तू आदि पुरातन यूनान के भी विद्वानों ने भौगोलिक परिस्थिति के महत्त्व को स्वीकार किया है किन्तु आधुनिक युग में तो इस विषय पर पूर्णतया ध्यान दिया जाने लगा है। रेटजल, बकल, सेम्पल, हंटिंगटन, डेक्स्टर आदि इस विश्वास को लेकर चलते हैं। किन्तु यह स्वीकार करते हुए कि सामाजिक जीवन के विकास को भूगोल और भौगोलिक परिस्थितियाँ प्रभावित करती हैं हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि मानव निर्जीव पदार्थों से भिन्न एक चेतन और सजीव प्राणी है। वह केवल प्रभावित होता ही नहीं है वरन् प्रभावित करता भी है अतः यह मान लेना कि मानव की सामाजिक उन्नति एवं सभ्यता के विकास का एक मात्र कारण उसकी भौगोलिक परिस्थितियाँ ही हैं भ्रामक विचार होगा। वस्तुतः मानव का विकास, उसकी सभ्यता का उदय तथा उसकी रूप-रेखा कुछ भौगोलिक परिस्थितियों द्वारा अथवा भूतल सम्बन्धी तथ्यों द्वारा निश्चित एवं निर्धारित नहीं की जाती हैं वरन् उसके द्वारा प्रभावित मात्र की जाती हैं और कभी कभी स्वयं भी उन्हें प्रभावित करती हैं। स्मिथ, व्हिटलसे, हार्टशोर्न, बोमैन आदि के विचारों से इसी प्रकार का संकेत मिलता है।

समुदाय के भौगोलिक और स्थानीय पक्ष का अध्ययन करते हुए हमें भूगोल के 'प्राकृतिक' क्षेत्र और माप योग्य भूतल को ही इकाई के रूप में

मानकर चलना होता है। इस प्रकार के क्षेत्रों को प्राकृतिक केवल इसी दृष्टि से कहा जाता है कि यह हमें प्राकृतिक प्रतियोगिता के फल-स्वरूप ही मिले, मानव ने कुछ इनकी रूप-रेखा पूर्व से तैयार करके इन्हें प्रस्तुत नहीं किया था। वस्तुतः प्राकृतिक क्षेत्र भौगोलिक क्षेत्र ही तो है यद्यपि वह शारीरिक व्यक्तित्व और सांस्कृतिक तथ्य दोनों को ही लेकर बनता है। पारिस्थिकी शास्त्र के विद्वान् नगर के भागों को इसी प्रकार के प्राकृतिक क्षेत्र मान कर अध्ययन का विषय बनाते हैं। वस्तुतः आज दिन के समाजशास्त्री 'क्षेत्र' को अन्तःसम्बन्धों का ही एक गुँथा-बुना हुआ ताना-बाना मान कर चलते हैं और यही विचार पारिस्थिकी शास्त्र की सब से बड़ी देन है। वातावरण के विभिन्न तथ्यों को लेकर मानव समाज में परस्पर आदान-प्रदान, आनुकूल्य सम्बन्धी चेष्टाएँ चलती रहती हैं और यह मानना ही पड़ता है कि किसी एक भी स्थान पर तनिक सा भी परिवर्तन प्रायः सम्पूर्ण क्षेत्र में परिवर्तन लाने का कारण बन जाता है। अतः क्षेत्र इन सभी प्रकार के परिवर्तनों, चेष्टाओं आदि को लिये-दिये ही एक मिश्रित प्रतिमान है जो कि हमारे सम्मुख सम्पूर्ण स्थिति का चित्र उपस्थित करता है।

प्राकृतिक क्षेत्र की गाल्पिन ने एक भिन्न ही परिभाषा दी है। उनकी परिभाषा का अध्ययन क्षेत्रीय आधार है जनसंख्या और व्यवसाय सम्बन्धी संस्थाओं के परस्पर सम्बन्ध। वर्गेस ने अपने इस प्रकार के अध्ययन के फलस्वरूप आदर्श नगर के पाँच केन्द्र स्थानों की चर्चा की है। एक तो है केन्द्रीय और व्यवसायिक भाग जहाँ कि बैंकिंग भी होती हो, दूसरा है व्यवसाय, हल्के उद्योगों तथा कम किराये के मकान आदि को लिये हुए नगर का भाग। तीसरे भाग में श्रमकारों के घर, चौथे भाग में उससे अपेक्षाकृत कुछ अच्छे घर और पाँचवें में अर्द्ध नागरिक स्थानों की गणना की जा सकती है। इनमें से प्रत्येक भाग दूसरे से न केवल बनावट में ही भिन्न हैं वरन सामाजिक अवस्था और व्यवहार की दृष्टि से भी भिन्न हैं। इस प्रकार के सिद्धान्त पर्याप्त आलोचना के विषय भी रहे हैं फिर भी क्वीन्न के मतानुसार इस प्रकार का अध्ययन और परीक्षण हो सकता है कि उपयोगी ही सिद्ध हो अतः नगर के भागों को ही केन्द्र से सम्बन्धित प्रतिमानों के रूप में अध्ययन करना तथा उसी को आधार मानकर परीक्षण करना आवश्यक जान पड़ता है, यद्यपि यह आवश्यक नहीं है कि सभी 'नगरों' में सरलता से इस प्रकार के भाग पाये ही जायें।

नगरों का अध्ययन करते हुए यह जान पड़ता है कि आधुनिक गुथी-

बुनी सामुदायिक शृङ्खला की इकाइयों में बढ़ती हुई भिन्नता तथा महत्त्व के क्षेत्र का एकत्रीकरण करने की चेष्टा स्पष्ट दिखाई देती है। पुरातन समुदाय में प्रायः महत्त्व का, अधिकार का कोई विशेष क्षेत्र नहीं होता था किन्तु आज दिन बढ़ती हुई विभिन्न संस्थाओं के लिए एक ही केन्द्र द्वारा संचालित होना आवश्यक सा ही हो गया है। प्रायः इस प्रकार का केन्द्र आर्थिक और भौगोलिक दोनों ही प्रकार का केन्द्र होता है।

प्रक्रिया—यह तो हम देख ही चुके हैं कि मानव-पारिस्थिकी का विषय सम्बन्ध केवलमात्र क्षेत्रादिक में ही नहीं है वरन इसमें भी है कि मानव के सभी प्रकार के क्षेत्रीय तथा अन्य सम्बन्धादिक प्रगति करते ही रहते हैं और परिवर्तन की यह प्रक्रिया वातावरण तथा अन्य सांस्कृतिक तथ्यों की माँग के उत्तरस्वरूप ही चलती रहती है। इन प्रक्रियाओं और उनके कारणादिक का अध्ययन करना भी मानव-पारिस्थिकी का ही कार्य है। साम्यावस्था में तो उतना अधिक महत्त्व प्रक्रिया का नहीं होता है किन्तु जब साम्यावस्था का सन्तुलन किसी कारण से गड़बड़ हो जाता है तब प्रक्रिया का अत्यधिक महत्त्व हो जाता है और मानव तब तक चलता है, जब तक कि नवीन साम्यावस्था स्थापित नहीं हो जाती है। प्रक्रिया व्यक्तियों, वस्तुओं और संस्थाओं के बीच स्थिति के लिए होनेवाली प्रतियोगिता की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति है। मेकञ्जी के मतानुसार इनमें से प्रमुख प्रक्रियाएँ हैं—एकत्रीकरण, केन्द्रीकरण, विकेन्द्रीकरण, आक्रमण, संक्रमण। इनके अतिरिक्त गतिशीलता (mobility) और प्रभुता (dominance) को भी प्रमुख प्रक्रियाओं में गिना जा सकता है किन्तु महत्त्व का उपयोग तो अधिकतर नगरों के प्रतिमानों की व्याख्या करने के लिए ही किया गया है। वस्तुतः इन प्रक्रियाओं को प्राकृतिक क्षेत्रों तथा सामाजिक संस्थाओं में एक ही प्रकार से लागू किया जा सकता है।

सामाजिक पारिस्थिकी

सामाजिक पारिस्थिकी मानव-पारिस्थिकी से तनिक भिन्न है। मानव-पारिस्थिकी व्यक्ति और उसके वातावरण को लेकर चलती है जब कि सामाजिक पारिस्थिकी मानव के उन सामाजिक ढाँचों, व्यवस्थाओं, क्षेत्रीय प्रक्रियाओं, कार्यों आदि के प्रति सम्बन्ध तथा समीकरण के प्रश्न को लेकर चलती है जिनका कि मानव के सामाजिक जीवन से सम्बन्ध होता है। सामाजिक पारिस्थिकी तो एक सामाजिक पद्धति है जो कि हमें सामाजिक विषयवस्तु तथा सांस्कृतिक प्रक्रियाओं को समझने के लिए क्षेत्र

अथवा पारिस्थिकीय व्यवस्था को पृष्ठभूमिका के रूप में देती है। वस्तुतः क्षेत्र, जनसंख्या और समाज इन तीनों को एक 'सम्पूर्ण' के रूप में ही देखा जा सकता है।

समाज और प्रतियोगिता-सहयोग—यह तो हम देख ही चुके हैं कि पारिस्थिकी जीवन और उसके वातावरण के बीच रहनेवाले सब ही सम्बन्धों को देखने का एक दृष्टिकोण है, एक विचार धारा है। इस प्रकार के सम्बन्धों का अध्ययन करते हुए यह विज्ञान कुछ प्रक्रियाओं को मूलाधारस्वरूप एवं व्यापक मानता है। इनमें से कुछ की ओर हम संकेत कर चुके हैं। हम यह भी देख ही चुके हैं कि परस्पर सहयोग की भावना की अभिव्यक्ति हमें वनस्पति एवं पशु समाज तक में मिलती है यद्यपि मानव-समाज में इसे श्रम विभाजन के सिद्धान्त के रूप में अधिक गहन एवं गम्भीर रूप में देखा जा सकता है। सम्भवतः मानव की रुचिवैभिन्य, आविष्कार एवं अनुसन्धान करने की शक्ति तथा अन्य विविध प्रकार की शक्तियों ने उसके हाथों श्रम-विभाजन को इतना विस्तृत, परिवर्तनशील और प्रकार विशेष का बना दिया है। जो हो पारिस्थिकीय क्षेत्र में सहयोग की भावना का अत्यधिक मूल्य है क्योंकि इसी के आधार पर अन्योन्याश्रय, श्रम-विभाजन, यहाँ तक कि प्राकृतिक और व्यापक शत्रु के विरोध में चेतन-सुरक्षा भी चल सकती है। मानव को तो जीवन-संघर्ष में इसीलिए अधिक सफलता भी मिल पाती है कि वह भोजन प्राप्त करने तथा सुरक्षा करने दोनों में ही सहयोग के द्वारा विजय प्राप्त करता है। अतः जीवित रहने के लिए तो सहयोग की आवश्यकता होती ही है किन्तु जीवित रहने के साथ ही साथ जनसंख्या की वृद्धि भी तो होती जाती है। कुछ पशुओं आदि मानव से अपेक्षाकृत निम्न कोटि के जीवों में अपनी संख्या को उपयुक्त-संख्या (optimum population) बनाये रखने के लिए कुछ तरीके काम में लाते रहते हैं। 'उपयुक्त संख्या' से वस्तुतः तात्पर्य है व्यक्तियों की उस अधिकाधिक संख्या से जो कि जीवित रहने और बढ़ने की सुविधाओं का ठीक ठीक उपयोग कर सके क्योंकि यह सुविधाएँ तो पारिस्थिकीय वातावरण में सीमित ही होती हैं। जहाँ अन्य कारणों से जनसंख्या उपयुक्त अथवा सीमित ही नहीं रह पाती है वहाँ उपाय होता है स्थानान्तरित होना अथवा प्रव्रजन (Migration)। यद्यपि जीवन के लिए संघर्ष और प्रतियोगिता की चर्चा एक समय में बहुत अधिक की जाती थी किन्तु अब तो यह भी निश्चित प्रायः सा ही जान पड़ता है कि यदि प्रतियोगिता को ही बहुत दूर तक घसीटा जाय तो काम नहीं चल पाता है। स्थान और

भोजन के लिए संघर्ष अथवा प्रतियोगिता का भी सम्बन्ध सम्पूर्ण व्यवस्था के साथ ही होता है अतः किसी भी जीवित और जाग्रत समुदाय को अपनी व्यवस्था और प्रतिमान खोज पाने के लिए प्रतियोगिता एवं सहयोग दोनों का ही मिश्रित आश्रय लेना पड़ता है।

वस्तुतः सामाजिकता का आधार न केवल मानव अथवा अन्य जीवों की सामाजिक प्रवृत्तियाँ अथवा एकाकी न रह पाने की ओर झुकाव ही होता है वरन् उसका सहयोग द्वारा अपनी आवश्यकताओं को भली प्रकार पूरा कर सकना भी है। मानव यद्यपि पृथक् पृथक् रहने हैं किन्तु उसकी आर्थिक आवश्यकताएँ उनमें सहयोग की भावना उत्पन्न करती हैं जिसके द्वारा उनकी पूर्ति सहज ही हो पाती है किन्तु सामाजिकता की भावना व्यक्ति में उसके मानसिक विकास के साथ ही साथ स्पष्ट होती जाती है। श्रमविभाजन के फलस्वरूप मानव का मानसिक विकास होने लगा और उसकी बहुत कुछ एक सी मानसिक एकता, विचारों की एकता, सहानुभूति आदि ने उसके सामाजिक जीवन को उन्नत बना दिया। बोलने की शक्ति और भाषा ने भी उसके सामाजिक जीवन का विकास किया। उसने परम्पराओं और प्रथाओं की भी नींव डाली जो कि युगयुगान्तर तक एक से दूसरे तक चलती चली गईं। इन्हीं के आधार पर उसकी संस्कृति की नींव पड़ी किन्तु संस्कृति समाज से भिन्न है। समाज तो एक सीमित क्षेत्र में व्यक्तियों का संगठित राशीकरण है किन्तु संस्कृति औज़ारों और परम्पराओं का संगठित राशीकरण है। न्यूनातिन्यून संख्या के 'उपयुक्त संख्या' तक पहुँच जाने का परिणाम न केवल प्रव्रजन तथा प्रतियोगिता ही होता है वरन श्रमविभाजन और सहयोग भी तो है। संस्कृति समाज के बने रहने में सहायक होती है क्योंकि इसके द्वारा ही व्यक्ति का दृष्टिकोण ठीक ठीक और वातावरण के अनुकूल तथा सामूहिक जीवन के उपयुक्त बनता है। संस्कृति मानव को समाज में सन्तुलित होना सिखाती है। अतः परस्पर सहयोग (Symbiosis) मानव स्तर पर पहुँच कर एक प्रकार की मूल्य एवं प्रकार सम्बन्धी चेतना का रूप भी ले लेता है। और वही उसका सांस्कृतिक रूप है। अतः संस्कृति का हर प्रकार से वातावरण एवं परिस्थितियों से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

श्रेणीकरण—मानव को सदा सर्वदा उपयुक्त से अधिक जनसंख्या बढ़ जाने का चेतन अथवा अचेतन भय तो रहता ही है किन्तु फिर भी मानव के आर्थिक सम्बन्धों और कार्यों का आधार है व्यक्ति और पारिस्थिकीय परस्पर सहयोग के बीच होने वाली प्रतियोगिता अथवा संघर्ष और तत्सम्बन्धी

नियमादिक । इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन पर नैसर्गिक संस्कारों, शिक्षा दीक्षा आदि का प्रभाव भी पड़ता ही रहता है। प्रत्येक सजीवन समुदाय में प्रतियोगिता तथा परस्पर सहयोग के आधार पर एक अथवा अधिक महत्त्वपूर्ण वर्ग अथवा श्रेणी सी बन जाती हैं। और इस प्रकार प्रधान-प्रकार (strata) जीवन को संगठित करने में बनते ही जाते हैं और इस प्रकार का श्रेणीकरण अथवा प्रकार-बद्धता (stratification) एक आधार-भूत नियम सा हो जाता है। मानव समाज में वर्ग, जाति आदि और व्यक्तियों में परस्पर विभिन्न क्षेत्रीय सम्बन्ध आदि इसी प्रकार के वर्गीकरण अथवा श्रेणीबद्धता के उदाहरण हैं। व्यक्ति के समाज में अपने पद, उसकी मर्यादा के अनुसार ही अन्य व्यक्तियों के साथ प्रतियोगिता, पृथक्करण आदि परस्पर सम्बन्ध स्थापित होते हैं और यही नहीं उसे स्थान छिन जाने, अन्य व्यक्ति के उसका स्थान पाने के प्रयत्नस्वरूप होनेवाले आक्रमण आदि का भय भी रहता है। अतः सामाजिक पारिस्थिकी में परस्पर स्थान, व्यवसाय और काल-सम्बन्धों का बहुत महत्त्व है। इन्हीं के द्वारा जनसंख्या और क्षेत्र के बीच स्थापित होनेवाले सामूहिक सामञ्जस्य में सामाजिक सम्बन्धों का स्वरूप स्पष्ट होता है। वस्तुतः आर्थिक सन्तुलन बनाये रखने में स्थानान्तरित करने, जनसंख्या पर नियन्त्रण करने तथा इसी प्रकार के अन्य उपायों का तो महत्त्व है ही, इनके अतिरिक्त स्थान के आधार पर श्रेणी-विभाजन, संस्थाओं और कार्यादि में विभाजन करने आदि का भी महत्त्व है। श्रेणीकरण (stratification) प्रतियोगिता भी कुछ न्यून हो जाती है। मासूर और ऐली (Masure and Allee) का तो यहाँ तक विश्वास है कि सामाजिक व्यवस्था में ऊँची श्रेणी में खाद्य पदार्थों की न्यूनता के समय भी जीवित रहने की शक्ति रहती ही है। सामाजिक जीवों में श्रेणी-बद्ध-विशेषीकरण (Stratified Specialisation) पाया जाता है।

प्रतियोगिता तथा विशेषीकरण की सीमाएँ—मानव समाज में प्रतियोगिता दिखाई देती है किन्तु वह भी पूर्ण और सीमा-रहित रूप में नहीं चल पाती है। निस्सीम प्रतियोगिता विनाश तक भी ले जा सकती है अतः उसकी भी अपनी सीमाएँ हैं। मानव समाज में रहता है। कामों के वितरण का आधार कार्य-सम्बन्धी विशेषीकरण (Specialisation) होता है। मानव समाज में व्यवसायिक विशेषीकरण अधिक पाया जाता है। यद्यपि इसके अपने बन्धन हैं तथा इसके फलस्वरूप व्यक्तियों की विशेष प्रकार की नैसर्गिक शक्ति का ह्रास भी हो सकता है और उनकी रचनात्मक

शक्तियों का भी न्यून अथवा प्रायः नहीं के ही बराबर उपयोग हो पाने की सम्भावना भी है फिर भी इसमें मानसिक प्रतिमानों में अन्योन्याश्रय का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। मानव को उन्नति के पथ पर चलते हुए दो प्रकार की माँगों का सामना करना पड़ता है। एक ओर तो बढ़ती हुई जनसंख्या और समाज में विशेषीकरण अपनी माँगें उपस्थित करते हैं और दूसरी ओर सीमित वातावरण में व्यक्ति के व्यक्तित्व के पूर्ण एवं स्वतन्त्र विकास की माँग रहती है। व्यक्ति और समष्टि की ये माँगें हमें यह मान लेने को विवश करती हैं कि विशेषीकरण और मानव समाज में परिवर्तनशीलता (Plasticity) ये परस्पर विरोधी क्रियाएँ हैं किन्तु मानव सभ्यता की सब से बड़ी कसौटी तो यही है अतः देखना यह है कि ये किस प्रकार व्यक्ति के सभी गुणों, उसकी सभी शक्तियों की उसके पूर्ण व्यक्तित्व के विकास करने में सहायता लेती हैं और साथ ही साथ एक बड़े समुदाय की सभी सामाजिक सम्पत्ति का पूरा उपयोग किये जाने में भी सहायक सिद्ध होती हैं।

वनस्पति और प्राणियों का अध्ययन हमें यह दिखाता है कि प्रायः सभी पौधे अथवा प्राणी-गण अपने पड़ोसियों को स्थानच्युत करके स्थान लेने के लिए ही प्रयत्नशील रहते हों, ऐसी बात नहीं है। वरन् कहीं कहीं तो वे अपने वातावरण के साथ अनुकूलता ही प्राप्त कर लेते हैं। वस्तुतः वृक्षों और पशु-पक्षियों का सामाजिक श्रेणीकरण अधिकतर प्रतियोगिता, पृथक्करण, श्रम-विभाजन आदि के फलस्वरूप ही होता है।

मानव समाज में यद्यपि भाषा, शिक्षा, परम्पराओं, श्रम-विभाजन आदि का जन्म आर्थिक हितों के धरातल पर ही होता है किन्तु धीरे धीरे उनका प्रभाव व्यवहार आदि में भी प्रकट होने लगते हैं और फलस्वरूप प्रत्येक प्राकृतिक क्षेत्र अथवा व्यवसाय समुदाय की एक श्रेणी को लिये दिये अपनी प्रथाएँ एवं परम्पराएँ अथवा संस्कृति बना लेता है। इसीलिए तो दुर्खेम यहाँ तक विश्वास कर सके कि श्रम-विभाजन का क्षेत्र केवल मात्र आर्थिक हित के लिए ही नहीं है वरन् वह सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था को प्रभावित करता है। सम्भवतः मानव समाज में दिखाई देनेवाले श्रम-विभाजन के प्रतिमान तथा व्यवसायों के, कार्यों के विभिन्न और विशेष क्षेत्र उस स्थान की जनसंख्या और उसकी आवश्यकताओं आदि के अनुसार ही होते हैं। व्यक्तित्वों की श्रेणियों का विकास भी तो मानव की सामाजिक अनुकूलता के अनुरूप ही होता है। मानव की

सामाजिक अनुकूलता उसकी जनसंख्या के समीकरण के अनुरूप ही होती है।

प्रभुता एवं आज्ञाकारिता—पशु-पक्षी एवं मानव दोनों ही समुदायों में प्रतियोगिता, चुनाव एवं श्रम विभाजन के फलस्वरूप ही श्रेणीकरण का जन्म होता है। और इसके द्वारा ही प्रभुता एवं आज्ञाकारिता के सम्बन्धों और तत्सम्बन्धी व्यवहार का उदय होता है। इस प्रकार के सम्बन्धादि समुदाय के संगठन में सहायक होते हैं। मानव के सम्बन्धों में प्रभुता और आज्ञाकारिता की भावनाएँ इस प्रकार की तथ्य सम्बन्धी भावनाओं से सर्वथा भिन्न दिखाई देती हैं। मानव समाज में प्रभुता अथवा आज्ञाकारिता का सम्बन्ध एक बार स्थापित हो जाने पर अन्य जीवों की अपेक्षा अधिक स्थायी हो जाता है। यहाँ तक कि वर्ग, लिंग, आयु, जाति आदि के आधार पर भी व्यक्तियों में प्रभुता अथवा आज्ञाकारिता के चिह्न दिखाई देते हैं। वर्ग, लिंग आदि का वर्गीकरण भी प्रभुता-प्रधान अथवा आज्ञाकारिता प्रधान मान कर किया जा सकता है। मानव समुदायों में प्रभुता अथवा आज्ञाकारिता का आधार बहुत कुछ सामाजिक उत्तराधिकार तथा सांस्कृतिक सम्पत्ति होती है। पशुओं में प्रभुता अथवा आज्ञाकारिता भोजन और यौन आधारों पर ही आधारित हो सकते हैं किन्तु मानव के सम्बन्ध में यह उक्ति ठीक नहीं हो सकती है क्योंकि वहाँ इन्हें संचालित करने वाले कारण अधिक गहन और गम्भीर होते हैं।

सामाजिक अन्तर—प्रभुता एवं आज्ञाकारिता के सम्बन्धों तथा तत्सम्बन्धी व्यवहार तब ही चल सकता है जब कि व्यक्तियों, वर्गों एवं श्रेणियों में परस्पर सामाजिक अन्तर स्वीकार किया और रखा जाय। इस प्रकार का अन्तर विभिन्न वर्गों, श्रेणियों आदि में तो होता ही है, एक ही वर्ग के विभिन्न व्यक्तियों में भी होता है यद्यपि उसको यदि वह व्यापक तथा सामूहिक हित के लिए आवश्यक हो तो सहन किया जाता है। प्रत्येक व्यक्ति कई प्रकार के सामाजिक अन्तर रखता है जैसे कि प्रतियोगिता अथवा सहयोग के आधार पर एक व्यक्ति और दूसरे व्यक्ति के बीच रहने वाला मित्रता, प्रतिद्वन्द्विता आदि में प्रकट होनेवाला सामाजिक अन्तर; प्रत्येक समूह अथवा वर्ग के सदस्य तथा उसके नेता के बीच रहनेवाला प्रभुता, हीनता आदि में प्रकट होने वाला सामाजिक अन्तर; एक वर्ग के व्यक्ति और दूसरे वर्ग के व्यक्ति के बीच

रहने वाला सामाजिक अन्तर; परस्पर वर्गों में रहने वाला सामाजिक अन्तर आदि, आदि। प्रायः सामाजिक समानता का अनुमान विवाह एवं अन्य सामाजिक सम्बन्धों से जाना जा सकता है। इसी प्रकार बेकारी आदि एक व्यक्ति और दूसरे व्यक्ति तथा वर्ग में सामाजिक अन्तर बढ़ा देती है। विषम आर्थिक वितरण, भिन्न जातीयता तथा सांस्कृतिक विषमता आदि प्रायः सभी समुदायों में सामाजिक अन्तर को ही दिखाते हैं।

वस्तुतः सामाजिक विकास एवं उन्नति के लिए व्यक्ति स्वातन्त्र्य तथा सामाजिक अन्तर दोनों की ही आवश्यकता है किन्तु इन दोनों को ही रखते हुए 'सामाजिक-न्याय' की स्थापना कैसे की जा सकती है यह कहना कठिन ही है। और इन दोनों का भी साथ साथ चल पाना कहाँ तक सम्भव है यह कहना भी कुछ सरल नहीं है।

एकत्व, पूर्णत्व (Integration)—पेड़-पौधों से लेकर पशु-पक्षियों और मानव समाज तक में श्रेणीकरण तो पाया ही जाता है और प्रायः इन सब ही में प्रभुता सम्पन्न, अर्द्ध प्रभुत्व सम्पन्न और आज्ञाकारी श्रेणियाँ पाई जाती हैं (विशेषतया पेड़-पौधों में)। मानव समाज में भी व्यक्तियों तथा सामाजिक संस्थाओं में श्रेणीकरण तो पाया ही जाता है किन्तु विभिन्न श्रेणियों में भी निम्न, उच्च, उच्चतर, उच्चतम आदि सम्बन्ध रहते ही हैं और इनमें परस्पर आज्ञाकारिता एवं प्रभुत्व का सम्बन्ध होता जाता है। इस प्रकार उच्च निम्न पर प्रभुत्व करता है और निम्न उसका आज्ञाकारी होता है, उच्चतर उच्च पर प्रभुत्व करता है और वह उच्चतर का आज्ञाकारी होता है, इसी प्रकार परस्पर सम्बन्ध चलते जाते हैं। यद्यपि अपेक्षाकृत निम्नश्रेणी की जनसंख्या प्रायः अधिक होती है और उसका कार्य प्रायः अधिक यान्त्रिक एवं शारीरिक श्रमजन्य होता है। अतः सामाजिक अन्तर होते हुए भी समाज में एकत्व, पूर्णत्व लाने, केन्द्रीकरण तथा नियन्त्रण करने की आवश्यकता होती है। सम्भवतः सामाजिक अन्तर जितना ही अधिक होता है एकत्व की भावना भी उतनी ही अधिक दृढ़ता से स्थापित की जाती है।

सम्भवतः समाज और संस्कृति के बने रहने के लिए व्यक्तियों और वर्गों के बीच सामाजिक अन्तर रहना आवश्यक है किन्तु दूसरी ओर सामाजिक अन्तर यह भी तो दर्शाता है कि व्यक्ति अथवा समूह स्थिति, पद एवं सत्ता के लिए होने वाले संघर्ष में समान रूप से सफलता प्राप्त नहीं कर पा रहे हैं फिर भी सामूहिक चेतना इसे संस्कृति सम्बन्धी योजना का ही

एक अंग मानती है। तब क्या समाज के इन सभी श्रेणियों को लिए दिये, स्वरूप को ही मूल्य-सम्बन्धी योजना की अभिव्यक्ति के रूप में स्वीकार किया जाय ? और यही जान पड़ता है क्योंकि समाज के विभिन्न स्तर जीवन-सम्बन्धी मूल्य और तत्सम्बन्धी विचारों को लेकर ही चलते हैं।

विभिन्न सामाजिक दृष्टिकोण, विभिन्न व्यक्तित्व और उनके प्रकार तथा तत्सम्बन्धी निर्माणकारी शक्तियों का समाज में सामाजिक प्रभुत्व तथा आज्ञाकारिता द्वारा समीकरण किया जाता है। इन्हीं सब के आधार पर समाज के व्यापक पारिस्थितीय प्रतिमानों का निश्चय किया जाता है। इन्हीं के द्वारा सब प्रकार की भिन्नताओं को समाज और वातावरण में स्थान दिया जाता है। श्रेणी-विभाजन, व्यवसाय विभाजन, तथा कर्मक्षेत्र-विभाजन आदि ऐसी व्यवस्थाएँ हैं जिन्हें कि जनसंख्या द्वारा सीमित वातावरण का पूर्ण उपयोग कर पाने के लिए बनाये गए पारिस्थितीय साँचे भी कह सकते हैं और सामाजिक मूल्य आदि सम्बन्धी सांस्कृतिक साँचे भी मान सकते हैं।

आक्रमण और संक्रमण—वनस्पति जगत् में संक्रमण प्रक्रिया उस प्रक्रिया को कहते हैं जिसके द्वारा पौधे की एक अवस्था अथवा एक स्तर दूसरे समुदाय के पौधे की अन्य अवस्था को अपने पारिस्थितीय क्षेत्र में आने और बढ़ने देता है। इसी प्रकार प्रत्येक पौधा प्रतिक्रिया द्वारा अपने वासक्षेत्र (habitat) को इस प्रकार बना लेता है जिसमें कि वह उसके लिए न्यून किन्तु दूसरे उच्च-जीव-रूप के लिए जो कि आक्रमण करेगा अधिक हितकर हो जाता है। विश्व के समाजों के आर्थिक इतिहास भी इस प्रकार के वासक्षेत्र के साथ प्रगतिशील समीकरण के उदाहरण उपस्थित करता है। मानव समाज में भी आक्रमण और संक्रमण प्रक्रियाएँ कार्य करती ही रहती हैं। यह तो हम देख ही चुके हैं कि मानव समाज में स्थानान्तरित करण होता रहता है और जन-संख्या के क्षेत्रीय समीकरण के लिए यह आवश्यक भी है। अब एक जनसमूह का दूसरे जनसमूह के वास-क्षेत्र (habitat) में जमने के प्रयत्न करना आक्रमण कहलाता है। स्वभावतः इस प्रकार की प्रक्रिया के फलस्वरूप भूमि के उपयोग में अन्तर आ जाता है और नवीन जन समूह जब अपनी सामाजिक सम्पत्ति, संस्कृति आदि लेकर आता है तो पुरातन और नवीन के सम्मिश्रण से उस जनसमूह का प्रकार से परिवर्तित हो जाता है। नवीन जनसमूह पुराने जनसमूह का स्थान तो लेता ही है उसकी सामाजिक सम्पत्ति, संस्कृति आदि से भी प्रभावित होता ही है और इस प्रकार दोनों ही जनसमूह पुरानी संस्कृति आदि के

उत्तराधिकारी बन जाते हैं। विशेषतया नवीन समूह तो पुरातन का उत्तराधिकारी बन ही जाता है। आक्रमण की सफलता और पूर्ति के परिणाम को संक्रमण कहा जा सकता है। भूमि के उपयोग की प्रणाली में भी जो परिवर्तन होते हैं उनके परिणाम को भी संक्रमण कहा जाता है।

सामाजिक परिवर्तन और संक्रमण को कुछ बातों द्वारा समझा और मापा जा सकता है। ये बातें हैं क्षेत्र के बाजारों की संख्या और उनका वितरण तथा फुटकर केन्द्र। ये ही व्यवसायिक कार्यों, शिक्षा सम्बन्धी कार्यों और जनता के नागरिक जीवन के भी केन्द्र होते हैं। इनके अतिरिक्त विशेष काम-व्यवसादिक और वस्तुओं के प्रकार छोटे और बड़े नगरों तथा ग्रामों में उनके उत्पादन तथा क्रय-विक्रय को भी ध्यान में रखना पड़ता है। यह भी देखना चाहिए कि ग्रामीण जनता की विशेष केन्द्र की ओर कितनी और कैसी गतिशीलता है। ग्राम में इस प्रकार के विशेष केन्द्रों की संख्या और ग्रामीण जनता में व्यवसायिक भिन्नता आदि भी सामाजिक परिवर्तन तथा संक्रमण की ओर संकेत करते हैं।

मानवराशीकरण की परिवर्तनशीलता—गतिशीलता के कारण ही व्यक्ति अथवा समूह व्यवसाय, कार्य आदि अथवा संस्थाओं में अपना स्थान प्राप्त करते हैं। परिवार, वर्ग, पड़ोस, व्यवसाय, कार्य और राष्ट्र व्यक्ति अथवा समूह के व्यवहार के वे बने रहने वाले प्रतिमान हैं जिनके द्वारा पद (Status) प्रकट होता है। सामाजिक गतिशीलता समाज के व्यक्ति की उन्नति एवं अवनति का कारण होती है। पारिस्थितिकीय गतिशीलता अथवा जनसंख्या की प्रतियोगिता द्वारा उन्नति की ओर बढ़ने के लिए प्रदर्शित गतिशीलता, वस्तुएँ और उनकी उपयोगिता आदि के कारण ही ग्राम, नगर आदि के अन्तःसम्बन्धों में प्रभुत्व तथा आज्ञाकारिता का प्राधान्य दिखाई देता है। सामाजिक पारिस्थितिकी में तो हमें पड़ोस और पूर्ण समाज दोनों का ही अध्ययन रखना होता है। यही नहीं, उनकी व्यक्तिक इकाइयों के अन्तःसम्बन्धों का भी स्थायी और प्रगतिशील दोनों ही पक्षों को लेकर अध्ययन करना पड़ता है।

गतिशीलता, प्रतियोगिता तथा श्रेणीकरण पारिस्थितिकीय प्रक्रियाएँ हैं। समाज में ये प्रक्रियाएँ कार्य, व्यवसाय, निजी योग्यता आदि के अनुसार व्यक्तियों को चुनती तथा विभाजित करती हैं और इस प्रकार परिवार, जाति, सामाजिक समूह आदि के बन्धनों को क्षीण करके व्यक्ति को उसकी सीमित आर्थिक सुविधाओं का लाभ उठाने के अवसर देती हैं। इसके फलस्वरूप

व्यक्ति के लिए एक स्थान त्याग कर दूसरे स्थान पर जाना सम्भव हो जाता है।

एकत्रीकरण—पारिस्थिकीय एकत्रीकरण का अर्थ है जनसंख्या का स्थानीय राशीकरण। केन्द्रीकरण और सहयोग एकत्रीकरण के प्रमुख पहलू हैं। और इनके कार्यक्षेत्र का आधार होता है सामाजिक ढाँचा, व्यवसाय एवं सस्थाएँ। जनसंख्या का राशीकरण सामूहिक व्यवसाय आदि के द्वारा ही होता है और इनका प्रत्येक सामुदायिक इकाई में स्थान होता ही है। छोटे से छोटे पूर्णतया कृषक समुदाय में भी, ग्रामीण समाज में भी कृषकों के हित के लिए कार्यों के केन्द्रीकरण एवं सहयोग की आवश्यकता होती ही है। प्राय: जहाँ जिस कार्य के लिए प्राकृतिक सुविधाएं अधिक होती है वहीं उस प्रकार की सामाजिक संस्थाओं, जनसंख्या आदि का केन्द्रीकरण हो जाता है। इन्हीं प्रकृतिदत्त तथा कुछ मानवीय सुविधाओं को देखकर ही जनसंख्या किसी एक स्थान पर केन्द्रित हो जाती है। ग्राम और नगर दोनों ही के विषय में यह सिद्धान्त लागू होता है। वस्तुत: मानव वास वितरण का आधार केवल मात्र केन्द्रीय-स्थान ही नहीं है वरन् सामाजिक कार्य और उपयोगिता भी है।

जनसंख्या का पारिस्थिकीय संतुलन—पौधे और पशु अपने कार्यादिक के लिए अन्योन्याश्रित हैं किन्तु मानव ने अपने वातावरण से अपने विभिन्न उपयोगों के लिए कुछ पौधों और पशुओं को चुन लिया है और वह उन्हीं पर प्रभुत्व स्थापित करके अपने वातावरण को किसी एक सीमा तक हाथ में कर लेता है। इस प्रकार वनस्पति, पशु और मानव समुदाय परस्पर सम्बन्ध स्थापित करके जीवन का एक केन्द्र अथवा इकाई बना लेते हैं और फिर उसका एक पूर्ण की भाँति विकास होता जाता है। इसी को मिश्रित-पारिस्थिकी अथवा जीवन-पारिस्थिकी (Bio-ecology अथवा Synecology) कहा जा सकता है। वस्तुत: वनस्पति, पशु और मानव हैं भी तो अन्योन्याश्रित।

मानव ने औज़ारों का आविष्कार करके अपनी बढ़ती हुई जनसंख्या को प्रव्रजन (migration) के द्वारा बहुत कुछ सन्तुलित कर लिया था। औज़ारों के आविष्कार कर लेने तथा प्रयोग में लाने लगाने के पश्चात उसके लिए एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में जाना जो कि उसके लिए अधिक हितकर तथा अनुकूल हो, सरल हो गया। यद्यपि इस प्रकार प्रव्रजन करते हुए उसका स्थान सम्बन्धी चुनाव सदा उचित एवं हित कर ही नहीं हुआ करता है। अत:

कभी कभी उसे आर्थिक दबाव अथवा अन्य कारणों से ऐसे स्थान पर अथवा वातावरण में भी बस जाना पड़ता है जो कि उसे रोग-शोक का सामना करने को विवश कर देता है। जलवायु और रोग मानव के प्रभुत्व के लिए दो बड़े बन्धन हैं। यद्यपि मानव इनके प्रभाव को न्यून करने के लिए उपाय खोजता ही रहता है फिर भी जलवायु के प्रभाव को अथवा भौगोलिक प्रभाव को नगण्य नहीं माना जा सकता है। अतः किसी भी अवस्था में जनसंख्या का पारिस्थितिकीय सन्तुलन तो बना रहना ही चाहिए और ऐसा कर पाने के लिए आयोजित पारिस्थिकी की आवश्यकता है।

पारिस्थितिकीय और सामाजिक पद—वस्तुतः क्षेत्रों की प्राकृतिक देन तो सीमित ही है और मानव को उसका अधिकाधिक उपभोग करना चाहिए अतः वह ऐसा कुशल प्रबन्ध करना चाहता है जिससे कि वह परस्पर सहयोग करके सीमित क्षेत्रीय प्राकृतिक देन को अधिक से अधिक उपयोग में ला सके। यही पारिस्थितिकीय उद्देश्य भी है। प्रायः वनस्पति, पशु और मानव सभी के समुदायों में श्रेणीकरण की व्यापकता दिखाई देती है, सभी कहीं अन्तर और प्रभुता के सामाजिक सम्बन्धों के विशेष प्रतिमान दिखाई देते हैं। और इस प्रकार के सामाजिक अन्तर दिखाई देने की प्रक्रिया में प्रायः राशीकरण, प्रतियोगिता, विशेषीकरण, श्रमविभाजन आदि प्रक्रियाएँ सम्मिलित ही रहती हैं किन्तु पारिस्थितिकीय क्षेत्र अथवा समाज कुछ सदा साम्यावस्था में तो रहता ही नहीं है, उसमें परिवर्तन तो होते ही रहते हैं। राशीकृत जनसंख्या और उसके सीमित वातावरण में आदान-प्रदान के प्रगतिशील सिद्धान्त के आधार पर पद परिवर्तित होते रहते हैं। ऐसी अवस्था तब ही उत्पन्न होती है जब कि जनसंख्या बढ़ती जाती है और वातावरण तो सीमित ही होता है अतः समाज के सन्तुलन को बनाये रखने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि आर्थिक एवं पारिस्थितिकीय दृष्टि से सामाजिक ढाँचे में व्यक्ति अथवा समूह के कार्यों को पुनः स्पष्ट किया जाय। इसका तात्पर्य यह हुआ कि एक ओर तो सामाजिक जीवन में एक समान पद रखने वाले व्यक्तियों का योगदान और दूसरी ओर समूह विशेष अथवा व्यक्तियों के प्रभुत्व अथवा आज्ञाकारिता के प्रतिमान निश्चित करना आवश्यक हो जाता है। पद व्यक्तिगत (position) भी होता है और समष्टिगत भी (Status)। समष्टिगत पद मर्यादा तो उसे धारण करने वाला व्यक्ति कोई भी हो, बनी ही रहती है। समाज इस प्रकार के अपेक्षाकृत अधिक स्थायी अन्तःसम्बन्धों को लेकर साँचे (frame-work)

इसलिए बनाता है कि परिवर्तित व्यक्ति का व्यवसाय और अन्य ऐसे ही सम्बन्धों एवं सुविधाओं में उसकी अपनी रूपरेखा बनी ही रहे। किन्तु फिर भी समाज में व्यक्तियों के लिए सुविधाओं तथा पद मर्यादा आदि पाने का उपाय केवल मात्र जन्म तथा परिवार न होकर प्रतियोगिता भी होना ही चाहिए। वस्तुतः व्यक्तिगत एवं समष्टिगत पद-निर्धारण और उन्हें बनाये रखने के लिए सांस्कृतिक उत्तराधिकार और व्यक्तिगत अथवा समष्टिगत सफलता, गतिशीलता सब की आवश्यकता है। किसी भी समाज में एकबारगी निश्चित और स्थायी जन्म द्वारा प्राप्त पद व्यक्तियों को अपनी पद मर्यादा की ओर से निश्चिन्ता तो दे सकते हैं किन्तु ऐसे समाज में उन्नति के पथ संकीर्ण हो उठते हैं।

पद के साथ ही ऐसे पारिस्थिकीय क्षेत्र की भी तो आवश्यकता होती है जो कि व्यक्ति के कार्य क्षेत्र स्पष्ट करता है। व्यक्ति के लिए आर्थिक दृष्टि से व्यवसाय की भी आवश्यकता होती है। इसी आर्थिक व्यवसाय से उसके अन्य व्यक्तियों से सम्बन्ध भी स्थापित होते हैं। फलस्वरूप उसे समाज में एक स्थान मिलता है तथा उससे सम्बन्धित अधिकार और कर्त्तव्य भी प्राप्त होते हैं। इन्हीं के साथ संलग्न प्रक्रियाएँ होती हैं सामाजिक भावनाएँ, जीवन के विभिन्न मूल्यांकन आदि आदि।

पद और गतिशीलता—समाज-शास्त्र तथा सामाजिक पारिस्थिकी का सम्बन्ध उन प्रक्रियाओं से है जो कि पद और गतिशीलता से सम्बन्धित हैं। इसी प्रकार के अन्तःसम्बन्धों का अध्ययन ये दोनों शास्त्र करते हैं जो कि प्रायः सब ही सामाजिक तथा पारिस्थिकीय अन्तःक्रियाएँ व्यक्ति के सामाजिक पद और उसके सामाजिक सम्बन्धों के साँचे में रखकर ही समझे और जाने जा सकते हैं। प्रायः सब ही व्यक्ति व्यक्तिगत एवं समष्टिगत पद प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। समाज-शास्त्र पद-व्यवस्था का स्वरूप निर्धारित करता है, विभिन्न समूह तथा संस्थाओं के स्वरूप को समझने का प्रयत्न करता है और इस प्रकार करते हुए वह समाज को एक पूर्ण चित्र (Configuration) के रूप में देखता है। पद और गतिशीलता इन दोनों ही प्रक्रियाओं का मूलाधार मानव की प्रकृति और उसकी आवश्यकताएँ ही हैं जैसे कि स्वमहत्त्व (self-assertion), कुछ कर पाने की प्रबल इच्छा (Desire to achieve) आदि।

इस प्रकार के समाज में जहाँ कि व्यक्ति में पद-मर्यादा-सम्बन्धी

चेतना एवं इच्छा हो गतिशीलता भली प्रकार कार्य करती है क्योंकि उसी के द्वारा तो पद प्राप्त किया जा सकता है और उसी के द्वारा उसे बनाये रखा जा सकता है।

पद-मर्यादा और उसके आधार—मानव का पद भी उसके व्यक्तित्व की ही अभिव्यक्ति है। समाज में उसके व्यक्तिगत आदर सम्मान का आधार भी बहुत कुछ उसकी पद-मर्यादा ही होती है। पशु समाज में पद-मर्यादा प्राप्त करने का साधन है पाशविक शक्ति किन्तु मानव समाज में प्रथाओं, विचारों और सामाजिक स्वीकृति के द्वारा पद प्राप्त किया जाता है, कुछ शारीरिक शक्ति के द्वारा नहीं। अतः मानव समाज में पद की परिभाषा एवं व्याख्या विधि, प्रथा, परम्परा आदि में पाई जाती है। मानव के व्यक्तिगत प्रयत्नों का भी पर्याप्त प्रभाव समाज में पद-मर्यादा के वितरण तथा तत्सम्बन्धी स्वीकृति प्राप्त करने की क्रिया पर पड़ता है। वस्तुतः पद-मर्यादा प्राप्ति जहाँ कि एक ओर सांस्कृतिक उत्तराधिकारों का फल है वहीं दूसरी ओर व्यक्ति के प्रयत्नों का परिणाम भी है। इन प्रयत्नों में व्यक्तिगत योग्यता बौद्धिक, चारित्रिक, शारीरिक आदि तो सम्मिलित की ही जा सकती है, इसके अतिरिक्त परिश्रम और साधन सुविधाओं तथा अवसर का जुट पाना भी गिना जा सकता है। सांस्कृतिक उत्तराधिकारों में परिवार का समाज में स्थान तो गिना ही जा सकता है इसके अतिरिक्त सांस्कृतिक क्षेत्र के अन्य सब ही प्रकार के उत्तराधिकारों को भी सम्मिलित किया जा सकता है। यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि देश, काल और समाज के अनुसार पद-मर्यादा-सम्बन्धी विचार भी परिवर्तित होते रहते हैं। यद्यपि श्रेणीकरण का गतिशीलता के ऊपर अत्यधिक दबाव और प्रभुत्व रहता है फिर भी श्रेणीकरण भी तो सदा सर्वदा एक ही प्रकार का बना रहता हो ऐसा बात नहीं है अतः व्यक्तियों की सामूहिक गतिशीलता का श्रेणीकरण पर भी प्रभाव पड़ता ही है। समाज विभिन्न कार्यों को विभिन्न दृष्टि से देखता है। उसका महत्त्व का अपना ही एक मापदण्ड होता है जिसके अनुसार वह एक प्रकार के कार्य को दूसरे प्रकार के कार्य से अधिक महत्त्व देता है। इन्हीं के अनुसार उस समाज के सांस्कृतिक प्रतिमान बन जाते हैं और ये ही महत्त्व के मापदण्ड तथा सांस्कृतिक प्रतिमान संस्थाओं के रूप में साँचे बनाते हैं जिनके आधार पर विभिन्न व्यवसायों, कार्यों आदि से सम्बन्धित पद-मर्यादा के स्तर निर्धारित किये जाते हैं। अतः केवल मात्र जन्म अथवा परिवार अथवा आय से ही पद मर्यादा का स्तर नहीं निश्चित हो पाता है। फिर भी यह तो मानना ही

पड़ेगा कि मानव का कार्य-क्षेत्र और उसके ध्येय सीमित ही होते हैं। पद का घना सम्बन्ध जीवन-यापन के स्तर से है। पारिस्थिकीय और सामाजिक सम्बन्धों में भी परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। यही नहीं, जीवन-सम्बन्धी योजनाएँ भी निश्चित जीवन ध्येय को देखते हुए ही बनाई जा सकती हैं।

सामाजिक तथा पारिस्थिकीय गतिशीलता—यह तो हम देख ही चुके हैं कि पद और गतिशीलता परस्पर पूरक पारिस्थिकीय प्रक्रियाएँ हैं। इनके द्वारा ही व्यक्ति और वातावरण के बीच आदान-प्रदान का सम्बन्ध चलता है। पद मानव के वातावरण के साथ सफल क्षेत्रीय समीकरण को स्पष्ट करता है। गतिशीलता का अर्थ है प्रतियोगिता और उन्नति कर सकने की स्वतन्त्रता। यह सामाजिक भी हो सकती है और पारिस्थिकीय भी।

प्रव्रजन गतिशीलता का ही परिणाम है और इसके द्वारा जनसंख्या और सीमित वासस्थान के बीच सफल समीकरण स्थापित किया जा सकता है तथा नवीन क्षेत्रों से भी आनुकूल्य स्थापित किया जा सकता है। उपनिवेश बसाने के कारणों में से भी एक कारण तो यह है कि मानव को जनसंख्या की वृद्धि हो जाने के कारण प्रव्रजन की आवश्यकता पड़ती ही है। किसी भी कसबे अथवा नगर में जितने अधिक आर्थिक और सांस्कृतिक हितों का सम्मिश्रण दिखाई देता है उस कसबे अथवा नगर का परिमाण एवं क्षेत्र उतना ही अधिक बड़ा होता है। और ऐसी अवस्था में वह क्षेत्र भी अत्यन्त बड़ा होता है जिससे कि लोग इस नगर में आकर बसने लगते हैं। अर्थात् नगर में आकर बसने वाले लोगों की संख्या और उनके आने के स्थानों के क्षेत्र का परिमाण इस पर आश्रित होता है कि उस नगर में कितने आर्थिक और सांस्कृतिक हितों का सम्मिश्रण है। इस प्रकार के पारिस्थिकीय प्रव्रजन का परिणाम भी व्यापक ही होता है। प्रायः इस प्रकार के प्रव्रजन का कारण तो जनसंख्या की वृद्धि और उसका एक स्थान पर अत्यधिक हो जाने के कारण दबाव पड़ना तथा दूसरे स्थान पर उपयुक्त जीवन-यापन की सामग्री और अवस्थाओं का पाया जाना ही होता है।

यदि विश्व में प्रव्रजन की छूट और तत्सम्बन्धी अवसर दिये जायें तो इससे मानव-समाज का हित ही होने की सम्भावना है। प्रायः विश्व में सीमित और विभिन्न शर्तों सहित ही प्रव्रजन सिद्धान्त को स्वीकार किया

जाता है किन्तु यह आर्थिक दृष्टि से तो किसी प्रकार हितकर नहीं है। सम्भवत: स्वतन्त्र, रोक-टोक रहित प्रव्रजन सिद्धान्त का विश्व के विभिन्न मानव-समूहों की संस्कृति पर भी हितकर प्रभाव ही पड़ेगा। डा० रा० क० मुकर्जी के मतानुसार पारिस्थिकीय गतिशीलता के पाँच प्रकार हैं। प्रथम तो प्राय: सब ही देशों में ग्रामों को छोड़कर नगरों में जाकर बस जाने की प्रवृत्ति पाई जाती है और अकाल तथा औद्योगिक उन्नति के युग में तो यह प्रवृत्ति और भी अधिक बढ़ जाती है। दूसरे कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो कि रहते तो ग्रामों में ही हैं किन्तु प्रति दिन अथवा कभी कभी व्यापार, व्यवसाय, मनोरंजक तथा इसी प्रकार के अन्य कार्यों के लिए नगरों में आते हैं और अपना कार्य पूरा करके लौट जाते हैं। तीसरे कुछ नागरिक भी वन-विहार आनन्द, विश्राम अथवा ऐसे ही किन्हीं कारणों से नगर की सीमाओं से बाहर चले जाते हैं और फिर कुछ काल के पश्चात् लौट आते हैं। चौथे प्रकार का प्रव्रजन उसे कह सकते हैं जिसमें नागरिक नगर के एक भाग में स्थित वासस्थान त्याग कर दूसरे भाग में जाकर स्थित होने के रूप मे वासस्थान परिवर्तन करता है। और पाँचवें प्रकार का परिवर्तन वह होता है जहाँ कि नागरिक कुछ समय के लिए ही बस, ट्राम, मोटरकार आदि के द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान पर नगर में ही मनोरंजन अथवा विश्राम अथवा घूमने के लिए जाते हैं। इनमें से प्रत्येक प्रकार का प्रव्रजन मानव तथा समूह के व्यवहार प्रतिमान पर अपना प्रभाव डालता है।

पारिस्थिकीय एवं सामाजिक सम्बन्ध—पारिस्थिकीय तथा सामाजिक गतिशीलता की पारस्परिक भिन्नता को डा० रा० क० मुकर्जी के शब्दों में इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है 'पारिस्थिकीय गतिशीलता क्षेत्रीय गति की ओर संकेत करती है। इसके द्वारा व्यक्ति व्यक्तिगत तथा समष्टिगत पद के लिए परस्पर प्रतियोगिता एवं सहयोग करते हैं और उससे एक विशेष प्रकार के मानव-सम्बन्धों का विकास होता है। हमारी सीमित क्षेत्रीय देन अथवा सम्पत्ति को देखते हुए इस अन्त:क्रिया में वास-समस्या और उसके हल ही का प्रभुत्व देखा जाता है किन्तु फिर भी यह सामाजिक अन्त:क्रिया है।' यहाँ मानव एक दूसरे से प्रतियोगी-सहयोगी के ही रूप में मिलते हैं। ये सम्बन्ध भी हैं तो मानव के अन्त: सम्बन्ध, पारस्परिक सम्बन्ध ही किन्तु इन सम्बन्धों में भावात्मक एवं रागात्मक अंश न्यून ही रहता है। अत: ये प्राय: अमूर्त ही होते हैं। सामाजिक सम्बन्ध इसीलिए

इनसे कुछ भिन्न होते हैं। पारिस्थिकीय सम्बन्धों का सभ्यता पर भी प्रभाव पड़ता है।

यद्यपि आधुनिक समाज में श्रेणीकरण, वर्गीकरण आदि के कारण सामाजिक प्रव्रजन की पूर्ण स्वतन्त्रता नहीं है। यहाँ तक कि समाज में व्यक्ति की गतिशीलता को भी पूरा अवसर नहीं मिल पाता है किन्तु वास्तव में मानव को सामाजिक गतिशीलता के उपयोग की स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए। आधुनिक औद्योगिक समाज के लिए भी तब तक भय है ही जब तक कि वह समाज में प्रत्येक व्यक्ति को अवसर पाने की पूर्ण सुविधाएँ नहीं दिला पाता है जो कि आधुनिक युग में अत्यावश्यक हुआ जान पड़ता है।

व्यवहार के पारिस्थिकीय एवं सांस्कृतिक प्रतिमान—यह तो हम देख ही चुके हैं कि पारिस्थिकीय सम्बन्ध व्यक्तिगत भावनाओं आदि से ओत प्रोत नहीं होते हैं। इसी प्रकार व्यवहार के पारिस्थिकीय प्रतिमान भी उतने भावात्मक नहीं हो सकते हैं। मानव के सामाजिक संगठन में अनेकानेक समूह होते हैं। और अधिकतर ये समूह पारिस्थिकीय और चुनी हुई अथवा सांस्कृतिक और आन्तरिक प्रतिक्रियाओं के कारण ही जन्म लेते हैं। इनमें से किसी भी एक अथवा दूसरे प्रतिक्रिया-समूह का प्रभुत्व समुदाय के प्रकार अथवा व्यक्तित्व का स्वरूप निश्चित करता है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि पारिस्थिकीय और सांस्कृतिक तथ्य और प्रक्रियाएँ सामाजिक जीवन के विकास और सामाजिक संस्थाओं की स्थापना कर पाने के लिए एक दूसरे की सहायता करते हैं किन्तु वस्तुतः वे होते भिन्न ही हैं। मानव को खेती, सिंचाई आदि सब ही कार्यों के लिए परस्पर सहयोग की आवश्यकता पड़ती है और इस प्रकार के सहयोग का आधार है उसके सांस्कृतिक सम्बन्ध। यद्यपि इन सांस्कृतिक सम्बन्धों के पीछे आर्थिक आवश्यकताएँ ही निहित हैं जैसे कि खेती, चरागाहों का प्रबन्ध, पानी आदि का प्रबन्ध। सहयोगिता सामुदायिक जीवन की ओर ले जाती है अतः मानव की आर्थिक आवश्यकताओं ने जो कि अधिकतर पारिस्थिकीय पृष्ठभूमिका पर ही स्थापित हैं, उसे सांस्कृतिक प्रक्रियाओं की ओर संकेत किया और उन्हीं के द्वारा, उन्हें लिये-दिये ही मानव का सामाजिक तथा सामुदायिक जीवन आरम्भ हुआ। इसी प्रकार प्रायः सामुदायिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पारिस्थिकीय और सांस्कृतिक सिद्धान्तों का सम्मिलन तथा सम्मिश्रण होता ही गया। ग्राम और नागरिक दोनों ही

समुदायों में सामाजिक संगठन के प्रमुख तथ्यों और सम्बन्धों में सांस्कृतिक, प्रागम्भिक और आन्तरिक तथा पारिस्थिकीय, माध्यमिक एवं चुने हुए दोनों ही प्रकार के तथ्य एवं सम्बन्ध सम्मिलित किये जाते हैं।

सभ्यता का विकास और भौगोलिक प्रभाव—भौगोलिक कारण और तथ्य भी विभिन्न देशों में सभ्यता के विकास पर प्रभाव डालते रहे हैं। यह भी कहा जा सकता है कि किसी एक सीमा तक सभ्यता को भूगोल अथवा भौगोलिक हितकर परिस्थितियों से प्रेरणा प्राप्त हुई। यद्यपि युगों तक यह विश्वास जीवित ही रहा कि उपजाऊ और कोमल धरती जैसी कि प्रायः वादियों में पाई जाती है जनसंख्या की वृद्धि और इसीलिए सभ्यता के विकास के लिए अधिक हितकर है किन्तु आर्नल्ड टॉयनबी यह मानते हैं कि कठोर वातावरण मानव को अधिकाधिक कार्य करने के लिए प्रेरित करता है। इसका तो यही अर्थ होना चाहिए कि कोमल नहीं वरन् कठोर वातावरण ने ही मानव को सभ्यता के विकास की ओर प्रेरित किया। अतः अभी तक निश्चयपूर्वक यह नहीं कहा जा सका है कि किस प्रकार की भूमि सभ्यता को विकास देने के लिए अधिक हितकर है क्योंकि किसी भी एक सिद्धान्त के अपवाद भी तो दिखाई दे जाते हैं।

भूतल के अतिरिक्त जलवायु के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है। यद्यपि जलवायु को लेकर हटिंगटन और डा० मिल्स ने कुछ अनुमान दिये हैं किन्तु डा० पिंचर ने उन्हें भ्रमपूर्ण माना है। अतः यह कहा जा सकता है कि जलवायु का मानव सभ्यता के विकास पर पूर्ण और स्वतः सिद्ध प्रभाव भले ही न हो कुछ न कुछ प्रभाव तो है ही और उसे अस्वीकृत नहीं किया जा सकता है।

प्राकृतिक पदार्थों जैसे कि खनिज पदार्थों आदि का प्रभाव उद्योग-धन्धों आदि पर अधिक पड़ता है अतः इनके प्रभावों को मानव के आर्थिक तथा सामाजिक विकास का कारण माना जा सकता है। यह दूसरी बात है कि मानव अपने अज्ञान से उनका उपयोग ही न कर सका हो।

अन्य प्रभाव—यही नहीं, किसी भी नगर की सभ्यता आदि पर उसके प्रादेशिक स्थान, अर्थात् प्रदेश में उसका कौन सा स्थान है इसका प्रभाव भी पड़ता है। उदाहरणार्थ किसी भी नगर के अत्यधिक महत्त्व का कारण उसका औद्योगिक केन्द्र होना, अथवा तीर्थस्थान होना अथवा किसी न किसी अन्य कारण से महत्त्वपूर्ण होना, हो सकता है।

किसी भी नगर पर पड़ोस के ग्राम अथवा नगरों तथा नगरों से उसके अन्तर, उसकी स्थिति आदि का प्रभाव भी पड़ता है तथा पड़ोसियों की सभ्यता अथवा व्यवहार के प्रतिमान भी बहुत कुछ किसी भी नगर की सभ्यता को प्रभावित करते हैं। वैज्ञानिक आविष्कारों का तो मानव-सभ्यता पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा ही है।

आधुनिक युग में सांस्कृतिक संघर्ष—सामुदायिक जीवन का विकास होता जा रहा है और विकास का अर्थ ही है परिवर्तन अतः यह तो निश्चित ही है कि परिवर्तनशील अथवा प्रगतिशील समुदाय के सामाजिक जीवन और व्यवहार के प्रारम्भिक, सांस्कृतिक पक्ष तो हों ही, पारिस्थिकीय, आर्थिक और समझौते को लिये दिये पक्ष भी हों। आज दिन की सभ्यता में हमें स्पष्ट ही परस्पर विरोधी दृष्टिकोण तथा जीवन-यापन के तरीके और तत्सम्बन्धी विचार-धाराएँ दिखाई देती हैं और इनसे उत्पन्न परिस्थितियाँ कुछ ऐसी समस्याएँ उपस्थित कर ही देती हैं जिनका हल करना प्रत्येक ग्राम और नगर के लिए आवश्यक हो जाता है। प्रायः विचारक भी जो उपाय बताते हैं उनमें किसी एक ही सामाजिक अन्तःसम्बन्ध पर अधिक ध्यान दिया जाता है। नागरिक पारिस्थिकीय समस्याएँ तो और भी अधिक विकट हैं। परिणामस्वरूप सामाजिक और नैतिक संघर्ष अधिक कठोर हो उठते हैं और इनका हल एक नवीन संस्थाओं सम्बन्धी दृष्टिकोण को ग्रहण कर पाना ही है। वस्तुतः औद्योगिक उन्नति के साथ ही साथ मानव ने यह मानना आरम्भ कर दिया है कि इन सब समस्याओं का हल केन्द्रीकरण में ही खोजा जा सकता है। विश्वव्यापी आर्थिक एवं सांस्कृतिक योजना ही इस प्रकार के केन्द्रीकरण को सम्भव कर सकेगी। किन्तु केन्द्रीकरण ही अन्तिम शब्द हो, ऐसी बात भी नहीं है। हल भले ही कुछ भी हो आज विश्व भर के मानवों में अधिकाधिक सामाजिक निकट-सम्पर्क स्थापित करना आवश्यक हो गया है। बढ़ती हुई जनसंख्या, बढ़ती हुई औद्योगीकरण की नीति तथा बढ़ते ही हुए वैज्ञानिक एवं यान्त्रिक जीवन में उठते हुए सामाजिक एवं पारिस्थिकीय संघर्षों को सम्भवतः क्षेत्रीय नीति द्वारा आंशिक रूप में केन्द्रीकरण के द्वारा न्यून किया जा सकेगा। और ऐसा कर पाने पर ही तो समाज-शास्त्र और सामाजिक पारिस्थिकी का उद्देश्य सफल हो सकेगा। मानव की सर्वोच्च संस्कृति तो वही होगी जिसके द्वारा मानव को अनन्त सुख, घना आनन्द, जीवन-सम्बन्धी उपयुक्त सुविधाएँ और पूर्ण सुरक्षा प्राप्त हो सकेगी।

अध्याय ६

संस्कृति

संस्कृति समूह की देन—मानव व्यवहार को समझ पाने का कोई भी प्रयत्न तब तक पूर्ण नहीं समझा जा सकता है जब तक कि मानव के सामाजिक जीवन के सांस्कृतिक पक्ष को न समझ लिया जाये अथवा उन तथ्यों का अध्ययन न कर लिया जाये जिन्हें कि संस्कृति की परिभाषा के भीतर लाया जा सकता है। वस्तुतः मानव के सामाजिक जीवन का मुख्य आधार ही संस्कृति है। अतः मानव के सामाजिक जीवन के साथ बँधा गुँथा उसका सांस्कृतिक जीवन भी होता है। अब प्रश्न यह उठता है कि संस्कृति क्या है? समाज-शास्त्र में जिस प्रकार से संस्कृति शब्द का प्रयोग किया जाता है उससे तो तात्पर्य यह होता है कि कोई भी जाति अथवा सामाजिक व्यवस्था जो कुछ विशेषताएँ अपने भीतर उत्पन्न करती है अथवा जो जो और जिस प्रकार की विचारधाराओं, विश्वासों सम्बन्धी सफल धारणाएँ बनाती है, वही उसकी संस्कृति का निर्माण करती हैं। वस्तुतः संस्कृति मानव के साथ ही उत्पन्न नहीं होती है अतः वह कोई किसी भी प्रकार का नैसर्गिक संस्कार अथवा उसके द्वारा प्रदत्त वस्तु नहीं है। उसे तो प्राप्त करना, ग्रहण करना पड़ता है अतः यह समझ लेना आवश्यक है कि संस्कृति उन सब ही विचारों, विश्वासों, कार्यादि सम्बन्धी धारणाओं का पुञ्ज है जिन्हें कि व्यक्ति उस समाज अथवा समूह से प्राप्त करता है जिसमें कि उसका जन्म हुआ होता है अथवा जिसमें उसका पालन-पोषण होता है अर्थात् जिस समाज अथवा समूह से उसका निरन्तर सम्बन्ध रहता है। संस्कृति के व्यवहारिक रूप को ही सभ्यता कहते हैं। जब कभी हम यह कहते हैं कि अमुक व्यक्ति सभ्य नहीं है, सुसंस्कृत नहीं है तो उसका अर्थ सदा सर्वदा यही नहीं होता है कि वह व्यक्ति किसी भी सभ्यता अथवा संस्कृति में दीक्षित नहीं हुआ है अथवा वह पूर्णतया सभ्यता एवं संस्कृति से वंचित है क्योंकि ऐसा तो हो ही नहीं सकता है। प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी समूह का सदस्य तो होता ही है और उस अवस्था में उस समूह की मान्यताओं आदि से परिचित भी होता ही है अतः यह तो कहा जा सकता है कि अमुक व्यक्ति हमारी सभ्यता अथवा संस्कृति की दृष्टि से

कोरा है किन्तु यह नहीं कहा जा सकता है कि वह सर्वथा असभ्य अथवा असंस्कृत है क्योंकि हमारी संस्कृति आदि से परिचित न होते हुए भी किसी न किसी संस्कृति से तो उसका परिचय होगा ही। एक ही देश में भी विभिन्न समूहों की विभिन्न मान्यताओं का होना न तो असम्भव ही है और न आश्चर्य की बात ही। यद्यपि हम मुख्यतः संस्कृति शब्द से सामाजिक व्यवस्था की मान्यताओं, विश्वासों आदि की ओर संकेत करते हुए जान पड़ते हैं किन्तु संस्कृति को ग्रहण करने वाले तो व्यक्ति ही होते हैं। अतः इतना तो स्पष्ट ही हो जाता है कि संस्कृति ग्राह्य है। संस्कृति नैसर्गिक तो है नहीं। इसका सम्बन्ध शरीर से भी नहीं है अतः यह तो मानना ही पड़ेगा कि यह मानव के पारस्परिक सम्बन्धों के बीच ही उत्पन्न होती है, सामाजिक जीवन, सामूहिक जीवन और अन्तःक्रियाओं से ही इसकी उत्पत्ति होती है। और व्यक्ति इसे सामूहिक अनुभवों के द्वारा ही प्राप्त करते, ग्रहण करते हैं। वस्तुतः हमारा सामाजिक उत्तराधिकार, हमारी सामाजिक सम्पत्ति ही तो संस्कृति है अतः इसमें वे सब ही वस्तुएँ स्वाभाविक रूप से सम्मिलित तो होंगी ही जिन्हें कि हम समूह के द्वारा और समूह में रहकर ही सीखते हैं। किन्तु अब प्रश्न यह होता है कि संस्कृति का आरम्भ कैसे और कहाँ से हुआ। 'संस्कृति' को समझ पाने के लिए इस ओर दृष्टि डाल लेना आवश्यक जान पड़ता है।

संस्कृति का आरम्भ और विकास—संस्कृति आज अपने उन्नत और विकसित रूप में सम्भवतः मानव समाज में ही दिखाई देती है किन्तु एक समय ऐसा भी तो रहा होगा जब कि पृथ्वी पर जीव मात्र का चिह्न तक भी न रहा होगा। जो हो, उसके पश्चात् प्राणियों का उद्भव हुआ, विकास हुआ और अन्त में मानव दिखाई पड़ा। मानव सब प्राणियों से उत्कृष्ट रचना है। मानव ने अपने समाज की स्थापना की और धीरे धीरे समाज उसके जीवन का एक आवश्यक अंग बन गया। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि पशुओं का समाज है ही नहीं वरन् इसका अर्थ तो इतना ही है कि मानव-समाज की ग्रन्थियाँ अधिक गहन हैं और उनके पीछे किसी एक सीमा तक विचार धाराएँ भी निहित होती हैं। इन्हीं के कारण तो वे विचारधाराएँ संस्कृति बन जाती हैं। मानव संस्कृति का आरम्भ सम्भवतः मानव के सीखने की क्रिया से, प्रवृत्ति से (learning) से हुआ। यों तो चींटियों तकमें व्यवहार के मिश्रित प्रतिमान पाये जाते हैं और किसी एक सीमा तक उनका भी आधार होता है श्रमविभाजन, पदों में अन्तर, कार्य के आधार पर वर्गीकरण आदि किन्तु ये सब प्रतिमान चींटियों के सामाजिक संस्कार न होकर प्रत्येक

चींटी में स्वाभाविक रूप से, उसके ढाँचे में ही प्राकृतिक रूप से ओत-प्रोत होते हैं। इसी दृष्टि से तोज्जर चींटियों को केवल शारीरिक अर्थों में ही सामाजिक मानते हैं। यही कारण है कि ये प्रतिमान कभी परिवर्तित भी नहीं होते हैं। प्रोफेसर ह्वीलर के मतानुसार तो चींटियों ने लाखों वर्षों में भी कुछ सीखा नहीं है। उनका व्यवहार जैसा लाखों वर्ष पूर्व था वैसा ही आज भी है। पशु-पक्षी कुछ सीखते तो हैं किन्तु धीरे धीरे निजी अनुभव से अथवा दूसरों के उदाहरण आदि से ही सीखते हैं। कुछ परीक्षणों और खोजों ने यह भी सिद्ध कर दिया है कि बिल्ली तक अपने बच्चों को अपने उदाहरण द्वारा ही चूहे मारना सिखाती है और यदि उसके बच्चों को बिलकुल किसी बिल्ली को चूहे का शिकार करते हुए न देखने दिया जाए तो सम्भवतः उन्हें चूहों का शिकार करना भी नहीं आयेगा। इसी प्रकार अन्य पक्षियों एवं पशुओं आदि में भी सीखने की प्रवृत्ति और शक्ति किसी न किसी मात्रा में पाई ही जाती है। सम्भवतः यही प्रवृत्ति और शक्ति संस्कृति की आधार शिला है और मानव में यह प्रवृत्ति तथा शक्ति अन्य सब ही प्राणियों की अपेक्षा अधिक पाई जाती है। शरीर धर्म से भिन्न इस प्रकार से सीखने की शक्ति मानव के व्यवहार को, विशेषतया उसके सामूहिक व्यवहार को दिशा दिखाती है और इसी से सभ्यता का भी आरम्भ होता है। शिक्षा द्वारा एक से दूसरे तक किसी व्यवहार को, विचार को पहुँचाना ही सभ्यता की ओर प्रथम पग है। मानव की समस्त सभ्यता और संस्कृति को इसी दृष्टि से देखा जा सकता है।

तत्सम्बन्धी कुछ सिद्धान्त—संस्कृति के उद्गम को लेकर कुछ काल से मानव-शास्त्री (नृ-शास्त्री) तथा समाजशास्त्री भाँति भाँति की अटकलें लगा रहे हैं। निरी अटकलें, अनुमान-मात्र ही नहीं वरन् वस्तु-स्थिति का पूरा अध्ययन करके तथ्यों के आधार पर कुछ एक विचारकों ने कुछ सिद्धान्त भी सम्मुख रखे हैं। इन सिद्धान्तों में से कुछ एक प्रमुख सिद्धान्तों की चर्चा यहाँ की जा सकती है।

वातावरण और संस्कृति—कुछ एक विचारकों का मत है कि संस्कृति को बाह्य भौतिक वातावरण ही जन्म देता है तथा भूतल, जलवायु, प्राकृतिक देन आदि संस्कृति के विकास में न केवल सहायक ही होते हैं वरन् उसके जन्म के लिए पूर्णतया उत्तरदायी होते हैं। संस्कृति मानव के वातावरण से आनुकूल्य स्थापित करने का ही नाम है। क्षेत्रीय आवश्यकताओं के अनुसार ही तो मानव अपने हथियार, यन्त्र आदि

बनाता है और इनके लिए उन्हीं धातुओं का तो वह प्रयोग करता है जो कि उसे उस क्षेत्र में प्राप्त हो सकती हैं जिसमें कि वह रहता है। सुरक्षा, भोजन और यौन सम्बन्ध जो कि मानव की आधारभूत आवश्यकताएँ हैं उस क्षेत्र की भौगोलिक अवस्थाओं के द्वारा ही सन्तुष्ट की जा सकती हैं जिसमें कि कोई मानव वास करता है। संस्कृति का भौतिक ही नहीं मानसिक और नैतिक पक्ष भी भौगोलिक प्रभावों से सर्वथा शून्य नहीं दिखाई देता है। मानव की नैतिक विचारधाराएँ और धार्मिक विश्वास भी किसी न किसी रूप में उसके देश की भौगोलिक अवस्थाओं से प्रभावित दिखाई देते हैं। यहाँ तक कि उसकी उपासना के केन्द्र भी बहुत कुछ उसे प्रकृति और उसकी शक्तियों से ही प्राप्त होते हैं। ऋग्वेद इस प्रकार की विचारधारा का एक ज्वलन्त उदाहरण है।

यही नहीं, प्राकृतिक चुनाव अथवा वातावरण के अनुकूल होने के कारण किया गया चुनाव भी संस्कृति के विकास में बहुत सहायक सिद्ध होता है। अनेकानेक विचारधाराएँ, तथ्यादिक मानव के सम्मुख आते हैं किन्तु वह उन्हीं को तो चुन पाता है जो कि उसके वातावरण के अनुकूल पड़ते हैं। विश्व में बहुत से अनुसन्धान, खोजें और आविष्कार होते रहते हैं किन्तु उनमें से प्रत्येक जाति उन्हीं को तो स्वीकार और ग्रहण कर पाती है जो कि उसके वातावरण के अनुकूल पड़ते हैं। इसी प्रकार बहुत सी नैतिक, कानूनी, धार्मिक विचारधाराएँ किसी भी देश और जाति में जन्म तो लेती हैं किन्तु जीवित तो वही रह पाती हैं जिनके अनुकूल देश का वातावरण होता है। अतः संस्कृति वातावरण के अनुरूप ही बनती, फूलती और फलती है।

भले ही हम वातावरण के भौगोलिक प्रभाव को इतना अधिक संस्कृति के विकास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण न मानें फिर भी इतना तो मानना ही पड़ता है कि यद्यपि और प्रकार के प्रभाव भी संस्कृति के निर्माण में भाग लेते हैं किन्तु भोगोलिक प्रभाव भी इस दिशा में अपना निजी महत्त्व रखता ही है। यह भी सत्य है कि एक से ही वातावरण में विभिन्न प्रकार की संस्कृतियों के विकसित होने, फूलने, फलने के उदाहरण भी हमें दिखाई दे जाते हैं किन्तु यह भी सत्य है कि उन विभिन्न प्रकार की संस्कृतियों के निर्माण में भले ही अन्य प्रभावों का भी हाथ रहा हो किन्तु उन सब के सफल हो पाने के संकेत और कारण उन देशों के, जातियों के, संस्कृतियों के भौगोलिक वातावरण में भी रहे ही होंगे। सम्भवतः ज्यों ज्यों वैज्ञानिक

तथा सांस्कृतिक प्रभाव बढ़ते जाते हैं भौगोलिक प्रभावों की शक्ति क्षीण होती जाती है किन्तु फिर भी सांस्कृतिक विकास में वातावरण का हाथ है अथवा था यह मानना ही पड़ता है।

जातीय, रक्तसम्बन्धी प्रभाव और संस्कृति—कुछ विचारकों का यह भी मत है कि संस्कृति का आधार जातियों में जीवीय भेदों का होना है। और उन्हीं के आधार पर विभिन्न प्रकार की संस्कृतियों का विकास भी होता है। प्रत्येक जाति अथवा रक्तविशेष में कुछ मौलिक गुण अथवा चारित्रिक विशेषताएँ होती है और उन्हीं को लेकर उस जाति की संस्कृति विकसित होती है यही कारण है कि एक जाति (race) की संस्कृति दूसरी से भिन्न होती है।

इस सिद्धान्त को मानने से पूर्व यह तो देख ही लेना चाहिए कि आज हमें कहाँ तक शुद्ध-रक्त के दर्शन हो पाते हैं। वस्तुतः विश्व के मानवों में कुछ इतने अधिक रक्त सम्मिश्रण हो चुके हैं कि आज तो यह कहना भी कठिन है कि केवल शुद्ध रक्त के आधार पर हमें कहीं समूह दिखाई भी देते हैं। काकेशियस जाति के लोगों को भी अपनी सभ्यता और संस्कृति के विकास का श्रेय जातीय विशेषताओं अथवा जातीयता को देने का सम्भवतः अधिकार नहीं है क्योंकि नार्डिक जाति के रक्त का भी आलपाइन और मेडिटरेनियन जातियों से पर्याप्त रक्त-मिश्रण हुआ ही है। अतः इस सिद्धान्त को स्वीकार करना तनिक कठिन जान पड़ता है।

मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक सिद्धान्त—इस सिद्धान्त के आधार पर यह माना जा सकता है कि संस्कृति का आधार है मानव मस्तिष्क की विशेषता। मानव का मस्तिष्क अन्य प्राणियों के मस्तिष्कों की अपेक्षा अधिक उन्नत हैं तथा अनुसन्धानों, आविष्कारों, खोजों आदि के लिए अधिक उपयुक्त भी है अतः उसके लिए संस्कृति का विकास करना सम्भव है। वह अपनी कुछ विशेषताओं के जैसे भाषा, रचनात्मक कार्यों के उपयुक्त हाथ आदि के कारण तथा जिज्ञासा की प्रवृत्ति होने के कारण मानसिक प्रतिमानों और अनुसन्धानात्मक प्रक्रियाओं को भी एक मानव से दूसरे तक शिक्षा के द्वारा ले जा पाता है। इतना तो माना ही जा सकता है कि मानव अपनी कुछ शारीरिक एवं मानसिक तथा बौद्धिक विशेषताओं के कारण सांस्कृतिक उन्नति कर पाया है किन्तु इस सिद्धान्त के आधार पर भी यह नहीं जान पड़ता है कि विभिन्न संस्कृतियों का जन्म क्यों और कैसे हुआ तथा विभिन्न स्थानों, क्षेत्रों में, मानव ने अपनी उन्हीं

सब विशेषताओं को लिये दिये भी भिन्न प्रकार से संस्कृतियों का विकास क्यों किया, किस प्रकार किया तथा इस प्रकार की सांस्कृतिक उन्नति के पथ पर कुछ जातियाँ आगे बढ़ गईं किन्तु कुछ जो कि पीछे रह गईं क्यों पीछे रह गईं। यदि इन सब प्रश्नों तथा उनमें उलझी हुई, इनमें निहित सांस्कृतिक विषमताओं की व्याख्या इस आधार पर की जाये कि वातावरण का प्रभाव मानव को विभिन्न प्रकार से सांस्कृतिक उन्नति करने की प्रेरणा देता रहा, तो उत्तर कुछ सन्तोषजनक हो सकता है। अतः मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए भी वातावरण के प्रभावों को मान कर ही चलना पड़ता है।

सांस्कृतिक उन्नति का आधार—अचानक होनेवाली खोजें— कुछ विचारक यह भी मानते हैं कि सांस्कृतिक विकास का कारण कोई विशेष नहीं है वरन् जहाँ भी कहीं अचानक ही मानव ने कोई यन्त्र, हथियार आदि बना पाया वहीं उसका प्रचार और प्रसार होता गया। एक दूसरे को देख कर मानव उसे सीखता गया और फिर धीरे धीरे उसमें संशोधनादि भी करता गया। इस प्रकार संस्कृति का उद्गम अचानक ही हुआ और एक दूसरे को देख कर सीखने के माध्यम से उसका प्रसार होता गया। इस सिद्धान्त में कुछ सत्य है यह तो मानना ही होगा। हमारी भौतिक तथा अभौतिक सांस्कृतिक सामग्रियों में से कुछ तो ऐसी अवश्य ही हैं जिनका उद्गम, जिनका आविष्कार मानव ने अचानक ही कर पाया। किन्तु इसका यह अर्थ तो नहीं होता है कि संस्कृति का उद्गम और जन्म किसी एक ही स्थान पर हुआ और फिर मानव ने उसका विभिन्न स्थानों पर स्थानान्तरण किया तथा इसी प्रक्रिया में उसमें परिवर्तन होते गये और इसी कारण विभिन्न स्थान पर विभिन्न सांस्कृतिक प्रतिमान पाये जाते हैं। यही नहीं, इस प्रकार का सिद्धान्त तो मानव को बिलकुल अकर्मण्य ही बना देगा क्योंकि उसका विश्वास अपनी आविष्कार करने की रचनात्मक शक्ति की अपेक्षा अचानक ही हो जानेवाले आविष्कारों पर ही अधिक हो जायेगा। अतः मानव की रचनात्मक शक्ति और उसकी अन्य प्राणियों का अपेक्षा अधिक विशेषताओं को तो संस्कृति का आधार मानना ही होगा।

सांस्कृतिक विकास-सम्बन्धी सिद्धान्त— संस्कृति के उद्गम के सिद्धान्तों के साथ ही साथ उसके विकास-सम्बन्धी सिद्धान्तों पर भी एक दृष्टि डाल लेना ठीक ही होगा क्यों दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध भी है।

सांस्कृतिक विकास के स्तर—कुछ विचारकों का विश्वास है कि प्रत्येक सामाजिक समूह की संस्कृति निम्नतम से उच्चतम सांस्कृतिक स्तर की ओर बढ़ती जाती है और इन सभी सोपानों से होकर ही उसका विकास होता है। श्रीयुत् लुईस० एच० मोरगन के मतानुसार सांस्कृतिक विकास के तीन स्तर होते हैं और ये हैं जंगलीपन, बर्बरता और सभ्यता। प्रथम स्तर जाति के प्रारम्भिक जीवन से लेकर उस काल तक कहा जा सकता है जब तक कि मानव साधारण किन्तु भोंड़े औजार, हथियार आदि बना पाया था किन्तु इस समय तक न तो वह पशुओं का ही पालन करने लगा था और न कृषि का आरम्भ ही। अधिकतर इस अवस्था में खाद्य पदार्थ वह शिकार, मछली पकड़ने और वनस्पति आदि के द्वारा ही प्राप्त कर पाता था। बर्बर संस्कृति का आरम्भ उस युग से होता है जब कि मानव ने धातु के भद्दे और भोंड़े हथियार बनाने आरम्भ किये तथा पशुओं का पालन करना आरम्भ किया। इसी स्तर पर उसने कृषि करना आरम्भ किया। इस स्तर की सब से बड़ी सफलता मानव का कृषि करने का आविष्कार करना ही था। तीसरे स्तर का आरम्भ तब से हुआ जब से कि मानव ने अक्षरों का आविष्कार किया और लिखना-पढ़ना आरम्भ किया तथा घटनाओं का इतिहास रखना आरम्भ किया। इनमें से प्रत्येक स्तर को भी मोरगन तीन विभागों में बाँट देते हैं और ये हैं निम्नतर, मध्यम और उच्च। प्रत्येक स्तर की सफलताओं के परिमाण के आधार पर ही ये विभाग निश्चित किये गये हैं। इस प्रकार का पूरा चित्र सम्मुख रख कर यह सरलता से ही देखा जा सकता है कि कोई भी जाति इस समय संस्कृति के विकास की किस अवस्था में है। इस प्रकार का सिद्धान्त यद्यपि संस्कृति के अध्ययन में सहायक तो हो सकता है किन्तु इसे स्वीकार कर लेना तनिक कठिन जान पड़ता है क्योंकि यह कल्पना करना कि मानव का सांस्कृतिक विकास इस ढंग से एकबारगी सुव्यवस्थित रीति से ही हुआ होगा कुछ ठीक नहीं जँचता है।

समकालीन सांस्कृतिक विकास—इतिहास किसी एक सीमा तक तो साक्षी है कि विभिन्न स्थानों में प्रायः एक समय में सांस्कृतिक विकास का स्तर एक ही सा रहा। यहाँ तक कि गम्भीर दार्शनिक एवं तात्त्विक विचार भी लाखों योजन दूर स्थानों पर भी कभी कभी इस प्रकार विकसित हुए कि उन्हें बहुत कुछ मिलते-जुलते हुए कहा और माना जा सकता है। हथियार, कानून, प्रशासन आदि की तो बहुत सी बातें कई संस्कृतियों

में मिलती-जुलती हुई ही मिलती हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि विभिन्न स्थानों पर लगभग एक काल में मानव की संस्कृति मिलती-जुलती हुई दिखाई देती है। इसका कारण श्रीयुत् मोरगन के सिद्धान्त में खोजा जा सकता है किन्तु उसके अतिरिक्त यहाँ दो अन्य सिद्धान्तों की चर्चा भी कर देना उचित ही होगा।

केन्द्रीय उद्गम—कुछ मानवशास्त्री (नृ-शास्त्री) तथा समाज-शास्त्री यह मानते हैं कि वस्तुतः संस्कृति का उदय एक ही स्थान पर हुआ और फिर परस्पर निकट सम्पर्क में आने के कारण ही एक जाति से दूसरी जाति तक उसका प्रसार हो पाया। अतः सांस्कृतिक उद्गम और विकास का केन्द्र एक ही रहा होगा तथा सीख पाने की शक्ति और विचारों के स्थानान्तरण ने ही संस्कृति को क्षेत्रीय कारणों के आधार पर विविधता और विषमता दे डाली होगी। किन्तु इस प्रकार का मत रखने वाले विचारकों में भी उस केन्द्र स्थान के सम्बन्ध में मतैक्य नहीं है जहाँ कि संस्कृति का सर्व प्रथम जन्म हुआ। कुछ अन्य विचारक यह भी मानते हैं कि विभिन्न सांस्कृतिक विषयों का जन्म विभिन्न स्थानों पर हुआ होगा और कुछ काल पश्चात् वे सब ही स्थानों में फैल गये। जो हो, इस मत के विद्वान् यह तो मानते ही हैं कि संस्कृति का विकास प्रथम एक स्थान पर ही होना चाहिए यद्यपि संस्कृति के विभिन्न विषयों का विकास विभिन्न स्थानों पर हो सकता है किन्तु उनका प्रसार कुछ काल पश्चात् ही सब कहीं होना चाहिए। इतना तो माना ही जा सकता है कि स्थानान्तरण ने संस्कृति के विकास में बहुत सहायता दी है तथा एक स्थान पर होने वाली खोजों, आविष्कारों और अनुसन्धानों का प्रचार भी सब ही कहीं हुआ है और यह भी सत्य ही है कि विभिन्न मानव-समूहों तथा समुदायों ने एक दूसरे से सांस्कृतिक क्षेत्र में बहुत कुछ आदान-प्रदान का सम्बन्ध रखा है। मानव-समूह ज्यों-ज्यों एक-दूसरे के निकट सम्पर्क में आते गये यह आदान-प्रदान बढ़ता ही गया। किन्तु सम्भवतः यह मान लेना उचित न हो कि विभिन्न संस्कृतियों का उद्गम एक ही रहा है क्योंकि इसका तो यह अर्थ होगा कि युग-युगान्तर पूर्व भी मानव के पास एक दूसरे समूह के निकट सम्पर्क में आ पाने के लिए पर्याप्त साधन थे जो कि निर्विवाद सत्य नहीं है। और यदि ऐसे साधन नहीं थे तो सम्पर्क स्थापित कैसे हुए और यदि उन दिनों में ऐसे सम्पर्क सरलतापूर्वक स्थापित नहीं हो पाते थे तो फिर सांस्कृतिक आदान-प्रदान होना कैसे सम्भव हुआ ?

विविध उद्गम—इस मत के अनुसार विभिन्न स्थानों पर सांस्कृतिक विकास अपने ही ढंग पर होता गया तथा एक का दूसरे से कोई लगाव नहीं रहा। और ऐसा होना सम्भव इसलिए हो सका कि एक ही प्रकार की अवस्थाओं और सुविधाओं में एक विशेष प्रकार की संस्कृति का ही उदय होना सम्भव है भले ही वैसी अवस्थाएँ और सुविधाएँ विभिन्न स्थानों पर उपलब्ध हों। यदि एक सी ही आवश्यकताएँ हों और एक ही सी अवस्थाएँ, प्राकृतिक देन, सुविधाएँ आदि हों तो विभिन्न मानव-समूह भले ही वे पृथ्वी के विभिन्न सुदूर स्थित भागों में बसे हुए हों अपनी उन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए एक ही से साधन भी खोज लेंगे।

प्रायः इन सब ही सिद्धान्तों के पक्ष में तर्क भी दिये जा सकते हैं और उन तर्कों की सहायता के लिए उदाहरण भी उपस्थित किये जा सकते हैं किन्तु इनमें से कोई भी एक सिद्धांत पूर्णतया सन्तोषजनक तथा मान्य नहीं है फिर भी सत्य तो कुछ न कुछ सब ही में है ही।

संस्कृति, प्रगति की ओर—आज दिन हम प्रायः विश्व के सब ही क्षेत्रों में, जातियों में, संस्कृति का विकास शीघ्रता से होता हुआ देख रहे हैं। यह भी स्पष्ट ही जान पड़ता है कि सांस्कृतिक विकास प्रायः उस जाति के जीवन के सब ही अंगों पर अपना गहरा प्रभाव डालता है। संस्कृति के भी किसी एक पहलू में होनेवाला परिवर्तन, संशोधन, परिवर्धन अथवा विकास सम्पूर्ण संस्कृति की रूपरेखा में परिवर्तन कर देता है। यही नहीं सांस्कृतिक विकास उत्तरोत्तर वृद्धि की, विकास की ओर ही बढ़ता जाता है। जिस प्रकार ज्ञान ज्ञान की जिज्ञासा को, पिपासा को बढ़ाता है उसी प्रकार सांस्कृतिक उन्नति और भी अधिक सांस्कृतिक विकास की ओर ले जानेवाली होती है। यद्यपि यह भी सत्य है कि संस्कृति के सब ही अंग एक सी ही चाल से उन्नति के, विकास के पथ पर नहीं दौड़ पा रहे हैं किन्तु यह भी सत्य है कि सम्पूर्ण रूप से देखने पर सांस्कृतिक उन्नति और विकास हमें शीघ्रता से वृद्धि की ओर बढ़ता हुआ ही दिखाई देता है। भले ही संस्कृति के सब ही अंगों का एक सा विकास नहीं हो रहा हो फिर भी उनमें परस्पर अन्योन्याश्रय का सम्बन्ध किसी एक सीमा तक तो है ही। परिवार और परिवार के सदस्यों के आर्थिक हितों, और उनके व्यवसायों में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है और दूसरी ओर आर्थिक उन्नति, आर्थिक हितों और व्यवसाय तथा शिक्षा में परस्पर अन्योन्याश्रय का सम्बन्ध है। अतः इनमें से किसी में भी विकास होने पर दूसरे भागों को भी उसके अनुकूल बनना ही पड़ेगा अन्यथा काम नहीं चल सकेगा।

कृषि-जीवन के पश्चात् औद्योगिक जीवन ने परिवार में बहुत कुछ परिवर्तन कर दिये हैं। और औद्योगिक जगत् की अवस्थाओं, वातावरण एवं परिस्थितियों के साथ परिवार को आनुकूल्य, समीकरण स्थापित करना ही होगा। कृषि-सम्बन्धी व्यवसाय को छोड़ कर जब मानव औद्योगिक एवं इसी प्रकार के व्यवसाय को ग्रहण करने लगा है तो उसकी शिक्षा में भी परिवर्तन होना अनिवार्य हो गया है। जिस प्रकार ग्राम के जीवन से निकल-कर उसे नगर के जीवन को अपनाना पड़ा उसी प्रकार कृषि-सम्बन्धी शिक्षा को छोड़कर उसे औद्योगिक व्यवसाय अपनाने के योग्य होने के लिए उपर्युक्त शिक्षा को ग्रहण करना होगा अतः औद्योगिक विकास न केवल उसकी संस्कृति का आर्थिक विकास ही होगा वरन् इसका प्रभाव उसकी संस्कृति के पारिवारिक, शिक्षा-सम्बन्धी, सामाजिक जीवन-सम्बन्धी तथा अन्य भी अनेकों पक्षों पर पड़ेगा। संस्कृति का सम्पूर्ण विकास तो होगा ही। अतः यह कहा जा सकता है कि संस्कृति मानव-समूह की सम्पूर्ण सफलता का सम्मिलित रूप है और उसके किसी भी एक पक्ष का दूसरे पर पूरा प्रभाव पड़ता है तथा संस्कृति की गति तीव्र से दिनों-दिन तीव्रतर होती जा रही है। अतः संस्कृति प्रायः विश्व के सब ही मानव समूहों में प्रगति की ओर बढ़ रही है तथा ज्यों-ज्यों विश्व की विभिन्न जातियों, विभिन्न मानव-समूहों में निकट सम्पर्क बढ़ता जा रहा है एक दूसरे के आदान-प्रदान से माध्यम के प्रत्येक मानव-समूह की संस्कृति का विकास भी तीव्र गति से होता जा रहा है।

संस्कृति की परिभाषा—एडवर्ड बी० टेलर के मतानुसार संस्कृति वह मिश्रित एवं पूर्ण व्यवस्था है जिसमें कि वे सब ही ज्ञान, विश्वास, कला, नैतिकता के सिद्धान्त, विधि-विधान, प्रथाएँ तथा अन्य ऐसी सब ही योग्यताएँ सम्मिलित होती हैं जिन्हें कि व्यक्ति समाज के सदस्य होने के नाते प्राप्त करता है। इस परिभाषा के पीछे पुरातन से पुरातन संस्कृति तक का अध्ययन निहित है। इसी परिभाषा को मान कर चलने पर यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि संस्कृति में वे सब ही कुछ सम्मिलित किया जा सकता है जो कि मानव समाज में रहकर समाज के सदस्य होने के नाते ग्रहण करता है, सीखता है। इस प्रकार की ग्राह्य वस्तुओं, योग्यताओं आदि को दो विभागों में बाँटा जा सकता है। प्रथम विभाग में तो भौतिक वस्तुओं और ऐसी सामग्री को रखा जा सकता है जिसे इन्द्रियों के द्वारा जाना-सुना समझा जा सकता है जैसे कि आविष्कारों, अन्वेषणादि के फलस्वरूप प्राप्त हुए यन्त्रादिक, औजार, वस्त्र तथा ऐसी ही अन्य लौकिक-भौतिक वस्तुएँ।

इन वस्तुओं को तो इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष रूप में अनुभव किया और इनसे लाभ उठाया जा सकता है। ये एक मानव-समाज से उसकी सन्तति को सामाजिक उत्तराधिकार के ही रूप में मिलती हैं और इनका प्रयोग में लाना भी पुत्र पिता से अथवा बालक पुरुष से ही सीखता है। दूसरे प्रकार की वे वस्तुएँ अथवा सामग्री होती हैं जिसे प्रत्यक्ष रूप में इन्द्रियों से अनुभव नहीं किया जाता है इसे किसी एक सीमा तक मानसिक सामग्री कहा जा सकता है जैसे कि भाषा, मत, विश्वास, प्रथाएँ, परम्परागत रीति-नीति, सम्प्रदाय, धार्मिक विश्वास, नैतिक सिद्धान्त, विधि, शासन-प्रणाली आदि। यद्यपि इन सबसे हमारा प्रत्यक्ष साक्षात्कार नहीं होता है फिर भी ये हमारे जीवन का इतना अधिक अंश बन जाती हैं कि इन्हें प्रायः व्यक्ति के व्यक्तित्व से पृथक् करके देखा भी नहीं जा सकता है। संस्कृति की भौतिक-पक्षिक सामग्री यह दिखाती है कि मानव ने प्रकृति पर कहाँ तक अधिकार प्राप्त कर लिया तथा वह प्रकृति को अपने उपयोग के योग्य कहाँ तक बना पाया है तथा ऐसा करते हुए उसने पूर्वावस्था से अब तक सफलतापूर्वक कितने संशोधनादि कर लिये हैं। और दूसरी प्रकार की अर्थात् संस्कृति की अभौतिक पक्ष की सामग्री यह बताती है कि मानव ने स्वयं अपने ऊपर कितना अधिकार प्राप्त कर लिया है। अपने 'निज' को लेकर उसने कितने प्रयोग किये और उनमें से कितने उसे सफलतापूर्वक कुछ दे पाये हैं। इनमें वे सब ही सामाजिक साधनादि सम्मिलित हैं जो कि अब तक मानव अपने व्यवहार को नियन्त्रित एवं संयमित करने के लिए खोज पाया है और जिनकी कि मानव-समुदाय को आवश्यकता भी है, जिनकी ओर मानव-समुदाय संकेत करता है तथा जिन्हें पाने की दिशा की ओर निरन्तर देखता रहता है। इन दोनों ही पक्षों की ओर दृष्टि डालने से यह स्पष्ट हो जाता है कि सम्भवतः संस्कृत मानव के उन सब प्रयत्नों का कुल टोटल है, सम्पूर्ण है जिन्हें कि वह अपने जीवन-यापन की रीति-नीति की उन्नति करने की दिशा में प्रयुक्त करता है।

सम्भवतः इसी भाव से चार्ल्स ए० एलवुड संस्कृति को अन्वेषण फल, आविष्कार अथवा मानव की निज पर तथा प्रकृति पर विजय मानते हैं। मानव ने जिस प्रकार यन्त्रों का आविष्कार किया उसी प्रकार भाषा, विश्वासों, मतों का भी तो प्रसार एवं प्रचार किया अतः दोनों ही उसकी विजय के द्योतक हैं। दोनों ही किसी न किसी सीमा तक सामाजिक व्यवस्था के किसी उद्देश्य की पूर्ति करते हैं। इस प्रकार की मानव की प्राप्ति न तो एक युग में ही पूर्ण होती है और न किसी एक मानव अथवा मानव-समूह के द्वारा ही पूर्ण होती है वस्तुतः

यह तो विकसित होती है और इसके धीरे धीरे होने वाले विकास में सहायक होने का श्रेय कई एक पीढ़ियों को दिया जा सकता है। प्राप्ति के पश्चात् भी वह प्राप्ति ही तो अन्तिम प्राप्ति नहीं होती है पीढ़ी-दर-पीढ़ी वह सम्पत्ति एक के हाथ से दूसरे के हाथ में चलती भी जाती है और इस क्रिया के साथ साथ उसमें संशोधन परिवर्तनादि भी होते ही रहते हैं। आज की हमारी संस्कृति हमारे युगों, शताब्दियों पूर्व के पूर्वजों की कमाई से लेकर पिछली पीढ़ी के पूर्वजों तक की सम्मिलित कमाई है। यद्यपि बालक पृथ्वी पर जब जन्म लेता है तब उसकी कोई भी संस्कृति नहीं होती है किन्तु धीरे धीरे वह अपने समाज के अन्य व्यक्तियों से मिलते-जुलते हुए अपने समाज की संस्कृति प्राप्त कर लेता है और फिर वह उसका रक्षक, प्रशंसक आदि बन जाता है। रेडफील्ड संस्कृति को परम्परागत विश्वासजन्य विचारों का एक ऐसा संगठित रूप मानते हैं जिसका विकास कला तथा कलात्मक कृतियों में होता है और जो परम्पराओं के द्वारा समूह की विशेषताओं को, उसके चरित्र को बनाता है। कॅलारेन्स मार्शकेस संस्कृति को मानव तक ही सीमित रखना चाहते हैं और इसी दृष्टि से उसे स्पष्ट एवं प्रमुख मानवीय विशेषता मानते हैं। वस्तुतः इतना तो स्पष्ट ही दिखाई देता है कि अन्य सभी जीवों में मानव ने ही संस्कृति का विकास किया अर्थात् अधिकाधिक प्रकृति पर तथा स्वयं अपने ऊपर विजय प्राप्त की और उसे सामाजिक सम्पत्ति के रूप में सुरक्षित रखा तथा सामाजिक, सामूहिक सम्पत्ति के रूप में उसका एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक आदान-प्रदान चलता रहा और फिर लेने वाली पीढ़ी ने भी अपने योगदान सहित उसी क्रम से अपने पश्चात् आने वाली पीढ़ी तक उस सामाजिक, सामूहिक सम्पत्ति को पहुँचाने का क्रम बनाये रखा। यह क्रम युगों से चला आ रहा है और सम्भवतः युगों तक चलता भी रहेगा।

मैकआइवर के मतानुसार 'जो कुछ हम हैं वह हमारी संस्कृति है' और संस्कृति को सभ्यता से भिन्न करते हुए वह सभ्यता को वे सब साधन मानते हैं जिनका कि हम प्रयोग करते हैं। वस्तुतः सभ्यता मानव के सामाजिक जीवन का यान्त्रिक अथवा बाह्य पक्ष है और संस्कृति उसका वस्तुओं के मूल्यांकन सम्बन्धी आन्तरिक पक्ष है। जैसे व्यक्ति का बाह्य व्यवहार उसके आचरण की ओर संकेत करता है जब कि उसका चरित्र उसके विचारों, विश्वासों, मान्यताओं आदि की ओर संकेत करता है जो कि आन्तरिक होती हैं तथा बाह्य व्यवहार जिनकी अभिव्यक्ति मात्र ही है, उसी प्रकार समूह जिन वस्तुओं, प्रथाओं आदि को साधन रूप से प्रयोग में लाता है वे सब होती हैं उसकी सभ्यता की परिचायक और जिन विश्वासों,

मान्यताओं, मूल्यांकन के मापदण्ड के आधार पर वह ये सब कुछ करता है वह होती है उसकी संस्कृति। अतः संस्कृति दैनिक जीवन के प्रत्येक पक्ष में स्पष्ट दिखाई देने वाली हमारी प्रकृति की वह अभिव्यक्ति है जिसे कि हम कला, साहित्य, धर्म आदि सभी में पाते हैं। डा० ऐलफ्रेड वेबर की विचारधारा भी इससे मिलती-जुलती हुई ही है। हम चाहे जिस प्रकार से अथवा जिन शब्दों में संस्कृति की परिभाषा करें इतना तो सत्य ही है कि संस्कृति मानव की सामूहिक सम्पत्ति है और इसका आदान-प्रदान पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलता रहता है किन्तु सामूहिक सम्पत्ति होते हुए भी प्रत्येक व्यक्ति को इसका रक्षक, ट्रस्टी होना पड़ता है और ऐसा कर पाने के लिए उसे व्यक्तिगत रूप से स्वयं इसे ग्रहण भी करना पड़ता है। धीरे धीरे हस्तान्तरित होते होते यह सम्पत्ति बढ़ती भी जाती है और इसकी रूप-रेखा परिवर्तित भी होती जाती है। इस प्रकार यह प्रायः मानव के समस्त सामाजिक, सामूहिक जीवन पर छाई रहती है। अतः यह कहना उचित ही होगा कि संस्कृति उस सब को लिये-दिये चलती है जो कुछ हम हैं।

संस्कृति और मानव-समुदाय—वस्तुतः संस्कृति को ही लेकर मानव और पशु में बहुत भारी अन्तर दिखाई पड़ता है। यों तो पशु-पक्षी भी किसी एक सीमा तक सामाजिक अथवा कम से कम सामूहिक जीवन व्यतीत करते हैं किन्तु सामूहिक होते हुए भी उनका जीवन सांस्कृतिक पक्ष को लिये हुए नहीं होता है। अधिकतर उनके सामूहिक कृत्य उनके नैसर्गिक अथवा शरीर-धर्म के ही कारण होते हैं और प्रायः पीढ़ी दर पीढ़ी बिना किसी परिवर्तन के जैसे के तैसे चलते जाते हैं किन्तु मानव के विषय में ऐसी बात नहीं है। मानव तो सांस्कृतिक प्राणी होने के कारण ही अन्य पशु-पक्षियों से भिन्न है। इसी से यह ज्ञात होता है कि मानव की शक्ति और स्वाभाविक योग्यता पशुओं से भिन्न तो है ही उच्च भी है। मानव की सांस्कृतिक सम्पत्ति, उसका सांस्कृतिक-उपार्जन एक प्रकार का अनुसन्धान है, आविष्कार है, एक प्रकार की सफलता है अतः इस प्रकार के अनुसन्धान अथवा आविष्कार का आधार होता है उसके मनस में प्रथम एक योजना अथवा प्रतिमान का उदय होना, तत्पश्चात्, कर्म सम्मुख आता है। इस प्रकार काल्पनिक वस्तु-आकार अथवा प्रतिमान अथवा योजना बनाना और फिर उसे वास्तविकता के रूप में परिणत कर देने की शक्ति मानव में ही होती है। और यही नहीं मानव में यह भी शक्ति है कि वह उस वास्तविकता को समूह अथवा समुदाय के अन्य सदस्यों के निकट भी सत्य एवं स्पष्ट कर सके अथवा उन तक पहुँचा सके। सामाजिक

अथवा सामूहिक व्यवस्था का अंग बनने के लिए तो यह आवश्यक है कि व्यक्ति की काल्पनिक अथवा अपने ही निकट स्पष्ट की गई विचार-धारा अन्य व्यक्ति तक भी पहुँचाई जाये। ऐसा कर पाने के लिए ही मानव ने भाषा का आविष्कार किया और ऐसा करने के लिए ही भाषा का प्रयोग किया जाता है। हम भाषा के ही माध्यम से तो अपने—व्यक्ति के विचार अन्य व्यक्तियों तक पहुँचाते हैं भले ही वह बोली जाने वाली भाषा हो अथवा लिखी जाने वाली। अतः संस्कृति शिक्षा द्वारा ग्रहण की जाती है, सीखी जाती है, पाई जाती है और व्यक्ति का समूह से इसे पाना ही तो वास्तविक महत्व की बात है। संस्कृति का सम्बन्ध व्यक्ति से भी है और समूह से भी। सामूहिक व्यवस्था द्वारा स्वीकृत, ग्रहण की गई विचार-धारा ही संस्कृति है और उसे व्यक्ति प्राप्त करता है, सीखता है, ग्रहण करता है। मानव में यह शक्ति है कि वह जो सीखे उसे दूसरों को सिखा सके और किसी भी एक मानव द्वारा सीखी गई विद्या उसके समूह अथवा समाज के सब ही व्यक्तियों, सदस्यों द्वारा सीख ली जाती है।

यही कारण है कि विभिन्न मानव-समूहों की सांस्कृतिक सम्पत्ति भिन्न-भिन्न होती है। अतः यह तो कहा जा सकता है कि विभिन्न सांस्कृतिक प्रतिमान विभिन्न क्षेत्रों की जीवन-यापन की दशाओं के अनुरूप ही होते हैं। मानव को उस क्षेत्र और उस क्षेत्र की अवस्थाओं के साथ तो समीकरण स्थापित करना ही पड़ता है जिसमें कि वह बसता है। इस प्रकार की क्षेत्रीय अवस्थाओं से उसका समीकरण स्थापन भी तो देश-काल आदि में होने वाले परिवर्तनों के अनुरूप परिवर्तित ही होता जाता है अतः जीवन-यापन की रीति-नीति और उससे संलग्न संस्कृति में भी परिवर्तन होना अवश्यम्भावी है। इस प्रकार संस्कृति को प्रगतिशील माना जा सकता है। अतः संस्कृति का सम्बन्ध मानव-समुदाय से है और वह मानव के सब ही अनुसन्धानादि का एक ऐसा सम्मिलित रूप है जो पीढ़ी दर पीढ़ी चलता जाता है। अतः संस्कृति का मानव-समुदाय से अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है क्योंकि संस्कृति मानव-समुदाय की ही देन भी होती है और उसकी सम्पत्ति भी। मानव-समुदाय अपने परिश्रम से, अपने प्रयत्नों से ही संस्कृति को जन्म देता है, उसका विकास करता है और फिर वह उस ही की ऐसी सम्पत्ति बन जाती है जो कि निरन्तर विकसित होती रहती है।

संस्कृति के प्रकार—संस्कृति के दो पक्ष किये जा सकते हैं। संस्कृति का भौतिक रूप भी होता है और अभौतिक भी। वस्तुतः शरीर तथा विश्व का सामाजिक पक्ष केवलमात्र व्यक्तियों से ही मिलकर नहीं बनता

है वरन् उसमें एक दूसरे के साथ व्यवहार करते हुए, अन्तःसम्बन्ध रखते हुए व्यक्तियों के अतिरिक्त उन व्यक्तियों के पारस्परिक व्यवहार, अन्तः-क्रियाओं आदि के रूप, संगठित एवं असंगठित सब ही मानव-समूह और पारस्परिक व्यक्तियों तथा समूहों के व्यवहार, उनकी अन्तःक्रियाएँ एवं अन्तःसम्बन्ध भी सम्मिलित होते हैं। ऐसी अवस्था में विचार-धाराएँ, उनका मूल्य, उनकी विभिन्न व्याख्याओं आदि का अध्ययन भी इसी दृष्टि से किया जाता है।

सार्थक अन्तःक्रियाओं के सांस्कृतिक पक्ष में अन्तःसम्बन्ध रखने-वाले और अन्तःक्रियाओं में संलग्न सभी व्यक्तियों एवं समूहों के विचार, उनकी धारणाएँ एवं विभिन्न विश्वासादि सम्मिलित किये जा सकते हैं और इन्हीं सब को लेकर उन व्यक्तियों अथवा समूहों की विचारात्मक संस्कृति बनती है। किन्तु विचार, धारणाएँ एवं विश्वास तो कार्य-रूप में भी परिणत किये जाते हैं और किये जाने भी चाहिए। उन सभी सार्थक क्रियाओं, प्रतिक्रियाओं व्यवहार आदि को जिनके द्वारा ये विचारादि व्यवहार रूप में परिणत होते हैं व्यावहारिक संस्कृति कह सकते हैं। इनके अतिरिक्त जिन अन्य सामग्रियों द्वारा इन विचारों को मूर्त रूप और अभिव्यक्ति प्राप्त होती है उन्हें भौतिक संस्कृति माना जा सकता है। अतः किसी भी व्यक्ति अथवा समूह की लौकिक संस्कृति के तीन रूप अथवा प्रकार दिखाई देते हैं, विचारात्मक, व्यावहारिक एवं भौतिक।

संस्कृति का स्वरूप वस्तुतः संस्कृति के भौतिक स्वरूप में वे सब ही वस्तुएँ, औजार, हथियार, यन्त्रादि सम्मिलित हैं जिनके द्वारा कि किसी समाज का कार-व्यवहार चलता है। रसोईघर में प्रयोग में लाई जाने-वाली गैस, विद्युत् आदि से लेकर अणु बम तक सब ही सामग्री किसी भी मानव-समूह की संस्कृति का प्रतीक हो सकती है किन्तु इन सब वस्तुओं का सांस्कृतिक दृष्टि से निजी महत्त्व तो तनिक भी नहीं है। महत्त्व तो इनके उपयोग का है, महत्त्व तो इस बात का है कि वे मानव के लिए क्या, कितना और किस प्रकार का कार्य करती हैं और यह है मानव की व्यावहारिक संस्कृति का एक अंश। यद्यपि व्यावहारिक संस्कृति की अन्तिम सीमा केवलमात्र भौतिक जगत् में व्यवहार में लाई जाने वाली वस्तुएँ ही नहीं हैं कुछ एक अन्तःक्रियाएँ भी हैं किन्तु इन वस्तुओं का प्रयोग में लाया जाना और उसकी रीति-नीति भी सांस्कृतिक दृष्टि से अपना महत्त्व रखती ही है और इसी प्रकार इन सामग्रियों के उत्पादन की ओर दृष्टि डालने पर भी हमें ऐसे विचार भी इनकी तह में मिलते ही हैं

जो कि इन्हें जन्म देने में कारण सिद्ध हुए। अतः विचारात्मक और व्यावहारिक संस्कृति को किसी एक सीमा तक अभौतिक माना जा सकता है। जहाँ कि कोई भी बालक अपने पिता से उत्तराधिकार में घर, जायदाद, स्थावर एवं जंगम सम्पत्ति पाता है वहीं तो वह उन सब विश्वासों, विचारों, परम्पराओं और प्रथाओं को भी प्राप्त करता है जो कि उसके पिता के पास थीं। यही नहीं, अधिकतर तो यह भी देखा जाता है कि उन योग्यताओं अथवा वस्तुओं के प्रयोग की रीति-नीति को भी प्राप्त करता है जिसका कि उपयोग उसके पिता किया करते थे। ठीक यही बात परिवार और किसी भी अन्य मानव-समूह के विषय में भी कही जा सकती है।

मानव अपनी सुविधा और अपने सुख के लिए प्रकृति पर विजय प्राप्त करने के विभिन्न साधनों की खोज करता ही रहता है और अधिकतर ऐसे साधनों को वह अपनी सन्तान को उत्तराधिकार में दे जाता है। इन कहते हैं प्रकृति को नियन्त्रित करने की रीति अथवा प्रकृति पर विजय। यह मानव की अभौतिक संस्कृति का एक अंग है। अभौतिक संस्कृति का दूसरा अंग है समाज को संगठित एवं नियन्त्रित करने की रीति अथवा समाज-संगठन। इन दोनों को ही लेकर मानव-समूहों का काम-काज चलता है और इन दोनों अंगों को भौतिक संस्कृति के साथ लेने-दिये ही संस्कृति का स्वरूप जाना-पहचाना जा सकता है।

जिस प्रकार व्यक्ति और समूह के सामाजिक सम्बन्ध या तो मान्य, स्वीकृत और समर्थन करते हुए होते हैं अथवा विरोध करते हुए अथवा उदासीन ठीक इसी प्रकार सांस्कृतिक विचार-धाराएँ भी एक दूसरे का समर्थन करती हैं, परस्पर एक दूसरे की सहायक, सम्बन्धित-सी होती है (Integrated) अथवा उदासीन (unintegrated) असम्बन्धित होती है अथवा परस्पर विरोधी होती हैं। इस प्रकार के परस्पर सम्बन्ध या तो तर्क के आधार पर स्थित होते हैं अथवा कला एवं सौन्दर्य के आधार पर। भौतिक संस्कृति का इन्हीं में से किसी न किसी प्रकार का सम्बन्ध व्यावहारिक एवं विचारात्मक संस्कृति से रहता है।

प्रकृति पर विजय (technology or techniques of nature control) मानव ने प्रकृति पर, प्राकृतिक देन पर किसी प्रकार विजय प्राप्त की है और उसका कैसे उपयोग करता है इसी पर उसका लौकिक जीवन और तत्सम्बन्धी सुविधाएँ आश्रित रहती हैं। उसके 'उत्पादन' की रीति-नीति जीविकोपार्जन के उपाय एवं साधन इसी पर आश्रित होते हैं। प्रकृति पर मानव की विजय न तो किसी भी दिन सम्पूर्ण हुई थी और न आज

ही पूर्ण हो गई है अतः उसके विविधीकरण की रीति, उपाय और तत्सम्बन्धी सुविधाएँ इस पर भी आश्रित होती हैं कि उसने प्रकृति पर विजय कितनी अधिक मात्रा में प्राप्त की है। इसी को 'कला के स्तर' (the level of the arts) कहा जाता है। इसी पर समूह का न्यून अथवा अधिक मात्रा में प्राकृतिक शक्तियों पर जीवित रहना निर्भर करता है तथा इसी से यह भी निश्चित किया जा सकता है कि समूह का सबसे बड़ा सम्भव घेरा कितना हो सकता है। यही नहीं, किसी भी समूह के सामूहिक जीवन की अन्य कई बातों का निश्चय भी उस समूह के 'कला के स्तर' को देखते हुए किया जा सकता है।

विभिन्न समूह एक ही कार्य को विभिन्न रीति से तथा विभिन्न साधनों के द्वारा करते हैं। एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाने के लिए पैदल भी चला जाता है, बाईसिकिल पर भी, घोड़े पर भी, पालकी, बैलगाड़ी, रेल गाड़ी, हवाई जहाज आदि पर भी। यद्यपि किसी भी साधन का प्रयोग करके मानव अपने लक्ष्य की प्राप्ति तो कर लेता है किन्तु सब ही साधनों में न तो समान सुविधा और आराम ही होता है और न समान परिश्रम की मात्रा ही। समय का उपयोग भी न्यूनाधिक होता है। अतः साधनों अथवा भौतिक संस्कृति को देखकर ही किसी भी समूह के सदस्यों के विषय में यह निश्चित किया जा सकता है कि उनके परिश्रम का उत्पादन अथवा फल की दृष्टि से मूल्य कितना है और कितने समय तथा परिश्रम का उपयोग करके कोई भी एक समूह अपने जीवन-यापन के लिए सुविधाएँ जुटा पाता है।

कला के स्तर विभिन्न समूहों, समाजों में तो भिन्न भिन्न होते ही हैं एक समूह अथवा समाज में भी विभिन्न काल में भिन्न भिन्न हो सकते हैं तथा होते हैं। आज दिन भी अन्न उपजाने के साधनों में न केवल भारत और अमेरिका में ही भेद है वरन भारत में भी अन्न उपजाने के आज दिन के साधनों में तथा दो हजार वर्ष पूर्व के साधनों में भेद है और यह भेद अमेरिका में तो आज के और दो सौ वर्ष पूर्व के ही साधनों के बीच अत्यधिक स्पष्ट है। प्रकृति पर अधिकाधिक विजय प्राप्त करने का अर्थ है मानव के लिए अधिक प्राप्य और न्यून परिश्रम। भले ही हम यन्त्रों को मानव की आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग में हितकर न मानें, यह भी सम्भव है कि हम शारीरिक परिश्रम को ही मानव की सर्वाङ्गीण उन्नति के लिए अधिक हितकर मानते हों फिर भी इससे तो कोई भी असहमत नहीं होगा कि यन्त्रों ने मानव को न्यून परिश्रम के द्वारा प्रकृति से अधिक से अधिक

प्राप्त कर लेना सिखा दिया है और यही कारण है कि मानव निरन्तर प्रकृति पर विजय प्राप्त कर पाने की कला में उन्नति ही करता जा रहा है।

सामाजिक नियन्त्रण सम्बन्धी योग्यता, कला और उसके स्तर—प्रकृति पर विजय प्राप्त करने की कला का महत्त्व तो है ही किन्तु उससे भी अधिक महत्त्व है उस कला के ठीक ठीक उपयोग में लाने का। वैज्ञानिक शक्ति और वैज्ञानिक यन्त्रादिक प्राप्त कर लेने पर भी यदि किसी मानव समूह को उन्हें ठीक से प्रयोग में लाना ही नहीं आता है तो वे सब व्यर्थ हो जाते हैं अतः यह देखना भी आवश्यक है कि प्रकृति पर विजय प्राप्त करने की कला का कैसे उपयोग किया जाता है। मानव सम्भवतः एकाकी न तो जीविकोपार्जन ही कर सकता है और न अन्य ऐसे ही किसी कार्य में सफलता प्राप्त कर पाता है। उसका समस्त जीवन किसी एक सीमा तक सामूहिक जीवन के रूप में ही चलता है। अतः सामूहिक जीवन-यापन तथा सामूहिक ढंग पर कर्म कर पाने की कला भी तो उसके जीवन के लिए अत्यन्त लाभकारी है और सम्भवतः उतनी ही अधिक लाभकारी है जितनी कि उसकी प्रकृति पर विजय प्राप्त करने की कला। सामूहिक जीवन-यापन-सम्बन्धी कला में वे सभी रीति-नीति सम्मिलित हैं जिनके आधार पर मानव जीवन-यापन करता है, कार्य करता है तथा सामाजिक संगठनादि करता है। कभी कभी तो सामूहिक अथवा सामाजिक नियन्त्रण कला (Social efficiency Social technique) प्रकृति-विजय-सम्बन्धी कला से भी अधिक महत्त्वपूर्ण जान पड़ती है। सामूहिक नियन्त्रण-कला भी विभिन्न समाज, देश, काल आदि के अनुसार भिन्न भिन्न प्रकार की होती है तथा परिवर्तनशील भी होती है। दो विभिन्न मानव-समूहों में अथवा एक ही मानव-समूह में विभिन्न काल में कार्य करने तथा कार्य को नियन्त्रित रखने के ढंगों में भेद हो सकता है। यहाँ तक कि श्रम-विभाजन की रीतियों में भी भेद हो सकता है। किसी एक समूह में श्रम-विभाजन का आधार विशेष प्रकार के कार्यों का विशेषज्ञों को देना हो सकता है जब कि दूसरे समूह में अथवा उसी समूह में किसी और समय में बिना विशेष कार्य का ध्यान रखे हुए एक कार्य के विभिन्न अंगों का नहीं वरन् साधारण विभाजन भी हो सकता है। उदाहरणार्थ—एक दर्जी की दूकान पर दस व्यक्ति कार्य कर रहे हैं। एक दूकान पर श्रम-विभाजन केवल इसी आधार पर हो सकता है कि दसों श्रमिकों को जो भी वस्त्र आयें बनाने के लिए बाँट दिये जायें और दूसरी दुकान पर श्रम-विभाजन इस प्रकार हो सकता है कि दो व्यक्तियों को सभी वस्त्रों को काटने का काम दिया जाये, तीन व्यक्तियों

को मशीन पर सीने का, तीन को हाथ की सिलाई करने का, एक व्यक्ति को बटन आदि टाँकने का और एक को इस्तरी करके वस्त्र तैयार कर देने का। जो हो, कार्य के संगठन में विभिन्न प्रकार के कार्यों को कर पाने की योग्यता ज्ञान, भावना, विश्वास, विचार आदि सभी कुछ सम्मिलित होता है और इनका अतीत, वर्तमान आदि सभी कुछ संस्कृति में ही सम्मिलित होता है। किसी भी मानव-समूह की सांस्कृतिक उत्तराधिकार में प्राप्त वस्तुओं में इनका प्रमुख स्थान होता है। इनका सम्बन्ध समाज में विभिन्न संस्थाओं के साथ होता है। वस्तुतः संस्थाओं का मुख्य उद्देश्य मानव के जीवन को सुरक्षित एवं सुव्यवस्थित तथा यथासम्भव सुखी बनाये रखना है और इसी उद्देश्य से वे बाह्य तथा भीतरी शत्रुओं से निरन्तर युद्ध भी करती रहती हैं। उनकी सफलता इसी में है कि वे मानव के जीवन को वातावरण में सन्तुलित बनाये रख सकें तथा युद्ध, अकाल, रक्त-क्रान्ति आदि से मानव-समूह की सुरक्षा करती रहें। ऐसा कर पाने के लिए यह आवश्यक है कि इन संस्थाओं का मानव-समूह में एक अपना निजी महत्त्वपूर्ण स्थान हो और इस स्थान को पीढ़ी-दर-पीढ़ी व्यक्तियों तथा समूह के मन में बनाये रखा जा सके। इसी में तो मानव के सामाजिक जीवन की सफलता निहित रहती है।

भाषा—मानव ने ही अपना सामूहिक संगठन किया। यद्यपि यह तो हम देख ही चुके हैं कि इस प्रकार के संगठन का मुख्य आधार उसकी मूल आवश्यकताएँ थीं। यही नहीं, मनोवैज्ञानिक आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि उसके स्वभाव में भी सामाजिक प्राणी बनने के नैसर्गिक संस्कार विद्यमान हैं, किन्तु यह सब होते हुए भी उसने संस्कृति का स्वयं निर्माण किया है और इस प्रकार के निर्माण कर पाने में भाषा का बहुत बड़ा हाथ रहा है। मानव ने अन्य अनेकानेक अनुसन्धान, आविष्कार आदि किये। भाषा भी इसी प्रकार का एक आविष्कार ही है। मानव ने अपनी भावनाओं, अपने विचारों को व्यक्त करने, एक दूसरे तक पहुँचा पाने के लिए कुछ एक शब्दों, स्वर-ध्वनियों, चिह्नों का आविष्कार किया और वे ध्वनियाँ, चिह्नादि एक व्यक्ति के विचारों को, उसकी भावनाओं को दूसरे व्यक्ति तक पहुँचाने में इसी लिए समर्थ हो सके कि दूसरा व्यक्ति भी उस प्रकार के विचार एवं भावनाएँ आदि रखने में समर्थ है। भाषा-संस्कृति के निर्माण, उसके प्रचार, उसके प्रसार एवं बनाये रखने में अत्यन्त उपयोगी माध्यम सिद्ध हुई। यहाँ तक कि अधिकतर अनुसन्धानादि भी आज दिन भाषा के द्वारा ही सरलतापूर्वक हो पाते हैं। यही नहीं, भाषा

इसी युग के नहीं वरन अतीत के विचारों को भी अलिखित रूप में पिता से पुत्र तक और इसी प्रकार एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचाती रही। लिखित रूप में तो भाषा देश-विदेश के इतिहासों को, विचारों को दूर दूर तक पहुँचा पाने में समर्थ सिद्ध हुई ही है। भाषा-संस्कृति के लिए अत्यन्त सुखद एवं सुगी सहायक सिद्ध हुई है। विभिन्न मानव-समूहों ने विभिन्न प्रकार की भाषा का आविष्कार किया और आज भी उसका उपयोग कर रहे हैं किन्तु भाषा भी संस्कृति की भाँति ही प्रगतिशील अवश्य है। भाषा एक ओर तो भौतिक सांस्कृतिक सामग्री के निर्माण, आविष्कार, उपयोग, प्रसार आदि में सहायक होती है और दूसरी ओर संस्कृति के व्यावहारिक पक्ष की रूप-रेखा निश्चित करती हुई एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक उसे ले जाती है। विचारात्मक संस्कृति का तो किसी एक सीमा तक मूलाधार ही भाषा है। अतः यही नहीं कि भाषा संस्कृति के सभी पक्षों के लिए उपयोगी और सहायक सिद्ध होती है वरन् भाषा भी तो संस्कृति में ही सम्मिलित है, उसका अंग है। ये वस्तुतः मानव द्वारा निर्मित ध्वनि चिह्नों की वह व्यवस्था है जिसके द्वारा किसी भी एक मानव-समूह के सदस्य एक दूसरे के साथ सम्बन्ध रख पाते हैं। यद्यपि किसी न किसी प्रकार परस्पर सम्बन्ध तो पशु भी रख पाते हैं ही किन्तु उनके चीख कर अथवा ऐसे ही उपायों से परस्पर सम्बन्ध रखने में प्रतीकात्मक अनुभव का आभास तो मिलता है किन्तु इससे अधिक कुछ नहीं। अतः जान पड़ता है कि पशुओं में भाषा सीखने की वैसी शक्ति है ही नहीं जैसी कि मनुष्यों में है। यही कारण है कि मानव की भाषा जब कि व्याकरण आदि में सुव्यवस्थित ढंग से संगठित दिखाई देती है पशुओं के परस्पर सम्बन्ध का साधन कुछ 'एक शारीरिक तत्त्व, चीख आदि ही रह जाते हैं।

संस्कृति के प्रतिमान—इसमें कोई सन्देह नहीं कि संस्कृति का निर्माण विभिन्न कार्य-क्रमों को लेकर ही होता है किन्तु इस प्रकार के कार्य-क्रमादि को राशीकृत रूप में रख देना मात्र अथवा उनका राशीकरण कर देना संस्कृति नहीं है, वरन् संस्कृति तो उन सभी कार्य-क्रमादिक के मिश्रित रूप को एक सुव्यवस्थित, अन्योन्याश्रित रूप में संगठित करके रखना ही है। जहाँ मानव के विभिन्न सांस्कृतिक गुणों का राशीकरण मात्र तो किया जाय किन्तु उसमें कोई व्यवस्था न हो वह संस्कृति नहीं कहलाई जा सकती है। सम्भवतः इसी दृष्टि से इन दिनों नृ-शास्त्री (मानव-शास्त्री) सांस्कृतिक तथ्यों के अन्योन्याश्रित रूप को पूर्ण-चित्र

(Configuration) कहते हैं। वस्तुत: संस्कृति है भी 'किसी भी एक मानव-समूह का सम्पूर्ण चित्र'। उस चित्र में अनेकानेक रेखाएँ हो सकती हैं, विभिन्न रंग भी भरे जा सकते हैं, विभिन्न अंग भी हो सकते हैं किन्तु चित्र तो वह तब ही हो सकेगा जब कि उन सबमें परस्पर कुछ न कुछ सम्बन्ध होगा अत: परस्पर एक गुंथे-मिले रूप को लेकर ही चित्र बनाया जा सकता है। इसी प्रकार विभिन्न अंगों, अंशों को लिये-दिये एक पूर्ण चित्र की भाँति ही संस्कृति भी अपना अस्तित्व रखती है।

संस्कृति-संकुल—वस्तुत: संस्कृति के उपभाग भी तो कई वस्तुओं को मिल कर ही बनते हैं। उदाहरणार्थ—भोजन करना किसी भी मानव-समूह की संस्कृति का एक भाग, एक अंग है किन्तु भोजन करने का अर्थ केवल मात्र भोजन को उठाकर मुख तक पहुँचाना मात्र ही तो नहीं है। भोजन प्राप्त करने की रीति, उसके बनाने की रीति से लेकर, हाथ धोना, परोसने के पात्र, परोसने का ढंग, खाते समय के नियम व्यवहार आदि सभी को लिये-दिये ही तो 'भोजन-करना' होता है। और इन सबको मिला कर ही तो किसी भी एक मानव-समूह को संस्कृति के किसी एक उपभाग का संस्कृति उपभाग-संकुल (Complex) बनता है। मानव संस्कृति का अध्ययन करते समय अधिकतर संस्कृति के किसी एक उपभाग अथवा विशेषता (trait) पर ध्यान दिया जाता है किन्तु ऐसा करते समय यह स्मरण रखना आवश्यक है कि किसी भी मानवसमूह की संस्कृति की कोई भी विशेषता एकाकी नहीं होती है वरन् वह एक केन्द्र होता है जिसके आस-पास और भी बहुत-सी वस्तुएँ एकत्रित होती हैं और उन सबको मिला-जुलाकर ही उस संस्कृति-उपभाग का अध्ययन किया जा सकता है। वस्तुत: पूरा स्वरूप समझे बिना किसी भी संस्कृति की किसी भी विशेषता को जाना ही नहीं जा सकता है। अत: उसे उसके सम्पूर्ण रूप में, उसकी पृष्ठभूमिका में रखकर ही देखना चाहिए। इसी दृष्टि से संस्कृति के अध्ययन में संस्कृति संकुलों का महत्त्व माना जाता है।

संस्कृति एवं सभ्यता का विकास—पिछली शताब्दी में प्राय: अनेकों नृ-शास्त्री मानव के अतीत की खोज करने में ही संलग्न रहे। इस प्रकार की खोजों में उन्हें खुदाई में मिले हथियारों, पात्रों, औजारों, मूर्तियों आदि से बहुत कुछ सहायता भी मिली। यद्यपि इन वस्तुओं से संस्कृति के उद्गम के विषय में तो कुछ ज्ञात नहीं हो सकता है किन्तु इतना तो अवश्य ज्ञात हो ही सकता है कि संस्कृति किन-किन अवस्थाओं में

से विकसित होती गई तथा किन प्रतिक्रियाओं ने उसके विकास में सहायता की। इस प्रकार की वस्तुएँ किसी भी मानव-समूह की भौतिक संस्कृति के विकास के स्तरों पर तो पर्याप्त प्रकाश डाल ही पाती हैं।

यदि हम अपनी खोज का आधार भौतिक अवशेषों को मानकर चलें तो जान पड़ता है कि प्रारम्भिक युग लगभग उस समय से आरम्भ होगा जबकि मानव प्रस्तर के औजारों, हथियारों आदि से काम लेता था और गुफाओं में रह कर जीवन-यापन करता था। यद्यपि उस युग और आज के युग के प्रारम्भिक वर्षों में सांस्कृतिक विकास का स्वरूप उतना अधिक स्पष्ट नहीं है फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि मानव ने प्रस्तर से अन्य धातुओं तक पहुँच पाने के लिए विकास की दिशा में कई अन्य अवस्थाएँ भी पार की ही होंगी। उस युग के पश्चात् तो सभ्यता का विकास शीघ्रता से हुआ होगा और अनेकानेक कठिन और लम्बे प्रयत्नों के पश्चात् मानव ने भाषा, लिपि तथा परम्पराओं, प्रथाओं आदि का आविष्कार किया होगा। सिन्धुवादी की सभ्यता के युग तक तो मानव बहुत कुछ सभ्यता का विकास कर चुका था। सम्भवतः उस समय तक लिपि का भी आविष्कार हो चुका था।

लिपि का आविष्कार होने का अर्थ है इतिहास का प्रारम्भ होना और इतिहास का आरम्भ ही सभ्यता का आरम्भ माना जाना चाहिए किन्तु सभ्यता तो एक विशेष प्रकार के सामाजिक संगठन का ही नाम नहीं है। सभ्यता तो किसी भी समाज अथवा समूह में प्रचलित सभी उन साधनादि और उनके प्रयोग करने की रीति-नीति का नाम है जो कि जीवन सम्बन्धी सुविधाओं के रूप में प्रयोग में लाये जाते हैं। संस्कृति के अभिव्यक्त तथा क्रियात्मक रूप को सभ्यता कहा जा सकता है। केवल-मात्र वैज्ञानिक युग की सभ्यता तो एक प्रकार-विशेष की सभ्यता है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि यही सभ्यता का एक मात्र स्वरूप है अर्थात् वैज्ञानिक युग से पूर्व की उस युग की, तत्कालीन सभ्यता तो थी ही यद्यपि वह आज दिन की सभ्यता से भिन्न थी, यदि चाहें तो उसे इससे पिछड़ी हुई भी कह सकते हैं। मानव की बुद्धि आविष्कार करती गई। उसकी विजय प्रकृति पर अधिकाधिक होती गई और फलस्वरूप उसकी सभ्यता अधिकाधिक विकसित एवं उन्नत होती गई। अतः मानव की सभ्यता एवं संस्कृति का भौतिक आधार उसके आविष्कार, उसकी खोजों के परिणाम आदि हैं और अभौतिक आधार हैं उसके तात्त्विक, दार्शनिक, नैतिक विचार और उस दिशा में अनुसन्धान, कल्पना की दौड़ एवं विचार-प्रसार आदि।

जो हो इतना तो स्पष्ट ही है कि संस्कृति के बहुत कुछ आधार आविष्कार हैं और हैं अनुसन्धान, खोजें।

आविष्कार एवं अनुसन्धान—यह तो हम देख ही चुके हैं कि मानव के सांस्कृतिक विकास में मूल प्रक्रिया आविष्कार एवं अनुसन्धानों की ही रहती है। जो कुछ भी मानव करता है, जो कुछ भी उसके व्यवहार, उसकी प्रथाओं, परम्पराओं, उसकी रीति-नीति में सम्मिलित है किसी न किसी एक दिन मानव के निकट अपरिचित था और फिर किसी एक दिन किसी एक मानव ने ही उसका आविष्कार भी किया होगा। मानव के नैतिक दृष्टि से श्रेयस्कर एवं प्रशंसनीय आत्म-त्याग, आत्म-बलिदान, प्रेम-सेवा, परोपकार-सम्बन्धी कृत्यों से लेकर उसके जघन्य अपराधों, पापों, हत्याओं आदि के कृत्यों तक के पीछे कहीं न कहीं, किसी न किसी मानव का तत्सम्बन्धी आविष्कार, अनुसन्धान अवश्य ही निहित दिखाई दे जाता है। इसी प्रकार कला, सौन्दर्य, दर्शन एवं तत्त्वज्ञान सम्बन्धी उच्च विचार-धाराओं एवं कृत्यों से लेकर पैशाचिक अत्याचार आदि तक के विचारों एवं कृत्यों से पीछे कहीं न कहीं किसी अनुसन्धानादि का इतिहास रहा ही होगा। प्रायः सभी मानव-समूहों में प्रचलित परम्पराएँ और प्रथाएँ भी इसी प्रकार का आदिकालीन इतिहास रखती हैं। इनके अतिरिक्त यह तो स्पष्ट ही है कि मानव जो कुछ भी समाज के अथवा समूह के सदस्य होने के नाते करता है वह उसने किसी न किसी से सीखा ही होता है और इस सीखने का क्रम कहीं न कहीं तो अतीत में जाकर समाप्त होगा ही। यदि हम इस के पुरातन इतिहास की खोज करें तो जहाँ से यह आरम्भ होता है अथवा जहाँ से यह क्रम आरम्भ हुआ होगा उससे पूर्व तो यह रहा होगा ही नहीं अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि कहीं न कहीं इसका आविष्कार हुआ होगा। इस प्रकार संस्कृति एवं सभ्यता का मूलाधार हमें आविष्कार एवं अनुसन्धानों में ही प्राप्त होता है। हमारी सम्पूर्ण सभ्यता एवं संस्कृति हमारी अथवा मानव की ही उपज है किन्तु कोई भी एक अनुसन्धान अथवा आविष्कार तो संस्कृति के किसी एक उप-भाग का भी जनक नहीं हो पाता है। वस्तुतः नवीन आविष्कार एवं अनुसन्धान तो पुरातन भण्डार में वृद्धि-मात्र ही करते हैं, उसे सर्वथा भर देते हों ऐसी बात नहीं है। संस्कृति का तो कोई भी एक उप-भाग तक अनेकों इस प्रकार के आविष्कारों एवं अनुसन्धानों को लिये-दिये ही चलता है। तिस पर केवल मात्र आविष्कार अथवा अनुसन्धान हो जाने से ही संस्कृति का विकास एवं वृद्धि नहीं हो जाती है। अनुसन्धान का फल अथवा आविष्कार

तो करता है एक व्यक्ति अथवा कुछ एक व्यक्तियों का समूह, किन्तु उसका पोषण और उसकी वृद्धि की जाती है कालान्तर में बहुत से व्यक्तियों द्वारा और संस्कृति का उपयोगी अंग बन पाने योग्य होने की अवस्था तक पहुँचते पहुँचते तो उसे बहुत सी अन्य शक्तियों से भी सहायता लेनी पड़ती है। अतः आविष्कार एवं अनुसन्धान यद्यपि संस्कृति के विकास में सहायक होते हैं किन्तु ऐसा वह तभी कर पाते हैं जब कि संस्कृति उन्हें ग्रहण करके उनका पालन-पोषण करती है अतः संस्कृति के द्वारा ही संस्कृति का विकास एवं उसकी वृद्धि होती है। यह कहना भी सर्वथा सत्य नहीं होगा कि कोई एक व्यक्ति अथवा कुछ एक व्यक्तियों का समूह आविष्कार अथवा अनुसन्धान कर ही पाता है। वस्तुतः व्यक्ति तो माध्यममात्र ही होता है यद्यपि वह एक अत्यन्त कुशल एवं योग्य माध्यम होता है। उसके अतिरिक्त उन सांस्कृतिक अवस्थाओं की भी तो आवश्यकता पड़ती है जिनमें कि उस आविष्कार अथवा अनुसन्धान का होना सम्भव होता है। यदि वैसी अवस्थाएँ न हों तो इसमें सन्देह ही है कि वह आविष्कार अथवा अनुसन्धान हो भी सकेगा। अतः अनुसन्धान हो पाने के लिए व्यक्ति के अतिरिक्त उपयुक्त सांस्कृतिक अवस्थाओं की भी आवश्यकता होती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस प्रकार के अनुसन्धान संस्कृति को अधिकाधिक सम्पन्न करते जाते हैं।

नवीन सम्मिश्रण वस्तुतः आविष्कार अथवा अनुसन्धान जीवन की चाहे जिस भी सांस्कृतिक दशा अथवा क्षेत्र में हों अतीत की ही वस्तु की अभिवृद्धि, उसका संशोधन-मात्र ही होते हैं। कोई नवीन विचार अथवा नवीन यन्त्र एकबारगी शून्य में तो उत्पन्न होता ही नहीं है। उसमें पूर्व भी उसमें मिलते-जुलते विचार रहते ही हैं भले ही वह उतने कुशल न हों। इसी प्रकार आविष्कार में पूर्व भी यन्त्र तो होते ही हैं भले ही वह उतने अधिक अच्छे न रहे हों। आविष्कार अथवा अनुसन्धान का अर्थ तो यही है कि उस पुरातन यन्त्र में कुछ एक परिवर्तन करके उसे पहले से अधिक अच्छा बना लिया गया। अतः चाहे राजनीतिक विचार-धारा में आविष्कार हो और चाहे प्रशासन की रीति-नीति में और चाहे किसी प्रकार की शारीरिक शल्य क्रिया में, प्रत्येक दशा में अतीत को लेकर संवर्द्धित, संशोधित आदि करके उसे पूर्व से अधिक कुशल बना सकने को ही आविष्कार अथवा अनुसन्धान कहते हैं। इसका तो यही तात्पर्य हुआ कि आविष्कार अथवा अनुसन्धान अतीत के सांस्कृतिक रूप को नवीन रूप-रेखा एवं नवीन रंग-ढंग देने का ही नाम है। किसी नवीन विधि (law) को बनाने का यही तो तात्पर्य है

के पुरातन विधि अथवा विधान में से कुछ एक अंशों को लेकर अथवा संशोधित रूप में लेकर नवीन पृष्ठभूमिका में रखा जाय अथवा नवीन ढंग से संगठित करके रखा जाय। इसे अधिक से अधिक संशोधित रूप ही तो कहा जा सकता है किन्तु इसी संशोधित रूप का सम्पूर्ण क्षेत्र पर अथवा सामाजिक एवं सामूहिक संगठन पर मौलिक सा प्रभाव पड़ता ही है और इसी कारण इसे आविष्कार अथवा अनुसन्धान कहा जाता है।

समकालीन अनुसन्धान—ऐसा भी देखा गया है कि एक ही समय में एक से अधिक व्यक्ति कोई एक अनुसन्धान कर पाते हैं। इससे तो यह स्पष्ट हो ही जाता है कि अनुसन्धानकर्ता की अपेक्षा अनुसन्धान के लिए उपयुक्त अवस्थाओं का अधिक महत्त्व है और यदि एक ही सी ऐसी अवस्थाएँ दो अथवा तीन अथवा अधिक व्यक्तियों को मिल जाती हैं तो उन सभी के लिए अनुसन्धान कर पाना यदि सम्भव नहीं तो सरल तो हो ही जाता है अतः यह कहा जा सकता है कि अनुसन्धान एक ऐसी सांस्कृतिक प्रक्रिया है जिसमें कि अनुसन्धानकर्ता का स्थान महत्त्वपूर्ण तो है किन्तु अनिवार्य नहीं है। वस्तुतः जो कुछ होना ही है अथवा सम्मुख आना ही है अथवा जो कि अनुसन्धान के परिणामस्वरूप सम्मुख आता ही है वह पहले से ही बनने की प्रक्रिया में तो होता ही है अनुसन्धानकर्ता कुछ उसका नव-निर्माण नहीं करता है वरन् वह तो उसका केवल माध्य नवीन ढंग से संगठन करता है अथवा उसे शीघ्र ही कार्य-रूप में लाने में सहायक होता है। यद्यपि यह कुछ एक विचारकों का ही विश्वास एवं मत है किन्तु इससे यह तो ज्ञात होता ही है कि अनुसन्धानों में सांस्कृतिक पृष्ठभूमिका का भी यथेष्ट महत्त्व है। यद्यपि इससे पूर्व यही प्रचलित मत था कि अनुसन्धान में प्रमुख एवं महत्त्वपूर्ण कारण अनुसन्धानकर्ता ही है किन्तु यह विचार-धारा उस मत का संशोधन करती हुई सी दिखाई देती है। फिर भी इतना तो मानना ही चाहिए कि अनुसन्धानकर्ता का भले ही कितना भी अधिक महत्त्व अनुसन्धान करने में हो सांस्कृतिक पृष्ठभूमिका का महत्त्व भी कुछ न्यून नहीं है।

त्रुटियों द्वारा शिक्षा—अनुसन्धान करने में अनुसन्धानकर्ता दो वस्तुओं का मूल्यवान् योगदान तो करता ही है। इनमें से एक तो है अनुसन्धान-सम्बन्धी श्रम-प्रयत्न और दूसरा है उस प्रयत्न का स्पष्ट उद्देश्य और उसे ही लेकर चलना और उसी दिशा में प्रयत्न करके वह त्रुटियाँ भी करता चलता है किन्तु उन्हीं त्रुटियों से उसे पुनः करने की

प्रेरणा भी मिलती है और इसी प्रकार त्रुटियों में से होता हुआ पुनः प्रयत्न करता हुआ ही वह अनुसन्धान कर पाता है। अनुसन्धानकर्ता तो नवीन वस्तु के निर्माण की, उसकी रचना की इच्छा करता है, ऐसा करने का निश्चय करता है और इसी उद्देश्य से विभिन्न प्रकार की क्रियाएँ करता है और उनका परीक्षण करता है कि वह उसके उद्देश्य की पूर्ति कर पाते हैं अथवा नहीं। अनुसन्धान अथवा नवीन निर्माण की दिशा में उठाये गये सब ही पग सफल होते हों ऐसी बात तो है नहीं अतः त्रुटियाँ भी होती ही रहती हैं और व्यक्ति द्वारा आरम्भ किये गये इन कार्यों में त्रुटियाँ और फिर नवीन परीक्षण चलते ही रहते हैं। यह प्रक्रिया कठिन तो है ही और आवश्यक रूप से फलदायी ही हो ऐसी बात भी नहीं है, वास्तव में फल तो कदाचित् ही प्राप्त होता है अधिकतर तो परीक्षणों का भार ही ढोना पड़ता है। त्रुटियाँ तो होती ही रहती हैं किन्तु सफलता तो बहुत ही कम मिलती है और अधिकतर तो केवलमात्र त्रुटियाँ ही हाथ लगती हैं अतः किसी भी समूह अथवा समाज को इस प्रकार के व्यक्तियों का भी निर्माण तो करना ही पड़ता है जो कि इस भार को ढो सकें क्योंकि इस प्रकार के व्यक्ति न होने पर चाहे जितनी भी अनुसन्धान के उपयुक्त अवस्थाएँ हों अनुसन्धान-कार्य हो ही नहीं सकता है।

यद्यपि अनुसन्धानकर्ता जब कोई अनुसन्धान कर लेता है अर्थात् अपने प्रयत्नों के उद्देश्य तक पहुँच जाता है अथवा अपने प्रयत्नों का फल प्राप्त कर लेता है तो वह प्रयत्न करना समाप्त कर देता है किन्तु इससे प्रयत्नों का अन्त तो हो ही नहीं जाता है, अनुसन्धान की प्रक्रिया भी समाप्त नहीं हो जाती है। यद्यपि उस समस्या का हल हो जाने के कारण उस समस्या के हल को ही लक्ष्य मान कर जो अनुसन्धान-कर्ता चला था उसका कार्य पूरा हो जाता है किन्तु अनुसन्धान-सम्बन्धी प्रक्रिया चलती ही रहती है क्योंकि किसी भी समस्या का पूर्ण, एकबारगी अन्त तो कभी हो ही नहीं जाता है तथा उसमें संशोधन आदि के लिए अवसर तो सदा बने ही रहते हैं। इसके अतिरिक्त आधुनिक युग में जहाँ कि प्रकृति पर विजय प्राप्त करने के लिए सतत प्रयत्न किये जा रहे हैं अनुसन्धान तो एक चलती हुई प्रक्रिया के मोड़ का ही नाम हो सकता है जिसके द्वारा कि एक नवीन दिशा की ओर निर्देश किया जाता है।

अनुसन्धान : लक्ष्य की प्राप्तिस्वरूप और अनजाने प्राप्त— कई बार तो ऐसा भी होता है कि अनुसन्धान-कर्ता का उद्देश्य तो पीछे रह जाता है और वह किसी और ही फल की प्राप्ति कर लेता है। स्वयमेव

प्राप्तफलस्वरूप अनुसन्धानों का महत्त्व दिनोंदिन बढ़ता ही चला जा रहा है। रचनात्मक श्रम एवं प्रयत्न भी दिनोंदिन विशेष क्रिया ही बनते जा रहे हैं और रचनात्मक प्रक्रिया अधिकाधिक नियन्त्रित होती जा रही है। अनजाने अथवा स्वयमेव प्राप्त फलस्वरूप अनुसन्धानों का पूरा लाभ उठा पाने के लिए यह आवश्यक है कि अधिक से अधिक योग्य, विशेष रूप से शिक्षित व्यक्ति विभिन्न क्षेत्रों में कार्य करें जिससे कि यदि कभी अचानक ही उनके सम्मुख ऐसा अवसर आ जाय जिससे कि लाभ उठाकर वह एक उपयोगी अनुसन्धान कर सकते हैं तो उसका लाभ उठा सकें।

अनुसन्धान के लिए समस्या की आवश्यकता—यह सत्य है कि आज दिन मानव सभी अनुसन्धान इसलिए नहीं करता है कि उसे उसी समय उनको पाने की आवश्यकता होती है। फिर भी इतना तो आवश्यक ही है कि अनुसन्धान करने की दिशा में प्रयत्नशील होने के लिए प्रेरक के रूप में मानवसमूह के सम्मुख कोई समस्या हो। समस्या जितनी अधिक तीव्र होगी अनुसन्धान करने के लिए उतनी ही अधिक प्रेरणादायिनी भी होगी ही। फिर भी यह आवश्यक नहीं है कि समस्या का जन्म सदा-सर्वदा मानवसमूह की तत्कालीन आवश्यकताओं से ही हो। यह भी आवश्यक नहीं है कि प्रकृति में होनेवाले परिवर्तन मानव को अनुसन्धान-सम्बन्धी प्रयत्न करने के लिए प्रेरणा दें। वस्तुतः किसी भी अवस्था को समस्या रूप में स्वीकार करना अथवा न करना भी तो समूह की सांस्कृतिक अवस्था पर ही आश्रित होता है। बहुत से प्राकृतिक परिवर्तनों को भी तो मानव सहज भाव से सिर झुकाकर ही स्वीकार करता रहा है जैसे कि अकाल, भूचाल आदि। कोई कोई मानवसमूह तो इन्हें सृष्टिनियन्ता की इच्छा मान कर ही शिरोधार्य कर गये किन्तु वे मानवसमूह जो कि ऐसा न कर पाये जिनमें असन्तोष के लक्षण दिखाई दिये वे ही उन परिस्थितियों को, प्रकृति के कोपजन्य कष्टों को सुख में परिवर्तन कर पाने का उपाय खोजने की दिशा में प्रयत्न करने लगे अतः अनुसन्धान की प्रेरणा मानव को उतनी अधिक आवश्यकता से नहीं मिलती है जितनी कि सामूहिक मनोवृत्ति, सामाजिक धारणाओं, विचारों, विश्वासों आदि से मिलती है जो कि संस्कृति का ही अंग है। मानव स्वयं अपना भाग्यविधाता है, उसे प्रकृति पर हर प्रकार से विजय प्राप्त करना ही चाहिए इस प्रकार की मनोवृत्ति ने वैज्ञानिकों, विचारकों आदि को इस युग में नवीन अनुसन्धानों की ओर प्रयत्न करने की दिशा में पग उठाने को बाध्य किया है।

सांस्कृतिक परिवर्तन—सांस्कृतिक परिवर्तन ही अधिकतर अनुसन्धानों के प्रेरक होते हैं और नवीन अनुसन्धान सांस्कृतिक धरातल में कुछ न कुछ परिवर्तन कर ही देते हैं अतः अनुसन्धान भी एक के पश्चात् दूसरे को प्रेरणा देनेवाले होते हैं। उदाहरणार्थ—घने बसे हुए नगरों के जीवन में अनेकानेक अनुसन्धानों के फलस्वरूप प्राप्त सुविधाओं ने अपने स्थान बना लिये और उनके कारण नवीन समस्या भी उपस्थित हो गई जिनका हल खोज पाने के उद्देश्य से अनुसन्धानकर्ताओं को प्रयत्नशील होना ही पड़ा। भौतिक दृष्टि से ही नहीं वरन् सामाजिक संगठन और तत्सम्बन्धी नियन्त्रण की दृष्टि से भी अनुसन्धान करने की आवश्यकताएँ सांस्कृतिक परिवर्तनों के साथ ही साथ उत्पन्न होती जाती हैं। जिस प्रकार नगरों की घनी बस्तियों ने मानव को जल तथा विद्युत् की प्राप्ति के सहज और सस्ते उपायों का अनुसन्धान करने को प्रेरित किया है उसी प्रकार उन्होंने मानव को ग्रामीण रीति से पारिवारिक संगठन को त्यागकर उसके स्थान पर किसी अन्य ऐसे संगठन को खोज पाने के लिए प्रेरित किया है जो कि नागरिक जीवन के अधिक उपयुक्त हो तथा ग्राम-जीवन में स्थित परिवार की भाँति शक्तिशाली तथा व्यक्ति को चारों ओर से बाँधकर चलने-वाला न हो। यद्यपि भौतिक क्षेत्र में अथवा प्रकृति पर विजय प्राप्त करने के उपाय खोज पाने की दिशा में किये गये मानव के प्रयत्न अधिक स्पष्ट हैं किन्तु इस दिशा में भी प्रयत्न हो अवश्य रहे हैं।

आविष्कार संस्कृति के विकास में एक अन्य प्रक्रिया भी कार्य करती है और यह है प्रकृति अथवा समाज के उन तथ्यों का आविष्कार अथवा स्वीकृति जिन्हें कि इससे पूर्व जाना नहीं जा सका था। यद्यपि अनुसन्धान और आविष्कार के बीच न तो कोई भारी अन्तर ही स्पष्ट किया जा सकता है और न सदासर्वदा उन्हें पृथक् पृथक् करके देखा ही जा सकता है क्योंकि अधिकतर अनुसन्धान करते हुए आविष्कार और आविष्कार की ओर बढ़ते हुए अनुसन्धान भी कर लिये जाते हैं। आविष्कार का यद्यपि उतना अधिक महत्त्व स्वीकार नहीं किया जाता है किन्तु संस्कृति के विकास में इसका भी पर्याप्त हाथ रहता है क्योंकि आविष्कार मानव-समूह के ज्ञान की, ज्ञातव्य कोष की वृद्धि करता है। आविष्कार किसी एक सीमा तक अनुसन्धानों में भी सहायक सिद्ध होते हैं।

भौतिक ज्ञान—अनुभवजन्य ज्ञान को ही भौतिक ज्ञान कहा जा सकता

है। किन्तु अनुभव तो सीमित होता है और निरीक्षण भी सदा-सर्वदा न तो पूर्ण ही होता है और न निश्चित ही। ऐसी अवस्था में त्रुटियाँ हो सकती हैं, भ्रम होने की सम्भावना है और यह भी मानकर ही चलना चाहिए कि इस प्रकार का ज्ञान निश्चित रूप से सत्य ही होता हो ऐसी बात नहीं है। इतना होते हुए भी भौतिक ज्ञान कल्पना के आधार पर न पनप कर किन्हीं तथ्यों के आधार पर ही खड़ा होता है। जो हो आविष्कार तो भौतिक अथवा अनुभवजन्य ज्ञान पर ही आधारित होते हैं। काल्पनिक ज्ञान से भिन्न भौतिक ज्ञान मानव के लिए सांस्कृतिक दृष्टि से भी उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

सार्वभौम संस्कृति प्रतिमान लूके विस्लर ने यह जानने का प्रयत्न किया है कि प्रागैतिहासिक विभिन्न लगभग ५०० संस्कृतियों में कुछ समानता है अथवा नहीं। यह सत्य है कि विभिन्न संस्कृतियाँ अपने भिन्न भिन्न अंगों को लेकर ही चलती हैं किन्तु उन सबमें कुछ न कुछ तो ऐसे व्यापक अंग पाये ही जाते हैं जिन्हें कि प्रायः सभी संस्कृतियों में देखा जा सकता है। सम्भवतः उन प्रकार के अंग नौ हैं और इन्हीं को संस्कृति का सार्वभौम रूप अथवा कम से कम स्वरूप कहा जा सकता है। ये नौ अंग हैं— बोली, भौतिक गुण, वस्तु तत्सम्बन्धी योग्यता एवं कुशलता, कला, पुराणों द्वारा प्राप्त तथा वैज्ञानिक ज्ञान, धार्मिक कृत्य, परिवार और सामाजिक व्यवस्थाएँ तथा प्रणालियाँ, सम्पत्ति, शासन और युद्ध। प्रायः ये सभी संस्कृतियों में अपने उदार अर्थों में पाये जाते हैं।

संस्कृति—सामाजिक उत्तराधिकार—यह तो हम देख ही चुके हैं कि संस्कृति किसी भी मानव-समूह के अतीत के सभी प्रयत्नों और सफलताओं को लेकर ही बनती है और यह भी हमने देखा कि ये सब उस समाज में पीढ़ियों तक उत्तराधिकार के रूप में चलते रहते हैं। सामाजिक उत्तराधिकार और तज्जन्य प्राप्ति वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा संस्कृति का आदान-प्रदान होता है। सामाजिक उत्तराधिकार में प्राप्त सामग्री शारीरिक तथा भौतिक उत्तराधिकार में प्राप्त सामग्री से न केवल भिन्न होती ही है, प्राप्ति प्रक्रिया में भी भिन्न ही होती है। शारीरिक आदान-प्रदान तो पिता द्वारा पुत्र में, पुत्र के जन्म से बहुत ही पूर्वावस्था में, होता है किन्तु सामाजिक उत्तराधिकार के आधार पर आदान प्रदान तो सामाजिक सम्बन्धों द्वारा ही होता है और एक ही बार न होकर धीरे धीरे होता रहता है। ऐसा होना परस्पर व्यवहार के माध्यम द्वारा ही सम्भव होता है। किसी की

संस्कृति को ग्रहण करने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह पुत्र द्वारा पिता की संस्कृति होकर ही ग्रहण की जा सकती है। कोई भी व्यक्ति किसी भी संस्कृति को ग्रहण कर सकता है भले ही वह उसके पिता की, उसकी जाति की संस्कृति न हो किन्तु ऐसा होना सरल नहीं होता है क्योंकि यद्यपि संस्कृति को व्यक्ति ग्रहण करता है किन्तु करता तो अन्तः-सम्बन्धों-द्वारा ही है अतः संस्कृति का आदान-प्रदान न केवल पीढ़ियों में होता है वरन समूहों में भी होता है। इस प्रकार के आदान-प्रदान के माध्यम का आधार मानव की विभिन्न इन्द्रियाँ हैं। इन्हीं के आधार पर परस्पर व्यवहार एवं अन्तःसम्बन्धों की व्यवस्था स्थापित की जाती है।

इस प्रकार का आदान-प्रदान दो प्रकार से होता है। जब कि यह आदान-प्रदान एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक चलता है तब इस प्रक्रिया को परम्परा कहते हैं। पुत्र पिता को देख कर ही बहुत कुछ सीखता है और इस विश्वास से उसे सुरक्षित रखना चाहता है तथा रखता है कि वह उपयोगी है तथा उसका निजी मूल्य भी होगा ही। इस प्रकार पिता की पीढ़ी के विश्वास आदि पुत्र की पीढ़ी में भी मान्यता प्राप्त कर लेते हैं और इस प्रकार परम्पराओं का दोहराया जाना चलता रहता है यद्यपि इस प्रकार के आदान-प्रदान की प्रक्रिया में विभिन्न परम्पराओं में कुछ न कुछ परिवर्तन तो हो ही जाता है।

जब यह आदान-प्रदान एक ही जाति की विभिन्न पीढ़ियों के बीच न होकर विभिन्न मानव-समूहों के बीच होता है तो इसे विभिन्न संस्कृतियों का आदान-प्रदान अथवा योगदान (acculturation) माना जा सकता है। आज दिन तो विभिन्न समूहों का सांस्कृतिक आदान-प्रदान बढ़ता ही जा रहा है।

संस्कृति के आदान-प्रदान अनुसरण द्वारा भी होते हैं और आदेशों द्वारा भी। बालक माता, पिता, परिवार, पाठशाला, घर, बाहर सभी कहीं कुछ एक अन्य मानवों को व्यवहार करता देखता है, कथा-कहानियों द्वारा उनके विश्वासों, विचारों आदि से परिचय प्राप्त करता है और स्वाभाविक मनोवृत्तियों के कारण उनमें से बहुत कुछ जाने अथवा अनजाने ही अपने लिए अनुकरण का विषय बना लेता है। कुछ काल पश्चात् वही सब जिन्हें कि उसने अपने आस-पास के अन्य व्यक्तियों का अनुकरण करके ग्रहण किया था उसके अपने व्यक्तित्व का अंश बन जाते हैं। केवल अनुकरण ही नहीं, उसे गुरुजनों से आदेश भी मिलते रहते हैं। कभी कभी आज्ञाएँ भी मिलती हैं और उन सब के द्वारा भी उसे सामाजिक उत्तराधि-

कार प्राप्त होता रहता है। इस प्रकार से सामाजिक उत्तराधिकार में प्राप्त सामग्री में उसकी जाति, समाज अथवा उस समूह में प्रचलित जनरीति, रूढ़ियाँ, परम्पराएँ आदि सभी कुछ होती हैं। इन्हें ज्यों ज्यों वह ग्रहण करता जाता है त्यों त्यों ये उसके जीवन में अपना गहन और गम्भीर स्थान बनाती चली जाती हैं और फिर वह स्वयं उन्हें अपनी सन्तान के सम्मुख उपस्थित करता है।

पौराणिक कथाएँ—प्रायः सब ही प्राचीन संस्कृतियों में पौराणिक कथाओं का स्थान रहा है। यद्यपि इस प्रकार की कथाएँ और विश्वास वैज्ञानिक ढंग पर किये जाने वाले अनुसन्धानों, आविष्कारों आदि के मार्ग में बाधाएँ भी डालते रहे फिर भी इन्होंने संस्कृति के किसी न किसी रूप की सुरक्षा तो की ही। इन्हीं के द्वारा उस समाज की विशेषताएँ भी जान पड़ती हैं और इन्हीं के द्वारा उन विशेषताओं को परम्परागत सामाजिक उत्तराधिकार के रूप में बनाये भी रखा जाता रहा है।

जन-रीति—संगठित तथा स्वीकृत व्यवहारों को ही जन-रीति अथवा रीति-रिवाज माना जाता है। विभिन्न संस्कृतियों की भिन्नता का एक आधार उनमें प्रचलित जन-रीति और उनके मूल्यों तथा मान्यताओं में भेद होना भी है। इनका समूह पर बहुत अधिक प्रभाव होता है और कोई भी समूह इन्हें मान कर ही चलता रहता है और इसी दृष्टि से यह संस्कृति का एक अंग माने जाते हैं।

रूढ़ियाँ—अधिक काल तक जन-रीति बने रहने पर तथा किसी न किसी आवश्यक एवं महत्वपूर्ण विषय से सम्बन्धित होने पर कुछ रिवाजों को अधिक महत्त्व एवं विशिष्टता प्राप्त हो जाती है इन्हें रूढ़ियाँ कहा जाता है। ये प्रायः समाज के सदस्यों के जीवन की प्रमुख प्रेरणाओं को नियन्त्रित करती हैं। ये मानव-समूह के जीवन में इतनी गहरी उतर जाती हैं कि किसी भी कारण से समाज किसी व्यक्ति द्वारा इनकी अवहेलना करना सहन नहीं कर पाता है। रूढ़ियों के पीछे यह विश्वास अवश्य निहित रहता है कि ये प्रचलित रीतियाँ अथवा परम्पराएँ जन-कल्याण, समाज अथवा समूह के हित के लिए लाभप्रद एवं आवश्यक हैं। इनका सामाजिक प्रभाव कुछ इतना अधिक होता है कि किसी व्यक्ति-विशेष द्वारा यद्यपि यह आज्ञा के रूप में नहीं आती हैं फिर भी साधारणतया कोई भी व्यक्ति इन्हें अमान्य करने का साहस ही नहीं करता है।

यह आवश्यक नहीं है कि रूढ़ियों में सदा वे ही सब विचार अथवा व्यवहार पाये जायँ जो कि उचित हैं। किसी भी देश की रूढ़ियाँ किसी भी कर्म को, ऐसे भी कर्म को जो कि दूसरे समूह में एकबारगी घृणित एवं जघन्य माना जाता हो उत्तम मनवा सकती हैं किन्तु यह भी आवश्यक नहीं है कि कोई भी कार्य एक बार रूढ़ि के रूप में मान्य हो जाने पर कभी परिवर्तित किया ही नहीं जा सकता है। काल, संस्कृति परिवर्तन आदि कारणों से किसी भी मानव-समाज की रूढ़ियों में भी परिवर्तन हो सकता है और होता है।

अधिक गहराई से जम चुकने पर रूढ़ियाँ विधि का रूप भी ले सकती हैं किन्तु यह तो हम देख ही चुके हैं कि समाज और संस्कृति प्रगतिशील हैं अतः रूढ़ियाँ भी यद्यपि समाज में अपना बहुत घना प्रभाव रखती हैं किन्तु चिरन्तन नहीं हो सकती हैं। अपनी समस्त दृढ़ता को लिये-दिये समाज में अन्य सांस्कृतिक परिवर्तन हो जाने पर उनमें परिवर्तन होना भी अवश्यंभावी हो जाता है।

धार्मिक विश्वासों की अवस्था भी बहुत कुछ ऐसी ही है। वे भी संस्कृति का एक बहुत महत्त्वपूर्ण अंश होते हैं और किसी भी मानव समूह-विशेष को सांस्कृतिक ढंग पर उसकी विशेषताओं से विभूषित करते हैं किन्तु यह सब होते हुए भी वे चिरस्थायी नहीं होते हैं। प्रगतिशील समाज में इनमें भी परिवर्तन हो सकते हैं और होते हैं।

संस्कृतियों की तुलना—विभिन्न संस्कृतियों की तुलना करते समय उनका अधिजैविक संस्कृति (Superorganic Culture) के जन्म तथा विकास का अध्ययन करना अत्यावश्यक है। कुछ संस्कृतियाँ दूसरी संस्कृतियों की तुलना में अधिक अथवा न्यून उन्नत हैं। प्रारम्भिक मानव-संस्कृतियों में मूस्तरियन, ऐस्किमो आदि संस्कृतियों की गणना की जा सकती है। मूस्तरियन संस्कृति अथवा नीनडरथल के मानव की संस्कृति वह संस्कृति है जिसका कि विकास पुरा-पाषाण युग में हुआ था। यद्यपि इस संस्कृति के अवशेषों का प्रायः अभाव ही है फिर भी दो प्रकार के अवशेष मिलते हैं एक तो प्रस्तर पत्तरों का उपयोग करके बनाया गया औजार है जो कि इस काल से पूर्व की संस्कृतियों में भी पाया जाता है। प्रस्तर के अन्य अनेक प्रकार के युद्ध के हथियार भी उस युग के मिलते हैं। उस युग के मानव के हड्डियों के ढाँचों में पाई गई खोपड़ी की माप से यह भी अनुमान होता है कि सम्भवतः उनकी कोई भाषा भी रही ही होगी। हो

सकता है कि उस युग में कोई प्रचलित धार्मिक मत भी रहे हों और पारिवारिक जीवन तो होगा ही। शव के साथ वे कुछ एक अन्य वस्तुएँ भी रखते थे अतः यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उनका पुनर्जन्म में भी विश्वास था अथवा वे कम से कम मृत्यु के पश्चात् के जीवन में भी विश्वास करते थे। इससे अधिक उनकी संस्कृति के सम्बन्ध में अनुमान करना कठिन जान पड़ता है।

इस संस्कृति के पश्चात् क्रोमैयोंग मानव की मेडलिनियन संस्कृति का अत्यधिक विकास हुआ। ऐस्किमो संस्कृति भी सम्भवतः मैडलिनियन संस्कृति से मिलती-जुलती हुई होगी क्योंकि इस दोनों संस्कृतियों का विकास मिलती-जुलती जलवायु एवं भौगोलिक वातावरण में हुआ था। इस युग के प्रस्तर और हड्डी के औजार यह बताते हैं कि ये संस्कृतियाँ अपने से पूर्व की संस्कृतियों की अपेक्षा अधिक उन्नत और जटिल तो रही ही होंगी। ऐस्किमो संस्कृति में निवासस्थान, यातायात की सुविधा के लिए कठोर बर्फ के दिनों में एस्किमो स्लेड का प्रयोग, विशेष प्रकार के जूते, शिकार की रीति-नीति आदि का स्थान भी रहा ही होगा। किन्तु इसके अतिरिक्त उनका एक अपना धार्मिक विश्वास भी रहा ही होगा और कुछ एक धार्मिक तथा नैतिक नियम और परम्पराएँ भी थीं। युद्ध तो होते ही थे किन्तु वे अधिकतर बातचीत और कटाक्ष द्वारा ही होते थे। सामाजिक संगठन भी परिवार और छोटे छोटे ग्रामों के रूप में इनकी संस्कृति में पाया जाता है। ऐस्किमो की अपेक्षा कला की दृष्टि से क्रोमैयोंग लोग अधिक उन्नत कहे जा सकते हैं।

व्यक्तित्व—यों तो व्यक्तित्व की परिभाषा विभिन्न दृष्टिकोण से की जा सकती है किन्तु समाजशास्त्र और सामाजिक मनोविज्ञान की दृष्टि से व्यक्तित्व उन सभी गुणों तथा विशेषताओं के संगठन एवं समूह को कहा जा सकता है जिनके द्वारा किसी भी व्यक्ति का उसके समूह में कार्य तथा स्थान निर्धारित किया जाता है। व्यक्तित्व की एक दूसरी परिभाषा हो सकती है व्यक्ति की उन सब ही कल्पनाओं, विचारों, मनोवृत्तियों, स्वभाव आदि का राशीकृत रूप, जिनका संगठन व्यक्ति के सामाजिक जीवन में योगदान करने के आधार पर ही किया गया हो। व्यक्ति सामाजिक क्रियाओं के प्रति सजग रहता है उनसे छेड़ा जाकर प्रतिक्रियाओं को भी स्थान देता ही है और उसमें कुछ ऐसे भी गुण होते हैं जिनके द्वारा वह अपने वातावरण की सामाजिक विशेषताओं आदि से आनुकूल्य स्थापित करता है तथा ये सब भी तो उसके व्यक्तित्व का निर्माण

करते हैं। व्यक्तित्व को मानव के साधारण व्यापक स्वभाव और उसकी एकाकी विशेषताओं का सम्मिश्रण भी कहा जा सकता है। भले ही परिभाषा किसी भी प्रकार से की जाय व्यक्तित्व एकाकी मानव के गुणों और उसकी चारित्रिक विशेषताओं का एक ऐसा सम्मिश्रण है जिसका कि सम्बन्ध अधिकतर मानव के सामूहिक जीवन से है और यह एक सांस्कृतिक भूमिका में ही देखा जाता है। एक ओर तो मानव की सांस्कृतिक, सामूहिक, सामाजिक व्यवस्था होती है और दूसरी ओर उसके एकाकी जीवन की चारित्रिक विशेषताएँ एवं गुण होते हैं। इन दोनों के बीच निरन्तर समीकरण स्थापित कर पाने के उपाय चलते ही रहते हैं और उनका राशीकृत रूप किसी भी व्यक्ति का व्यक्तित्व कहलाता है। व्यक्तित्व नैसर्गिक नहीं होता है। वह तो मानव की शिक्षा-दीक्षा आदि का परिणाम ही होता है। व्यक्ति व्यक्तित्व के साथ जन्म तो नहीं लेता है किन्तु उसमें व्यक्तित्व के निर्माण के नैसर्गिक गुण अवश्य विद्यमान रहते हैं। व्यक्तित्व का स्वरूप बहुत कुछ तो मानव के जीवीय अथवा प्राकृतिक स्वरूप पर निर्भर करता है किन्तु कुछ उसका मानवीय प्रकृति पर भी आश्रित रहता है।

मानवीय प्रकृति और संस्कृति—यह तो हम देख ही चुके हैं कि मानव समाज में सांस्कृतिक समूह होते हैं। विभिन्न मानव समूहों में जीवन व्यवस्था भिन्न भिन्न होती है अतः यह स्वाभाविक ही है कि विभिन्न समूहों में जीवन यापन करते हुए मानव को विभिन्न समस्याओं का सामना करना पड़ता है। उन विभिन्न समस्याओं आदि के कारण विभिन्न सांस्कृतिक समूहों के सदस्य विभिन्न व्यवहार प्रतिमानों का विकास कर पाते हैं। ये व्यवहार प्रतिमान उस समूहविशेष के सब ही सदस्यों के लिए तो एक से होते हैं किन्तु अन्य सांस्कृतिक समूहों के सदस्यों के व्यवहार प्रतिमानों से भिन्न होते हैं। ये व्यवहार प्रतिमान भोजन, वस्त्र, व्यवसाय, रहन-सहन, यातायात, यौन सम्बन्धों आदि को लेकर मानव की आवश्यकताओं के अनुरूप ही चलते हैं। भाषा के माध्यम का भी इन व्यवहार प्रतिमानों में पूरा पूरा प्रयोग होता रहता है किन्तु इन व्यवहार प्रतिमानों के किसी भी एक समूह के सदस्यों के बीच साधारणतया व्यापक होने के साथ ही साथ उन सदस्यों की कुछ न कुछ निजी विशेषताएँ भी होती हैं और इन निजी विशेषताओं के आधार पर ही प्रत्येक सदस्य अपने व्यवहार आदि में दूसरे व्यक्ति से सर्वथा सम करके नहीं देखा जा सकता है। ये विषमताएँ अथवा भिन्नताएँ प्रत्येक व्यक्ति की

बुद्धि, उसके चरित्र आदि से सम्बन्धित होती हैं और इनके बिना व्यक्ति के व्यक्तित्व की चर्चा नहीं की जा सकती है। यद्यपि एक ही समूह के दो सदस्यों को बहुत कुछ एक सा वातावरण प्राप्त होता है फिर भी किन्हीं भी दो व्यक्तियों को एकसारखी एक सा वातावरण तो मिल ही नहीं सकता है अतः उनके व्यक्तित्व के विकास में भिन्नता का आ जाना स्वाभाविक ही है। अतः व्यक्तित्व मानवीय स्वभाव तथा व्यक्ति की विशेषताओं का सम्मिश्रण ही तो है। प्रायः व्यक्ति की विशेषताओं अथवा उसके व्यक्तित्व के आधारभूत गुणों को निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत देखा जा सकता है : शारीरिक तत्त्व-स्वरूपादि, बुद्धि, रुचि, स्वभाव, जीवन-संगठन, झुकाव, व्यक्तिगत व्यवहार के प्रतिमान, और आत्मविचार।

व्यक्तित्व और संस्कृति—पिछले कुछ वर्ष पूर्व वुडवर्थ के परीक्षणों ने यह दिखा दिया है कि विभिन्न जाति के लोगों की कष्टसहन की क्षमता न्यूनाधिक होती है। एक साधारण अमरीकन की अपेक्षा एक रेड इण्डियन की इस प्रकार की क्षमता अधिक है। स्वभावतः इसका कारण यह है कि रेड इण्डियन अपने जन्म काल से ही कष्ट सहन करने का अभ्यस्त बनाया जाता है। उसकी संस्कृति उसे यही सिखाती है कि कष्ट सहन करने की क्षमता एक गुण है और वह गुण प्रशंसनीय है। ऐसा अमरीकन व्यक्ति को जीवन के उषाकाल से नहीं सिखाया जाता है अतः दोनों की कष्ट सहन करने की क्षमता में घना अन्तर होता है। इससे तो यही सिद्ध होता है कि संस्कृति और मानव के व्यक्तित्व में घना सम्बन्ध है। वास्तव में मानव मानत्व के सब ही गुण एवं लक्षण धीरे धीरे सामूहिक एवं सामाजिक जीवन में रह कर ही ग्रहण करता जाता है। व्यक्ति का व्यक्तित्व भी तो बहुत कुछ उस संस्कृति से प्रभावित होकर ही बनता है जिसमें कि वह जन्म लेता है अतः जीवनपर्यन्त व्यक्ति और उसके पूर्वजों की संस्कृति के बीच आदान-प्रदान, अन्तःक्रिया होती रहती है। यद्यपि पूर्ण निश्चय के साथ यह तो नहीं बताया जा सकता है कि व्यक्ति के व्यक्तित्व के निर्माण में संस्कृति अथवा सांस्कृतिक वातावरण का कितना और कैसा हाथ होता है किन्तु हाथ रहता है इतना तो निश्चित ही है। व्यक्तित्व के निर्माण में सामूहिक और सांस्कृतिक शक्तियों का हाथ तो रहता ही है। कुछ न कुछ हाथ आनुवंशिकता का भी होता है। सामूहिक प्रक्रियाएं अथवा एक व्यक्ति की अन्य व्यक्तियों के प्रति की गई अन्तःक्रिया प्रभुता अथवा आज्ञा-पालन के रूप में ही व्यक्त की जाती है। सामूहिक जीवन के व्यापक लक्षण भी तो प्रभुता अथवा आज्ञापालन, नेतृत्व अथवा अनुसरण, व्यक्तियों में

शब्द-व्यवस्था अथवा शैली भाषा की सृष्टि करते हैं और इन्हीं विभिन्न पक्षों को देखते हुए भाषा के माध्यम से किसी भी व्यक्ति का व्यक्तित्व जाना एवं समझा जा सकता है। दार्शनिक, वैज्ञानिक, कवि, राजनीतिक नेता आदि की भाषा उनके व्यक्तित्व की स्पष्ट अभि यक्ति होती है। यही नहीं किसी भी व्यक्ति की भाषा उसके व्यक्तित्व के रूप को कुछ न कुछ तो स्पष्ट कर ही देती है। विभिन्न मानव-समूहों की भाषा उनकी मानव संस्कृतियों को बहुत कुछ प्रतिबिम्बित करती है।

सांस्कृतिक प्रतिमानों अथवा संस्कृति प्रतिमान की भाँति ही व्यक्तित्व प्रतिमान भी स्पष्ट ही दिखाई दे जाते हैं। अत: संस्कृति और व्यक्तित्व के सम्बन्ध को स्पष्ट रूप से समझ पाने के लिए संस्कृति प्रतिमानों को समझ लेना आवश्यक है क्योंकि व्यक्तित्व अथवा व्यक्तित्व प्रतिमान तो बहुत कुछ अपने समूह की संस्कृति अथवा सांस्कृतिक प्रतिमानों पर ही निर्भर करते हैं। आज के भारतीय ग्रामीण समाज की संस्कृति का अध्ययन करके ही तो आज के ग्रामीण के व्यक्तित्व को समझा जा सकता है। आज की स्त्री भले ही वह शिक्षित हो अथवा अशिक्षित यदि नगर के वातावरण में पली होती है नगर की संस्कृति से अपने व्यक्तित्व का विकास करती है तो वह पतिभक्ति से अधिक आत्म-सम्मान को महत्त्व देती है जब कि ग्राम की नारी आज भी पतिभक्ति को आत्म-सम्मान से अधिक महत्त्व देती है। व्यक्तित्व के ये सब गुण आदि मानव अपने समाज से ही तो ग्रहण करता है और इस प्रकार धीरे धीरे समाज की धारणाओं और संस्कारों आदि से व्यक्तित्व का निर्माण करना एक सामाजिक प्रक्रिया है। व्यक्ति का समाजीकरण इसी लिए तो सम्भव भी हो जाता है कि उसका स्वभाव पूर्णतया निश्चित एवं अपरिवर्तनशील नहीं होता है। मानव प्रकृति सरल, कोमल एवं परिवर्तनशील, गतिशील है। उस पर प्रभाव पड़ना सम्भव है और वह प्रभावों को ग्रहण भी कर पाती है। इसी से तो व्यक्तित्व का निर्माण सम्भव भी होता है।

व्यक्तित्व और समाज में स्थान तथा कर्तव्य—व्यक्तित्व के अध्ययन करने की एक सर्वोत्तम रीति यह है कि समाज में व्यक्ति के कर्तव्य का अध्ययन किया जाय। किसी भी एक समूह का सदस्य होने के नाते व्यक्ति का समाज में एक स्थान होता है अत: उस समूह के जीवन के तथा उसके उद्देश्यों के अनुरूप ही उस व्यक्ति के सामाजिक जीवन में कर्तव्य भी निश्चित होते हैं। वस्तुत: अँगरेजी के personality शब्द के धातु शब्द अथवा मूल शब्द (Persona) का अर्थ भी यही है।

प्राचीन काल में कोई भी अभिनेता जब अभिनय करने लगता था तो अपने चरित्र के अनुरूप मुखाकृति आदि बनाता था और उसी को (Persona) कहा जाता था। इस दृष्टि से देखने पर तथा इस शब्द के मूल की ओर दृष्टि डालने पर तो यही जान पड़ता है कि व्यक्तित्व व्यक्ति के समाज में निश्चित होनेवाले कर्तव्य अथवा कर्तव्यों का ही निर्देशक है। समाज में उसका सदस्य होने के सम्बन्ध से व्यक्ति एक ही कर्तव्य को लेकर तो चलता ही नहीं है। एक ही समूह में रहते हुए भी वह विभिन्न संस्थाओं और समितियों का सदस्य हो सकता है और यह कुछ आवश्यक तो है नहीं कि उन सबमें उसके व्यक्तित्व का एक ही सा रूप दिखाई दे। अतः वह विभिन्न स्थान पर खड़े होकर अपने विभिन्न कर्तव्यों का पालन करता है और उन सब कर्तव्यों का राशीकरण ही उसके व्यक्तित्व का परिचय हो सकता है। कोई भी सामाजिक कर्तव्य कोई वस्तु-विशेष अथवा कर्तव्य कर्मविशेष तो होता ही नहीं है। वह तो एक विशेष प्रकार की सामाजिक स्थिति की सामयिक आवश्यकताओं की पूर्ति का एक साधन, एक उपाय मात्र ही होता है। अतः उससे उन सामाजिक सम्बन्धों का भी तो आभास मिलता है जो कि उसमें सम्मिलित होते हैं। और इन सम्बन्धों को लिये-दिये ही तो कोई भी व्यक्ति अपने कर्तव्यों का पालन कर पाता है अतः हमारे कर्तव्यों का सम्बन्ध अन्य व्यक्तियों और उनके कर्तव्यों से भी तो होता ही है। हमारे सामाजिक कर्तव्यों का इस बात से भी तो सम्बन्ध है कि वह उस समाज के अन्य सदस्यों पर क्या प्रभाव डालते हैं और उन सदस्यों के कर्तव्य मुझ पर क्या प्रभाव डालते हैं। कोई भी कर्तव्य वस्तुतः एक प्रकार से अन्य व्यक्तियों के अन्तःसम्बन्धों सम्बन्धी व्यवस्था में ही किया जाता है। एक व्यक्ति का कर्तव्य पिता के सम्बन्ध से पुत्र के प्रति और तरह का होता है और कर्मचारी के नाते अपने स्वामी के प्रति दूसरे प्रकार का होता है तथा पति के सम्बन्ध से पत्नी के प्रति और ही प्रकार का होता है, आदि आदि।

व्यक्तित्व के प्रकार—यूँ तो व्यक्तित्व को प्रकारों में विभाजित करके देख पाना कुछ कठिन ही है किन्तु साधारणतया भिन्न होते हुए भी एक ही समूह के एक ही ढंग के सदस्यों के मिलती-जुलती अवस्थाओं में कर्तव्य एक से ही हो सकते हैं और इन्हीं का साधारणतया वर्गीकरण कर पाना कुछ उतना कठिन नहीं होता है। सम्भवतः इससे भी उदार आधार वर्गीकरण का लिया जा सकता है किन्तु वह आधार होगा समूह के अधिकांश व्यक्तियों का एक सी अवस्थाओं में मिलता-जुलता हुआ व्यवहार। इस आधार पर व्यक्तित्व का वर्गीकरण साधारणतया स्वाभाविक

और अस्वाभाविक, सन्तुलित तथा असन्तुलित, प्रसन्न अथवा अप्रसन्न आदि कह कर किया जा सकता है। साधारणतया जहाँ कि अधिकांश समाज के सदस्यों का व्यवहार एक-सा हो, उसे स्वाभाविक कहा जा सकता है और इससे विपरीत व्यवहार को अस्वाभाविक कह सकते हैं। इसी आधार पर व्यक्तित्व को भी स्वाभाविक अथवा अस्वाभाविक कहा जा सकता है। इसी प्रकार कुछ गुण-विशेष के आधार पर मानव-समूहों के व्यक्तित्वों को भी वर्गीकृत किया जा सकता है। जैसे कि स्वभाव, व्यवहार, वस्त्र, रंग-ढंग, चरित्र आदि के आधार पर भारतीय व्यक्तित्व, जर्मन व्यक्तित्व, रूसी व्यक्तित्व आदि की चर्चा की जा सकती है। यही नहीं, इनमें भी वर्गीकरण किया जा सकता है जैसे भारतीय कृषक का व्यक्तित्व, भारतीय पुजारी का व्यक्तित्व, भारतीय अध्यापक का व्यक्तित्व आदि आदि। इसका तो यह तात्पर्य हुआ कि मानव जिस समूह में रहता है उसकी अवस्थाओं, माँगों और अन्य सुविधाओं के अनुरूप उसके कर्तव्य बन जाते हैं और उनकी पूर्ति कर पाने के लिए उसे कुछ गुणों की आवश्यकता होती है और वह इन गुणों को उस समाज में रह कर ही, अपने स्थान-विशेष, क्षेत्र-विशेष के भीतर रह कर ही ग्रहण कर पाता है। इन गुणों का ग्रहण कर पाना ही उसका व्यक्तित्व बनाता है। इन गुणों को ठीक ढंग से ग्रहण कर पाने का अर्थ है उसका अपने समूह में समीकरण कर पाना अर्थात् सन्तुलित व्यक्तित्व का निर्माण करने में सफल होना।

व्यक्तित्व के निर्माण का आरम्भ सम्भवतः व्यक्ति सर्वप्रथम अपने परिवार में ही करता है। वहीं वह अपना स्थान खोजता तथा पहचान पाता है और वहीं से वह अपना कार्य भी आरम्भ कर पाता है तथा उसके उपयुक्त गुणों को ग्रहण भी करना आरम्भ करता है। वह अपने कर्तव्यों को भी दूसरों के कृत्यों के, आदेशों के आधार पर ही तो निर्धारित कर पाता है। इन्हीं के बीच वह स्वयं अपने कर्तव्य, कर्म और कर्तव्यों के सम्बन्ध में निश्चय कर पाता है, धारणाएँ बना पाता है। यहीं से वह अपने 'अहं' को दूसरों से भिन्न करके देखना सीखता है। 'अहं' भावन यद्यपि व्यक्तित्व से भिन्न है किन्तु 'अहं' के साथ सम्बन्धित गुण आदि व्यक्तित्व के निर्माण में सहायक अवश्य होते हैं। व्यक्ति का व्यक्तित्व उसके 'अहं' सहित समाज की अवस्थाओं एवं सामाजिक वातावरण में सन्तुलित होता जाता है। जहाँ कि यह सन्तुलन ठीक ठीक हो पाता है वहाँ व्यक्ति के निजी, अपने विषय में विचार उन विचारों से अधिक भिन्न नहीं होते हैं जो कि अन्य व्यक्ति उसके विषय में रखते हैं। ऐसी अवस्थ

में उसका व्यक्तित्व स्वाभाविक होता है। किन्तु सदा-सर्वदा ऐसा नहीं होता है। अस्वाभाविक व्यक्तित्व का मुख्य लक्षण यह है कि व्यक्ति स्वयं अपने विषय में कुछ और विचार रखता है और समाज के अन्य सदस्य उसके विषय में कुछ और ही विचार रखते हैं। इस प्रकार के व्यक्तित्व का सामाजिक दृष्टि से असन्तुलित व्यक्तित्व कह सकते हैं। वस्तुतः हम अपने आपको अन्य व्यक्तियों की दृष्टि के माध्यम से ही तो देख पाते हैं। कूले इसी को तो दर्पण-प्रक्रिया कहते हैं। मानव के कर्म, उसके कर्तव्य के निर्धारित करने में, उसका सामाजिक क्षेत्र बहुत काम करता है। अधिकतर तो समाज ही मानव के कर्तव्य कर्मादि का निर्धारण प्रचलित व्यवहार प्रतिमानों के द्वारा कर देता है। व्यक्ति को उन्हीं के भीतर रहकर चलना पड़ता है फिर भी प्रत्येक व्यक्ति को अपने समूह में कोई न कोई स्थान तो मिलना ही चाहिए। यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति के समाज में कई एक स्थान होते हैं और वह उन स्थानों से अपने विभिन्न प्रकार के सामाजिक कर्तव्यों का पालन करता है किन्तु वे सब ही उसके व्यक्तित्व का अंश होते हैं। उन सबको मिलाकर ही उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व बनता है। उन सबका उसके व्यक्तित्व में सन्तुलित एवं व्यवस्थित ढंग से रहना आवश्यक भी है अन्यथा वह ठीक ढंग से अपने सामाजिक वातावरण में अपने व्यक्तित्व को सन्तुलित कर पायेगा ही नहीं।

व्यक्तित्व का संगठन—विभिन्न कर्तव्यादि को जीवन के विभिन्न सामाजिक क्षेत्रों में व्यवस्थित ढंग से एकत्रित तथा सुव्यवस्थित कर पाना व्यक्तित्व का सामाजिक ढंग पर संगठन करना कहा जा सकता है। जीवन के किसी एक क्षेत्र में अभिव्यक्त व्यक्तित्व के गुण अन्य क्षेत्रों तक भी अपना प्रभाव डालते ही रहते हैं। अनुदार चित्त का व्यापारी अनुदार मित्र भी हो सकता है। जो व्यक्ति अपने व्यापारिक क्षेत्र में आधुनिक एवं मनोवैज्ञानिक तथा सुव्यवस्थित मनोवृत्ति का परिचय देता है सम्भवतः वह जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी वैसी ही मनोवृत्ति का परिचय देता है। कुछ तो ऐसे भी गुण होते हैं जो कि समान रूप से जीवन के सभी क्षेत्रों में अपना प्रभाव रखते हैं। जो व्यक्ति दयावान् होता ही है वह घर में, बाहर, क्लब में, मित्रों में और प्रायः सभी कहीं दयावान् ही जान पड़ता है किन्तु सदा-सर्वदा ऐसा ही होना भी आवश्यक नहीं है। कभी कभी ऐसा भी होता है कि यद्यपि कोई व्यक्ति कई एक क्षेत्रों में अपने कर्तव्य पाता और निबाहता है फिर भी उनमें से ही कोई एक क्षेत्र उसके लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बन जाता है। व्यक्तित्व के संगठन से तात्पर्य है

ऐसा स्वभाव, दृष्टिकोण और व्यवहार के ढंग इत्यादि बना लेना जो कि सभी कहीं व्यक्ति के साथ ही रहते हैं और उन्हीं के अनुसार वह अवसर के अनुकूल विशेष गुणों को उभार कर उनके द्वारा कर्तव्य पूरा कर दिया करता है। आज दिन व्यक्ति के सम्मुख सदा सर्वदा एक ही सी परिस्थितियाँ तो हुआ ही नहीं करती हैं अतः व्यक्तित्व के गुण हैं, परिस्थितियों को समझ कर उनके अनुसार चल पाना, विभिन्न समस्याओं के उचित एवं उपयुक्त हल खोज पाना, किस परिस्थिति में किन गुणों को उभारने की आवश्यकता है यह जान पाना आदि आदि। यह सब होते हुए भी व्यक्तित्व कोई स्थिर और चिरन्तन वस्तु तो है नहीं। यद्यपि मानव का एक व्यक्तित्व बन जाता है किन्तु वह व्यक्तित्व मानव के जीवन का मुख्याधार होते हुए भी चिरन्तन तथा इतना कठिन एवं कठोर नहीं होता है कि उसे परिवर्तित किया ही जा न सके। नवीन परिस्थितियों, अवस्थाओं के उदय होने पर उनके अनुरूप बनाये जाने के लिए व्यक्तित्व में परिवर्तन करना भी कभी कभी अत्यावश्यक हो जाता है और मानव-व्यक्तित्व ऐसे अवसर पर परिवर्तित होने की क्षमता रखता है। इस प्रकार की प्रगतिशीलता तथा परिवर्तित हो पाने की क्षमता व्यक्तित्व के विकास का ही एक गुण-विशेष है और इस गुण की समय समय पर आवश्यकता भी पड़ती ही है क्योंकि जीवन में व्यक्ति के सम्मुख नवीन परिस्थितियाँ भी आती ही रहती हैं और नवीन सामाजिक सम्बन्ध भी स्थापित होते ही रहते हैं। यह भी सत्य ही है कि उन्हें उनके साथ समझौता करना ही पड़ता है, समीकरण स्थापित करना ही पड़ता है। यद्यपि कभी कभी यह भी देखा जाता है कि नवीन परिस्थितियाँ व्यक्ति को तनिक विचलित कर देती हैं किन्तु यदि उसमें उपयुक्त गुण होते हैं तो वह शीघ्र ही अपनी परिस्थियों के साथ समीकरण स्थापित करने में सफलता प्राप्त कर लेता है और प्रायः इस प्रकार आत्म-संगठन, आत्म-असंगठन और आत्म पुनः संगठन का चक्र चलने लगता है। यदि परिस्थितियों, वातावरण आदि में परिवर्तन धीरे धीरे न होकर क्रान्तिकारी ढंग से होते हैं तो ऐसी अवस्था में मानव के व्यक्तित्व पर भी उनका प्रबल एवं तीव्र प्रभाव पड़ता है। किसी वैभवशाली, धनी व्यक्ति का दिवाला निकल जाने पर उसका अपनी नवीन परिस्थितियों के साथ समझौता करना कठिन सा ही हो जाता है।

व्यक्तित्व की समस्याएँ—नवीन परिस्थितियों के साथ समझौता कर पाने के लिए व्यक्ति को कठिन परिश्रम करना पड़ता है और इसका अर्थ

होता है कुछ पुरानी आदतों को एकबारगी त्याग कर उनके स्थान पर सर्वथा नवीन जीवन दर्शन को, आदतों को, दृष्टिकोण को ग्रहण करना, अतः इसका तात्पर्य है कि व्यक्तित्व के वर्तमान संगठन को मिटा कर उसके स्थान पर पुनः संगठन करना। ऐसा कर पाना कोई सरल कार्य तो है ही नहीं। किसी ग्रामीण व्यक्ति को नागरिक समाज में ले आने पर भी यह अवस्था स्पष्ट ही दृष्टिगोचर होने लगती है। यद्यपि व्यक्तित्व के अव्यवस्थित अथवा असन्तुलित हो उठने का परिणाम व्यक्ति के व्यवहार का अस्वाभाविक हो जाना भी हो सकता है किन्तु सदा सर्वदा ऐसा हो ही, यह भी आवश्यक नहीं है। प्रायः नवीन परिस्थितियों के साथ मानव का व्यक्तित्व समझौता कर लिया करता है और उसके व्यवहार पर उसके चिह्न स्पष्ट नहीं दिखाई देते हैं। ऐसी अवस्था में व्यक्तित्व पुनः संगठन से पूर्व व्यक्ति को कुछ कठिनाई तो होती है किन्तु यह अवस्था असन्तुलित अथवा सामाजिक समीकरण की विरोधी अवस्था से भिन्न होती है। इस अवस्था में तो केवल मात्र समझौता कर पाने की इच्छा और वैसा कर पाने के उपाय खोजने की ही अवस्था होती है किन्तु असन्तुलित अथवा विषम व्यक्तित्व का अर्थ तो है इस प्रकार के व्यक्तित्व का संगठन जिसे कि समाज अपने प्रचलित ढंग पर स्वीकार नहीं करता है। ऐसी अवस्था में व्यक्ति का व्यक्तित्व समीकृत तो होता है किन्तु उस ढंग पर व्यवस्थित नहीं होता है जिस ढंग पर उसका संगठित किया जाना समाज स्वीकृत करता है। इस प्रकार के विषम व्यक्तित्व के विकसित हो जाने के कारण तो कई प्रकार के होते हैं। इन्हीं कारणों में से एक है समाज का ठीक ढंग से संगठित न होना। वस्तुतः किसी भी समाज के संगठन का भी तो दोष माना जा सकता है किन्तु उस अवस्था में जब कि उस समाज में असन्तुलित एवं विषम व्यक्तित्वों की अधिकता हो। विषम व्यक्तित्व को लेकर व्यक्ति समाज में रहते हुए अपने उस कर्तव्य का ठीक से पालन ही नहीं कर पाता है जो कि समाज ने उसके लिए निश्चित किया है अतः यह आवश्यक है कि साधारणतया समाज के सदस्य अपने व्यक्तित्व का ठीक ढंग से विकास कर पायें। असंगठित, असन्तुलित व्यक्तित्व यदि किसी भी व्यक्ति के जीवन में कुछ देर तक चलता रहता है तो उसे फल-स्वरूप स्वयं अपने ही साथ भीतर ही भीतर संघर्ष करते रहना पड़ता है जो कि उसके भीतरी अन्तर्द्वन्द्व और संघर्ष के कारण उसे न केवल दुःखी ही बना देता है वरन् उसके भीतरी आत्मविश्वास की नींव हिला देता है और ऐसी अवस्था स्वयं उस व्यक्ति के लिए भी असह्य हो जाती है

अतः उसमें आत्महीनत्व की भावना का उदय होने लगता है। ऐसी अवस्था से मुक्ति पाने के लिए व्यक्ति अपनी नवीन परिस्थितियों से समझौता कर लेना चाहता है, उनमें सन्तुलित हो जाना चाहता है, उनके साथ समीकरण स्थापित कर लेना चाहता है और इस दिशा में प्रयत्न-शील भी होता है और यदि वैसा हो जाय तो उसे शान्ति भी मिलती है। वस्तुस्थिति में समझौता करवाने के प्रयत्नों के अतिरिक्त व्यक्ति अपने को सुखी बनाने के लिए कुछ और भी प्रयत्न करता है जैसे कि कल्पनाओं में, स्वप्नादि में सुख की खोज। दिवास्वप्न भी इस प्रकार का एक उपाय है जिसका उपयोग बालक प्रारम्भिक अवस्था में तो करता ही है किन्तु वह व्यक्ति भी कभी कभी करता है जो कि अपने आपको अपने सामाजिक वातावरण में सन्तुलित नहीं कर पाता है। काल्पनिक कथाओं, उपन्यास, खेल आदि में सन्तोष की, सुख की खोज करना भी ऐसा ही एक उपाय है। अकर्मण्यता, समस्याओं से भागना भी ऐसी ही अवस्थाओं में स्वीकार किया जाता है। यही नहीं, इसी प्रकार के अन्य अनेक उपाय भी मानव खोजने का प्रयत्न करता है किन्तु विषम व्यक्तित्व (maladjusted personality) समाज के लिए किसी भी अवस्था में हितकर नहीं होती है यद्यपि सभी प्रकार के सामाजिक सुधारों का आरम्भ वही व्यक्ति कर पाते हैं जो कि एकबारगी 'महाजनो येन गतः सपंथाः' पर ही ठीक-ठीक नहीं चल पाते हैं तथा महाजनों को आदर्श रूप में स्वीकार करने की अपेक्षा स्वयं अपना पथ खोजने की चेष्टा करते हैं। फिर भी साधारणतया समाज में व्यक्तित्व का समसन्तुलित रहना ही ठीक होता है।

अध्याय ७

समाज का ढाँचा

सामाजिक वास्तविकता और समाज का ढाँचा—सामाजिक जीवन सामाजिक कृत्यों से ही तो बनता है। सभी प्रकार के सामाजिक कर्मों को सामाजिक वास्तविकता कहा जा सकता है। इनमें साधारण और विशेष दोनों ही तरह की सामाजिक वास्तविकताओं का समावेश किया जा सकता है। साधारण में सामाजिक विचारों, परम्पराओं आदि को रखा जा सकता है और विशेष में प्रथाओं और संस्थाओं आदि की गणना की जा सकती है। सामाजिक कार्यों का आधार समाज का ढाँचा ही हुआ करता है और समाज के ढाँचे में जहाँ कि एक ओर सामाजिक व्यवस्था और इनके अन्तर्गत सारी सामाजिक संस्थाएँ, वर्ग, श्रेणियाँ, समूह, संगठन उनकी कार्यप्रणाली आदि सम्मिलित किये जाते हैं वहीं इसमें उन सब शक्तियों को भी तो सम्मिलित किया जा सकता है जो कि इसे बनाये रखने का कारण होती है अतः समाज के ढाँचे में मूर्त एवं अमूर्त दोनों ही प्रकार के सामाजिक पक्षों को गिना जाता है और इन सबको लिये-दिये ही हम सामाजिक वास्तविकताओं की चर्चा कर सकते हैं। जिस प्रकार सब ही प्रकार का जीवन एक प्रक्रिया है सामाजिक जीवन भी एक ऐसी सामाजिक प्रक्रिया ही तो है जिसमें कर्म और क्रिया सम्मिलित रहती है। जिस प्रकार किसी भी प्रकार के जीवन की चर्चा करते हुए ढाँचे की बात करना ही पड़ता है उसी प्रकार सामाजिक जीवन के साथ भी सामाजिक ढाँचा गुँथा-मिला ही रहता है और इस प्रकार का ढाँचा वही तो हो सकता है जिसके द्वारा कर्म किये जाते हैं। सामाजिक जीवन को बनाये रखने के लिए समूह और व्यक्ति कार्य करते हैं अथवा यों कहा जाए कि व्यवस्थित समूह में कार्य करते हैं अर्थात् समाज के ढाँचे को सामाजिक समूह, संस्थाएँ आदि बनाती हैं अतः सामाजिक ढाँचा तो हुआ समूह, संस्थाएँ आदि और उसे बनाये रखने के लिए जो शक्तियाँ निरन्तर कार्य करती रहती हैं उन्हें संज्ञा दी जाती है प्रथाओं आदि के रूप में। समाज के ढाँचे को समझ पाने के लिए उसके इन दोनों ही पहलुओं का अध्ययन करना आवश्यक जान पड़ता है।

सामाजिक ढाँचा और सामाजिक नियन्त्रण—सामाजिक ढाँचे को समझ पाने के लिए यह समझना आवश्यक है कि सामाजिक ढाँचा किस प्रकार बना रहता है। वस्तुतः सामाजिक नियन्त्रण ही समाज की रूपरेखा को बनाये रखने वाला होता है। कोई भी प्रथा, वस्तु अथवा परम्परा हो वह किसी न किसी रूप में सामाजिक विधि का बाना पहन कर ही जीवित रहती है अतः सामाजिक ढाँचे को सामाजिक विधि ही बनाये रख सकती है। सामाजिक नियम अथवा विधि-विधान ही सामाजिक नियन्त्रण का माध्यम होते हैं।

सामाजिक विधि (Social law) **का स्वरूप**—सामाजिक विधि-विधान एवं सामाजिक नियम प्राकृतिक नियमादि से भिन्न होते हैं। प्राकृतिक नियमों को सहज ही अमान्य नहीं किया जा सकता है और परिवर्तनशील तो वे हैं ही नहीं। किन्तु सामाजिक नियम यद्यपि मानव की आधारभूत आवश्यकताओं की नींव पर ही बनाये जाते हैं और उनका प्रभाव एवं शक्ति भी अत्यधिक होती है तथा सहज ही समाज के किसी भी सदस्य का साहस उन्हें अमान्य करने का नहीं होता है फिर भी वे मानव पर अपना इतना ही दबाव रखते हैं कि उन्हें माना जाना चाहिए तथा उन्हें न मानने पर सामाजिक दण्ड भी भोगना पड़ता है जो कि यद्यपि कुछ इतना सहज नहीं होता है किन्तु ऐसा भी नहीं होता कि जिसे कोई कभी भोगता ही न हो। ये नियम परिवर्तनशील भी होते हैं यद्यपि उन्हें परिवर्तित करना भी कुछ ऐसा सरल कार्य नहीं होता है। मानव की माँगें, उसकी आवश्यकताएँ भी तो काल के साथ साथ ही परिवर्तित होती रहती हैं अतः उन्हें एकबारगी सदा सर्वदा के लिए चिरन्तन सत्य के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता है। वे तो मानव की माँगों, आवश्यकताओं की अभिव्यक्ति के उपाय ही हैं जो कि आवश्यकतानुसार परिवर्तित हो सकते हैं और होते हैं।

ये समाज को नियन्त्रित करने वाले अथवा चलाने वाले नियमादि व्यवहार के वे मापदण्ड हैं जिन्हें कि किसी भी समुदाय का कोई एक समूह उस समुदाय अथवा समूह के सभी सदस्यों के व्यवहार का नियन्त्रण करने के उद्देश्य से बनाता है और उन नियमों के अनुसार उस समुदाय अथवा समूह के सदस्यों का व्यवहार एक दूसरे के प्रति भी होता रहता है तथा समस्त समुदाय अथवा समूह के प्रति भी। ये नियम किसी एक व्यक्ति की दूसरे व्यक्ति को दी गई आज्ञाएँ भी नहीं होती हैं क्योंकि ये तो जीवन की

वे रीति-नीति आदि हैं जिन्हें कि मानव स्वयं धीरे धीरे विकसित करता और ग्रहण करता जाता है। वे कुछ उस पर बरबस लादी गई तो होती ही नहीं हैं। यों तो वे उत्तराधिकार में पाई हुई सम्पत्ति के समान ही होती है किन्तु आवश्यकतानुसार उसमें परिवर्तन भी किये जाते हैं।

सामाजिक विधि एवं नियम मानवीय निजी स्वार्थ अथवा अपेक्षाकृत छोटे समूहों को देख कर नहीं बनाये जाते हैं अतः वे सभी को सामान्य रूप से मान्य भी नहीं होते हैं। सदा सर्वदा ही कुछ ऐसे भी व्यक्ति होते हैं जो उनके प्रति विद्रोह की भावना रखते ही हैं।

सामाजिक नियम (Social code), **सामाजिक स्वीकृति तथा व्यक्तिगत प्रेरक कारण**—विधि आदि को मान कर चलने का एक कारण तो यह हो सकता है कि उन्हें सामाजिक स्वीकृति प्राप्त है अर्थात उन्हें मानकर चलने से सामाजिक सम्मान एवं प्रशंसा प्राप्त होगी तथा नहीं मानने से दण्ड मिलेगा। दण्ड का रूप विभिन्न प्रकार का तो होता ही है अप्रिय भी होता है। किन्तु केवल मात्र सामाजिक सम्मान अथवा दण्ड का भय ही मानव को सामाजिक विधि का पालन करने को बाध्य नहीं करते हैं वरन् मानव इसलिए भी इन नियमादि का पालन करता है कि वह ऐसा करना उचित समझता है। उसकी दृष्टि में ये उचित हैं और समाज के हित के लिए उन्हें मान कर चलना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त अन्य भी कई प्रेरक कारण हो सकते हैं जैसे कि उन नियमों के मानने में ही अभ्यस्त हो जाना अथवा उन्हें न मान कर समाज के सामने नक्कू बनने का साहस न होना अथवा उन्हें मान कर अपने मित्रादि की ही श्रेणी में बने रहना अथवा उन्हें मानने से ही अपने स्वार्थ की पूर्ति हो पाने की सम्भावना का होना आदि आदि। विधि अथवा नियमों की सामाजिक स्वीकृति तो व्यापक ही है किन्तु कोई व्यक्ति किस प्रेरक कारण को लेकर किसी नियम को मानता है यह कहना कठिन है क्योंकि प्रेरक कारण तो बहुत कुछ कर्ता पर ही आश्रित होते हैं। तिस पर वे होते भी मिश्रित और विविध हैं जिन्हें कि पूरी तरह विश्लेषण का विषय बनाना कठिन जान पड़ता है। सामाजिक स्वीकृति तो समाज की अर्थात सब की सम्मति का विषय है जब कि उसके पीछे निहित प्रेरक कारण तो व्यक्तियों की वस्तु है समाज की नहीं।

सामाजिक नियमों के प्रकार—आज के हमारे समाज में प्रायः चार प्रकार के सामाजिक नियमों का प्रचलन है। कुछ सामाजिक

नियम ऐसे होते हैं, जिनका सम्बन्ध समूहविशेष के हितों से होता है और ये उस समूह के सदस्यों पर ही लागू होते हैं। इन्हें मान कर ही उस समूहविशेष में चला जा सकता है। इनका उल्लंघन करने पर उस समूह द्वारा प्राप्त सुविधाओं के छिनने का भय तो रहता ही है गुरुतर अपराध हो जाने पर दण्ड की कठोरता बढ़ भी जाती है जिसकी कि माँग कभी कभी जीविका अपहरण तक भी पहुँच सकती है यदि वह समूह विशेष ऐसा हो, जो कि जीविका उपार्जन का साधन ही है। दूसरे प्रकार के सामाजिक नियम समूहविशेष के लिए न होकर सम्पूर्ण समुदाय के लिए होते हैं और उनकी व्यापकता भी समुदाय के सभी सदस्यों तक होती है। प्रथाएँ इसी प्रकार के नियम हैं। रीति अथवा प्रथाओं को अमान्य करने पर साधारणतया, समाज अथवा समुदाय के कोप का भाजन बनना पड़ता है और प्रायः इनके मानन पर दण्डस्वरूप समाज में हँसी का पात्र बनना पड़ता है। यही नहीं, कुछ अन्य प्रकार के भी दण्ड हैं जैसे कि समुदाय में निन्दित होना और कहीं कहीं तो असहयोग का सामना भी करना ही पड़ता है। नैतिक नियम तीसरे प्रकार के सामाजिक नियम हैं। 'श्रेय' और 'उचित' की भावना के आधार पर इनकी नींव रखी जाती है और इन्हें अमान्य करने का दण्ड होता है व्यक्ति का समुदाय में नीची दृष्टि से देखा जाना, अनैतिक माना जाना। देश की विधि के अनुरूप नियम चौथे प्रकार के सामाजिक नियम होते हैं और इन्हें उल्लंघन करने पर न केवल समुदाय का ही वरन राष्ट्र का अथवा प्रशासकों का भी कोपभाजन बनना पड़ता है तथा दण्ड भी निन्दा तक ही सीमित न रह कर अत्यधिक कठोर होता है और शारीरिक शक्ति के आधार पर दिया भी जाता है। इनके अतिरिक्त धार्मिक नियम भी होते हैं तथा आर्थिक नियमों की भी चर्चा की जा सकती है। यद्यपि पुरातन युग में इन नियमों में सहज ही भेद नहीं किया जाता था किन्तु यह भेद दिनोंदिन अधिकाधिक स्पष्ट होता रहा है और सम्भवतः और भी होता जायगा।

सामाजिक विधि, नियम और व्यक्ति -सामाजिक नियमादिक की महत्ता का रहस्य केवलमात्र उनका प्रचलन ही नहीं है वरन उनके प्रति अधिकांश समाज के सदस्यों की भक्ति भी है। प्रायः इनके प्रति सब ही व्यक्तियों के मन में एक प्रकार की तनिक-सी भय-मिश्रित श्रद्धा भी उत्पन्न हो जाती है और गहरा लगाव भी। भले ही प्रत्येक व्यक्ति हर समय नियम का पालन करने से पूर्व यह न सोचता हो कि यह नियम उपयोगी है अथवा इसका पालन होना ही चाहिए किन्तु उसके मन में इन

नियमों के प्रति गहरा विश्वास तो रहता ही है, यह भावना भी रहती है कि इन्हें मानने के अतिरिक्त उसके लिए और कोई उपाय भी नहीं है।

वस्तुतः इस प्रकार की श्रद्धा मानव में उसके बाल्यकाल से ही उत्पन्न की जाती है। इन नियमों का संचालन—प्रभाव तो बालक के जीवन पर आरम्भ से ही गुरुजनों की आज्ञाओं, उनके आदेशों के रूप में पड़ता ही जाता है। वह भले ही उन आज्ञाओं, आदेशों के प्रति विद्रोह की भावना अपने भीतर पोषित करता रहे किन्तु उन्हें मानने के अतिरिक्त उसके सम्मुख जीवन का और कोई मार्ग भी तो नहीं होता है जिस पर वह चल सके अथवा जिसके साथ वह उन्हें तुलना की कसौटी पर रख कर देख सके अतः उससे विवश होकर उन्हीं नियमादिक को मानना पड़ता है और फिर धीरे धीरे उसमें उनके प्रति श्रद्धा-सी भी उत्पन्न हो जाती है। कुछ अधिक घने समूहों में तो श्रद्धा उत्पन्न करने के और भी उपाय किये जाते हैं। कुछ विचारधाराएँ, धारणाएँ, आदर्श आदि सम्मुख रखे जाते हैं जिनका कि पालन होना उन नियमों के द्वारा ही सम्भव होता है अतः उन नियमों के प्रति स्वाभाविक रूप से ही श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है। कुछ समूह अपने नियमों के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करने के लिए उनके विरोधी तत्त्वों के प्रति अश्रद्धा और भय उत्पन्न करने की चेष्टाएँ भी करते रहते हैं। प्रारम्भिक शिक्षा द्वारा यह सब सरलता से किया जा सकता है। बालक के चारों ओर की व्यवस्था उसे प्रचलित नियमों के प्रति श्रद्धालु बनने के लिए अनुकूल वातावरण उपस्थित कर देती है। आज्ञाओं, आदेशों तथा उदाहरण के द्वारा तो बालक के सम्मुख वे सब विश्वास, विचार और सम्मतियाँ उपस्थित की ही जाती हैं जो कि किसी समूह, समुदाय अथवा समाज में प्रचलित होती है। इनके अतिरिक्त अनजाने में भी तो बालक उसी प्रकार के जीवन का अभ्यस्त हो जाता है जो कि समूह अथवा समुदाय में प्रचलित है। इसी अभ्यस्त होने की प्रक्रिया के द्वारा वह उन्हीं विचारों को ग्रहण कर लेता है, अपना लेता है जो कि उसके समूह में प्रचलित हैं। शिक्षा पाने के अतिरिक्त भी बालक 'श्रेय' 'अश्रेय', 'उचित' 'अनुचित'-सम्बन्धी विचार अपने आस-पास के वातावरण से लेता है और धीरे धीरे वे उसके जीवन में गहरे उतर जाते हैं, उसके जीवन का अंग बन जाते हैं। यही कारण है कि अधिकतर जो विचार, प्रथा आदि हमारे निकट परिचित से दीखते हैं वे हमें श्रेयस्कर एवं उचित ही जान पड़ते हैं और जिनसे हम परिचित नहीं होते वे प्रायः हमें

अश्रेयस्कर एवं अनुचित से जान पड़ते हैं। यही नहीं, छोटे समूहों में भी वातावरण अपने सदस्यों को विचारधाराएँ देता है और वही विचारधाराएँ सदस्यों के जीवनादर्श बनाती हैं।

व्यक्तिगत उपाय—अधिकार और नेतृत्व—प्रायः सभी समूहों में आज्ञा मनवाने के अधिकारों को धारण किये हुए कुछ ऐसे व्यक्तित्व होते हैं जिनके प्रति साधारणतया अन्य सदस्यों को सम्मान, आज्ञापालन, श्रद्धा आदि का प्रदर्शन करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त आज्ञा मनवाने की व्यक्तिगत शक्ति, व्यक्तिगत गुण भी कुछ लोगों में होते ही हैं। इस प्रकार के व्यक्ति नेतृत्व करते हैं। ये दोनों ही क्रियाएँ नियन्त्रण के दो ढंग हैं। अधिकार और नेतृत्व इन दोनों के ही द्वारा समूह अथवा समुदाय अपने सदस्यों से इन नियमों का पालन कराया करता है। अधिकार पद मर्यादा के कारण प्राप्त होता है किन्तु नेतृत्व स्वयं अपने व्यक्तिगत गुणों के द्वारा प्राप्त किया जाता है। अधिकार के पीछे दण्ड-भय की भावना रहती है किन्तु नेतृत्व के पीछे मनवाने की शक्ति रहती है। शासक, मिल-मालिक, पुलिस का कान्सटेबिल आदि ऐसे व्यक्ति हैं जिनके पास आज्ञा मनवाने का अधिकार है किन्तु यह अधिकार इनके पद की मर्यादा के ही कारण है कुछ उनके निजी व्यक्तित्व के कारण नहीं। दूसरी ओर एक विद्रोही, क्रान्तिकारी अथवा समाज-सुधारक भी नेता हो सकता है। यद्यपि उसे पदाधिकार से कुछ भी नहीं दिया जाता है फिर भी वह अपने व्यक्तित्व के कारण ही अपनी आज्ञा मनवाने की शक्ति रखता है। अधिकार को समूह द्वारा स्वीकृत किया जाता है किन्तु नेतृत्व स्वयं अपनी स्वीकृति समूह द्वारा करा लेता है। प्राचीन काल में अधिकार का आधार सुरक्षा भी हो सकती है और कुछ ही समय पूर्व अधिकार का आधार था आस्था अथवा भयमिश्रित प्रथा में श्रद्धा, परम्परा में बना विश्वास किन्तु आधुनिक युग में अधिकार का आधार अधिकतर यह भावना होती है कि दैनिक जीवन-यापन की सुविधाएँ प्राप्त करने के लिए इस प्रकार के पदों, उनकी मर्यादा और अधिकारों का होना आवश्यक है। इस युग में यह देखना आवश्यक हो जाता है कि किस सीमा तक किसी पद-विशेष के साथ अधिकारों को संयोजित और सम्मिलित किया जा सकता है तथा कहाँ तक समूह के संगठन के लिए उन अधिकारों की आवश्यकता है। यह विचार, इस प्रकार की भावना उन अधिकारों को मनवाने के लिए एक सशक्त कारण

हो जाता है और इसी के आधार पर उस पद के साथ संलग्न आज्ञाओं का महत्त्व भी बढ़ जाता है।

दूसरी ओर व्यक्तिगत नेतृत्व का आधार न तो कोई पद ही होता है और न अधिकार के पीछे निहित भावना जैसी कोई भावना ही। इसका आधार होता है व्यक्ति की भाषण-शक्ति, उसका व्यक्तित्व, उसकी विद्या-बुद्धि, योग्यता तथा अन्य ऐसे ही व्यक्तिगत गुण। नेता पद एवं अधिकारों के पक्ष में हो सकता है और शासनाधिकारों, चालू पद मर्यादा का विरोधी भी हो सकता है। यह भी सम्भव है कि वह केवल मात्र अवसरवादी ही हो अथवा किसी दल-विशेष का प्रचारक मात्र ही हो और यह भी सम्भव है कि वह वास्तव में कुछ नवीन आदर्श लेकर ही चल रहा हो, किसी नवीन सुन्दर जन-हितकारी व्यवस्था का ही समर्थक हो। यदि नेता प्रचलित अधिकारों का समर्थक होता है तो वह उन अधिकारों को नवीन पृष्ठभूमिका में रख कर उपस्थित करता है जो कि सम्भवतः पुरातन से अधिक सशक्त एवं प्रभाव-शाली होती है। यदि वह उनका विरोधी हो तो उसे नवीन तर्क और नवीन व्यवस्था का एक ऐसा चित्र खींचना पड़ता है जो कि पूर्वावस्था से अधिक आकर्षक और प्रभावशाली हो।

अधिकार और नेतृत्व साथ साथ भी चल सकते हैं। नेतृत्व प्राकृतिक देन भी हो सकती है और स्वयं प्रयत्नों द्वारा ग्रहण की गई शिक्षा भी। स्वाभाविक अथवा प्राकृतिक नेतृत्व के लिए उपयुक्त अवसर मिलने की ही देर होती है और राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक संघर्ष आदि के युग ऐसा अवसर उपस्थित कर देते हैं।

अन्य उपाय—कुछ ऐसे भी प्रभाव होते हैं जो कि व्यक्तिगत न होते हुए भी समूह के सदस्यों को नियमादि के पालन करने के लिए विवश कर देते हैं। किसी भी समूह में कर्मकाण्ड का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है और इसका समूह पर पर्याप्त प्रभाव भी होता है। कुछ कर्म स्वभाव की अपेक्षा कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं अर्थात् उनके साथ कुछ भावनाएँ भी संलग्न हो जाती हैं इन्हीं को कर्म (rituals) माना जा सकता है। प्रायः व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों ही प्रकार के कर्म होते हैं। मित्रों की गोष्ठी में प्रचलित उस नियम से लेकर जिसके अन्तर्गत बारी बारी से प्रत्येक मित्र सदस्य को चाय पिलानी पड़ती है, वर्ष में एक बार गणतन्त्र दिवस के अवसर पर झंडा अभिवादन तक इसी प्रकार के कर्म हैं। कर्म महत्त्व उस समय अत्यधिक हो जाता है जब कि वह परम्परा अथवा प्रथा की श्रेणी में आ जाता है। प्रायः सब ही समूहों में इस प्रकार के कर्म प्रचलित होते ही हैं और उनका

प्रभाव भी स्पष्ट ही दिखाई देता रहता है। कर्म का सर्वाधिक स्पष्ट रूप सामाजिक संस्कारों, उत्सवों (ceremony) में दिखाई देता है। संस्कार किसी भी उत्सव अथवा अवसर के, घटना के महत्त्व को स्पष्ट रूप से दिखाने के लिए उसे करने की एक स्वीकृत और महत्त्वपूर्ण रीति ही तो है। प्रायः सभी सामाजिक उत्सवों में कर्मकाण्ड को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया ही जाता है। इसका प्रभाव साधारण मनुष्यों की अपेक्षा आलोचनात्मक दृष्टिवाले व्यक्तियों पर न्यून पड़ता है। अतः जिस युग में प्रचलित नियमादि के प्रति अश्रद्धा बढ़ने लगती है अथवा सुधारक उन नियमादि को आलोचनात्मक दृष्टि से देखने लगते हैं उस युग में कर्मकाण्ड का महत्त्व न्यून हो जाता है और उसके प्रभाव को भी जनता संशंक दृष्टि से देखने लगती है।

कर्मकाण्ड का सामाजिक दृष्टि से कुछ महत्त्व तो है ही। एक तो कर्म किसी भी व्यक्तित्व के व्यक्तित्व से दूर पर की वस्तु होता है। जो व्यक्ति उस कर्म के करनेवाले होते हैं महत्त्व उनका न होकर होता है कर्म का। अतः ये कर्म सामाजिक कृत्यों की दृष्टि से ही देखे जाते हैं। दूसरी बात यह भी है कि प्रायः सभी सामाजिक संगठन कुछ पुरातन, पौराणिक विश्वासों, कथाओं आदि से आदर्श लेकर ही जीवित रहते हैं और इन आदर्शों को कर्मकाण्ड से बल मिलता है। इसके अतिरिक्त कर्मों की उपयोगिता भी होती है। कई अवस्थाओं में तो ये कर्म आदि ही प्रमाणस्वरूप भी उपस्थित किये जाते हैं जैसे कि विवाह आदि का प्रमाण सामाजिक संस्कार ही होते हैं। धार्मिक कृत्यों की भी कुछ इसी प्रकार की उपयोगिता होती है किन्तु यह सब कुछ इसीलिए तो सम्भव हो पाता है कि मानव में चिह्न बनाने और उनका उपयोग करने की उपयोगिता है। भाषा भी एक प्रकार की चिह्नों-सम्बन्धी व्यवस्था ही तो है। समूह की एकता भी चिह्नों में ही अपनी अभिव्यक्ति करती है। झंडा, राष्ट्रीय गान आदि ऐसे ही चिह्न हैं। धार्मिक विश्वासों के भी अनेकानेक चिह्न-प्रतीक मिलते हैं और वे मानव की श्रद्धा को भी केन्द्रीभूत तो करते ही हैं, अभिव्यक्त भी करते हैं। कर्मकाण्ड और चिह्नादि दोनों ही सम्मिलित रूप से व्यवस्थित एवं संगठित सामाजिक विधि एवं नियमों में सदस्यों की श्रद्धा को दृढ़ करते हैं।

सामाजिक व्यवस्था और उसकी शक्ति—मानव के भीतर बाल्यकाल से ही सामाजिक व्यवस्था, सामाजिक विधि और नियमादि के प्रति जो श्रद्धा एवं विश्वास भर दिया जाता है तथा उन्हें ही मानने का जो उसका स्वभाव-सा बन जाता है वह तो उसे उन्हें मानने के लिए बाध्य

करना ही है किन्तु इनके अतिरिक्त सामाजिक व्यवस्था अपनी शक्ति से काम लेकर भी उसे उन्हें मान्यता देने को बाध्य करती है। राजनीतिक अथवा देश की विधि के रूप में यह और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है। प्राय: प्रत्येक समाज में सामाजिक व्यवस्था की शक्ति के विभिन्न रूप दिखाई देते हैं। इस प्रकार की शक्ति के प्रभाव प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों ही रूप में दिखाई देते हैं। प्रत्यक्ष प्रभाव तो दण्ड का भय हो सकता है और परोक्ष प्रभाव कुपरिणाम के रूप में कल्पना में चित्रित अथवा गुरुजनों के आदेशों के संकेत रूप में दिखाई देता है। सामाजिक संगठनों के अधिकाधिक मिश्रित एवं उन्नत होने के साथ ही साथ सामाजिक व्यवस्था की शक्ति पर भी प्रभाव पड़ता है। यद्यपि यह कहना कठिन है कि वह प्रभाव अधिक होता है अथवा न्यून क्योंकि इतिहास तो हमें दोनों ही प्रकार के उदाहरण देता है।

निश्चयपूर्वक तो यह नहीं कहा जा सकता है किन्तु किसी एक सीमा तक तो यह मानना ही पड़ेगा कि सामाजिक व्यवस्था को बनाये रखने और नियन्त्रित रखने के लिए दण्ड-व्यवस्था एवं शक्ति की आवश्यकता रहती ही है। यद्यपि इस प्रकार की शक्ति और दण्ड-विधान ही सामाजिक नियन्त्रण का एकमात्र उपाय नहीं है फिर भी जनश्रद्धा आदि के साथ ही साथ इसका भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान तो है ही यद्यपि इसे सीमित रूप में ही प्रयोग में लाया जा सकता है क्योंकि एक तो बरबस कार्य करवाना यों ही सामाजिकता के विरुद्ध है और दूसरे उसका पूर्णतया उपयुक्त ढंग से ही उपभोग कर पाना भी तो सर्वथा सम्भव नहीं है। फौजी शक्ति से लेकर साधारण पुलिस-शक्ति अथवा इसी प्रकार की अन्य शक्तियों की भी अपनी सीमाएँ हैं जिनके भीतर रहकर ही वे कार्य कर पाती हैं। राजनीतिक विधि को मनवाने में तो भले ही दण्ड एवं शक्ति की कुछ अधिक ही आवश्यकता पड़ती हो किन्तु अन्य विधि एवं नियमों की मान्यता तो अन्य उपायों से भी सम्भव हो जाती है। यों भी तो दण्ड की शक्ति से स्थापित सम्बन्ध सामाजिक प्रवृत्तियों के आधार पर स्थापित सम्बन्ध का विरोधी ही होता है अत: दण्ड एवं सामाजिक शक्ति अथवा राष्ट्रीय शक्ति का प्रयोग वहीं तक करना चाहिए जहाँ तक कि इसकी असामाजिक सम्बन्धों से सामाजिक सम्बन्धों की रक्षा करने के लिए आवश्यकता हो। कुछ व्यापक नियम जनहितकारी होते हैं और कुछ ऐसे भी होते हैं जो कि जनहित के लिए अनिवार्य ही होते हैं। पहली अवस्था में सामाजिक शक्ति अथवा दण्ड के भय की आवश्यकता नहीं होती है जब कि दूसरी अवस्था में उसके बिना सम्भवत: काम ही नहीं चलता है।

वस्तुत: नियमों का बरबस पालन करवाना कुछ बहुत लाभप्रद नहीं होता है वरन् हानिकर ही होता है क्योंकि उससे व्यक्ति में श्रद्धा की अपेक्षा विद्रोह की भावना ही अधिक जाग्रत होती है। अत: यही अच्छा है कि जिन बातों का अन्य व्यक्तियों की उन्हीं बातों और प्राय: वैसे ही अवसरों पर अपने ही ढंग से कार्य करने का प्रभाव न पड़ता हो, उनके लिए व्यापक नियम या तो बनवाये ही न जायँ और बनें भी तो बरबस पालन न करवाये जायँ। केवल उन्हीं बातों को लेकर व्यापक नियम बनवाये और बरबस दण्ड के भय के आधार पर पालन करवाये जाएँ जिनका प्रभाव कि अन्य व्यक्तियों की स्वतन्त्रता पर पड़ता है। अन्यथा यदि कोई ऐसा प्रभाव दूसरों पर न पड़े तो इस प्रकार बरबस नियमों का पालन करवाने की आवश्यकता ही क्या है? इस सिद्धान्त को मान लेने का अर्थ तो यह भी होगा कि मानव को अपनी स्वतन्त्रता की अभिव्यक्ति का पूरा पूरा अवसर दिया जाय। बरबस आधारभूत स्वाधीनता के अवसर और सुविधाओं के दबाने का अर्थ तो यह भी हो सकता है कि मानव में विद्रोह की भावना जाग्रत हो और विभिन्न प्रकार के व्यक्तित्वों की स्वाधीनता की माँगें और सामाजिक दबाव का विरोध करने की रीतियाँ भी भिन्न भिन्न होती हैं। अधिकतर तो वे सदस्य ही सामाजिक दबाव का विरोध करते हैं जिनमें रचनात्मक शक्ति होती है और जो सुधारों की अभिलाषा रखते हैं।

विशेष प्रकार की सामाजिक व्यवस्थाओं में सामाजिक नियन्त्रण के परीक्षण किये ही जाते हैं। विशेष प्रकार की सामाजिक व्यवस्था उस समाज को कह सकते हैं जिसमें समाज अपने आप में ही सीमित एवं पूर्ण हो तथा अन्य प्रभावों से किसी एक सीमा तक मुक्त हो। इस प्रकार के समाज में व्यक्तियों से सामाजिक नियमादि को मनवाने की रीति-नीति भी विशेष ही होती है।

धार्मिक और नैतिक नियम—प्रमुख सामाजिक विधि अथवा नियमादि में धार्मिक नियमों एवं नैतिक नियमों को सम्मिलित किया जाता है। इनके अतिरिक्त सामाजिक प्रथाओं एवं देश की विधि का स्थान तो होता ही है। यद्यपि कभी कभी धार्मिक नियमों और नैतिक नियमों के बीच संघर्ष-सा दिखाई देता है और आज के युग में यह संघर्ष कुछ और भी अधिक दिखाई देने लगा है क्योंकि साधारणतया धार्मिक विचार ईश्वर-प्रेम की ओर और नैतिक विचार मानवमात्र के प्रेम की

ओर इंगित करते हुए जान पड़ते हैं और इस दृष्टि से इनमें कुछ भेद भी दिखाई देता है किन्तु आधुनिक विचारधारा एवं मत का प्रवाह यद्यपि मानवता के प्रेम की ओर, उसके हित की ओर अधिक है फिर भी यह नहीं कहा जा सकता है कि ईश्वर-प्रेम भी मानवता के प्रेम की ही पराकाष्ठा है अथवा मानवता का प्रेम भी तो सृष्टिनियन्ता के ही प्रेम की अभिव्यक्ति है।

प्रथा और विधि—यों तो प्रथाएँ वे सभी प्रचलित सामाजिक नियम ही होते हैं जिन्हें कि समूह के सब ही सदस्य न केवल स्वीकार ही करते हैं वरन् जिनके अनुरूप ही अपना स्वभाव बना लेते हैं। सामाजिक विधि के कुछ ऐसे भी नियम हैं जिन्हें कि राष्ट्र बनाता है और जिन्हें पालन करवाने का उत्तरदायित्व भी राष्ट्र पर ही होता है। अन्य संस्थाओं आदि के नियमों का आधार सदस्य की स्वीकृति-मात्र ही होती है। यदि मैं किसी संस्था की सदस्या होना चाहती हूँ तो मुझे उसके नियमों को स्वीकार करना पड़ेगा तथा उन नियमों के उल्लंघन का अर्थ इतना ही तो होगा कि अधिक से अधिक मुझे उस संस्था की सदस्यता से हाथ धोने होंगे अर्थात् वे सुविधाएँ जो कि मुझे उस संस्था की सदस्या होने के नाते मिल रही हैं, न मिल सकेंगी। राष्ट्रीय विधि का क्षेत्र इससे कहीं अधिक व्यापक है। किसी भी राष्ट्र में जन्म लेने मात्र से ही मुझे उस राष्ट्र के नियमों को मानना ही होगा। इसमें मेरी इच्छा अथवा अनिच्छा का प्रश्न ही नहीं उठता है क्योंकि उन नियमों को न मानने से मेरी सदस्यता ही छिन जायगी ऐसी बात नहीं है वरन् सदस्यता तो छिन सकती ही नहीं है मुझे नियम उल्लंघन करने का दण्ड अवश्य मिलेगा अतः राष्ट्रीय नियमों का मुझे किसी भी अवस्था में पालन करना ही पड़ता है। देश की विधि (Law) की परिभाषा करते हुए हम कह सकते हैं कि यह उन सभी नियमों का राशीकरण है जो कि राष्ट्र के न्यायालयों द्वारा स्वीकृत किये जाते हैं तथा जिनके भाष्य और जिनका परिस्थिति-विशेष में लागू करना भी राष्ट्र के न्यायालयों पर ही आश्रित रहता है। यद्यपि अधिकतर इनका भी उद्गम देश में प्रचलित प्रथाएँ ही होती हैं किन्तु ये तब तक विधि में सम्मिलित नहीं किये जा सकते हैं जब तक कि देश के न्यायालय इन्हें स्वीकार न कर लें तथा इन्हें लागू करने को तत्पर न हो जायँ। इसका तो यह अर्थ होगा कि कानून अथवा विधि केवल वही नहीं है जिसे कि विधान-सभा अथवा धारा-सभा स्वीकार करे अथवा रच डाले वरन् इनकी स्वीकृति

अथवा रचना के अतिरिक्त उनकी जन-स्वीकृति तो है ही उनका न्यायालयों द्वारा स्वीकृत होना भी आवश्यक है ।

प्रथाएँ कानून से कुछ भिन्न होती हैं, उसी प्रकार जिस प्रकार कानून नैतिक नियमों से भिन्न होता है । कानून अथवा विधि बनाई जाती है तथा राष्ट्र की शक्ति द्वारा निश्चित रूप से लागू की जाती है, जनता से मनवाई जाती है; किन्तु प्रथाएँ कहीं किसी एक समय में बैठ कर बनाई नहीं जाती हैं वरन धीरे धीरे विकसित होती हैं, बनती जाती हैं। उन्हें निश्चित रूप से लागू करे ही ऐसी भी कोई शक्ति स्पष्ट नहीं दिखाई देती है । व्यापक जन स्वीकृति ही प्रथाओं के जीवित रहने का कारण होती है । प्रथाओं का कार्य-क्षेत्र, प्रभाव-क्षेत्र भी अत्यन्त व्यापक होता है यद्यपि वह प्रत्येक क्षण स्पष्ट रूप से दिखाई नहीं पड़ता है । प्रथाएँ तो जीवन यापन की वे रीतियाँ हैं जिनसे कि हम बाल्यकाल से ही अभ्यस्त होते जाते हैं और वे धीरे धीरे हमारे जीवन में अपना आवश्यक स्थान बनाती जाती हैं तथा कालान्तर में हम स्वयं भी उनके प्रशंसक बन बैठते हैं । यद्यपि ऐसा भी होता है कि कभी कभी वे धीरे धीरे क्षीण भी होती जाती हैं और उनका नष्ट हो जाना जान भी नहीं पड़ता है ।

प्राय: सरल एवं पुरातन समाज में केवल मात्र प्रथाओं से ही सामाजिक नियन्त्रण हो जाता था । आज दिन के जटिल समाज में यद्यपि हमें प्रथाओं के अतिरिक्त विधि की भी आवश्यकता पड़ती है फिर भी प्रथाएँ हमारे जीवन की बहुत-सी उलझनों को सरलतापूर्वक ही सुलझा देती हैं तथा सम्भवत: कोई ही ऐसी नवीन परिस्थिति हमारे सम्मुख आती हो जिसका सामना करने का उपाय प्रथाएँ ही हमारे लिए नहीं निकाल पाती हैं । प्रथाएँ हमारे लिए अत्यधिक हितकर हैं फिर भी इस आज के जटिल समाज में हमें विधि की आवश्यकता है क्योंकि प्रथाओं के पीछे कोई ऐसी विशेष शक्ति निहित नहीं होती है जो कि उन्हें मनवा ही सके और न कोई ऐसी विशेष व्यवस्था ही होती है जो कि उनका उल्लंघन करनेवालों को दण्ड दिला सके अत: साधारण नियमों अर्थात् प्रथाओं के अतिरिक्त विशेष नियमों अर्थात् विधि की भी आवश्यकता है जो कि अपनी विशेष व्यवस्था के द्वारा सामाजिक नियन्त्रण बनाये रखने में हितकर हो। इसके अतिरिक्त प्रथाएँ यद्यपि सामाजिक परिवर्तन से उत्पन्न अवस्थाओं के साथ मानव का समीकरण करने, संतुलन स्थापित कराने

में सहायक होती हैं किन्तु ऐसा करने के लिए वे बहुत अधिक समय लेती हैं क्योंकि उनकी चाल बहुत ही धीमी होती हैं। आज का समाज तो परिवर्तन भी शीघ्र करता है और आज उन परिवर्तनों के फलस्वरूप उत्पन्न हुई अवस्थाओं से समीकरण भी शीघ्र ही स्थापित करना पड़ता है अतः इस कार्य के लिए 'विधि' ही एक संभव और फलदायक उपाय हो सकता है।

विविध प्रकार की संस्थाओं आदि से पूर्ण आज के समाज के लिए तो किसी एक ही प्रकार के नियम और उसे लागू करने के लिए विशेष प्रकार की व्यवस्था की आवश्यकता यों भी है ही। प्रथाओं के पक्ष में भी कोई सबल तर्क नहीं होता है किन्तु विधि प्रथा की अपेक्षा कहीं अधिक सबल होती है अतः प्रथाओं के होते हुए भी विधि की आवश्यकता पड़ती ही है। फिर भी विधि की भी अपनी सीमाएँ हैं। कानून को भी सामाजिक परिवर्तनों के साथ साथ परिवर्तित होना पड़ता है। न्यायालयों द्वारा किये गये भाष्य और विधि, प्रयोग तथा औद्योगिक उन्नति के साथ साथ बननेवाले नवीन कानूनों ने विधि के क्षेत्र को न केवल विस्तृत वरन् सम्पन्न भी कर दिया है। किन्तु फिर भी कुछ ऐसे भी क्षेत्र रह ही जाते हैं जिनका नियन्त्रण विधि द्वारा नहीं किया जा सकता है अतः संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि विधि का कार्यक्षेत्र सीमित है और उसके भीतर कुछ ही कर्तव्य कर्म आ सकते हैं। इन कर्तव्यों में एक तो है उस आधारभूत व्यवस्था को बनाये रखना जिसमें कि सभी व्यक्तियों को सुरक्षा तथा अवसर प्राप्त हो सकें तथा दूसरा कर्तव्य हो सकता है विभिन्न व्यक्तियों अथवा समूहों के बीच अपने अपने हितों को लेकर होनेवाले ऐसे संघर्षों का निबटारा करके उन सब में समीकरण स्थापित करना जिनका निबटारा वे लोग स्वयं नहीं कर पाते हैं और जिनका प्रभाव औरों के हितों पर भी पड़ता है।

कभी कभी कानून और प्रथाओं के बीच भी संघर्ष उपस्थित हो जाते हैं किन्तु कानून उस समय तक नहीं चल सकता है जब तक कि उसे समाज अथवा समुदाय, अथवा समूह की बहुसंख्या की सम्मति अपने पक्ष में नहीं प्राप्त हो जाती है अतः प्रथा और विधि दोनों ही की हमारे सामाजिक जीवन में आवश्यकता होती है। ये दोनों एक-दूसरे पर अन्योन्याश्रित भी हैं। देश के विधान का तो देश की प्रथाओं से और भी अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध हुआ करता है और जिन देशों में अलिखित विधान अथवा परम्पराओं का शासन-सम्बन्धी काम-काज

में पर्याप्त महत्त्व है वहाँ तो प्रथाओं का विधान मे और भी अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध हो जाता है।

प्रचलन और प्रथा—प्रचलन और प्रथाएँ यद्यपि एक तो नहीं है फिर भी इनका परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध तो किसी एक सीमा तक है ही और वह भी इनके एकाकार होने के नाते नहीं वरन् एक के दूसरे के लिए स्थान बनाने के सम्बन्ध मे। ज्यों ज्यों प्रथाओं का ह्रास होता जाता है उनकी ढहती हुई प्राचीरों पर प्रचलन अपना स्थान बनाते चले जाते हैं। यदि प्रथाओं को 'अपने पूर्वजों का अनुकरण' मान लिया जाये तो प्रचलन को 'अपने समकालीन महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों अथवा नेताओं का अनुकरण' कहा जा सकता है। प्रचलन यद्यपि समाज द्वारा अथवा समाज की बहुसंख्या द्वारा स्वीकृत रीति-नीति ही होती है तथापि उसमें प्रथाओं की भाँति बहुत समय तक न रहे होने के कारण गुरुत्व नहीं होता है। प्रचलन ही समय पाकर तथा अधिक जन-सम्मत होकर प्रथाओं का रूप धारण कर लेते हैं। कहीं कहीं तो प्रचलन प्रथाओं का विरोध न करके उनकी सहायता ही करते हैं। यह हो सकता है कि धीरे धीरे ये प्रथाओं का स्थान स्वयं ही ले लें और फिर स्वयं प्रथाएँ ही बन जायें। इस प्रकार का चक्र तो चलता ही रहता है। प्रचलन परम्परागत होते हैं और प्रचलन परम्पराओं को तोड़ने के लिए प्रयत्नशील अर्थात् प्रगतिशील होते हैं।

परम्परा और आचार किसी एक सीमा तक प्रथाओं के ही अन्तर्गत आते हैं क्योंकि ये उन्हीं व्यवहारादि की ओर संकेत करते हैं जो कि प्रथाओं के रूप में जन-सम्मत होते ही हैं। ये एक विशेष प्रकार की मनोवृत्ति की सूचना देते हैं, उसी के परिचायक होते हैं। प्रचलन एक दूसरी प्रगतिशील सामाजिक मनोवृत्ति की अग्रिम सूचना देने लगते हैं, उसके परिचायक का कार्य करने लगते हैं। इनकी अभिव्यक्ति व्यक्ति के वस्त्राभूषण, बोलचाल, कला, साहित्य तथा अन्य सभी प्रकार के व्यवहारों में होती रहती है।

प्रचलन की समाज में आवश्यकता—प्रचलन समाज में एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण कार्य करता है। वस्तुतः मानव में नवीनता, मौलिकता और प्रगति की प्रबल चाह होती है किन्तु साथ ही साथ पुरातन से उसका घना स्नेह होता है और वह सहज ही नवीन की ओर बढ़ भी तो नहीं पाता है। यद्यपि ये दोनों ही माँगें मानव की मौलिक माँगें हैं किन्तु हैं

परस्पर विरोधी। इन विरोधी तथा मौलिक माँगों को एक ही साथ प्रचलन के रूप में कुछ न कुछ अभिव्यक्ति तो मिलती है और समाज में इन दोनों ही प्रकार की माँगों को कुछ न कुछ प्रचलन द्वारा सन्तुष्ट किया जाता है। प्रथाएँ व्यक्ति को पुरातन के साथ बाँधे रहती हैं। यद्यपि व्यक्ति इस प्रकार बँधा रहना तो चाहता है किन्तु साथ ही साथ अपनी प्रगति की, नवीनता की चाह को भी पूरा करना चाहता है। ऐसी दशा में वेश-भूषा, बोलचाल, व्यवहार आदि के पुरातन नियमों अथवा प्रथाओं में थोड़ा-सा हेर-फेर करके, थोड़ा-सा संशोधन, परिवर्तनादि करके मानव उसे प्रचलन के रूप में प्रयोग में ला सकता है। इस तनिक से परिवर्तन की ओर प्रथा के गहरे और कट्टर समर्थकों की दृष्टि जायगी तो और वे उसे श्रेयस्कर भी नहीं मान पायेंगे किन्तु फिर भी वे परिवर्तित रंग-ढंग नवीनता के प्रेमियों का समर्थन पाकर प्रचलन के रूप में चल सकेंगे और इस प्रकार मानव की दोनों ही परस्पर विरोधी माँगों, मानसिक वृत्तियों को किसी एक सीमा तक सन्तुष्ट किया जा सकेगा।

प्रायः प्रचलन का आरम्भ समाज के उच्च वर्ग में होता है और उच्च वर्ग से तात्पर्य यहाँ उन व्यक्तियों से है जो कि बहुत अधिक कार्यव्यस्त नहीं होते हैं तथा जिनके पास अर्थ एवं सुविधाओं की बहुतायत होती है। ये ही समाज के सदस्यों के उच्च जीवन-स्तर का भी मापदण्ड होते हैं।

आधुनिक युग में प्रचलन का क्षेत्र बहुत बढ़ गया है और प्रायः उच्च वर्ग के लोग प्रचलन को लेकर ही अधिकतर अपने व्यवहार, आचार आदि में नवीनता लाने के प्रयत्नों में व्यस्त रहते हैं। प्रचलन के क्षेत्र को विस्तृत करने की दिशा में कुछ एक कारण सक्रिय रहे। फौजी समाज का औद्योगिक समाज में परिवर्तन हो जाना एक ऐसा ही कारण है। ज्यों ज्यों समाज, अधिकार, अनुशासन, एकरूपत्व आदि के बन्धनों को औद्योगीकरण करने के फलस्वरूप ढीला करता गया त्यों त्यों 'प्रचलन' का क्षेत्र, उसकी व्यापकता और महत्त्व बढ़ता गया। औद्योगीकरण, यन्त्रों का आविष्कार, उनकी व्यापकता आदि के कारण साधारणतया वैभव और विश्राम के समय में वृद्धि हुई और प्रचलन के क्षेत्र की वृद्धि में इनका भी हाथ रहा। जीवन-स्तर में उन्नति हुई और इसके कारण भी नवीन वस्तुएँ प्रयोग में आने लगीं और फलस्वरूप वस्तुओं के विभिन्न प्रकार के प्रयोग आदि में भी 'प्रचलन' प्रवेश करने लगे। यातायात के नवीन साधनों के आविष्कार और प्रयोगों ने भी इस दिशा में सहायता की। जिस समाज में विभिन्न अंग-प्रत्यंग होते हैं उसमें भी प्रचलनादि में विभिन्नता आ ही जाती है।

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या प्रचलन केवलमात्र अनुसरण ही है। यदि ऐसा मान लिया जाय तो फिर प्रश्न यह होगा कि यह किसका अनुसरण है और अनुकरणीय वस्तुओं का प्रारम्भ कहाँ से होता है। वस्तुतः प्रचलन का आरम्भ केवलमात्र अनुकरण से ही नहीं होता है। अनुकरण तो साधारणतया प्रचलन को व्यापकता देता है किन्तु प्रचलन का अस्तित्व अनुकरण करने और अनुकरण करनेवालों से पूर्व ही होता है। प्रचलन के नेता भी होते हैं और उनके अनुकरण करने-वाले भी। इस प्रकार के नेता भी वे ही व्यक्ति हो सकते हैं जिनका कि जीवन के किसी क्षेत्र में पर्याप्त प्रभाव हो तथा जिनके पास समय एवं सुविधाओं का अभाव न हो। यद्यपि आर्थिक परिवर्तनादि का भी प्रचलन पर प्रभाव पड़ता है किन्तु इनके द्वारा 'प्रचलनों' की रचना नहीं होती है केवलमात्र उनकी अभिव्यक्ति में सहायता मिल पाती है तथा इनके कारण उनकी व्यापकता कुछ बढ़ जाती है। यों तो धार्मिक मतों में, नैतिक विचारों में तथा सामाजिक जीवन के किसी भी क्षेत्र में आनेवाली क्रान्ति प्रचलनों पर प्रभाव डालती है। प्रथाओं और प्रचलनों का सामाजिक जीवन को बनाये रखने में गहरा हाथ रहता है।

प्रथा और स्वभाव या आदत—प्रथाओं का व्यक्ति के स्वभाव अथवा उसकी आदतों पर बहुत प्रभाव पड़ता है। प्रथा व्यक्ति की आदत का ही सामाजिक रूप है। प्रथाएँ भी तो व्यक्तिगत आदतों के ही आधार पर बनती हैं और जब उन्हें जन-स्वीकृति प्राप्त हो जाती है तो वे प्रथाओं का रूप ग्रहण कर लेता है। जिस किसी भी समाज में कोई व्यापक व्यक्ति-गत स्वभाव अथवा आदत पाई जाती है वहाँ कहीं कहीं उससे मिलती-जुलती अथवा उसी जैसी प्रथा का भी रूप दिखाई देता है। यों तो दोनों ही अन्योन्याश्रित हैं। यद्यपि ये दोनों एक दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्ध रखती हैं फिर भी ये हैं भिन्न भिन्न ही। व्यक्तिगत स्वभाव तो प्रथाओं के आश्रय के बिना भी जीवित रह सकते हैं किन्तु प्रथाएँ जब तक कि समाज के अधिकांश व्यक्तियों के स्वभाव का अंश न बन जायँ, जीवित ही नहीं रह सकती हैं। व्यक्तिगत स्वभाव अथवा आदतें भी तो व्यवहार के वे प्रकार ही हैं जो कि बार बार दोहराये जाने के कारण व्यक्ति की प्रकृति में ही सम्मिलित हो जाते हैं और उन्हें करने के लिए व्यक्ति को सोचना-विचा-रना नहीं पड़ता है वरन् दूसरी ओर उन्हें न करने के लिए यदि वैसी कभी आवश्यकता पड़ ही जाय तो व्यक्ति को अत्यधिक परिश्रम करना पड़ता है। स्वभाव दो प्रकार के होते हैं—एक तो कुछ इतने अधिक हमारे व्यक्तित्व

के साथ घुल-मिलकर एकाकार हो जाते हैं कि उन्हें पृथक् करके देखना ही कठिन हो जाता है। और दूसरी वे आदतें होती हैं जिन्हें कि हम बहुत कुछ संयमित भी रखते हैं।

स्वभाव हमारी बहुत सी उस शक्ति को बचा लेता है जो कि हमें किसी एक प्रकार का व्यवहार करने से पूर्व उसके चयन में व्यय करनी पड़ती है। मोटरकार के चलाने में प्रारम्भिक अवस्था में बहुत कुछ सचेत रहना पड़ता है किन्तु धीरे धीरे वह स्वभाव बन जाता है और फिर न तो उतनी सतर्कता की आवश्यकता होती है और न सोचने-विचारने की ही। इसी प्रकार बुनाई, कढ़ाई, साइकिल चलाने, टाइप करने आदि में भी होता है।

यद्यपि स्वभाव मानव की शक्तियों की बचत करके बहुत कुछ सामाजिक जीवन में सहायता करता है किन्तु दूसरी ओर यह समाज और व्यक्ति की प्रगति के लिए बन्धन का भी कार्य करता है। यही कारण है कि प्रायः एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के स्वभाव की और एक समाज दूसरे समाज में प्रचलित स्वभाव की आलोचना किया करता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि स्वभाव में बहुत शक्ति होती है किन्तु वह शक्ति भी तो असीम नहीं होती है। उसकी भी अपनी सीमाएँ होती हैं। हमारी इच्छा हमारे स्वभाव के लिए अंकुश का कार्य करती है। कुछ एक आदतों की आधारशिला हमारी भावनाएँ भी होती हैं।

सामाजिक संगठन में प्रथा और स्वभाव—यद्यपि प्रथा और स्वभाव में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। ये अन्योन्याश्रित भी हैं किन्तु फिर भी इनकी परिभाषा क्रमशः सामाजिक स्वभाव और व्यक्तिगत स्वभाव कह कर नहीं की जा सकती है क्योंकि ये दोनों एक ही नहीं हैं। इनके बीच मौलिक अन्तर यह है कि इनमें से एक समाज-स्वीकृत है और दूसरे के लिए उस प्रकार की स्वीकृति की आवश्यकता ही नहीं पड़ती है। स्वभाव मूलतः व्यक्तिगत होता है जब कि प्रथा सामाजिक। सामाजिक सम्बन्धों को लेकर ही कोई प्रथा जीवित रह सकती है। स्वभाव एकबारगी व्यक्तिगत होने के कारण भीतर ही रहता है। प्रथा के लिए बाह्य स्वीकृति की आवश्यकता होती है किन्तु आदत के लिए किसी प्रकार की बाह्य स्वीकृति की आवश्यकता नहीं होती है। प्रथा का सम्बन्ध समाज अथवा समूह से होता है इसीलिए तो समाज अथवा समूह उसकी रक्षा करने के लिए भी सचेष्ट एवं प्रयत्नशील रहता है। भिन्न होते हुए भी इनमें परस्पर कारण एवं कार्य का सम्बन्ध रहता है। अधिकतर प्रथाओं के आधार पर ही शिक्षा आदि

के माध्यम से व्यक्ति की आदतों का निर्माण किया जाता है। मानव ग्रहण भी करता है और ग्राह्य वस्तु में परिवर्तन, संशोधनादि भी। किन्तु अधिकतर व्यक्ति के सम्मुख जीवन के वही मार्ग ही तो रहते हैं जो कि उसके समाज की प्रथाओं के अनुरूप होते हैं। अन्य कोई मार्ग न होने के कारण व्यक्ति प्रायः उन्हीं को स्वीकार भी कर लेता है। स्वीकार कर चुकने तथा ग्रहण कर चुकने के पश्चात् उनमें कुछ संशोधन आदि किये जाते हैं। इतना तो सत्य ही है कि प्रायः स्वभाव प्रथाओं से पूर्व ही समाज में अपने पैर जमाने लगता है। फिर भी उसे भी तो प्रथाओं द्वारा ही दिशा-संकेत मिलता है। इससे इतना तो निश्चित ही हो जाता है कि सभी प्रकार के सामाजिक सम्बन्धों आदि को समझ पाने के लिए अथवा किसी भी प्रकार से सामाजिक विषय-वस्तु को जान, समझ पाने के लिए व्यक्तियों तथा सामाजिक प्रथाओं एवं संस्थाओं के बाह्य एवं आन्तरिक धरातलों को, उनकी माँगों आदि को पूरी तरह समझ लेना चाहिए क्योंकि इन्हीं सबको लेकर सामाजिक विषय-वस्तु का निर्माण होता है।

व्यक्ति और रूढ़ियों की सत्ता वस्तुतः वर्तमान समाज के मानव के सम्मुख कुछ ऐसी समस्याएँ उपस्थित हो गई हैं जिनका कि हल उसे खोजना ही पड़ता है यद्यपि खोज पाना कुछ उतना सरल नहीं है। व्यक्ति की प्रगति की ओर बढ़ती हुई इच्छाओं तथा उसके समाज में स्थित रूढ़ियों के बीच के अन्तर ने जटिल समाज में तो और भी अधिक भयंकर रूप धारण कर लिया है। प्रथम तो व्यक्ति रूढ़ियों को बाल्यकाल में स्वीकार कर लेता है, ग्रहण कर लेता है किन्तु सदासर्वदा उन्हें बिना कोई प्रश्न किये, बिना ननुनच किये मानता ही चला जाता हो ऐसी बात नहीं है। कभी कभी तो बड़े हो जाने पर उसे अपनी रूढ़ियों को स्वीकार कर लेने पर विशेष प्रसन्नता नहीं होती है। और वह उन्हें विवेक-बुद्धि के तराजू पर तौलने की चेष्टा करने लगता है। प्रारम्भ में तो उसे रूढ़ियाँ दैवी विधान-सी पावन और पूर्ण जान पड़ती हैं किन्तु ज्यों ज्यों वह परिवार, समूह, परम्पराओं आदि के क्षेत्र से निकल कर तनिक बाहरी संसार की ज्योति से परिचय पाता है त्यों ही उसे अपनी रूढ़ियों को शान्त भाव से ग्रहण करना आश्चर्यजनक और अनुचित-सा जान पड़ने लगता है। रूढ़ियों को मान कर चलने का स्वभाव तथा उनके प्रति अविश्वास, इस विरोधाभास को लेकर ही व्यक्ति आज के समाज में खड़ा रहता है।

आज के समाज के व्यक्ति के सम्मुख नियमादि भी अनेक होते हैं और उनकी स्वीकृति के धरातल भी विविध प्रकार के होते हैं अतः उसके लिए

उनमें से एक उपयुक्त नियम अथवा उसके धरातल का चयन कर पाना न तो उतना सरल ही होता है और न सुखद ही। परिणामस्वरूप आधुनिक युग में ही सम्भवतः मानव सबसे अधिक मानसिक दृष्टि से असन्तुलित जीवन-यापन करता है और अधिकांश मानसिक असमीकरण के उदाहरण भी इसी युग में मिलते हैं। फिर भी अधिकांश व्यक्ति आज के युग में भी नियमों को मान कर ही चलते हैं। यद्यपि जो उन्हें मान कर चलते हैं वे भी कभी कभी मन ही मन उनके प्रति अश्रद्धा, अविश्वास एवं विद्रोह का अनुभव भी करते ही हैं। फिर भी व्यक्ति धीरे धीरे अपने आस-पास के सभी नियम आदि में से चुन कर अपने लिए कुछ नियमों का समूह खोज लेता है और यह समूह ही उसके व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति के लिए अवसर उपस्थित करता है। व्यक्ति को इस प्रकार अपने लिए नियम आदि का चयन करने की स्वाधीनता तो होती ही है। यद्यपि ऐसी स्वाधीनता साधारणतया प्रगतिशील, सामाजिक वातावरण में ही चल पाती है।

सामाजिक नियम यद्यपि जन-स्वीकृत होते हैं किन्तु वे आचार का आदर्श हो ऐसी बात नहीं है। वे तो दैनिक काम काज में सुविधा लाने के लिए ही बनाये जाते हैं यद्यपि उनका आधार समष्टिगत जीवन की आवश्यकताएँ तथा परम्पराएँ दोनों ही होते हैं। यद्यपि सामाजिक नियमों के आधार पर ही व्यक्ति अपने व्यवहारादि के लिए नियमादि चुनते हैं किन्तु व्यक्ति के मूल्यांकन का ढंग समाज के ढंग से भिन्न भी हो सकता है। व्यक्ति के निजी दृङ्ग पर स्वीकृत नियमों में उसके व्यक्तिगत हित की, स्वार्थ की छाया भी हो सकती है जो कि सामाजिक नियमों से किसी एक सीमा तक विरोध भी रख सकती है। और इस प्रकार के नियमों में विरोधाभास भी हो सकता है क्योंकि एक ही अवस्था में उसके सम्मुख दो या अधिक भिन्न भिन्न नियम भी खड़े हो सकते हैं और उनमें से किसी एक को चुनने में अपने आपको असमर्थ पाकर व्यक्ति किंकर्तव्य विमूढ़ भी हो सकता है। व्यक्ति और समाज के बीच में अन्य प्रकार के विरोध भी हो सकते हैं। फलस्वरूप कभी कभी व्यक्ति इन अन्तर्द्वन्द्वों में पड़कर भयंकर मानसिक कष्ट भोगने के लिए भी विवश हो जाता है। इस प्रकार के विरोधों का कारण समाज की ओर से व्यक्ति पर पड़नेवाला दबाव ही होता है। सामाजिक दबाव व्यक्ति पर कई प्रकार से पड़ता है, उदाहरणार्थ वर्गभेद के कारण पड़नेवाला दबाव। कुछ एक वर्गों को अन्य वर्गों से अधिक सुविधा-प्राप्त स्वीकार किया जाता है। इस प्रकार के वर्गीकरण के कारण कुछ भी रहे हों किन्तु उनका प्रभाव यह अवश्य होता है कि

अधिक सुविधा-प्राप्त समूह अथवा वर्ग, न्यून सुविधा-प्राप्त वर्ग पर प्रभुत्व जमाने की चेष्टा करता रहता है। दूसरे प्रकार का सामाजिक दबाव समूह का अथवा समूह में सत्ताधारियों का अन्य सदस्यों पर डाला जाने वाला दबाव होता है। समाज द्वारा इस प्रकार सत्ता के प्रदर्शन की समूह के व्यापक हित की दृष्टि से उतनी अधिक आवश्यकता होती भी नहीं है फिर भी प्रायः सभी समूहों में यह मनोवृत्ति अवश्य ही पाई जाती है और इसी के आधार पर समूह की सत्ता का भवन खड़ा किया जाता है। इनके अतिरिक्त सामाजिक संस्थाओं का भी व्यक्तियों पर पर्याप्त प्रभाव होता है।

मानसिक संघर्ष, अनिवार्य—प्रायः सभी प्रकार की सामाजिक अवस्थाएँ एवं परिस्थितियाँ एक ही व्यक्ति पर आश्रित नहीं होती है और न एक ही व्यक्ति को प्रभावित करती हैं। वस्तुतः सभी व्यक्ति अथवा उस समूह के सदस्य मिल-जुलकर उनसे प्रभावित होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को आपस में भी समीकरण स्थापित करना होता है और उस व्यापक साधारण सामाजिक स्थिति अथवा अवस्था के साथ भी। अब खींचातानी वहाँ पर होती है जहाँ पर कि व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को और साथ ही साथ अपने निजत्व को भी बनाये रखना चाहता है। उसे साधारण स्थिति के लिए आवश्यक साधारण एवं व्यापक नियमों का पालन भी करना पड़ता है। जहाँ कहीं भी व्यक्ति के व्यक्तित्व को सामाजिक अधिकार एवं सत्ता के नाम पर दबाया जाता है वहाँ मानसिक संघर्ष अनिवार्य सा ही हो जाता है। क्रान्ति, असन्तुलित व्यक्तित्व, असामाजिक मनोवृत्ति, अस्वाभाविक व्यक्तित्व आदि इसी प्रकार के मानसिक संघर्षों के ही परिणाम होते हैं। इन्हीं में पड़ कर व्यक्ति कल्पना में एक ऐसे समाज को देखने लगता है जो अव्यावहारिक भले ही हो, आदर्श होता है। वस्तुतः सामाजिक नियम तो अधिकाधिक समाज की व्यापक माँगों की ही पूर्ति की चेष्टा कर सकते हैं किन्तु वे सभी परिस्थितियों की तो कल्पना भी नहीं कर सकते हैं और कर पायें भी, तो भी सब प्रकार की परिस्थितियों एवं अवस्थाओं में उदित होने वाली माँगों की पूर्ति कर सकने वाले नियमों की तो सृष्टि कर भी नहीं सकते हैं अतः सामाजिक नियम व्यक्ति के सम्पूर्ण सामाजिक व्यवहार, आचार का पूर्ण नियन्त्रण नहीं कर सकते हैं। अतः सामाजिक नियम विधान (Social code) और व्यक्तिगत निर्णय में सामञ्जस्य स्थापित करने की चेष्टा करनी चाहिए। व्यक्ति के निर्णय की चर्चा करने से तो उसकी नैतिक स्वाधीनता की बात भी उठानी ही पड़ेगी अतः सामाजिक ढाँचे को बनाये रखने के लिए यह तो आवश्यक ही है कि व्यक्ति सामाजिक नियम

विधान को मानकर, उस पर श्रद्धा एवं विश्वास रख कर चले किन्तु यह भी आवश्यक है कि उस श्रद्धा और विश्वास को उपयुक्त नींव देने के लिए उसे नैतिक स्वाधीनता और व्यक्तिगत निर्णय की सुविधाएँ तथा अवसर भी दिये जायँ और सम्भवत: ऐसा कर पाने के लिए उसे सामाजिक ढाँचे के प्रमुख रूपों और भागों से भी सहायता ही मिलेगी क्योंकि व्यक्ति तो बहुत कुछ 'श्रेय' और 'उचित' सम्बन्धी विचार, तत्सम्बन्धी धारणाएँ अपने सामाजिक वातावरण से ही प्राप्त करता है। उसका सामाजिक अथवा सांस्कृतिक वातावरण उसे उन सामाजिक संस्थाओं अथवा समूहों से ही तो मिलता है जो कि उसके आस-पास स्थित होती हैं और जिनके बीच वह पलता, बड़ा होता है अत: व्यक्ति की सामाजिकता, उसकी सामाजिक धारणाओं आदि के लिए तो सामाजिक ढाँचा उत्तरदायी है ही, उसके व्यक्तिगत नैतिक विश्वासादि के लिए भी किसी एक सीमा तक उसका सामाजिक वातावरण ही उत्तरदायी होता है और सामाजिक वातावरण समाज के ढाँचे में ही तो पाया जाता है।

सामाजिक ढाँचा और उसकी प्रगतिशीलता—यह तो हम देख ही चुके हैं कि सम्पूर्ण सामाजिक ढाँचे अर्थात समाज को समझ पाने के लिए उसे दो भागों में बाँटा जा सकता है। इनमें से एक को मानसिक कहा जा सकता है जिसमें कि वे सभी शक्तियाँ सम्मिलित की जा सकती हैं जिनके आधार पर सामाजिक ढाँचा बना रहता है और दूसरे को संगठन व्यवस्था कहा जा सकता है। दूसरे भाग में उन सभी समूहों एवं संस्थाओं को सम्मिलित किया जा सकता है जिनसे मिल कर सामाजिक ढाँचा बनता है। मानसिक पक्ष में विचारधाराएँ, धारणाएँ आदि रहती हैं और संगठन व्यवस्था में वे सब सामाजिक सम्बन्ध रखते हैं जिनके माध्यम से मानव अपना सामाजिक जीवन-यापन करता है, कार्य-व्यवहार करता है और समाज में बना रहता है तथा उसे बनाये रखता है। प्रमुख संगठन व्यवस्थाओं के अन्तर्गत बहुत-सी अपेक्षाकृत न्यून महत्त्वशाली व्यवस्थाएँ कार्य करती रहती हैं। इन सबको भी सामाजिक ढाँचे के संगठन पक्ष में सम्मिलित किया जाना चाहिए। इन्हीं में परिवार, धार्मिक मत, व्यापार आदि से सम्बन्धित संस्थाओं को भी सम्मिलित किया जाता है। प्राय: ये सब ही व्यवस्थाएँ अन्योन्याश्रित हैं। इस प्रकार से प्रमुख सामाजिक व्यवस्थाओं का परस्पर गथे-मिले होना, अन्योन्याश्रित होना एवं अन्य गौण तथा अपेक्षाकृत न्यून महत्त्वपूर्ण सामाजिक व्यवस्थाओं का भी प्रमुख व्यवस्थाओं पर आश्रित होना सामाजिक जीवन का एक व्यापक नियम है।

सामाजिक संबद्धता—सामाजिक ढाँचे के निर्माण के लिए जिन मानसिक अथवा अन्य तत्त्वों की आवश्यकता होती है उनको ठीक-ठीक ढंग से समझ पाने के लिए उनके लक्ष्य तथा रूप को पृथक्-पृथक् समझ लेना चाहिए। प्रायः विभिन्न समाजों में उद्देश्य अथवा लक्ष्य तो प्रायः एक ही सा होता है किन्तु कार्यों का रूप अथवा उस उद्देश्य की पूर्ति अथवा लक्ष्य की प्राप्ति के साधनस्वरूप क्रियाओं के रूप भिन्न भिन्न होते हैं। उदाहरण-स्वरूप प्रायः प्रत्येक समूह अथवा समाज में एक व्यक्ति के दूसरे से मिलने पर सद्भाव की अभिव्यक्तिस्वरूप प्रणाम अथवा कुछ करने की प्रथा होती ही है। मित्रता अथवा सद्भाव दर्शाना यह उद्देश्य उन सभी क्रियाओं के पीछे निहित होता है किन्तु देश, काल और पात्र के अनुसार इन क्रियाओं में भिन्नता होती है। भारतवर्ष के अधिकांश समूहों में दोनों हाथ जोड़कर तथा 'नमस्ते', 'जय राम जी की', 'जय शिव' आदि कह कर इस क्रिया को किया जाता है। लगभग एक शताब्दी पूर्व पश्चिम के देशों के समूहों में हैट उतार कर और आज दिन पश्चिम के देशों तथा अमरीका में दाहिना हाथ दूसरे व्यक्ति के दाहिने हाथ से मिला कर तथा 'शुभ प्रात', 'शुभ मध्याह्न' आदि कह कर इस क्रिया को सम्पन्न किया जाता है। इसी प्रकार अन्य समूहों में इस क्रिया के अन्य रूप पाये जाते हैं। उद्देश्य एक ही होते हुए भी एक समूह में प्रचलित इस क्रिया के एक रूप को यदि दूसरे समूह के व्यक्तियों के साथ व्यवहार में लाया जाय तो प्रभाव बुरा भी हो सकता है। अतः क्रिया के मूल्यांकन-सम्बन्धी निर्णय स्थानीय ही होते हैं क्योंकि किसी भी एक क्रिया को अपने समूह में ही एक विशेष प्रकार की पृष्ठ भूमिका, एक विशेष ढंग का धरातल प्राप्त होता है और उसके बीच ही उस क्रिया का ठीक ठीक मूल्यांकन किया जा सकता है अतः प्रायः सामाजिक ढाँचे से सम्बन्धी तत्वों का मूल्यांकन व्यावहारिक क्रियाओं के साथ ही किया जाता है। इन्हें 'मूल्य-सम्बन्धी निर्णय' (va'uc judgments) कहा जा सकता है और ये देश, काल पात्र आदि के अनुसार परिवर्तित रूप में दिखाई देते हैं तथा परिवर्तित होते भी रहते हैं। किसी एक समूह में भी ये समय समय पर परिवर्तित होते रहते हैं। प्रायः सुधारक, नैतिक और राजनीतिक नेता आदि इन्हीं मूल्य-सम्बन्धी निर्णयों के आधार पर अपने सिद्धान्त बनाते हैं और उनका प्रसार तथा प्रचार करते हैं। वस्तुतः, सामाजिक सुधारों की दिशा में जब भी पग बढ़ाया जाता है अधिकतर ध्यान लक्ष्य की अपेक्षा रूप की ओर ही अधिक रहता है। फलस्वरूप परिणाम आशाजनक नहीं

होता है। अतः सामाजिक ढाँचे-सम्बन्धी तत्त्वों का अध्ययन और उनका मूल्यांकन 'लक्ष्य' के 'श्रेयत्व' एवं औचित्य के आधार पर न करके किया जाना चाहिए उनके क्रियात्मक स्वरूप और उसके प्रभावों को देखते हुए। किसी भी अवस्था में हमें यह विस्मरण नहीं कर देना चाहिए कि सामाजिक ढाँचे के तत्त्व परस्पर तथा अन्य सामाजिक तत्त्वों के साथ संबद्ध ही होते हैं अतः सामाजिक संबद्धता को समाज-शास्त्र के किसी भी अंश का अध्ययन करते समय ध्यान में रखना आवश्यक है।

सामाजिक जीवन और समूह—समाज अथवा समूह में मानवों की अधिक संख्या का होना आवश्यक होता है। समूह के सदस्यों के कर्म आदि आपसी व्यवहार के द्वारा कुछ ऐसे रूप में संगठित होते हैं जिससे कर्म की एक ऐसी प्रक्रिया अथवा व्यवस्था स्थापित हो जाती है जिसका कि किसी अन्य उपाय से स्थापित होना असम्भव होता है।

यद्यपि समाज अथवा समूह के अनेकानेक प्रकार होते हैं किन्तु उनमें कुछ तो व्यापक तत्त्व भी होते हैं। इस प्रकार के व्यापक तत्त्वों में व्यक्तियों की बहुसंख्या के अतिरिक्त परस्पर संवादवहन, व्यापकत्व तथा सकारण ऐसी अन्तःक्रियाओं का होना जिनके परिणामस्वरूप कर्म की प्रक्रियाओं को व्यापक व्यवस्था आदि जम सके, को भी सम्मिलित किया जा सकता है।

किसी एक ही समाज में भी विभिन्न समूह हो सकते हैं। एक से हितों, परिस्थितियों अथवा अवस्थाओं के आधार पर समूह का संगठन हो सकता है। किन्तु प्रधानतः किसी भी समाज की स्थिति का आधार 'पारस्परिक संवादवहन' कर पाना ही होता है। जहाँ एक व्यक्ति अपने विचार, अपनी बात दूसरे तक पहुँचा पाता है वहीं तो सामाजिक तत्त्वों का जन्म होता है। संवादवहन समाचार-पत्रों, डाक, तार, नाटक, चित्रपट, वाद-विवाद आदि के द्वारा तो होता ही है, सभा-समितियों की बैठकों, भाषणों आदि के द्वारा भी होता है। संवादवहन यदि संगठित रूप में किया जाय तो यह आवश्यक है कि वह समूह-विशेष के सभी सदस्यों तक पहुँचाया जा सके और इस प्रकार के संवादवहन के क्षेत्र में जितने भी व्यक्ति लाये जाते हैं अथवा आ सकते हैं उन्हें उस समूह में सम्मिलित किया जा सकता है। 'संवाद-वहन' प्रत्यक्ष एवं परोक्ष दोनों ही प्रकार से हो सकता है। वक्ता अथवा विचारदाता स्वयं ही सभी सदस्यों तक अपने विचारों को पहुँचाने का कार्य कर सकता है और यह प्रत्यक्ष संवादवहन होगा किन्तु आधुनिक युग में, इन जटिल तथा विशाल समूहों में ऐसा कर पाना असम्भव नहीं तो

कठिन अवश्य ही होता है। ऐसी अवस्था में नेता प्रत्यक्ष रूप से कुछ ही व्यक्तियों तक अपने विचार पहुँचाता है और वे उन्हें अन्य व्यक्तियों तक पहुँचाते हैं। रेडियो आदि यन्त्रों का आश्रय भी लिया जाता है। यह तो निश्चित ही है कि किसी भी समाज में प्रत्येक सदस्य तक संवाद पहुँचाना अत्यन्त आवश्यक माना जाता है और सामाजिक जीवन का आधार होता है समाज अथवा समाज में स्थित समूह। समूह के लिए यह भी आवश्यक है कि उसके सभी सदस्य किसी एक सिद्धान्त, उद्देश्य अथवा लक्ष्य को लेकर एकमत हों। प्रायः समाज के सभी सदस्यों में किसी एक सीमा तक एक-सी केन्द्राय भावना, एक-सा लक्ष्य और विचार-मतैक्य भी होता ही है अतः उनमें परस्पर एक से विचार होने के कारण सहानुभूति भी हो ही जाती है। यह सब होते हुए भी सब ही संगठित समाजों अथवा समूहों में विविधता भी होती है और प्रायः इसका आधार होता है श्रम-विभाजन।

सामुदायिक जीवन अथवा सामूहिक जीवन में यद्यपि कार्य की एकता होती है किन्तु ऐसा होना तब ही सम्भव होता है जब कि कार्य की प्रेरणा किसी एक व्यापक हित अथवा व्यापक लक्ष्य से मिलती है और उसी प्रेरणा को लेकर बहुसंख्यक कर्म अथवा सामूहिक ढंग से कार्य किया जाये। यद्यपि व्यापक प्रेरणा भी एक संवाद के ही रूप में समाज के सभी सदस्यों तक पहुँचाई जाती है। सभी प्रकार के आन्दोलनों एवं क्रान्तियों का भी प्रारम्भ इसी प्रकार की व्यापक प्रेरणा के सफल संवादवहन द्वारा ही होता है। 'संवादवहन' का उपयोग भी तब ही होता है जब कि सदस्यों में परस्पर सहानुभूति की भावना उत्पन्न की जा चुकी हो। प्रायः अतीत गौरव इस प्रकार के उद्देश्य की सफलता में सहायक होता है।

सामूहिक चेतना तथा शक्ति व्यापक चिह्नों, आदर्शों तथा परम्परागत पूज्य स्थानों, तीर्थ आदि के द्वारा बढ़ाई जा सकती है और सामूहिक चेतना एवं शक्ति द्वारा सामाजिक कार्य किये जाते हैं। इस प्रकार के कार्य दो भागों में बाँटे जा सकते हैं। कुछ सामाजिक कार्य तो सामाजिक ढाँचे को दृढ़ करने वाले तथा उसका विकास एवं उन्नति करने वाले होते हैं और अन्य कुछ कार्य ऐसे भी होते हैं जो कि उसके कर्तव्यों की पूर्ति करने वाले होते हैं। उदाहरणार्थ किसी भी विद्यालय में अध्यापकों की नियुक्ति उनका कार्य-विभाजन आदि पहले ढंग का कार्य है और कक्षा में जाकर अध्यापन कार्य करना दूसरे ढंग का कार्य है। समाज में इन दोनों ही प्रकार के कार्यों की आवश्यकता पड़ती है। वस्तुतः दोनों ही प्रकार के कार्यों पर ध्यान देना चाहिए किन्तु कभी कभी किसी किसी समूह में

रहने ढग के कार्यों पर ही सारी शक्ति एवं सुविधाओं को व्यय कर दिया जाता है।

सामूहिक जीवन के लिए सामूहिक एकता की अत्यधिक आवश्यकता है और अन्तःसम्बन्धों की एकता ही सामूहिक एकता को बनाये रखती है।

समाज और सामाजिक प्रक्रिया—वस्तुतः समाज का आधार है व्यक्तियों के अन्तःसम्बन्ध और इन अन्तःसम्बन्धों के कारणस्वरूप तथा फल स्वरूप अन्तःक्रियाएँ दिखाई देती है। मानव की परस्पर सम्बन्धित सभी क्रियाओं के कुल टोटल को मानव का सामाजिक जीवन कहा जा सकता है। इसी परस्पर गुँथी-मिली अन्योन्याश्रित मानव-क्रियाओं के सम्पूर्ण रूप को सामाजिक प्रक्रिया कहा जा सकता है। एक ओर तो किसी भी जीवित समाज का परिवर्तित होते रहना तथा क्रिया संलग्न होना आवश्यक होता है और दूसरी ओर समाज निरन्तर विकसित भी तो होता रहता है, अतः सामाजिक ढाँचे से सम्बन्धित तथ्यों को सामाजिक प्रक्रिया कहना उचित ही है।

साम्यावस्था—वस्तुतः उसी समाज को उत्तम और आदर्श माना जा सकता है जिसमें कि प्रत्येक ऐसा तत्त्व जो कि सामाजिक ढाँचे से सम्बन्धित हो, कार्य की दृष्टि से ऐसे अन्य सभी तत्त्वों के साथ पूर्णतया साम्य सम्बन्ध रखता हो तथा इन सबको लिये-दिये समाज पूर्णरूपेण सन्तुलित हो। आदर्श की दृष्टि से तो इस सिद्धान्त का स्वागत किया जाता है और किया जाना चाहिए भी। किन्तु क्रियात्मक दृष्टि से इसका कोरापन स्पष्ट हो ही जाता है क्योंकि ऐसा समाज कहीं कोई भी दृष्टि-गोचर नहीं होता है। इसका कारण यह है कि ऐसे समाज में सामाजिक ढाँचे के बाह्य तत्त्वों का प्रभाव जो कि समय समय पर आन्तरिक व्यवस्था पर पड़ता ही रहता है ऐसा ही होना चाहिए जो कि अन्य तत्त्वों और उनके कार्यादि के साथ ठीक ठीक बैठ सके। तनिक सा भी कहीं परिवर्तन होने पर उसका प्रभाव समस्त व्यवस्था पर पड़े बिना नहीं रहता है। अतः इस प्रकार के समाज का तो प्रगतिरहित होना अथवा एकतरफी स्थायी हो जाना ही आवश्यक हो जायगा, जो कि किसी भी जीवित समाज के लिए सम्भव नहीं है। उदाहरणार्थ—एक भी अधिक जन्म बिना एक भी अधिक मृत्यु को किस प्रकार ठीक बैठाया जायेगा यह जान नहीं पड़ता है। अतः पूर्णतया साम्यावस्था प्राप्त समाज की कल्पना आदर्श भले ही हो सत्य नहीं

हो सकती है। इसका तो यह तात्पर्य हुआ कि प्रायः सभी समाज निरन्तर असाम्यावस्था में ही रहते हैं किन्तु सामाजिक साम्यावस्था का प्रयोग उस मापदण्ड की भाँति किया जा सकता है जिससे कि यह मापा जा सके कि कहाँ तक किसी एक समाज में उसके विभिन्न सामाजिक ढाँचे से सम्बन्धित तत्त्व अथवा सम्पूर्ण सामाजिक ढाँचा ही कार्य करने की सम्भावना और तत्सम्बन्धी अवसर एवं सुविधाएँ उपस्थित कर सकते हैं। वस्तुतः साम्यावस्था, पूर्ण सन्तुलित अवस्था तो वह लक्ष्य है जिस तक पहुँच पाने के प्रयत्न प्रायः सब ही समाज करते रहते हैं। सामाजिक अनुकूल्य की समस्त क्रियाएँ इसी लक्ष्य की ओर बढ़ाने के उद्देश्य से की जाती हैं। यों तो साधारणतया यह माना जाता है कि परिवर्तन सामाजिक ढाँचे की कार्य-सम्बन्धी कुशलता को छिन्न भिन्न कर देते हैं किन्तु सत्य तो यह है कि इन्हीं आनुकूल्य की ओर बढ़ानेवाले परिवर्तनों के फलस्वरूप एक व्यवस्था-विशेष में अधिक कुशल साम्यावस्था की स्थापना भी की जाती है, भले ही उसका परिणाम किसी अन्य व्यवस्था अथवा समस्त समाज में किसी एक प्रकार की असाम्यावस्था को जन्म देना ही हो।

यद्यपि वर्तमान समाजों में इस प्रकार के सामाजिक अंकुशों का प्रयोग में लाना प्रचलित हो गया है जिनके द्वारा बाह्य वातावरण में होनेवाले परिवर्तनों के प्रभावों को समाज पर न पड़ने दिया जाय अथवा उनके द्वारा समाज की साम्यावस्था को यथासम्भव कम नष्ट होने दिया जाय और यह भी किसी एक सीमा तक सत्य है कि वर्तमान काल के प्रायः सभी जाग्रत एवं चेतन समाजों में कुछ इस प्रकार की व्यवस्था की ही गई है जिससे कि उनके सामाजिक ढाँचे एवं प्राकृतिक तत्त्वों में (जैसे कि जलवायु, प्राकृतिक देन आदि) साम्य बनाये रखा जा सके। प्रयत्न तो यहाँ तक किये गये हैं और किसी एक सीमा तक सफल भी हुए हैं कि जन-संख्या को भी नियन्त्रित किया जा सके। पुरातन युग के कृषक की भाँति आज का कृषक वर्षा न होने पर, खेत में विभिन्न प्रकार के कीटाणुओं के आ जाने पर, धरती की उपजाऊ शक्ति न्यून हो जाने पर केवलमात्र भाग्य को कोस कर ही नहीं रह जाता है वरन् उन विपत्तियों का सफलतापूर्वक अपने वैज्ञानिक ज्ञान के आधार पर सामना भी करता है अतः आज के समाजों ने प्राकृतिक परिवर्तनों से आनुकूल्य स्थापित करना, उसका सामना करना और उन पर विजय प्राप्त करना सीख लिया है और ऐसा कर पाने के कुशल एवं सफल उपाय भी खोज लिये हैं ऐसी अवस्था में यदि कहीं समाज प्राकृतिक विपत्तियों पर विजय नहीं प्राप्त कर पाते हैं तो उसका

कारण उनका निरुपाय होना न होकर होता है सामाजिक और संगठन की दृष्टि से अनुदार होना।

यही नहीं, कुछ समाज इस दृष्टि से भी पिछड़े हुए हैं कि वह सामाजिक ढाँचे के एक भाग में होने वाले परिवर्तनों को देखते हुए भी दूसरे भागों में परिवर्तन नहीं ला पाते हैं परिणामस्वरूप उन भागों के परस्पर अन्योन्याश्रित होने के कारण न केवल समाज में अनावश्यक असाम्यावस्था ही उत्पन्न होती है वरन् और भी अनेक प्रकार की कठिनाइयों और झंझटों की उत्पत्ति हो जाती है। प्रायः इस प्रकार के झंझट अनेकों समाजों में इसलिए भी उत्पन्न हो जाते हैं कि आज का युग वैज्ञानिक देनों को लेकर अधिक सम्पन्न हो चला है, मानव के वैज्ञानिक ज्ञान ने उसकी प्रकृति पर अनुपम विजय करा दी है और इस प्रकार वह बहुत कुछ प्रकृति के उन रहस्यों के विषय में जानने-समझने लगा है जो कि आज दिन तक रहस्य मात्र ही थे। यही नहीं, वे ही रहस्य मानव को धार्मिक मतादि के माध्यम से प्रकृति से भय और प्रीति करना तथा उसकी उपासना सिखाते थे। आज जब कि वे रहस्य मानव के निकट रहस्य रह ही नहीं गये हैं तो उनका जादू भी उतर गया है और वह उन्हें पूजनीय मानने को तत्पर नहीं है। ऐसी अवस्था में एक ओर तो मानव का वैज्ञानिक ज्ञान और उसके वरदान-स्वरूप उत्पन्न हुए विचार हैं और दूसरी ओर उसके वैज्ञानिक युग से पूर्व के विश्वास, परम्परागत मतादि हैं। इन दोनों के बीच संघर्ष होना अनिवार्य ही है। यद्यपि मानव ने नवीन वैज्ञानिक आविष्कारों से पूर्ण वातावरण में आनुकूल्य स्थापित करने के प्रयत्न किये हैं फिर भी उसने जितनी अधिक सफलता वैज्ञानिक आविष्कारों और उनके द्वारा मानव के भौतिक, लौकिक जीवन की सुविधाओं को बढ़ाने की दिशा में पाई है उतनी अधिक सफलता उसे मानव की हित-सम्बन्धी विचार-धाराओं, संगठन व्यवस्थाओं आदि को परिवर्तित करने की दिशा में नहीं मिल पाई है।

इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि आधुनिक समाजों में परिवर्तन कुछ अधिक मात्रा में ही होते रहते हैं। यद्यपि उन परिवर्तनों का वैज्ञानिक आविष्कारों-सम्बन्धी पहलू इतना हानिकर नहीं है जितना कि मानव के विचारों में होनेवाले परिवर्तन। उदाहरणार्थ—सम्भवतः मानव की सभ्यता और संस्कृति को उतना अधिक भय अणुबम के आविष्कार के हो जाने से नहीं है जितना कि राजनीतिक संगठनों में जातीयता की अनुदार भावना के आ जाने से। अणुबम किसी भी समाज को उस समय तक हानि नहीं पहुँचा सकता है जब तक कि मानव अपनी द्वेष-वृत्ति अथवा प्रतिहिंसा की

भावना अथवा केवल मात्र सत्ता एवं स्वार्थ की भावना को लेकर उसका प्रयोग न करें किन्तु उसका प्रयोग मानव में जातीयता की संकुचित एवं अनुदार भावना को करवा ही सकती है।

प्रगतिशील असाम्यावस्था—असाम्यावस्था भी प्रगतिशील ही होती है। यद्यपि समाज साम्यावस्था की ओर बढ़ते जाने की इच्छा करता है और इसी उद्देश्य से वह नवीन परिस्थितियों से आनुकूल्य स्थापित कर लेने के लिए प्रयत्नवान् रहता है किन्तु एक प्रकार से साम्यावस्था स्थापित हो जाने पर भी समाज की गतिशीलता समाप्त तो हो नहीं जाती है अर्थात् फिर कोई अन्य आविष्कार आदि होते हैं और परिणाम स्वरूप फिर परिवर्तन होते हैं अतः फिर आनुकूल्य स्थापित करने की आवश्यकता पड़ जाती है और यही जीवन का चिह्न भी है।

जहाँ भी कहीं परिवर्तनशील अथवा प्रगतिशील सामाजिक ढाँचे की कार्य-सम्बन्धी अन्योन्याश्रित आंशिक व्यवस्थाओं में अत्यधिक शीघ्रता से परिवर्तन होने लगते हैं वहीं प्रगतिशील असाम्यावस्था उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार की व्यवस्था काल पाकर उग्र भी हो सकती है किन्तु इसे प्रगतिशील तो कहना ही पड़ेगा किन्तु जब तक अनुदार तत्त्व एवं विचारधाराएँ अथवा अप्रगतिशील तत्त्व साम्यावस्था की ओर बढ़ने के मार्ग में बाधाएँ भरते ही जायेंगे इस प्रगति को रोक नहीं पायेंगे अथवा स्वयं भी उसकी ओर बढ़ते हुए परिवर्तित होते रहेंगे, तब तक यह आशा तो बनी ही रहेगी कि ये अनुदार तत्त्व कभी न कभी तो उदार एवं प्रगतिशील तत्त्वों के साथ समीकरण तथा आनुकूल्य स्थापित कर ही पायेंगे अतः समाज साम्यावस्था तक पहुँच जायेगा। जब कि ठीक प्रकार से कार्य न कर सकनेवाले तत्त्व भी किसी कारण से बनाए रखे जायेंगे तो उनके फलस्वरूप जिस असाम्यावस्था का जन्म होगा वह अप्रगतिशील ही होगी क्योंकि ऐसी अवस्था में समाज का वही भाग अधिक क्रियाशील होगा जो कि अनुदार एवं आनुकूल्य स्थापित करने के विरुद्ध होगा तथा जो सरलता से किसी भी नई स्थिति से समीकरण स्थापित कर पाने के अयोग्य होगा। किसी भी समाज के लिए अप्रगतिशील असाम्यावस्था अहितकर होती है क्योंकि ऐसी अवस्था में समाज में अशान्ति के चिह्न तो दिखाई देने लगते हैं किन्तु उनकी शान्ति का उपाय दृष्टिगोचर नहीं होता है और ऐसी अवस्था का अहितकर होना तो स्पष्ट ही है। जहाँ परिवर्तन तो है, बाह्य अथवा आन्तरिक कैसे भी क्यों न हो और सामाजिक ढाँचे पर उन परिवर्तनों का प्रभाव पड़ना भी स्वाभाविक और अवश्यम्भावी

है किन्तु उन परिवर्तनों के अनुरूप सामाजिक व्यवस्था एवं सामाजिक ढाँचे को परिवर्तित करने का उपाय नहीं है, वहाँ यह तो स्वाभाविक ही है कि कुछ सदस्य जो कि अन्य अधिक प्रगतिशील सामाजिक व्यवस्थाओं द्वारा प्रभावित होंगे उधर ही आकर्षित हो जायेंगे और ऐसी अवस्था में अप्रगतिशील सामाजिक व्यवस्था एवं ढाँचे का छिन्न-भिन्न हो जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं होगी। मिस्र की महान् सभ्यता, मेसोपोटामिया, यूनान और रोम आदि की विश्वविजयी सभ्यताओं का अन्त इस बात का उदाहरण है।

आज भारतीय सामाजिक ढाँचे की भी अवस्था बहुत कुछ असाम्यावस्था की ही है। विदेशी वैज्ञानिकों के आविष्कारादि ने तथा इस देश के भी कुछ विचारकों ने समाज की पुरातन विचार-धाराओं तथा विश्वासों की नींव को बहुत कुछ हिला दिया है और अब आवश्यकता है नवीन वातावरण से आनुकूल्य स्थापित करने की जो कि अनिवार्य है। जापान ने यद्यपि विश्व के अन्य भागों में होनेवाले परिवर्तनों को किसी एक सीमा तक संशोधित रूप में स्वीकार करना चाहा था किन्तु साथ ही साथ अपने समाज के पुरातन को भी बहुत ही सतर्कता से बचाये रखना चाहा था। इस प्रयत्न के फलस्वरूप जो कुछ वहाँ हुआ वह विश्व के सम्मुख है। इधर चीन के पुरातन सांस्कृतिक एवं अन्य संस्कारों और व्यवस्थाओं में भी इस प्रकार की असाम्यावस्था के चिह्न दिखाई देने लगे थे किन्तु उन्होंने आनुकूल्य स्थापित करने में अपनी योग्यता एवं कुशलता का ही प्रदर्शन किया। अतः चीन की असाम्यावस्था बहुत कुछ प्रगतिशील ही सिद्ध हुई। यह भी हो सकता है कि किसी एक ही समाज के एक अंग में प्रगतिशील असाम्यावस्था दिखाई दे और दूसरे में अप्रगतिशील। यही नहीं ऐसा भी हो सकता है कि काल पाकर अप्रगतिशील साम्यावस्था प्रगतिशील साम्यावस्था में परिवर्तित हो जाये।

प्रायः समाज में कार्य-सम्बन्धी असाम्यावस्था को असंगठन की अवस्था कह दिया जाता है। संगठन किसी एक सीमा तक कार्य-सम्बन्धी साम्यावस्था की स्थापना को ही कह देते हैं। वस्तुतः पूर्ण संगठित समाज तो वही है जिसमें कि कार्य-सम्बन्धी साम्यावस्था दृष्टिगोचर हो।

समूह और संस्था—मानव समाज को विभिन्न भागों में बाँटा जा सकता है। मानव 'बहुसंख्या' इस प्रकार का एक वर्गीकरण है। इसे ही जनसंख्या भी कहा जा सकता है। ये किसी भी प्रकार की बहुसंख्या राशीकरण, वर्गीकरण, समूह बनाने आदि की ओर संकेत कर सकती हैं।

श्रेणी केवल उन्हीं व्यक्तियों की ओर इंगित कर सकती है जो कि किसी एक ही प्रकार की परिस्थितियों में समान अथवा विरोधी गुण एवं तत्त्व लेकर खड़े होते हों। इन्हीं परिस्थितियों में स्थानीय गुण आदि का भी समावेश किया जा सकता है। एक अन्य प्रकार का वर्गीकरण भी किया जा सकता है जिसका कि आधार अन्तःक्रियाएँ होती हैं और उसे समूह कहा जा सकता है। राशीकरण से यह तात्पर्य लिया जा सकता है कि किसी भी मानव-बहुसंख्या के उस अंग को एकत्रित किया जाये जो कि भौगोलिक दृष्टि से एक विशेष स्थिति में हो।

यह तो हमने देख ही लिया कि समूह उस मानव जन-संख्या अथवा बहु-संख्या को कहते हैं जिसमें कि आपस में अथवा वातावरण के प्रति होनेवाली अन्तः क्रियाएँ होती देखी जायें। सामाजिक ढाँचा और समाज में स्थित समूहों से ही तो बनती है। यद्यपि जन-संख्या का समूह होना आवश्यक नहीं है किन्तु समूह जन-संख्या का ही अंग होता है। समूह का अथवा मानव जन संख्या अथवा बहुसंख्या का कोई भी एक स्थायी वर्गीकरण करना असम्भव है क्योंकि वातावरण एवं परिस्थितियों में परिवर्तन होने के फल स्वरूप वर्गीकरण के ढंग में भी परिवर्तन होते रहते हैं और ऐसा होना आवश्यक भी है। फिर भी डॉड के मतानुसार इतना तो मानना ही पड़ता है कि प्रायः सब ही प्रकार के सामूहिक वर्गीकरण का व्यापक तत्त्व अथवा धरातल तो जन-संख्या ही है अतः जन-संख्या का सब ही समूहों में होना अनिवार्य है किन्तु समूहों की विविधता, विभिन्नता के भी आधार-भूत तत्त्व होते हैं और इस प्रकार के तत्त्वों में परिस्थिति सम्बन्धी अथवा उद्देश्य सम्बन्धी चारित्रिक विशेषताएँ सम्मिलित की जा सकती हैं। सामूहिक वर्गीकरण को इयू बंक ने सात भागों में रख कर देखा है। ये हैं रक्त जातीय नृशास्त्रीय (Ethno-anthropological) साधारण सामाजिक (General Social) सांस्कृतिक धरातल पर (Cultural level) ढाँचे-सम्बन्धी (Structural) क्रिया-सम्बन्धी (functional) परस्पर व्यवहार-सम्बन्धी (according to extent of contact) और एकत्व-सम्बन्धी (according to the nature of the uniting bond)

प्रायः समूहों की दृष्टि से निम्नलिखित, 'मानव-बहुसंख्या' को माना जाता है यद्यपि यह वर्गीकरण किसी भी प्रकार से पूर्ण नहीं माना जा सकता है। केन्द्र बिन्दु (monad, dyad, triad), परिवार (family), गिरोह समिति (gang, association), भीड़ (crowd), सभा (audience,

assembly), दल (Party), समुदाय, पड़ोस (Community neighbourhood), ग्राम, नगर, राष्ट्र (Village, City, State), सम्प्रदाय (Sect), जाति (Caste), श्रेणी (Class) आदि। प्रायः इन सब का आधार मूर्त रूप में होने वाली अन्तःक्रियाएँ ही हैं किन्तु मूर्त अन्तःक्रियाएँ ही वर्गीकरण का एकमात्र आधार हों यह भी आवश्यक नहीं है। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे समूहों की भी चर्चा की जा सकती है जिनका आधार मूर्त अन्तःक्रियाएँ नहीं होती हैं, वरन् होते हैं वे तत्त्व जिनका चिन्तन एक साथ किया जाता है जैसे कि बालक (Infants) जन साधारण (Proletariat) अथवा बुद्धिजीवी तथा बौद्धिक वर्ग (Intelligentsia) आदि। पहले प्रकार के समूह 'मूर्त समूह' कहे जा सकते हैं जब कि दूसरे प्रकार के समूह अमूर्त एकत्रीकरण माने जाते हैं। भले ही दूसरे प्रकार के समूहों को तथ्य की दृष्टि से समूह न माना जाये किन्तु वस्तुतः है तो वह भी समूह अथवा मानवबहुसंख्या ही। हम समूह की व्याख्या करते हुए यह तो प्रत्येक अवस्था में कह ही सकते हैं कि समूह का मुख्याधार अन्तःक्रियाएँ ही होती हैं, भले ही वह एक दूसरे व्यक्ति के प्रति हों अथवा व्यक्ति द्वारा वातावरण के प्रति।

समूह के भीतर ही सामाजिक व्यवहार, अन्तःक्रियाओं आदि के कुछ ऐसे प्रतिमान, ऐसे यन्त्र से, ऐसी व्यवस्थाएँ-सी होती हैं जो कि अपनी निजी विशेषताओं द्वारा दूसरों से भिन्न की जा सकती हैं तथा अन्य साधारण सामाजिक व्यवहार-प्रतिमानों, अन्तःक्रियाओं के ढङ्गों की अपेक्षा अधिक स्थायी, व्यापक, एक-सी, स्थिर तथा सरल एवं साधारण होती है। इस प्रकार की व्यवस्थाओं को अथवा समूह में ही स्थित सामाजिक यन्त्रों को 'संस्थाएँ' कहते हैं। वस्तुतः समूह और संस्था दोनों ही सामाजिक 'विषय-वस्तु' हैं। इस सामाजिक प्रमुख तत्त्व, विषय वस्तु अथवा सामग्री (Phenomenon) का ढाँचे-सम्बन्धी अथवा स्थायी पक्ष समूह कहलाता है और प्रगतिशील अथवा क्रियाशील पक्ष संस्था कहलाता है। मानव बहुसंख्या के ही विभिन्न रूपों को मानव राशि, जन-संख्या, समूह अथवा संस्था आदि कहा जाता है। समूह तो वह व्यापक अथवा साधारण कक्ष (Category) है जिसके द्वारा हम उस मानव बहुसंख्या की ओर संकेत करते हैं जिसमें अन्तःक्रियाएँ सम्भव होती हैं। संस्था हम उस समूह को कहते हैं जो कि हमें किसी विशेष प्रकार के व्यवहार प्रतिमान का रूप अथवा ढङ्ग दर्शाता है। चैपिन संस्थाओं को भी दो वर्गों में बाँट कर देखते हैं। उनके मतानुसार एक

प्रकार की संस्थाएँ तो वे होती हैं जो कि अपना निश्चित केन्द्र रखती हैं तथा क्षेत्र विशेष में ही सीमित रहती हैं जैसे कि स्वायत्त-सम्बन्धी संस्थाएँ, स्थानीय राजनीतिक संस्थाएँ, स्थानीय व्यापारिक संस्थाएँ, सम्मिलित परिवार आदि आदि। किन्तु इनके अतिरिक्त दूसरी प्रकार की संस्थाएँ वे होती हैं जो किसी स्थान विशेष के बन्धन में बद्ध नहीं होतीं वरन् अमूर्त रूप से विचार विशेष, भावना विशेष आदि से सम्बन्धित होती हैं जैसे कि कला, नैतिकता, विज्ञान, विधि आदि। प्रथम प्रकार की संस्थाओं को स्थानीय आधार की संस्थाएँ (Nucleated institution) कहा जा सकता है और दूसरे प्रकार की संस्थाएँ चिन्ह विशेषीय संस्थाएँ (Diffused symbolic institution) कही जा सकती हैं। संस्थाओं तथा अन्य प्रकार के व्यवहार प्रतिमानों में थोड़ा ही अन्तर होता है फिर भी संस्थाओं का निजी सामाजिक महत्व है। संस्थाएँ उन व्यवहार प्रतिमानों से सम्बन्धित होती हैं जो कि समाज की आधारभूत माँगों तथा मूलहितों को लेकर चलते हैं। समय समय पर इन माँगों में परिवर्तन होते हैं और उन परिवर्तनों का प्रभाव इन संस्थाओं तथा इनके व्यवहार प्रतिमानों पर भी पड़ता ही है और ये तदनुकूल परिवर्तित भी होते ही रहते हैं।

प्राकृतिक और कृत्रिम समाज—वस्तुतः एक दृष्टि से देखने पर तो किसी भी समाज को कृत्रिम नहीं कहा जा सकता है फिर भी ग्रामीण समाज अथवा जंगली समूह आदि अपेक्षाकृत अधिक प्राकृतिक होते हैं और इनकी अपेक्षा व्यापारिक समझौतों के आधार पर बनी हुई कम्पनी आदि अधिक कृत्रिम होती है। प्राकृतिक समूह उस समूह को कहा जा सकता है जिसका जन्म मानव की परस्पर सम्बन्धित क्रियाओं के द्वारा तो होता हो किन्तु इन क्रियाओं का उद्देश्य समूह-निर्माण न होकर कुछ और ही हो। यद्यपि इन क्रियाओं के फलस्वरूप भी समूह का जन्म हो ही जाता है।

कृत्रिम समूह का जन्म कुछ व्यक्तियों की इस भावना से, चेतना से होता है कि अमुक उद्देश्य की पूर्ति के लिए सामूहिक चेष्टा अत्यावश्यक है। इस प्रकार की भावना को लेकर वे प्रयत्न करके समूह को संगठित करते हैं और इस प्रकार उद्देश्य विशेष की पूर्ति के लिए संगठित किया हुआ समूह कृत्रिम समूह कहा जा सकता है।

प्राकृतिक समूह के उद्देश्य अनेक होते हैं तथा इस प्रकार के समूहों के सदस्य प्रायः एक ही समूह से सम्बन्धित होते हैं किन्तु कृत्रिम समूह एक

ही उद्देश्य को अथवा एक प्रकार के थोड़े से ही उद्देश्यों को लेकर चलते हैं तथा इन समूहों के सदस्य एक ही साथ इस प्रकार के कई समूहों के सदस्य हो सकते हैं। प्राकृतिक समूह की सदस्यता व्यक्ति की अपनी इच्छा पर निर्भर नहीं होती है जब कि कृत्रिम समूह का सदस्य व्यक्ति अपनी इच्छा से बनता है।

प्रारम्भिक और माध्यमिक समूह – उन समूहों को प्रारम्भिक समूह कहा जा सकता है जिनमें कि सदस्य परस्पर प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखते हैं। इस प्रकार के समूह सांस्कृतिक धरातल पर तो खड़े होते ही हैं अपने स्वरूप आदि में परम्परागत भी होते हैं, जैसे कि परिवार, जाति, रक्त जाति आदि किन्तु इनके अतिरिक्त प्रारम्भिक समूह सांस्कृतिक वातावरण की प्रेरणा से भी स्थापित किये जा सकते हैं जैसे ग्रामीण समाज। इनके सदस्य प्रायः साथ रहते रहते विशेष प्रकार के आचार-व्यवहार आदि, अन्तः-क्रियाएँ आदि बना लेते हैं। अधिकतर प्रारम्भिक समूह अपेक्षाकृत स्थायी और पूर्णतया संगठित होते हैं।

माध्यमिक समूह का जन्म और प्रारम्भिक समूहों की महत्ता में न्यूनता प्रायः प्रगतिशील असाम्यावस्था के फलस्वरूप ही दिखाई देने लगती है। माध्यमिक समूह उन समूहों को कह सकते हैं जिनकी स्थापना मानव सोच-विचार कर, निश्चय करके स्वेच्छा से करता है। इस प्रकार के समूहों की स्थापना किसी स्वीकृत उद्देश्य-विशेष की पूर्ति के लिए की जाती है और अधिकतर ऐसा उद्देश्य व्यापक हित की ओर ले जानेवाला होता है। इस प्रकार के समूह कुछ अधिक स्थायी नहीं होते हैं क्योंकि इनका क्षेत्र भी सीमित होता है और हितों का विस्तार भी सीमित ही होता है। प्रायः इस प्रकार के समूह जीवन के किसी एक ही पहलू अथवा क्षेत्र से सम्बन्धित भी होते हैं। इस प्रकार के समूह किसी एक सीमा तक प्रारम्भिक समूहों का नवीन वातावरण में स्थान भी ले पाते हैं और समाज को साम्यावस्था की की ओर ले जाने की दिशा में प्रयत्नशील भी होते हैं।

धार्मिक एवं उपयोगितावादी समूह—कुछ एक समूह अथवा समाज ऐसे भी होते हैं जहाँ कि जीवन के प्रायः सब ही प्रकार के व्यवहार का आधार विश्वास होता है। इस प्रकार के समूहों को धार्मिक कहा जा सकता है। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी समूह होते हैं जहाँ जीवन के साधारण व्यापारों का आधार किसी विशेष प्रकार का विश्वास न होकर, होता है राष्ट्र के प्रचलन आदि। इन्हें राजनीतिक अथवा उपयोगितावादी समूह कहा

जा सकता है यद्यपि ये एकबारगी राजनीतिक ही हों, ऐसी बात नहीं है। प्राय: प्रथम वर्ग के समूहों में परस्परागत व्यवहार आदि को आदर की ही नहीं श्रद्धा की भी दृष्टि से देखा जाता है और उनसे हटना किसी प्रकार भी उचित नहीं माना जा सकता है किन्तु दूसरे प्रकार के समूहों में सदस्यों के व्यवहार आदि का संचालन परम्परागत व्यवहार की अपेक्षा उपयोगिता के ही आधार पर अधिकतर होता है। यहाँ पर भी यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि कहीं; कभी और किसी भी समाज के सदस्यों का एक-बारगी एकान्त रूप से न तो परम्पराओं पर श्रद्धा रख कर ही काम-काज चल सकता है और न उपयोगिता के विचार को ही ध्यान में रखकर किन्तु एक समूह इनमें से एक को अधिक महत्त्व देता है और दूसरा दूसरे को। साधारणतया निरामिषभोजी होना सब ही समूहों एवं समाजों में पाया जाता है किन्तु किसी एक समूह के सदस्य इस लिए निरामिषभोजी होते हैं कि यह धार्मिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है; ऐसा न करना पाप होगा, अनुचित होगा किन्तु दूसरे समूह के सदस्य निरामिषभोजी तो हैं किन्तु इसलिए निरामिषभोजी हैं कि यह अधिक स्वास्थ्यकर है अथवा इस प्रकार का भोजन उनके शरीर के लिए अधिक हितकर है।

समूह और जन-संख्या—मानव-समाज को जिन विभिन्न भागों में बाँटकर देखा जाता है उन्हीं में से एक जनसंख्या (Population) अथवा मानव-बहुसंख्या (Human plurel) भी है। यह तो हम देख ही चुके हैं कि समूह के लिए एक व्यापक आधारभूत तत्त्व हैं मानव-जनसंख्या। जब तक कोई व्यक्ति ही न होगा तब तक समूह का अर्थ ही क्या हो सकता है। संवाद वहन भी तो तब ही सम्भव हो सकता है जब कि व्यक्ति हों अथवा व्यक्तियों का मूर्त अर्थात् स्थान काल में अस्तित्व होना समूह के अस्तित्व के लिए आवश्यक है किन्तु केवल मात्र एक स्थान पर व्यक्तियों का होना ही समूह अथवा समाज की सृष्टि नहीं कर देता है। वस्तुत: समाज के अस्तित्व के लिए तो एकत्रित व्यक्तियों का अन्त:-क्रियाओं के द्वारा एक दूसरे से सम्बन्धित होना अत्यावश्यक है। यद्यपि यह आवश्यक नहीं है कि इस प्रकार की अन्त:क्रियाएँ कर पाने के लिए कोई दो व्यक्ति एक ही स्थान पर हों किन्तु उनमें परस्पर किसी प्रकार का अन्त:सम्बन्ध होना आवश्यक है। यद्यपि एक ही स्थान में होना इस प्रकार की अन्त:क्रियायें कर पाने के लिए अच्छा रहता है। वे व्यक्ति जो कि एक ही काल और स्थान में एकत्रित होते हैं उन्हें जन-संख्या कहा जाता है। स्थायी रूप से बस जानेवाली जन-संख्या समाज कही

जाती है। समाज के लिए उपयुक्त सांस्कृतिक वातावरण को बनाना किसी एक ही काल में तथा स्थान में कुछ व्यक्तियों का रहन-सहन सरल एवं सुलभ कर देता है। हम कह ही चुके हैं कि यद्यपि समाज का अस्तित्व एक ही स्थान पर व्यक्तियों के एकत्रित न हो पाने पर भी सर्वथा नष्ट ही नहीं हो जाता है अतः एक ही काल एवं स्थान पर एकत्रित होना समाज के अस्तित्व के लिए अनिवार्य नहीं है किन्तु उपयोगी अवश्य है। वस्तुतः मानव का एकदूसरे से सम्बन्ध आज के समाज में शारीरिक न होकर विचारों के द्वारा ही होता है। जब तक किसी एक व्यक्ति के मतों के पोषक, समर्थक एवं भक्त भले ही वह विश्व के दूसरे ही सिर पर रहते हों जीवित हैं तब तक उन्हें उस व्यक्ति से सम्बन्धित कहा जा सकता है जिसके कि विचार आदि के वे समर्थक हैं। ऐसी अवस्था में यह भी सम्भव है कि उन लोगों ने एक दूसरे को देखा तक न हो। यद्यपि मृत व्यक्तियों के विचार हमारे बीच में रह जाते हैं और उनके समर्थक भी होते हैं किन्तु हम उनसे तार, डाक आदि के द्वारा भी तो सम्बन्ध स्थापित नहीं कर पाते हैं अतः इस प्रकार के सम्बन्ध को अन्तःसम्बन्ध नहीं गिना जा सकता है किन्तु जहाँ भी कहीं अन्तःसंवादवहन चल सकता है वहाँ अन्त.क्रियाएँ भी हो सकती हैं तथा अन्तःसम्बन्ध भी स्थापित किया जा सकता है। यह भी मानना ही पड़ेगा कि साधारणतया सीमित क्षेत्र के भीतर रहते हुए संवादवहन करने का प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक होता है।

यह कहा जा सकता है कि समाज के मूर्त रूप का दिग्दर्शन एक ही स्थान में एकत्रित होने में तथा साथ साथ रहने से अधिक स्पष्ट रूप में हो जाता है किन्तु यह भी सत्य है कि सामाजिक विषय-वस्तु सम्पूर्ण रूप से भौतिक नहीं है वरन वह अधिकतर मानसिक एवं विचारजन्य है जो कि प्रदर्शन अथवा निरीक्षण का विषय नहीं हो सकती है। प्रायः हम सत्य को चिह्नों द्वारा स्मरण रखने की चेष्टा करते हैं अतः साधारण बुद्धि तो यही जान पाती है कि समाज, स्थान और काल में एकत्रित रहनेवाले व्यक्तियों का एक समूह है अथवा जन-संख्या ही समूह है किन्तु वैज्ञानिक ढंग से सोचने पर तो यह स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि स्थानीय एकत्रीकरण प्रायः सदा सर्वदा ही हमें समाज के साथ दिखाई देता है किन्तु ये समाज के अस्तित्व के लिए अनिवार्य नहीं है। वास्तव में अनिवार्य तो है किसी न किसी प्रकार से अन्तःसम्बन्ध होना और वह होता है अन्तः-संवादवहन के द्वारा जिसके लिए एक ही स्थान और काल में एकत्रित होना उपयुक्त वातावरण उपस्थित कर देता है।

समूह के लिए व्यक्तियों में एकता होने की तो आवश्यकता है। यह दो प्रकार की होती है। व्यक्तियों के व्यापक दृष्टिकोण की एकता मतैक्य से भिन्न होती है। अनेकों समूहों में यह स्पष्ट ही देखा जा सकता है कि उनके सदस्य परस्पर एकता का अनुभव करते हैं, सामाजिक एवं सामूहिक दृष्टि से अपने को एक मानते हैं किन्तु ऐसा होते हुए भी सब ही बातों में सदा उनके विचार और मत मिलते ही हों ऐसी बात नहीं है अतः मत-भिन्नता रहते हुए भी उनमें सामूहिक एकता रहती ही है।

जाति—जाति भी एक सामाजिक श्रेणी अथवा समूह ही है किन्तु इसकी सदस्यता स्वेच्छा से न होकर जन्मतः होती है। इस प्रकार के समूह में सदस्य को विशेष प्रकार के परम्परागत अथवा प्रथानुसार बन्धन भी मिलते हैं और सुविधाएँ भी तथा उस पर अपने समूह की रूढ़ियों का प्रभाव भी अत्यधिक होता ही है। समाज में यदि एक से अधिक जातियाँ होती हैं तो एक जाति दूसरी जाति से अपनी प्रथाओं, बन्धनों अथवा सुविधाओं आदि के आधार पर ही भिन्न करके देखी जा सकती है क्योंकि जाति समाज के भीतर स्थित विभिन्न प्रकार की सुविधाओं एवं बन्धनों-सम्बन्धी व्यवस्थाओं से ही तो एक होती है। प्रायः बन्धनों में से एक तो होता है अन्तर्जातीय विवाहों पर रोक। कहीं कहीं जातियों के विशेष प्रकार के व्यवसाय भी होते हैं और एक जाति के व्यक्ति को दूसरी जाति के व्यवसाय को अपनाने का अधिकार नहीं होता। इसके अतिरिक्त कुछ बन्धन ऐसे होते हैं जो कि एक जाति को दूसरी से पृथक् ही दिखाते हैं जैसे कि वस्त्रादि की भिन्नता, व्यवहार आदि की भिन्नता, भोजन पान में छूत-छात। वैष्णव और शैवों के तिलक तो उनकी भिन्नता का प्रदर्शन करते ही हैं। प्रायः ब्राह्मणों का अन्य जातियों का बनाया हुआ भोजन न करना, इस देश के स्त्री-पुरुषों का पहनावा अन्य देशों से भिन्न होना आदि तो इसके उदाहरण हैं ही, भारतवर्ष में ही एक जाति के व्यक्तियों को दूसरी जाति के व्यक्तियों के भिन्न करने के लिए बहुत से चिह्न आदि स्पष्ट ही दिखाई देते हैं। इस प्रकार के उदाहरण हर कहीं सरलता से ही प्राप्त हो जाते हैं।

श्रेणी, सम्प्रदाय, दल—समाज के भीतर हा कुछ व्यक्तियों का एक समूह-सा बन जाता है जिनके प्रति अन्य व्यक्ति एक विशेष भाव रखते हैं तथा एक विशेष दृष्टिकोण से उनके कार्य व्यवहार आदि को

जानते तथा मानते हैं। यह समाज का ही एक अंग होता है। उदाहरणार्थ—समाज के साधारण व्यक्ति डाकुओं को एक भयमिश्रित कौतूहल की दृष्टि से देखते हैं। इसी प्रकार नेताओं, राजा-रानियों आदि को भी जन-साधारण एक विशेष दृष्टि से देखता है। उस समूह के सभी व्यक्तियों में कुछ ऐसे व्यापक गुण अथवा दुर्गुण हो सकते हैं जिनके कारण कि अन्य व्यक्ति उनकी ओर एक विशेष दृष्टिकोण रख कर दृगपात करते हैं और इसी कारण से वैसे ही गुण अथवा दुर्गुण रखनेवाले व्यक्तियों का एक निराला समूह ही बन जाता है किन्तु केवल मात्र उन्हीं गुणों-दुर्गुणों के ही कारण नहीं अन्य कारणों से भी उनके प्रति विशेष प्रकार का दृष्टिकोण रखा जा सकता है। इस प्रकार की श्रेणी जब कि स्वयं इस चेतना को प्राप्त कर लेती है कि हम अन्य व्यक्तियों से भिन्न हैं तथा आपस में ऐसी एकता का अनुभव करने लगती है जो कि उन्हें दूसरों से पृथक् और आपस में एक करती है तो सम्प्रदाय, दल अथवा वर्ग-निर्माण आरम्भ हो जाता है। ये सम्प्रदाय, दल अथवा वर्ग आपस में एक से विश्वास, रुचि, भावनात्मक आधार आदि रखते हुए देखे जाते हैं। इनमें से कुछ समूह न केवल विचार आदि की व्यापकता और भिन्नता का आधार लेकर चलते हैं वरन् व्यापक भावनाएँ और क्रियात्मक हितों तथा उद्देश्य की प्राप्ति की चेष्टा में संलग्न होकर भी बढ़ने लगते हैं। इन्हें दल कहा जाता है। इनकी इस प्रकार की चेष्टाएँ सामूहिक एवं सामुदायिक होती हैं। इस प्रकार के समूह हितों का ध्यान रख कर ही चलनेवाले समूह अथवा दल होते हैं। प्रायः सब ही राजनीतिक समूह दल के स्वरूप के ही होते हैं। आर्थिक हितों को लेकर चलनेवाले, क्रय करनेवाले जो कि बिक्री-कर के विरोधी हैं तथा व्यापारी जो कि बाहर से आनेवाले माल पर लगनेवाले कर के विरोधी हैं विभिन्न दल ही तो हैं।

व्यावसायिक समूह -विशाल समाज के अन्तर्गत ही हम औद्योगिक समूह भी पाते हैं। ये समूह अपनी किसी क्रिया-विशेष की एकता के सम्बन्ध को लेकर स्थापित होते हैं। आर्थिक क्रियाओं की तो समाज को जीवित रखने के लिए गहरी आवश्यकता होती ही है और उद्योग, शिल्प अथवा जीविकोपार्जन के किसी भी ढंग-विशेष को लेकर कुछ लोग कार्य करते ही हैं। उन कार्यों के आधार पर समान हितों को लेकर जो व्यक्ति एकत्रित होते हैं उन्हीं के समूह व्यावसायिक समूह कहलाते हैं। श्रमिक यूनियन, कर्मकार संघ, वैद्य संघ, मेडिकल एसोसिएशन, वकील संघ आदि ऐसे ही समूह हैं। इनमें बाह्य आडम्बर

के न होने पर भी एक से व्यवसाय में संलग्न व्यक्तियों को पृथक् करके देखा ही जा सकता है।

षड्यन्त्र—किसी भी समूह के भीतर कुछ व्यक्तियों के छोटे से समूह को षड्यन्त्रकारी समूह कहा जा सकता है किन्तु उस अवस्था में जब कि वह छोटा समूह कुछ एक सदस्यों के प्रति ऐसा दृष्टिकोण रखता हो जिसे कि बहुसंख्या का समर्थन प्राप्त नहीं है। इस प्रकार के दृष्टिकोण का आधार भावनात्मक भी हो सकता है, बौद्धिक हित भी हो सकता है और केवल मात्र स्वार्थ भी हो सकता है।

समुदाय—समुदाय वह प्राकृतिक समाज हैं जो कि स्थानीय ढंग से संगठित होता है तथा कुछ जन-सम्मत एवं जन स्वीकृत हितादि को लेकर चलता है तथा जिसके सदस्यों में परस्पर सहयोग की भावना होती है। जन-संख्या में व्यापक हितों तथा सहयोग एवं सहकारिता-सम्बन्धी चेतना का होना आवश्यक नहीं है किन्तु समुदाय में इस प्रकार की चेतना उत्पन्न हो जाती है। यद्यपि जन-संख्या कभी और कहीं भी ऐसे रूप में नहीं मिलती है जिसे कि समुदाय न कहा जा सके तो भी समुदाय और जन-संख्या के बीच भेद कर लेना अध्ययन की दृष्टि से आवश्यक जान पड़ता है। समुदाय में विभिन्न जातियाँ, श्रेणियाँ आदि सम्मिलित हो सकती हैं। समाज शब्द का प्रयोग तो सभी प्रकार के समूहों के लिए भी किया जा सकता है क्योंकि किसी भी प्रकार का समूह समाज तो होगा ही। समुदाय भी यद्यपि हर प्रकार के समूहों को माना जा सकता है किन्तु इसके लिए स्थानीय गुण होना आवश्यक है। स्थानीयता के ही कारण समुदाय में हितों की एकता और सहयोग आदि की भावना भी आ जाती है।

प्राय: सभी विशाल समूहों को जनतान्त्रिक रूप ग्रहण करना ही पड़ता है। इनके भीतर ही अन्य अनेक समूह स्थान पाते हैं और इन्हें देना पड़ता है। यद्यपि इनके भीतर रहनेवाले छोटे समूह आपस में भिन्न दिखाई देते हैं किन्तु वे सभी बड़े समूह में अवश्य स्थान पा लेते हैं। विभिन्न, विविध एवं अनेकानेक प्रकार से भेद रखते हुए भी ये सभी छोटे समूह किसी बड़े समूह का अंग होते हैं और उसमें अपना स्थान बनाये रखते हैं।

व्यक्तिगत समूह—व्यक्तिगत समूह में प्रत्येक सदस्य दूसरे सदस्यों से व्यक्तिगत रूप से परिचित होता है और इस प्रकार के समूह के सदस्य प्राय: अन्य समूहों से भिन्न करके भी देखे जा सकते हैं। इस प्रकार के समूहों में अपने सदस्यों के सामाजिक जीवन को प्रभावित करने की पर्याप्त

शक्ति रहती है। यूँ तो प्रमुख एवं प्रारम्भिक सामाजिक व्यक्तिगत समूह जातीय दल आदि हो ही सकते हैं किन्तु इनके अतिरिक्त भी अन्य व्यक्तिगत समूह होते ही हैं। परिवार भी इसी प्रकार का एक व्यक्तिगत समूह ही है। इस प्रकार के समूह के सदस्यों को अपने सभी कार्यों में सामूहिक स्वीकृति का ध्यान रखना पड़ता है। इस प्रकार के समूहों में समूह के भीतर सब प्रकार की सामाजिक मनोवृत्तियों का प्रदर्शन करना पड़ता है भले ही समूह के बाहर उनका प्रदर्शन कुछ न्यून मात्रा में किया जाये अथवा न ही किया जाये। व्यक्तिगत समूहों के गहरे प्रभावों को कुछ विचारक तो इतना अधिक महत्त्व देते हैं कि उनके विश्वास के अनुसार तो व्यक्तिगत समूहों का प्रभाव व्यक्ति पर इतना अधिक और इतना व्यापक होता है कि उनके माध्यम से ही हम मानव-स्वभाव के सभी अंगों को उसी अवस्था में समझ लेते हैं जब कि हम इन व्यक्तिगत समूहों के ही सदस्य होते हैं। प्रोफेसर कूले इसी प्रकार के मत के समर्थक हैं। किन्तु सम्भवतः ऐसा मानते हुए हमें 'मानव-स्वभाव' से समूह विशेष के मानवों के स्वभाव को ही समझना होगा। यद्यपि एक दूसरे को व्यक्तिगत रूप से जानने से सहानुभूति एवं सहयोग की भावना का प्रसार होता है किन्तु सहानुभूति के ही कारण अनैतिक व्यक्तिगत समूह में अनीति के प्रति सहानुभूति होना भी तो सम्भव हो जाता है। बड़े समूहों में अपराध करना और अपराध करने के आधार पर अथवा अपराध करने के लिए ही समूह से पृथक् हो जाना अथवा सामूहिक दण्ड से रक्षा पा जाना अपेक्षाकृत कुछ अधिक सरल होता है। बड़े समूहों में तो सामाजिक कृत्यों की वृद्धि और सामाजिक मनोवृत्ति के दमन करने के लिए कानून अथवा इसी प्रकार के अन्य सामाजिक नियन्त्रण के साधनों का आश्रय ही लिया जा सकता है अथवा एक प्रकार की बौद्धिक नैतिकता अथवा समाज की श्रेय, अश्रेय, उचित, अनुचित सम्बन्धी भावनाओं अथवा धारणाओं पर ही आश्रित रहा जा सकता है किन्तु इस प्रकार की भावनाओं अथवा धारणाओं का जन्म कुछ मानव की नैसर्गिक प्रकृति के द्वारा तो होता नहीं है और सामाजिक नियन्त्रण स्वयं अपनी सफलता के लिए इस प्रकार की नैतिक धारणाओं पर ही आश्रित रहते हैं। छोटे समूहों में अपराध कर पाना तो उतना सरल नहीं होता है किन्तु आपसी झगड़ों का होना अत्यन्त सरल होता है अतः इस प्रकार के समूह क्रियात्मक आवश्यकताओं एवं माँगों के कारण बने तो रहते हैं किन्तु यदि उनका सम्बन्ध कभी किसी बड़े समूह से हो जाता है तो उनकी नींवें ढीली होते भी विलम्ब नहीं होता है।

दो व्यक्तियों का समूह—वास्तव में दो व्यक्तियों के परस्पर सम्बन्ध का तात्पर्य और उसका बन्धन कुछ और ही हो जाता है। इस प्रकार के बन्धन में और अनेकों व्यक्तियों के समूह के सदस्य होने के नाते विभिन्न अनेकानेक व्यक्ति के साथ होनेवाले बन्धन में बहुत बड़ा भेद होता है। किसी तीसरे व्यक्ति के बीच में आ जाने से भी उस बन्धन का स्वरूप भिन्न हो जाता है। यद्यपि इस प्रकार के समूह का आधार दो ही व्यक्ति होने से एक के ही समूह त्याग देने से सम्बन्ध का अन्त हो जाता है किन्तु ऐसी अवस्था में एक दूसरे के प्रति विश्वास, उत्तरदायित्व की भावना का तथा एक दूसरे पर आश्रित रहने का तो कहीं अन्त ही नहीं होता है।

भीड़—समूह और भीड़ में बहुत अन्तर होता है। कहीं भी बहुसंख्या का एक स्थान पर एकत्रित हो जाना एक विशेष प्रकार के वातावरण को उपस्थित कर देता है। यद्यपि इस प्रकार की उपस्थिति अथवा भीड़ में चीख-चिल्लाकर, हाथ उठा कर अपने विचारों को किसी एक सीमा तक दूसरों तक पहुँचाया जा सकता है किन्तु उसमें विचारों सम्बन्धी संवाद वहन की सुविधाएँ नहीं होती हैं और यही कारण है कि भीड़ में उत्तेजना और शारीरिक प्रदर्शन अधिक होता है क्योंकि शब्दों द्वारा वहाँ उत्तेजनात्मक भावनाओं के सन्तुलित करने अथवा संयमित करने का कोई उपाय तो होता नहीं है और न ही वहाँ वाद-विवाद, तर्क आदि के द्वारा किसी भी विचार आदि को समझा और समझाया ही जा सकता है। भीड़ का मुख्य गुण तो प्रदर्शन योग्य भावनाओं का एक दूसरे तक पहुँचा पाना ही है। किन्तु दोष है विचारों की भली प्रकार अभिव्यक्ति न कर पाना। भीड़ में न तो केवल अपेक्षाकृत न्यून महत्त्व की बातों को सुविधापूर्वक सब ही की चेतना तक पहुँचाया जा सकता है वरन् बहुत कुछ जोर देकर भीड़ के सम्मुख रखा भी जा सकता है क्योंकि वहाँ व्यक्तियों को विचारपूर्वक उनका विश्लेषण करके उनके महत्त्व को तुलनात्मक कसौटी पर घिस कर न्यून कर पाने का तो अवसर ही नहीं होता है अतः भीड़ में किसी भी व्यक्ति का वह व्यक्तित्व नहीं रह पाता है जो कि एकाकी होने पर होता है। किसी अन्य समूह के सदस्य होने के सम्बन्ध से भी व्यक्ति का व्यक्तित्व अधिक बौद्धिक एवं उत्तरदायित्व की भावना लिये हुए होता है। किन्तु भीड़ में उसकी उत्तरदायित्व की भावना न्यून हो ही जाती है। इसी कारण भीड़ में उत्तेजना तो होती है किन्तु निर्णय शक्ति उतनी अधिक नहीं होती है तथा निर्णय-सम्बन्धी स्थिरता तो बिलकुल

भी नहीं होती है। यही कारण है कि साधारणतया व्यक्ति जो दोष अपराध नहीं कर पाता है वही भीड़ में होने पर सहज ही कर डालता है। सम्भवत: उसके इस प्रकार के कार्य का कारण यह भी रहता हो कि वह अपने को उस कार्य के लिए उत्तरदायी समझता ही नहीं है वरन् उन अनेकों को समझता है जिनमें से कि वह एक ही तो है। इतना सब कुछ होते हुए भी भीड़ द्वारा कार्य होना इसलिए सम्भव हो जाता है कि प्राय: मनुष्यों में भावनाएँ और उत्तेजनाएँ तो एक ही सी होती हैं तथा कुछ एक वृत्तियाँ जैसे कि भय, क्रोध आदि भी प्राय: एक ही सी होती हैं यद्यपि उनकी मात्रा न्यूनाधिक हो सकती है। जिन समूहों में विचार अत्यन्त जटिल एवं कठोर तथा अनुदार होते हैं, भीड़ अपना कार्य तनिक कम ही कर पाती है किन्तु अधिक उदार और निश्चित मत न रखनेवाले जन समाज में इस प्रकार के कार्यों की सम्भावना अधिक रहा करती है। भीड़ के उत्तेजनात्मक कार्यों से समाज की रक्षा कर पाने का सर्वोत्तम उपाय है समाज में अनुभवों और विचारों के आधार पर बनाये हुए सिद्धान्तों का प्रचार।

समुदाय और संस्था—समुदाय किसी भी समूह का एक ऐसा संगठन है जो कि किसी सीमित स्थानीय क्षेत्र में स्थित होता है। समुदाय किसी एक ही उद्देश्य को लेकर संगठित नहीं किया जाता है वरन् कई एक विशेष संस्थाओं का सामूहिक सङ्गठन होता है। किसी भी एक समुदाय में विभिन्न धार्मिक, व्यावसायिक, राजनीतिक आदि संस्थाएँ हो सकती हैं। समुदाय के इस प्रकार के सङ्गठन का आधार होता है उन विभिन्न सामाजिक संस्थाओं में परस्पर अन्त:सम्बन्धों का होना। यह भी आवश्यक नहीं है कि सब ही सामाजिक संस्थाएँ किसी एक ही समुदाय में स्थित हों। अनेकानेक संस्थाओं का एकीकरण समुदाय की सीमाओं को बढ़ा देता है और आधुनिक समाज में विभिन्न संस्थाओं का सामुदायिक एकीकरण यातायात आदि की सुविधाओं के कारण सम्भव और सरल भी हो गया है। ज्यों ज्यों संस्थाएँ विकसित होती जाती हैं स्थानीय समुदायों की क्षेत्रीय एवं राष्ट्रीय समुदायों के द्वारा भी वृद्धि होती जाती है। अत: समुदाय और संस्थाओं के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध होता है।

सामाजिक संगठन—सामाजिक सङ्गठन के लिए सामुदायिक एवं सामूहिक सङ्गठन की आवश्यकता पड़ती ही है और सामाजिक सङ्गठन

की आवश्यकता इसलिए है कि यदि सामूहिक व्यवहार को सङ्गठित ढङ्ग पर किया जाये तो उसका प्रभाव और फल अपेक्षाकृत असङ्गठित ढङ्ग पर किये जाने से कहीं अधिक होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कभी कभी असङ्गठित समूह अथवा भीड़ भी कार्य कर डालते हैं किन्तु अधिकतर तो सङ्गठित समूह का कार्य अधिक प्रशंसनीय और फलदायक होता है। सङ्गठित कार्य उस कार्य को कहते हैं जिसमें कि सामूहिक शक्ति किसी एक नेता द्वारा संयमित होती है और जिसमें शक्ति का लक्ष्य भी निश्चित और स्पष्ट होता है।

वस्तुतः सब ही प्रकार के सामाजिक सङ्गठनों का मूलाधार तो व्यक्ति की प्राकृतिक माँगें ही हैं। इन माँगों में सुरक्षा, भोजन आदि को सम्मिलित किया जाता है।

समितियाँ और संस्थाएँ—सामाजिक संस्थाएँ सामाजिक समितियों की अपेक्षा अधिक व्यापक और अधिक स्थायी सामूहिक सङ्गठन होते हैं। संस्थाओं का महत्त्व समितियों की अपेक्षा अधिक होता है तथा उनके लक्ष्य, उद्देश्य एवं कार्य भी अधिक महत्त्वपूर्ण और बहुसंख्यक होते हैं। प्रायः संस्थाएँ सामाजिक दृष्टि से मुख्य होती हैं और समितियाँ गौण।

संस्थाओं की बनावट—वस्तुतः संस्थाओं का अधिकतर महत्त्व उनके कार्य-कलाप के आधार पर ही आश्रित होता है। सुमनेर (Sumner) के मतानुसार प्रायः सब ही सामाजिक संस्थाओं में सदस्य, सम्पत्ति, सङ्गठन और विशेष प्रयत्नों की आवश्यकता पड़ती है। बिना सदस्यों के तो कोई संस्था हो ही नहीं सकती है किन्तु सदस्यों के अतिरिक्त संस्था की स्थापना के लिए सम्पत्ति की भी आवश्यकता होती है। यह सम्पत्ति भौतिक और अभौतिक दोनों ही प्रकार की होती है। भौतिक सम्पत्ति में उन सब ही वस्तुओं को सम्मिलित किया जा सकता है जो कि परिवार अथवा किसी भी अन्य संस्था के सामूहिक अधिकार में होती हैं किन्तु संस्था की अभौतिक सम्पत्ति का महत्त्व भी कुछ न्यून नहीं होता है। इस प्रकार की सम्पत्ति में संस्था का महत्त्व, उसकी पद-मर्यादा, उसका गौरव, दूसरों की दृष्टि में उसका सम्मान, नाम, उसके रहस्य आदि सब कुछ सम्मिलित किया जा सकता है। इनके अतिरिक्त प्रत्येक संस्था को अपने सदस्यों और अधिकृत सामग्री को एक विशेष ढङ्ग से रखना भी पड़ता है और इसे सङ्गठन कहा जा सकता है। किसी भी संस्था के विशेष

कृत्यों में उस संस्था में प्रचलित परम्पराओं, प्रथाओं, कर्मकाण्ड आदि को सम्मिलित किया जा सकता है और इन्हीं के आधार पर उस संस्था का अपना निजी व्यक्तित्व स्थापित होता है जो कि उसे अन्य संस्थाओं से भिन्न दिखाता है। चैपमेन ने संस्थाओं के चार प्रकार माने हैं और इनके विभिन्न आधार भी दिखाये हैं।

संस्थाओं का वर्गीकरण—यह तो हम देख ही चुके हैं कि संस्थाओं का महत्त्व उनके कार्यों के आधार पर ही निश्चित किया जा सकता है और हमने यह भी देखा कि विभिन्न संस्थाओं के कार्य उनके मानव की आधारभूत, मूल प्राकृतिक माँगों अथवा आवश्यकताओं के आधार पर ही निश्चित किये जाते हैं। यद्यपि आधुनिक युग में संस्थाएँ विविध प्रकार के उद्देश्य एवं कार्य लेकर चलती हैं तो भी उन्हें चार विभागों में बाँटकर देखा जा सकता है। मानव की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्राकृतिक माँग है सुरक्षा और शारीरिक सुरक्षा के साथ ही साथ भोजन, खाद्य की आवश्यकता अथवा क्षुधा-शान्ति का भी प्रश्न आता ही है अतः हमारी एक प्रकार की सामाजिक संस्थाओं का मूलाधार है मानव की सुरक्षा-सम्बन्धी आवश्यकताएँ। सुरक्षा और क्षुधा-निवृत्ति ने ही मानव को कृषि और तत्पश्चात् व्यापार, उद्योग आदि द्वारा उत्पादन करने की प्रवृत्ति दी। उत्पादन करने के पश्चात् उसके बँटवारे का प्रश्न आयेगा ही अतः मानव की सब ही प्रकार की आर्थिक व्यवस्थाओं का जन्म उसकी इसी मूल आवश्यकता में से हुआ और इसी आधार पर सब ही आर्थिक संस्थाएँ (Economic Institutions) स्थापित हुईं।

मानव की दूसरी प्राकृतिक माँग है स्त्री-पुरुष के परस्पर सम्बन्धों को लेकर और इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए परिवार का जन्म हुआ। लिंग के आधार पर श्रम विभाजन हुआ। बच्चों के पालन-पोषण की व्यवस्था हुई तथा विवाह का भी आरम्भ हुआ। केवल इतने से ही तो मानव सन्तुष्ट हो नहीं सका। उसने विश्व को, अपने वातावरण को समझने का प्रयत्न किया। तत्सम्बन्धी उसका समस्त ज्ञान वैज्ञानिक तो कभी भी नहीं था और आज भी नहीं है। अतः उसने कल्पना और विश्वास का आश्रय लिया और प्रथम दोनों प्रकार की संस्थाओं को भी बहुत कुछ अपने विश्वासों के बन्धनों में बाँधने का प्रयत्न किया। विश्वास के आधार पर धार्मिक संस्थाओं का जन्म तो हुआ ही।

यह सब तो हुआ किन्तु इन सबके अतिरिक्त मानव को समस्त समूह के, समाज अथवा समुदाय के हित की रक्षा करने की तथा उसके

कल्याण का कामना करने की भी तो आवश्यकता पड़ी ही। इसी आधार पर एक ओर तो प्रश्न उठा समूह को जीवित रखने का, उसकी सुरक्षा करने का और दूसरी ओर समस्या थी उसे सुसज्जित एवं सुन्दर तथा शिव एवं श्रेय बनाने की। प्रथम आवश्यकता की पूर्ति की गई बाह्य सुरक्षा की व्यवस्था करके युद्ध एवं शक्ति के नियन्त्रण के द्वारा तथा आन्तरिक सुरक्षा एवं व्यवस्था के द्वारा निर्बल की सबल से रक्षा करके अर्थात् न्याय की स्थापना करके। जन-कल्याण अथवा सामूहिक-कल्याण की योजना की गई जन स्वास्थ्य, कला, यातायात, विज्ञान, शिक्षा आदि के प्रसार को उद्देश्य मान कर चलनेवाली संस्थाओं की स्थापना करके इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति के लिए परिवार से लेकर राष्ट्र तक की स्थापना की गई। इन्हीं सामाजिक संस्थाओं के उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्हीं के अन्तर्गत अनेकानेक समितियाँ बन गईं।

समितियाँ—आधुनिक युग में ज्यों ज्यों सभ्यता एवं संस्कृति का विकास होता गया त्यों त्यों समितियों की संख्या में भी वृद्धि होती गई। उद्देश्य विशेष को ही लेकर स्थापित हुई होने के कारण समितियों का कार्य अधिक कुशलता एवं सफलतापूर्वक सम्पन्न होना स्वाभाविक ही है। इस युग में समितियों की विविधता और विशेषज्ञता तो विशेष रूप से बढ़ गई है। वस्तुतः समितियों का आविष्कार तो सामाजिक कार्यों को कुशलता-पूर्वक सम्पन्न करने के उद्देश्य से ही हुआ होगा। समितियों में से भी जो अधिक उपयोगी और प्रभावशाली होती हैं वही जीवित भी रहती हैं अन्य तो समाप्त ही हो जाती हैं। समितियाँ संस्थाओं की अपेक्षा न्यून व्यापक तथा अधिक विशिष्ट उद्देश्यवाली होने के कारण सामाजिक श्रेणियों के साथ अधिक सफलतापूर्वक आनुकूल्य स्थापित कर पाती हैं। प्रायः समितियों का अधिक प्रचार अपेक्षाकृत धनी वर्ग में ही होता है और प्रायः नगरों में ही समितियों का अधिक प्रचार एवं प्रसार भी होता है। समितियाँ प्रमुख संस्थाओं के अन्तर्गत ही कार्य करती रहती हैं और जिन प्रमुख संस्थाओं के अन्तर्गत रह कर कार्य करती हैं वे आर्थिक, धार्मिक, परिवार से सम्बन्धित अथवा राष्ट्र और प्रशासन से सम्बन्धित संस्थाएँ ही होती हैं अतः समितियों का संस्थाओं और विशेषतया इन संस्थाओं से घनिष्ठ सम्बन्ध होना तो आवश्यक-सा ही हो जाता है।

संस्थाओं का अन्योन्याश्रित होना—प्रायः विचारक यह प्रयत्न कर रहे हैं कि उन आधारभूत सिद्धान्तों की खोज की जाये जिनके आधार

पर संस्थाओं का विकास हुआ है। यद्यपि इस दिशा में विचारक कुछ बहुत अधिक सफल तो नहीं हो पाये हैं फिर भी प्रयत्न तो प्रशंसनीय हैं। हर्बर्ट स्पेन्सर ने यह कहना चाहा था कि संस्थाओं का विकास साधारण एवं सरल से विशेष एवं जटिल की ओर हुआ किन्तु केवल मात्र इसी सिद्धान्त को मान कर चलने पर न तो आधुनिक युग के पारिवारिक संगठन की ही व्याख्या हो पायेगी और न भाषा के ही विकास के विषय में कुछ प्रकाश पड़ेगा क्योंकि पुरातन भाषाओं की अपेक्षा आज दिन की भाषाएँ तो कुछ अधिक सरल हैं ही। सम्भवतः आज की जातियों का धार्मिक विश्वास भी अपेक्षाकृत कुछ अधिक सरल ही होगा यदि 'सरल' की परिभाषा एक विशेष ढंग से की जाये। लुईस मोरगन सामाजिक संस्थाओं का उद्गम विवाह और तत्सम्बन्धी तथ्यों में ही खोज पाते हैं किन्तु उनके समय से और अब तक होनेवाली नृ-शास्त्र-सम्बन्धी खोजों में हम उनके मत का तनिक भी समर्थन नहीं पाते हैं।

प्रश्न यह हो सकता है कि प्रायः सब ही कहीं एक ही प्रकार की संस्था का एक ही ढंग से विकास क्यों नहीं हुआ और उसके विकास के स्तर भी विविध क्यों होते हैं। इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि इसका कारण बाह्य प्रभाव ही होंगे। हमारे इस प्रकार के मत का समर्थन इस तथ्य से भी होता है कि प्रायः संस्थाएँ अपने विशेष सांस्कृतिक क्षेत्रों में ही पनपती हैं और सम्भवतः कुछ ही ऐसी संस्थाएँ होंगी जिन्हें कि विश्वव्यापी माना जा सके। वस्तुतः सामाजिक एवं सांस्कृतिक संस्थाएँ कुछ इतनी अधिक अन्योन्याश्रित हैं कि एक के क्षेत्र में होनेवाली प्रगति एवं विकास का दूसरे के क्षेत्र में प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता है अतः संस्थाओं के विकास का अध्ययन किसी संस्था विशेष को लेकर उसकी विशेष पृष्ठ भूमिका में उसे रखकर ही किया जा सकता है। बिना उसके सांस्कृतिक एवं सामाजिक क्षेत्र का अध्ययन किये किसी भी संस्था के विकास का इतिहास सम्मुख रखा ही नहीं जा सकता है।

यही नहीं प्रायः सभी प्रकार की संस्थाएँ किसी न किसी रूप में दूसरी संस्थाओं पर आश्रित होती हैं। सम्भवतः इसका कारण यह है कि सभी संस्थाएँ एक-सी सांस्कृतिक पृष्ठ भूमिका में ही पनपती हैं। औद्योगिक विकास का प्रभाव शिक्षा, परिवार तथा मत आदि पर पड़े बिना रह ही नहीं सकता है। इसी प्रकार शिक्षा-प्रसार का प्रभाव विवाह तथा अन्य सामाजिक व्यवहारों, सम्बन्धों की रीति नीति पर पड़ता है और इसी प्रकार सामाजिक जीवन के सभी पक्षों के एक दूसरे से गुँथे-मिले हुए होने के कारण

एक को दूसरे पर आश्रित होना ही पड़ता है। केवल मात्र अभौतिक ही नहीं वरन् भौतिक सांस्कृतिक उन्नति का प्रभाव भी विभिन्न सामाजिक संस्थाओं पर पड़ता है। यही कारण है कि अन्य किसी प्रकार के ऐतिहासिक प्रमाण न होने पर भी भौतिक संस्कृति के विकास के ही आधार पर सामाजिक संस्थाओं के विकास के इतिहास के सम्बन्ध में कुछ न कुछ अनुमान तो लगाये ही जा सकते हैं।

सामाजिक व्यवस्था का आवश्यक भाग—संस्थाएँ—संस्थाओं के परस्पर सम्बन्धित तथा अन्योन्याश्रित होने से यह तो स्पष्ट ही हो जाता है कि किसी भी एक संस्था को पूर्णतया समझ पाने के लिये उस युग का सम्पूर्ण सांस्कृतिक इतिहास तथा अन्य संस्थाओं के सम्बन्ध में भी ज्ञान प्राप्त करना होगा। किसी एक सीमा तक यह तो सम्भव है कि हम किसी एक संस्था की उन्नति के विभिन्न सोपान खोज कर उपस्थित कर दें किन्तु उन्हें पूर्णतया समझ पाना सम्भव नहीं होगा। अपने कार्यों के द्वारा तो संस्थाएँ यह और भी अधिक स्पष्ट कर देती हैं कि वे कितनी एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। शिक्षा को ही ले लीजिए। यद्यपि विद्यालयों आदि का प्रमुख कार्य शिक्षा देना है तो भी शिक्षा का आरम्भ विद्यालय में बालक को भेजने से कहीं पूर्व हो जाता है अतः परिवार भी इस दिशा में कुछ न कुछ तो करता ही है। इसी प्रकार कर्म क्षेत्र का चुनाव कर डालने के पश्चात् भी व्यक्ति अपने आसपास के वातावरण से तथा उन संस्थाओं से जिनसे कि वह सम्बन्धित होता है शिक्षा प्राप्त करता ही रहता है अतः यह कहना कठिन हो जायेगा कि कोई भी एक कार्य करने के लिए कोई भी एक ही संस्था पूर्ण रूपेण उत्तरदायी है।

संस्थाओं के अन्योन्याश्रित सम्बन्धों के प्रतिमान—वस्तुतः संस्थाओं का परस्पर इतना अधिक सम्बन्धित होना उन्हें एक ही वस्तु के विभिन्न भागों की भाँति बना देता है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि कोई भी एक यन्त्र अपने विभिन्न भागों को लिये दिये ही कार्य करता है। यद्यपि उसके प्रत्येक पुर्जे का कोई न कोई अपना पृथक् कार्य है जो कि उसके बिना हो ही नहीं सकता है फिर भी वह सम्पूर्ण का ही एक भाग है और सम्पूर्ण के कारण ही उसका महत्त्व है। कोई भी संस्था किसी भी एक समाज के सामाजिक जीवन के संगठन में, उसकी व्यवस्था में अपना एक स्थान रखती है किन्तु उसका सम्बन्ध सम्पूर्ण से उसके ही एक भाग होने की मर्यादा से होता है अतः वह एक 'प्रतिमान' विशेष ही बन-

कर दिखाई देती है। अन्तःसम्बन्ध एक विशेष प्रकार का विशेष रूपरेखा का सम्पूर्ण चित्र (Configuration)-सा बना लेते हैं जो स्थान काल के अनुसार परिवर्तित भी होता रहता है। अतः सांस्कृतिक चित्र भी विभिन्न सांस्कृतिक क्षेत्रों के अनुसार भिन्न भिन्न दिखाई देते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रायः सब ही सांस्कृतिक क्षेत्रों में परिवार, समुदाय, आर्थिक संस्थाएँ, धार्मिक संस्थाएँ आदि होती हैं फिर भी सांस्कृतिक चित्र इन सब संस्थाओं के होते हुए भी विविध होते हैं। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि एक ही प्रकार की सामाजिक संस्थाओं में विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न प्रकार के सांस्कृतिक चित्रों का अस्तित्व किस प्रकार से सम्भव होता है। इसका कारण यह भी हो सकता है कि किसी भी संस्था अथवा संगठन के कार्यों और उसकी रूपरेखा में सदा सर्वदा घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं हुआ करता है। उदाहरणार्थ—रुद्र प्रारम्भिक वैदिक काल में उतना अधिक भय उत्पन्न करनेवाला देवता नहीं था जितना कि कुछ आगे चल कर हो गया अथवा यह भी सम्भव है कि पशुपति अथवा शिव अथवा कुलदेव का जो रूप अनार्यों में प्रचलित हो वह मानव के लिए कल्याणकारी ही हो किन्तु आर्यों ने उसे संहारक रूप में ही पहचाना हो। इससे भी सरल उदाहरण हो सकता है उस एक ही संस्था का जो कि अपने नियम भी बनाती है, उनका सदस्यों से पालन भी कराती है और आवश्यकता पड़ने पर न केवल सदस्यों के अपराधों के विषय में अपने निर्णय ही देती है वरन् उन्हें दण्ड भी देती है। विभिन्न कार्य करते हुए भी संस्था का संगठन, उसकी रूपरेखा एक ही रहती है। इसी आधार पर हम यह भी कह सकते हैं कि किसी भी संस्था के ढाँचे की अपेक्षा उसके कार्यों में भी शीघ्र परिवर्तन हुआ करते हैं। सम्भवतः ढाँचे में परिवर्तन करने की आवश्यकता भी अधिकतर नहीं पड़ा करती है किन्तु किसी भी संस्था के कार्यों में परिवर्तन करने की आवश्यकता अपेक्षाकृत शीघ्र ही पड़ जाया करती है और बाह्य निरीक्षकों को किसी भी संस्था के परिवर्तित कार्यों को देख कर भ्रम भी हो जाया करता है। यद्यपि परिवर्तित कार्यों का संस्थाओं के ढाँचे पर भी प्रभाव पड़ता ही है किन्तु फिर भी संस्थाएँ ज्यों की त्यों बनी ही रहती हैं। प्रायः सब ही समाजों में प्रमुख संस्थाएँ तो समस्त परिवर्तनों के पश्चात् भी बनी ही रहती हैं। किसी एक युग में भारतवर्ष के ही किन्हीं स्थानों में देवालय केवलमात्र उपासना के ही स्थान नहीं थे वरन् वहाँ शिक्षा, कला आदि का भी प्रसार एवं प्रचार-कार्य किया जाता था। इसी प्रकार एक ऐसा भी युग था जब

कि पुरोहित अथवा धार्मिक नेता शासकों का राजनीतिक क्षेत्र में भी पथ-प्रदर्शन किया करते थे। सम्भवतः इसीलिए संस्थाएँ बनी भी रहती हैं कि वे अनेकानेक कार्य करती हैं। एक संस्था के कार्यों का कुछ भार कोई दूसरी संस्था ले सकती है किन्तु इससे पहली संस्था की उपयोगिता एकबारगी समाप्त नहीं हो जाती है। वह कोई दूसरा कार्य ले लेते हैं और उस कार्य के अतिरिक्त जो कि दूसरी संस्था ने ले लिया है उसके पास तो और भी कार्य रहते ही हैं।

सामाजिक ढाँचे का आधार संस्थाएँ—यह तो हम देख ही चुके हैं कि किसी भी समाज के ढाँचे के प्रमुख आधार ही नहीं वरन् अंग भी वे संस्थाएँ होती हैं जो कि सामाजिक कार्य करती हैं। इन संस्थाओं के अस्तित्व को बनाये रखने के लिए किन शक्तियों आदि की आवश्यकता है यह भी हम देख चुके हैं। अब देखना यह है कि प्रायः ये संस्थाएँ कौन कौन सी होती हैं। यूँ तो मानव की नैसर्गिक माँगों एवं आवश्यकताओं के आधार पर हमने देखा ही था कि बालक के लालन-पालन करने और उसकी रक्षा करने के लिए परिवार की आवश्यकता होती है। जीवन-क्षेत्र में आने के योग्य होने के लिए शिक्षा-संस्थाओं की आवश्यकता पड़ती है और जीवन-यात्रा के लिए आवश्यक साधन जुटा पाने के लिए आर्थिक संस्थाओं एवं आर्थिक व्यवस्था की आवश्यकता होती है। सामाजिक जीवन को सहज-सुलभ एवं आनन्दप्रद बनाने के लिए सामाजिक सम्बन्धों को सुलझ करनेवाली क्लब आदि क्रीड़ा एवं मनोरंजन की संस्थाओं की आवश्यकता होती है और मानव के विश्वासों को बल देने के लिए धार्मिक संस्थाओं की आवश्यकता है किन्तु इन सब ही संस्थाओं को तथा इस सम्पूर्ण व्यवस्था को बनाये रखने के लिए प्रशासकीय अथवा राजनीतिक संस्थाओं की भी आवश्यकता होती है।

अध्याय ८

संस्थाएँ

परिवार—समाज में सम्भवतः सर्वाधिक आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण प्रमुख संस्था अथवा समूह परिवार ही है। बालक के लिए तो वही सम्पूर्ण समाज है। प्रागैतिहासिक काल से ही परिवार का अस्तित्व चला आ रहा है। सम्भवतः इस समूह की नींव अन्य अनेकों संस्थाओं और समूहों से पूर्व इसलिए डाली गई कि यह मानव के सामाजिक जीवन के लिए अवत्यावश्यक है। यद्यपि प्रारम्भ में यह बालक के लिए समुदाय का ही कार्य करता है तथापि ज्यों-ज्यों बालक बढ़ता जाता है परिवार का बन्धन उसके लिए वैसा नहीं रह जाता है जैसा कि आरम्भ में था। वस्तुतः अन्य किसी भी संस्था अथवा संगठन की अपेक्षा परिवार अधिक सच्चे अर्थों में एक प्रक्रिया के रूप में चलता है। इसका अध्ययन तो उन परिवर्तनों को देखकर ही किया जा सकता है जो कि समय-समय पर इसमें होते रहे हैं और होते रहते हैं। एक ओर तो परिवार मानव जीवन के सामाजिक संगठनों के लिए अत्यावश्यक है क्योंकि प्रायः यही एक ऐसा प्रमुख सामाजिक समूह है जो कि प्रायः सब ही मानव समाजों में युग-युगान्तर से चला आ रहा है और दूसरी ओर परिवार की व्यक्ति के लिए भी अत्यधिक आवश्यकता होती ही है। यद्यपि पारिवारिक संगठन का आधार सत्ता अथवा अधिकार की अपेक्षा आत्मीयता अधिक है। उसके सदस्यों में परस्पर रक्त सम्बन्ध होता है अतः पारिवारिक व्यवस्था को बनाये रखना कुछ अधिक कठिन एवं कृत्रिम नहीं होता है फिर भी परिवार में भी स्नेह और सहानुभूति, रक्त सम्बन्ध और प्रेम के रहते हुए भी श्रम-विभाजन भी होता है और उत्तरदायित्व का बँटवारा भी, अधिकारों का प्रदर्शन भी होता है और उनका पालन करना करवाना भी, प्रभुत्व और आज्ञाकारिता दोनों की ही स्पष्ट अभिव्यक्ति होती है। अतः प्राकृतिक नींव पर खड़ा होते हुए भी परिवार किसी भी सामाजिक संस्था का ही एक रूप होता है। बरजस और लॉक तो यहाँ तक मानते हैं कि ऐतिहासिक युग के परिवर्तन काल से ही परिवार संस्था की रूपरेखा

और कार्य-प्रणाली और व्यवहार जनमत विधि आदि के द्वारा नियंत्रित होती हुई स्नेह और सहमति की ओर बढ़ती ही जा रही है।

परिभाषा—मैकआईवर और पेज के मतानुसार परिवार वह समूह है जिसका कि आधार सीमित एवं संयमित यौन सम्बन्ध है और जिसके द्वारा बालकों का जन्म और लालन पालन होना सम्भव होता है। यद्यपि परिवार में केवल पति पत्नी ही होते हों, ऐसी बात नहीं है किन्तु परिवार का मुख्य आधार पुरुष और स्त्री का साथ रहना और सन्तान उत्पन्न करना ही है। बरजस और लाक यह कह कर परिवार की परिभाषा करते हैं कि यह वह समूह है जो कि विवाह, रक्त सम्बन्ध अथवा गोद लेने आदि से बँधा हुआ है। इसमें एक घर बनाकर पति-पत्नी, माता-पिता, बहन-भाई अपनी-अपनी सामाजिक पृष्ठभूमिकाओं में रहते हुए एक दूसरे को अन्तः प्रभावित करते हैं तथा स्वयं भी इसी प्रकार प्रभावित होते हुए अन्तः संगठित होकर एक साझे की संस्कृति का निर्माण करते हैं।' आगबर्न और निमकौफ परिवार को एक स्वतन्त्र केन्द्र मानते हैं जो कि अन्य संस्थाओं अथवा सामाजिक केन्द्रों से पृथक् रह कर ही अपना कार्य करता जाता है। निमकौफ तो उसे सन्तान सहित अथवा सन्तान रहित पति-पत्नी की स्थायी समिति मानते हैं।' परिभाषा भले ही किसी प्रकार कीजिए किन्तु परिवार में पुरुष और स्त्री का एकत्रित रहना तो आवश्यक होता ही है, इसके अतिरिक्त भी कुछ एक ऐसी समताएँ हैं जो कि विश्व के सब ही समाजों के परिवारों में पाई जाती हैं। इस प्रकार के व्यापक तत्त्वों अथवा समताओं में से एक तो स्त्री और पुरुष का प्राकृतिक सम्बन्ध ही है और दूसरी है किसी न किसी रूप में विवाह विधान अथवा किसी न किसी रूप में इस प्रकार के प्राकृतिक सम्बन्ध के लिए समाज की स्वीकृति प्राप्त करना। प्रायः सब ही समाजों में किसी प्रकार का पारिवारिक नाम भी प्रत्येक परिवार की निजी सम्पत्ति सी होती है। यह उत्तराधिकार की भाँति परिवार के सब ही सदस्यों की समान रूप से सम्पत्ति होती है। परिवार में आर्थिक समस्याओं को हल कर पाने की भी कोई न कोई व्यवस्था होती ही है। और इस व्यवस्था में सन्तानोत्पत्ति तथा सन्तान के लालन-पालन करने से सम्बन्धित व्यय की व्यवस्था भी की ही जाती है। परिवार का एक ही निवास स्थान होता है जिसमें कि परिवार के सब ही व्यक्ति एक साथ रहते हैं। यद्यपि विश्व के सब ही समाजों में परिवार से सम्बन्धित

यह तथ्य पाये ही जाते हैं तथापि विभिन्न समाजों में इनका रूप भिन्न-भिन्न होता है जैसे कि स्त्री पुरुष के एकत्रित होने अथवा किए जाने को ही लेकर विभिन्न समाजों ने विभिन्न प्रकार की प्रथाएँ बनाई हुई हैं। किसी समाज में स्त्री पुरुष की खोज करती है और किन्हीं अन्य समाजों में पुरुष स्त्री की खोज करता है। किसी-किसी समाज में माता-पिता बालक और बालिका को विवाह बन्धन में बाँधकर एकत्रित करते हैं। ऐसी अवस्था में भी कहीं पर बालिका का पिता बालक की खोज करता है और कहीं पर बालक का पिता बालिका की खोज करता है। इसके अतिरिक्त कहीं वे दोनों विवाह होने के पश्चात् बालक के पिता के घर में ही रहने लगते हैं और उसी परिवार का अंग बन जाते हैं तथा उसी परिवार के नाम को बालिका भी ग्रहण कर लेती है और कहीं-कहीं इससे ठीक उलटा भी होता है। कहीं बालक बालिका के परिवार में सम्मिलित कर लिया जाता है और कहीं दोनों अपना नवीन घर बसाते हैं। इसी प्रकार विवाह की भी विभिन्न प्रणालियाँ होती हैं। विवाह सम्बन्धी प्रथाएँ भी भिन्न-भिन्न होती हैं। परिवार की आर्थिक समस्याओं के हल करने की रीति नीति भी विभिन्न समाजों में भिन्न-भिन्न हैं और परिवार में श्रम विभाजन के सिद्धान्त और आधार भी भिन्न-भिन्न हैं। यहाँ तक कि परिवार की समस्याएँ भी देश काल आदि के अनुसार विविध प्रकार की हैं। किन्तु इन सब भिन्नताओं एवं विविधताओं के होते हुए भी प्रायः परिवार में ये सब ही तथ्य किसी न किसी मात्रा में सब ही समाजों में पाये जाते हैं।

परिवार-संस्था की विशेषताएँ—प्रायः समाज में स्थित सब ही सामाजिक संस्थाओं से अधिक महत्त्वपूर्ण 'परिवार' होता है। परिवार सामाजिक जीवन को पूर्ण रूप से प्रभावित करता है तथा इसमें होनेवाले परिवर्तन समस्त समाज पर अपना प्रभाव डालते हैं। यहाँ तक कि पारिवारिक परिवर्तन किसी एक सीमा तक समाज के सम्पूर्ण ढाँचे को ही परिवर्तित करने में समर्थ होते हैं। इसकी कुछ प्रमुख विशेषताएँ भी हैं जो कि इसे अन्य सामाजिक संस्थाओं से अधिक महत्त्वपूर्ण बनाती हैं। इनमें से एक तो हम देख ही चुके हैं। प्रायः सब ही संस्थाओं से अधिक व्यापक परिवार संस्था है। विश्व के सब ही समाजों में 'परिबार' पाए जाते हैं और आज ही नहीं प्रायः सामाजिक विकास के सब ही स्तर एवं सोपानो पर परिवार का अस्तित्व दिखाई देता है।

परिवार की नींव मानव की प्रकृति के कुछ एक नैसर्गिक संस्कारों अथवा तत्त्वों पर है जैसे कि स्त्री-पुरुष का परस्पर आकर्षण एवं सम्बन्ध, सन्तानोत्पत्ति, माता की सन्तान के प्रति ममता, पिता की सन्तान के लालन पालन सम्बन्धी आर्थिक भार वहन की प्रबल इच्छा। साधारण वासना से लेकर जात्याभिमान तक की भावनाएँ तक परिवार की स्थापना एवं निर्माण में कार्य करती है किन्तु और जो भी कुछ हो परिवार का आधार मानव के नैसर्गिक संस्कार और भावनात्मक प्रवृत्तियाँ भी हैं। परिवार का व्यक्ति के निर्माण में बहुत कुछ हाथ होता है। माता पिता अथवा पूर्वजों के प्रभाव न केवल बालक के शरीर पर ही पड़ते हैं वरन मन पर भी पड़ते ही हैं। माता-पिता, दादा-दादी आदि के कुछ रोग तो बालक ले ही लेता है प्रायः परिवार की शारीरिक रूप रेखा और माता-पिता का स्वस्थ एवं अस्वस्थ होना भी बालक के शरीर को बहुत कुछ प्रभावित करता है। परिवार की गुण गरिमा आदि लेकर भी बालक जीवन में बढ़ता है किन्तु इन सब के अतिरिक्त भी बालक के चरित्र निर्माण में और किसी एक सीमा तक बौद्धिक विकास में भी परिवार का हाथ होता ही है। व्यक्ति ही समाज को बनाते हैं अतः परिवार का व्यक्ति को बनाना परोक्ष रूप से समाज का ही निर्माण करना है।

परिवार सीमित होता है। परिवार के सदस्यों की सदस्यता स्वेच्छा पर निर्भर न होकर निर्भर होती है रक्त सम्बन्ध पर जो कि न तो सरलता से सहज में जोड़ा ही जा सकता है और न तोड़ा ही जा सकता है अतः अन्य सामाजिक संस्थाओं की भान्ति इसकी सदस्यता बहुत अधिक हो ही नहीं सकती है। यहाँ तक कि जहाँ सम्मिलित परिवार की प्रथा भी है वहाँ भी सदस्यता बहुत अधिक किसी भी अवस्था में नहीं हो सकती है और आज के युग में आनुवंशिक सम्बन्ध भी कुछ बहुत दूर तक नहीं लगाए जाते हैं अतः बिरादरी परिवार की सीमाओं से कुछ दूर पर ही रह सकती है। किसी भी अवस्था में परिवार की सदस्यता सीमित होने के कारण संस्था का अपने सदस्य पर न केवल घना और गहरा प्रभाव ही होता है वरन् परस्पर अन्तः सम्बन्ध भी बहुत गहरे और घने होते हैं।

किसी एक युग में तो समुदाय परिवारों का समूह मात्र ही हुआ करता था किन्तु वैज्ञानिक ज्ञान के प्रसार से तथा औद्योगिक उन्नति, मिल कारखानों तथा नगरों की स्थापना आदि से पारिवारिक दबाव

और पारिवारिक एकता के आधार पर समाज निर्माण की सम्भावना यद्यपि न्यून हो गई है फिर भी परिवार को किसी एक सीमा तक तो आज भी समाज का केन्द्र बिन्दु (Nucleus) माना जा सकता है। कुछ उद्योग धन्धों आदि में तो आज भी कुछेक परिवारों का ही प्रमुख महत्त्व रहता है।

सदस्य का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य एवं उत्तरदायित्व भी अपने परिवार के ही प्रति रहता है यद्यपि उसे समय-समय पर समाज की अन्य संस्थाओं के भी प्रति अपने कर्त्तव्य को निबाहना पड़ता है। यहाँ तक कि कभी-कभी तो उसे देश-राष्ट्र एवं ऐसी ही अन्य सामाजिक संस्थाओं के लिए आत्म-त्याग एवं आत्म बलिदान भी करना पड़ता है किन्तु यह तो कभी-कभी आवश्यकता पड़ने पर ही होता है। परिवार के लिए तो उसे सदा-सर्वदा कर्त्तव्य परायण बना ही रहना पड़ता है और इस प्रकार के उसके कर्त्तव्यों का यावज्जीवन कभी अन्त नहीं होता है। यही नहीं, परिवार सम्बन्धी गुरु उत्तरदायित्व उसे अपनी निजी आवश्यकताओं एवं हितों की अपेक्षा अपने परिवार के अन्य सदस्यों की आवश्यकताओं एवं हितों की ओर अधिक ध्यान देने के लिए विवश करते हैं। यद्यपि इस प्रकार अपनी निजी आवश्यकताओं का दूसरे अर्थात् अपने परिवार के व्यक्तियों के लिए बलिदान कर देना कुछ व्यक्ति को परोपकारी नहीं बना देता है क्योंकि इस प्रकार का बलिदान उसकी नैतिक निर्णात्मक अथवा कर्त्तव्य बुद्धि के द्वारा चुना हुआ मार्ग नहीं होता है, वरन् होता है ममता के कारण उत्पन्न हुआ आत्मतुष्टि का उपाय। वस्तुतः माता-पिता में परिवार के प्रति स्वाभाविक ममता, मोह कुछ इतना अधिक होता है कि वे परिवार के प्रति अपने उन उत्तरदायित्वों को पूरा कर पाने के लिए जिनकी कि उन्होंने पहले कल्पना भी न की होगी और जिनके लिए वे तत्पर भी नहीं होते हैं अपने सुखों का बलिदान कर देते हैं।

प्रायः सब ही समाजों में परिवार की आधार शिला प्रथाओं और कानून के द्वारा बहुत ही मजबूत कर दी जाती है। विवाह की रीति-नीति और उससे उत्पन्न होने वाले उत्तरदायित्वों में परिवर्तन करना पति-पत्नी की इच्छा अथवा आपसी समझौते पर निर्भर नहीं होता है वरन् कानून के द्वारा निश्चित किये जाते हैं और किसी भी प्रकार से दोनों परस्पर समझौता करके उन्हें परिवर्तित नहीं कर सकते हैं।

प्रायः बहुत से समाजों में आज दिन विवाह बन्धन में बँधने की स्वाधीनता तो किसी एक सीमा तक पुरुष-स्त्री को दे दी गई है किन्तु उससे मुक्ति पाने की तथा उससे सम्बन्धित उत्तरदायित्वों को पूरा न करने की छूट सरलता से किसी भी अवस्था में नहीं दी जाती है।

यह सब होते हुए भी परिवार संस्था तो स्थायी होती है किन्तु परिवार समिति अस्थायी ही होती है। मैक आइवर और पेज के मतानुसार परिवार के निर्माण का आरम्भ वहाँ से होता है जहाँ से कि पुरुष और स्त्री का साथ रहना निश्चित हो जाता है। इस प्रकार के निश्चय के कारण विविध हो सकते हैं जैसे कि माता-पिता का एकत्रित कर देना अथवा एक दूसरे के प्रति आकर्षण उत्पन्न हो जाना आदि आदि। दूसरी अवस्था वह होती है जब कि दोनों एक स्थान पर रहकर पारिवारिक वातावरण बनाते हैं, एक दूसरे की सुविधाओं का ध्यान रखते हैं तथा एक दूसरे को समझने लगते हैं। तीसरी अवस्था वह होती है जिसमें कि सन्तानों के माध्यम से पति-पत्नी में एकता की स्थापना होती है तथा एक ही सी उत्तरदायित्व की भावना उत्पन्न होती है और चौथी अवस्था वह होती है जिसमें कि माता-पिता की सहायता की आवश्यकता बालकों को नहीं रह जाती है और वह अपना संसार बसा लेते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि सब ही परिवार इन सब ही अवस्थाओं में से होकर निकलते हों। गिलिक इसी पारिवारिक प्रक्रिया की तीन अवस्थाओं की चर्चा करते हैं। उनके विचारानुसार विवाह और सन्तानोत्पत्ति के बीच की अवधि पहली अवस्था होती है। इसी काल में स्त्री और पुरुष एक दूसरे के अधिकाधिक निकट आते हैं और एक दूसरे के प्रति समीकरण तथा आनुकूल्य सम्बन्ध स्थापित करते हैं। दूसरी अवस्था बालक के जन्म के पश्चात् की अवस्था है जिसमें कि माता और पिता दोनों ही अपने अपने कर्त्तव्य भार का अनुभव करते हैं और उसे वहन करने में संलग्न हो जाते हैं और इस काल में परिवार में बालक के प्रति माता और पिता दोनों के ही प्रेम उत्पन्न हो जाने के कारण नवीन वातावरण उपस्थित हो जाता है और तीसरी अवस्था में माता-पिता के बालकों के प्रति कर्त्तव्य समाप्त हो जाते हैं और वे फिर एक दूसरे के अधिकाधिक निकट सम्पर्क में आ जाते हैं।

बोसार्ड पारिवारिक अन्तःक्रियाओं को इस प्रकार के नियम में रख कर देखने की चेष्टा करते हैं कि परिवार में प्रत्येक नवीन व्यक्ति

के आ जाने से व्यक्तियों की संख्या वृद्धि समानान्तर क्रम से होती है किंतु दूसरी ओर व्यक्तिगत अन्तःसम्बन्धों की संख्या में समानान्तर क्रम से वृद्धि न होकर होती है त्रिकोणात्मक संख्याओं के क्रम से। इसका तो स्पष्ट ही यह तात्पर्य हुआ कि परिवार में सदस्यों की संख्या वृद्धि होने से अन्तःसम्बन्धों की अत्यधिक वृद्धि होने लगती है और संख्या वृद्धि के साथ ही साथ इस प्रकार की वृद्धि का क्रम भी उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है। हो सकता है कि जिस प्रकार सदस्य संख्या वृद्धि सदस्यों की अन्तःक्रियाओं एवं अन्तःसम्बन्धों में वृद्धि कर देती है उसी प्रकार सदस्यों की संख्या में न्यूनता अन्तः क्रियाओं की प्रक्रिया की तीव्रता को न्यूनतर देता हो यद्यपि यह कहना कुछ कठिन ही जान पड़ता है।

परिवार का उद्गम—यद्यपि परिवार के उद्गम के सम्बन्ध में विभिन्न विचारकों ने भिन्न-भिन्न मत दिये हैं फिर भी यह तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि परिवार भी नींव के दो प्रमुख पत्थर तो हैं यौनाकर्षण तथा सन्तानोत्पत्ति और वात्सल्य। यद्यपि सब ही प्रकार के जीवचरों में परिवार का होना नहीं पाया जाता है फिर भी अधिकांश बड़े पशु-पक्षियों में इस प्रकार की एकता का होना माना जा सकता है। यहाँ तक कि चिड़ियों में तो प्रायः जोड़े बनते हैं तथा मादा बच्चे की रक्षा और पालन करती है। नर और मादा दोनों मिल कर घोंसला बनाते हैं तथा उड़ना सिखाते हैं। कुछ अन्य पशुओं गोरिल्ला, शिपाञ्जी आदि में भी किसी एक सीमा तक पारिवारिक एकता तथा संगठन के चिह्न दिखाई देते हैं।

कुछ काल पूर्व तो कुछ समाज शास्त्रियों ने यह अपना निश्चित मत सा ही बना लिया था कि परिवार की उत्पत्ति का मुख्याधार काम प्रवृत्ति ही थी तथा परिवार संस्था की उत्पत्ति से पूर्व स्त्री और पुरुष के शारीरिक सम्बन्धों पर किसी प्रकार की सामाजिक रोक अथवा सामाजिक नियन्त्रण नहीं था। स्त्री और पुरुष सामूहिक उपभोग की वस्तु थे और मानव के प्रारम्भिक समाज (Original state of mankind) को वे विचारक इसी प्रकार का समाज मानते हैं (of sexual promiscuity) और उस समाज में प्रचलित विवाह को सामूहिक विवाह अथवा सामूहिक वैवाहिक सम्बन्ध (Hetairism) कहा जा सकता है। कई एक विद्वानों की इस विचार को लेकर सहमति होते हुए भी विवाह की उत्पत्ति के प्रश्न को लेकर उनमें परस्पर

मतभेद भी दृष्टिगोचर होता है। उदाहरणार्थ बैखोफ़न यह मानते हैं कि स्त्रियाँ-पुरुषों के उपभोग की सामूहिक वस्तु बनते-बनते इतनी तंग आ गई कि उन्होंने ही अपने विद्रोह के द्वारा परिवार की स्थापना करवाई। मैकलीनान ठीक इससे विरोधी मत रखते हैं। उनके विचार में पुरुष ने सम्पत्ति की भाँति ही अपनी निजी स्त्री रखना चाहा और प्रारम्भ में ऐसा होना सम्भव नहीं था अतः वह दूसरे मानव समाजों से स्त्रियाँ लाने लगा।

किसी भी अवस्था में यदि पूर्वावस्था स्वच्छन्द सदाचार की अवस्था मान ही ली जाए तो फिर यह भी मानना पड़ेगा कि ऐसी अवस्था में प्रभुत्व माता का ही होता होगा और तत्पश्चात् सम्भवतः वंशानुक्रम भी मातृवंशानुक्रम ही के रूप में आरंभ हुआ होगा। प्रारंभिक अवस्था में यद्यपि मातृ-सत्ता के कुछ उदाहरण मिलते हैं और आज भी एक आध तो दिखाई दे ही जाते हैं किंतु इन उदाहरणों को प्रबल प्रमाण तो माना नहीं जा सकता है क्योंकि इसी प्रकार के प्रमाण हमें पितृ-सत्ता के भी मिलते ही हैं। इसके अतिरिक्त ऐसी अवस्था में तो यह भी मानना पड़ेगा कि मातृ-सत्ता की स्थापना केवल उसी अवस्था में हो पाई थी जब कि संतान के जनक का नाम माता के लिए भी अज्ञात ही रहा करता था किंतु यह तो कोई अकाट्य तर्क नहीं है। कुछ ऐसे समाजों के उदाहरण भी मिलते हैं जहाँ कि पिता के नाम का पूर्ण निश्चय होते हुए भी माता की ही सत्ता चलती है तथा वंशानुक्रम भी माता से ही चलता है। इस प्रकार की प्रथा का एक जीवित उदाहरण तो मालाबार की कुछ जातियों में तथा त्रावनकोर के राज घराने में देखा जासकता है।

आज तो संसार की अधिकांश जातियों में वंशानुक्रम भी पिता से ही चलता है और परिवार भी पितृसत्ता के ही आधार पर संगठित एवं व्यवस्थित होते हैं। यद्यपि कुछ एक मातृसत्तात्मक परिवार भी यदा कदा मिलते हैं किन्तु उनकी संख्या प्रायः नगण्य है और वे प्रायः अपेक्षाकृत न्यून सभ्य समाजों में ही दिखाई पड़ते हैं। वेस्टरमार्क डार्विन के ही सिद्धान्त का समर्थन करते हुए यह मानते हैं कि परिवार का आरम्भ पुरुष की ईर्ष्या और अधिकार भावना से हुआ। बहु विवाह को वह मानव की साधारण प्रवृत्तियों का द्योतक नहीं मानते हैं और उसे पशु जगत् के लिए ही उपयुक्त मान लेते हैं। इस सम्बन्ध में वेस्टरमार्क कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्य भी उपस्थित करते हैं। ब्रुफौल्ट ने

वेस्टरमार्क के मत की तीव्र आलोचना की है और अपने मत के समर्थन में उन्होंने कुछ ऐसे प्रारम्भिक समुदायों की भी चर्चा की है जिनमें कि मातृसत्ता ही प्रबल थी। उनका तो यहाँ तक भी विचार है कि कुछ प्रारम्भिक समाजों के पुरुषों को तो पितृत्व और प्रणयजन्य ईर्षा का ज्ञान तथा अनुभव ही नहीं था। उनके मतानुसार माता की, अपनी तथा बालक की सुरक्षा तथा आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति सम्बन्धी माँगों के फलस्वरूप ही परिवार संस्था की स्थापना की गई। इस तर्क को मानने पर तो यह मानना ही होगा कि परिवार का प्रारंभिक रूप मातृसत्तात्मक था और कृषि का आविष्कार हो चुकने पर ही पितृ-सत्तात्मक परिवार की स्थापना हुई।

वस्तुतः वेस्टरमार्क और ब्रफौल्ट दोनों के ही तर्कों में कुछ न कुछ बल तो अवश्य है किन्तु दोनों के ही तर्क सर्वथा मान्य एवं अकाट्य नहीं हैं अतः उनमें से किसी भी एक उद्गम सिद्धान्त को मान लेना भूल ही होगी।

वास्तव में परिवार के उद्गम के किसी एक निश्चित सिद्धान्त को खोजना ही एक भूल है। नृशास्त्रियों की खोजों ने यह तो सिद्ध कर ही दिया है कि मानव के जीवन में किसी एक दिन एक स्थान पर बैठकर तो परिवार की सृष्टि की ही नहीं गई थी। यहाँ तक कि परिवार के उद्गम की चर्चा भी इस दृष्टि से नहीं की जा सकती है कि मानव जीवन में किसी भी समय परिवार का नितान्त अभाव था और फिर कोई एक ऐसी अवस्था उत्पन्न हुई जिसमें कि परिवार की स्थापना हो गई। इसके अतिरिक्त जैसा कि लिन्टन विश्वास करते हैं सब ही समाजें किसी एक विकास के सिद्धान्त के अनुसार तो विकसित भी नहीं होती रही हैं। अपने विकास के पथ पर बढ़ते हुए विभिन्न समाजों ने विविध मार्ग लिये हैं। अतः किसी भी एक सिद्धान्त को लेकर परिवार के उद्गम की व्याख्या करने की चेष्टा भी नहीं करना चाहिए और ना ही यह प्रयत्न करना चाहिए कि किसी एक उद्गम को ही निश्चित मान कर शेष सब ही प्रकार के सिद्धान्तों को बरबस उसी के अन्तर्गत रख कर देखा जाये। परिवार का उद्गम मानव की शारीरिक वासनात्मक क्षुधा का फल हो सकता है किन्तु उपभोग की वस्तु नारी पर अपना ही एकाधिपत्य जमाने की पुरुष की भावना से भी माता की सुरक्षा सम्बन्धी इच्छा से भी तथा स्त्री और पुरुष दोनों की ही वात्सल्य भावना से भी तो हो सकता है, अतः मैकआईवर तथा पेज के मतानुसार यह

मान लेने में ही कुशल है कि मानव की विविध चेतन माँगों, आवश्यकताओं और इच्छाओं को विविध प्रकार के वातावरण में विविध रीति से अभिव्यक्ति मिल पाई और उन्हीं के द्वारा परिवार संस्था का विभिन्न स्थानों एवं समाजों में जन्म हुआ।

परिवार का विकास— परिवार के विकास का आधार बहुत कुछ स्त्री पुरुष के प्राकृतिक सम्बन्धों को निश्चित, सुरक्षित, संयमित और प्रतियोगिता से परे रखने की भावना भी हो सकती है। इसके साथ ही साथ दो इस प्रकार के सम्बन्ध से सम्बधित व्यक्तियों में परस्पर प्रशंसा की भावनाओं और उनके साथ संलग्न स्थायी हित की भावनाओं का स्थापित हो जाना भी सर्वथा स्वाभाविक ही है। परिवार इन भावनाओं को अभिव्यक्ति दे पाता है अतः परिवार की आवश्यकता होती ही है। प्रायः इसी प्रकार की भावनाओं की चर्चा सब ही समाजों की परम्परागत कथाओं, रूढ़ियों आदि में भी मिलती है। मानव की दूसरी प्रबल इच्छा सन्तानोत्पत्ति की होती है और उसकी चर्चा भी प्रायः जातीय, वंशीय प्रथाओं आदि में वंश गौरव के रूप में अथवा संपत्ति के उत्तराधिकारी के अस्तित्व की नितान्त आवश्यकता के रूप में पाई जाती है। इसी के साथ-साथ परिवार माता-पिता की वृद्धावस्था एवं असहायावस्था की समस्याओं को भी बहुत कुछ हल कर देता है। आर्थिक आवश्यकताएँ भी बहुत कुछ परिवार के विकास के लिए शर्त के रूप में खड़ी होती हैं।

वस्तुतः सब ही प्रकार के परिवारों में यह तीन बातें तो पाई ही जाती हैं फिर भी किसी भी एक समाज में किस प्रकार का परिवार प्रतिमान उत्पन्न होता है इसका निश्चय उस समाज की अथवा समूह की सामाजिक एवं आर्थिक अवस्था को देख कर ही किया जा सकता है। ये तीनों प्रमुख आवश्यकताएँ भले ही मानव के नैसर्गिक संस्कार ही रहे हों किन्तु यह तो आवश्यक है ही नहीं कि सदा-सर्वदा और सब कहीं मानव के नैसर्गिक संस्कारों ने एक ही ढङ्ग से अभिव्यक्ति और विकास प्राप्त किया हो। यही नहीं, समाज की सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था उस समाज के सदस्यों—स्त्री और पुरुष के स्थान को भी तो किसी एक सीमा तक निश्चित करती है। ऐसे समाज में जहाँ कि भूमि के बहुत ही छोटे-छोटे टुकड़े जनसाधारण की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए रह गये हों एक स्त्री के साथ बहुत से पुरुषों

के विवाह होने की प्रथा की उत्पत्ति सम्भव है ताकि परिवार के सब ही बच्चों को वह थोड़ी सी धरती मिल सके जैसा कि तिब्बत में है। इसी प्रकार अन्य समाजों की आर्थिक स्थिति भी वहाँ की सामाजिक प्रथाओं और विशेषतया पारिवारिक संगठन व्यवस्था पर प्रभाव डालती ही है।

परिवार के प्रकार—यह तो हम देख ही चुके हैं कि परिवार दो ही प्रकार के हो सकते हैं मातृसत्तात्मक एवं पितृसत्तात्मक। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है मातृसत्तात्मक परिवार में परिवार की सम्पूर्ण व्यवस्था का संचालन माता अथवा पत्नी द्वारा ही होता है अतः सम्पूर्ण सत्ता का केन्द्र स्त्री ही होती है। यद्यपि कुछ पुरातन संस्कृतियों एवं समाजों में स्त्री के हाथ में बहुत से अधिकार रहे फिर भी यह कहना कठिन है कि कभी-कभी विश्व में अधिकांश समाजों में मातृसत्तात्मक परिवार रहे होंगे। ऐसे परिवारों में माता के ही नाम पर पारिवारिक नाम चलता होगा तथा मातृरक्त से ही परिवार के सम्मान का मामदण्ड निश्चित किया जाता होगा। पारिवारिक सम्पत्ति वैभव की अधिकारिणी भी स्त्री ही होती होगी तथा परिवार के प्रशासन का कार्य भी स्त्री द्वारा ही सम्पन्न होता होगा। पितृसत्तात्मक परिवार में यह सब कार्य पिता के द्वारा होते हैं और वंश गौरव आदि भी पिता के आधार पर निश्चित किया जाता है। प्रायः अधिकांश आधुनिक समाजों में यही व्यवस्था प्रचलित है।

प्रायः अठारहवीं शताब्दी तक तो पुरुष का महत्त्व परिवार में चलता ही रहा। यहाँ तक कि अनेकों समाजों में नारी को किसी भी प्रकार से राजनीतिक अथवा प्रशासन सम्बन्धी कार्यों में भाग लेने का भी अधिकार नहीं था। अठारहवीं शताब्दी के अन्त में यूरुप तथा अन्य देशों में नारी जाग्रति के चिह्न दिखाई देने लगे और स्त्रियों ने न केवल पुरुषों के समान सब ही क्षेत्रों में कार्य करने की स्वाधीनता की की माँग की वरन् तदुपयुक्त शिक्षा दीक्षा तथा मताधिकार की भी माँग की। इससे पूर्व यह विश्वास किया जाता था कि नारी के लिए उपयुक्त कर्मक्षेत्र घर ही है और उसकी शिक्षा-दीक्षा ऐसी ही होनी चाहिए जो कि उसे पुरुष के लिए उपयुक्त नारी बना सके किन्तु अब नारी ने यह माँग की कि उसे अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व बनाने की भी सुविधाएँ मिलना चाहिए क्योंकि वह रूसो के विचारानुसार केवल मात्र पुरुष की प्रसन्नता

के लिए ही नहीं है वरन् उसका अपना भी स्वतन्त्र अस्तित्व है और वह भी समाज की उतनी ही और वैसी ही उपयुक्त सदस्या है जैसा कि पुरुष है। धार्मिक और राजनीतिक जगत् की उन रूढ़ियों का बहिष्कार किया जाने लगा जो कि पुरुष को नारी की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ सिद्ध करती थीं। आर्थिक स्थिति में भी परिवर्तन के चिह्न दिखाई देने लगे और नारी ने भी जीविकोपार्जन करना आरम्भ कर दिया। परिणाम-स्वरूप पारिवारिक व्यवस्था और प्रतिमान में भी परिवर्तन होने लगे। वैज्ञानिक उन्नति ने औद्योगिक दृष्टि से भी नारी को जीविका उपार्जन करने के लिए अधिक उपयुक्त बना दिया क्योंकि शारीरिक श्रम का स्थान बहुत कुछ यन्त्र लेने लगे जिनमें शारीरिक बल की अपेक्षा बुद्धि की ही आवश्यकता अधिक थी। नारी के घर के बाहर काम करने के लिए आने से न केवल उसका महत्त्व ही बढ़ा, परिवार की आय भी बढ़ने लगी और धीरे-धीरे नारी के स्वयं जीविकोपार्जन की प्रथा बढ़ने लगी। साथ ही साथ उसकी घर की ही ओर सदा सर्वदा ध्यान देते रहने की प्रवृत्ति भी परिवर्तित हुई।

उधर उसे राजनीतिक अधिकार भी प्राप्त हुए और कुछ एक स्त्रियों ने उस क्षेत्र में प्रवेश करके सफलता भी प्राप्त की अतः परिवार के प्रति-मान परिवर्तित होने लगे। परिणामस्वरूप परिवार के ढाँचे में परि-वर्तन दिखाई देने लगे यद्यपि परिवार के प्रमुख कार्य जिनका आधार कि मानव की प्राकृतिक माँगें हैं जैसे के तैसे ही बने रहे। परिवार का एक प्रमुख कार्य है समाज के सदस्यों की वृद्धि करते रहना तथा उन्हें पारिवारिक एवं सामाजिक सम्पत्ति सौंपते जाना। प्रधानतः इस प्रकार का कार्य माताएँ ही किया करती हैं। अब माताओं के अधिकतर जीविका उपार्जन करने के हेतु बाहर ही रहने के कारण इस कार्य को पश्चिम के समाजों में तो नर्सिंग होम और नर्सरीयों को सौंपना आवश्यकसा ही हो गया है। माताओं के जीविका-उपार्जन के कार्य में संलग्न होने के कारण से अथवा मनोवृत्तियों में परिवर्तन होने के कारण से जनसंख्या वृद्धि का कार्य भी कुछ कम ही हो गया है। यद्यपि कुछ देशों में तो समाज की आवश्यकता के अनुसार बरबस जनसंख्या संयमित भी की जा रही है।

परिवार में नारी के कर्त्तव्यों में परिवर्तन हो जाने के कारण विवाह का सत्तात्मक प्रभाव भी नारी पर कुछ कम हो ही गया है और उस पर परिवार की ओर से रहनेवाला आर्थिक तथा धार्मिक दबाव भी

कम ही हो गया है अतः परिवार के नवीन प्रतिमानों के उदय होने की सम्भावना इस युग में दिखाई देने लगी है।

विवाह के प्रकार—पति-पत्नी के रूप में स्त्री और पुरुष के स्थायी रूप से एकत्रित रह पाने की व्यवस्था को विवाह कहते हैं। विवाह इस प्रकार की व्यवस्था के जन स्वीकृत अथवा समाज सम्मत होने का प्रमाण है। विवाह के प्रायः तीन प्रकार होते हैं। बहुभार्यता (Polygamy) बहुभर्तता (Polyandry) और एकभार्यता (Monogamy)।

बहुभार्यता एक युग में प्रायः विश्व के बहुत से समाजों में पाई जाती थी। सम्भवतः यह प्रथा उस युग से चली आ रही है जब कि दासत्व की प्रथा का प्रचलन था। युद्ध बन्दी के रूप में आई स्त्रियों को सम्भवतः विजेता पत्नियों अथवा उपपत्नियों के रूप में ग्रहण कर लेते थे। हो सकता है कि उसी युग में अथवा उसके आस-पास सौंदर्य के कारण क्रय की हुई स्त्रियाँ भी उप पत्नी के रूप में ही रख ली जाती हों। इस प्रकार की प्रथा का मुख्याधार स्त्री को सम्पत्ति समझना ही रहा होगा और उस अवस्था में जिस प्रकार एक पुरुष अनेकानेक घोड़े रख सकता था उसी प्रकार अनेकानेक पत्नियाँ भी रख सकता था। इस प्रथा के उद्गम के पीछे कुछ ऐसे कारण भी हो सकते हैं जैसे कि स्त्री और पुरुषों की संख्या में कुछ समाजों में विषमता का होना। बहुभार्यता का एक कारण हो सकता है किन्तु किसी भी अवस्था में एक मात्र कारण नहीं हो सकता है। पुरुष की कामवासना और विषयासक्ति तथा सदैव नवीनता की ही प्राप्ति की इच्छा भी इसका एक कारण हो सकती है। पुरुष की ओर से सामाजिक प्रतिष्ठा की इच्छा और धन की बाहुल्यता भी इस प्रथा का एक कारण हो सकता है। कोई भी धनी पुरुष अपने वैभव एवं एश्वर्य का प्रदर्शन अपनी सम्पत्ति के द्वारा ही तो कर सकता है। यदि नारी भी एक प्रकार की सम्पत्ति ही है तो पुरुष की उसकी संख्यावृद्धि करके निज वैभव के प्रदर्शन की इच्छा भी स्वाभाविक ही है। इसकी ओर स्त्री की आर्थिक दासता और जीविकोपार्जन की शक्ति हीनता उसे ऐसा करने के लिए विवश करती है। कहीं-कहीं पुत्रोत्पत्ति की कामना भी इस प्रथा का कारण हो सकती है किन्तु इस प्रथा का आरंभ तब ही हुआ होगा जब कि पुरुषों ने पर्याप्त धन संग्रह करना आरम्भ कर दिया होगा।

प्रायः सब ही समाजों की मानसिक अवस्था में अब तक बहुत कुछ

परिवर्तन हो गया है और आज दिन के सब ही सभ्य समाज बहुभार्यता के विरुद्ध हैं। अनेकों समाजों में तो इस प्रथा पर वैधानिक रूप से रोक लगा ही दी गई है। यद्यपि हिन्दू और मुस्लिम समाज में अभी तक इस प्रथा पर कोई वैधानिक बन्धन नहीं लगाया गया है फिर भी इसको प्रयोग में कुछ धनी लोग ही लाते हैं। हिन्दू समाज के लिए हिन्दू कोड बिल के द्वारा तो इस पर वैधानिक रोक लगाने की योजना की गई है।

संसार के कुछ समाजों में आज भी बहुभर्तृता प्रचलित है। कहीं-कहीं तो कई एक भाईयों की एक ही पत्नी होती है और कहीं-कहीं ऐसा भी होता है कि एक ही स्त्री के कई पति उस अवस्था में भी हो सकते हैं जब कि उनमें परस्पर कोई भी सम्बन्ध न हो। वस्तुतः साधारणतया इस प्रथा का प्रचलन नहीं है किन्तु कहीं-कहीं अत्यधिक आर्थिक कष्टों के अथवा कठोर परिस्थितियों के कारण यह प्रथा पाई जाती है। भारत के कुछ हिमालय के प्रदेशों, मालाबार के नायकों, नीलगिरि के टोड़ों तथा कुरुम्बों एवं उत्तर प्रदेश के जौनसार बावर के इलाके में यह प्रथा पाई जाती है। प्रायः यह प्रथा पहाड़ी इलाकों में तथा नीच समझे जानेवाले लोगों में पाई जाती है तथा इस प्रथा को सभ्य समाज में अत्यन्त नीची और निष्कृष्ठ समझा जाता है। इसप्रथा के दो ही कारण हो सकते हैं, एक तो पुरुष से स्त्रियों की संख्या का न्यून होना और दूसरा आर्थिक स्थिति का कष्टकर एवं कठोर होना। प्रायः अत्यन्त धनहीन इलाकों में ही यह प्रथा पाई जाती है।

एकभार्यता प्रायः आजकल सब ही सभ्य समाजों में प्रचलित विवाह का स्वरूप है। वस्तुतः होना तो यह चाहिए कि पति और पत्नी दोनों ही एकव्रती हों। एक पत्नीव्रत तथा एक पतिव्रत ही दाम्पत्य जीवन का आदर्श होना चाहिए। इससे परिवार की आधार भित्ति तो दृढ़ रहती ही है बालकों का जीवन भी अधिक सुरक्षित और स्वाभाविक होता है। बच्चों की देख-रेख भी अधिक अच्छी तरह होती है तथा उनका शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक एवं चारित्रिक विकास होने के भी समुचित अवसर मिल पाते हैं। सामाजिक अन्तःक्रियाएँ, अन्तःसम्बन्ध भी अधिक दृढ़ एवं हितकर ही होते हैं तथा परिवार की उपयोगिता भी ऐसी अवस्था में बढ़ जाती है।

विवाह सम्बन्धी नियम—प्रायः सब ही समाजों में रक्त की

सुरक्षा की दृष्टि से अथवा कुछ अन्य कारणों से विवाह के सम्बन्ध में कुछ नियम बना दिए जाते हैं तथा कुछ बन्धनों की भी सृष्टि कर दी जाती है।

प्रायः हिन्दुओं में एक गोत्र वालों में परस्पर विवाह नहीं होता है। यूँ तो कुछ हिन्दू बिरादरियों में कुछ एक उपनियम आदि बना कर विवाह को अत्यधिक संकुचित दायरे में ही सीमित कर दिया गया है किन्तु जान पड़ता है कि वे उपनियम उस काल की उपज हैं जब कि बालिकाओं को हर प्रकार से सुरक्षित रखना आवश्यक ही हो गया था। माता की पाँच पीढ़ियाँ और पिता की सात पीढ़ियाँ बचाकर विवाह करना उचित माना गया है। एक ही पिण्ड, गोत्र और प्रवर के दो व्यक्तियों में परस्पर विवाह नहीं होना चाहिए ऐसा माना जाता है किन्तु वर और वधू की जाति एक ही होनी चाहिए। यद्यपि अपनी जाति अथवा वर्ण के भीतर कोई भी व्यक्ति सगोत्र और सपिण्ड को छोड़कर अन्य कन्या से विवाह कर सकता है किन्तु वर्ण की परिधि से बाहर जाना अनुचित हैं ऐसा माना जाता है।

वैज्ञानिक युग के आने के पश्चात् से ही इन प्रतिबन्धों के प्रति उदासीनता प्रकट की जाने लगी है। यहाँ तक कि पहले की अपेक्षा अब अन्तर्जातीय विवाहों का भी प्रचलन बढ़ता ही जाता है। इस प्रकार के परिवर्तन तो समाज में होने वाले परिवर्तनों के अवश्यंभावी परिणाम हैं ही और इन्हीं के आधार पर धीरे-धीरे परिवार संस्था के प्रतिमानों में भी परिवर्तन होंगे ही। किसी न किसी रूप में विवाह सम्बन्धी प्रतिबन्ध तो सब ही कहीं प्रचलित हैं। जहाँ भी कहीं दो व्यक्तियों के परस्पर विवाह नहीं हो सकते हैं क्योंकि वे ऐसे वर्गों के हैं जिनमें विवाह होना सम्मत नहीं है तो उसे बहिर्विवाही (Exogamous) कह सकते हैं और जिन दायरों के व्यक्तियों के बीच विवाह सम्मत होता है उसे अन्तर्विवाही (Endogamous) कह सकते हैं। अमरीका के कानून में आज भी ये दोनों ही प्रतिबन्ध पाए जाते हैं।

विवाह की रीतियाँ—प्रायः प्राचीन स्मृति ग्रन्थों में आठ प्रकार के विवाहों का वर्णन मिलता है। इन्हें ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, गान्धर्व, आसुर, राक्षस और पैशाच विवाह कहा जाता है। प्रायः उत्तम श्रेणी की वे विवाह सम्बन्धी रीतियाँ समझी जाती थीं जिनमें कि कन्या का पिता विद्वान् एवं योग्य वर को चुन कर अपनी कन्या को वस्त्रा भूषण

आदि से सुसज्जित करके वर को दान में दे देता था। कन्या को क्रय करके उससे विवाह करने को उससे नीची श्रेणी में रखा जाता था। स्वयं अपनी इच्छा से भी वर कन्या विवाह कर लिया करते थे और इसमें गुरुजनों की अनुमति होना भी आवश्यक नहीं था। अत्यन्त निकृष्ट श्रेणी का विवाह वह होता था जिसमें कि असभ्य जातियों की भाँति कन्या को बरबस हर कर उसके साथ विवाह किया जाता था। अत्यन्त प्राचीनकाल में भारत में परस्पर अनुरंजन की प्रथा भी विद्यमान थी।

समाज में होने वाले परिवर्तनों के फलस्वरूप आज हिन्दू समाज में कन्यादान की प्रथा के विरुद्ध भी चर्चा हो रही है और सामाजिक क्रान्ति के इस युग में कोई आश्चर्य नहीं यदि कुछ ही काल में कन्यादान की प्रथा का अन्त भी हो जाए। किसी एक युग में युद्धजनित परिस्थितियों के कारण अथवा किन्हीं कारणों से हो सकता है कि कन्या अन्य सम्पत्ति की भाँति दान की ही वस्तु मान ली गई हो किन्तु आज जब कि नारी भी पुरुष की ही भाँति समाज की सदस्य है, उसका उपयोगी अंग है तब उसे दान मात्र की वस्तु मानना अनुचित ही जान पड़ता है। प्रथाएँ तो युग चेतना के साथ-साथ परिवर्तित होती ही रहती हैं और उनकी उपयोगिता भी तो युग के अनुसार चलने में ही है। बाल विवाह की प्रथा का किसी दिन हमारे समाज में बहुत महत्त्व बढ़ गया था। यद्यपि अब भी वह सर्वथा निर्मूल तो नहीं हो गई है फिर भी मिटती जा रही है और कुछ ही काल में निर्मूल हो जायेगी। इस प्रकार अन्य प्रथाओं के जन्म और उनकी मृत्यु भी होती रहती है। कन्यादान की प्रथा भी एक ऐसी प्रथा है जिसे सम्भवतः युग चेतना स्वीकार नहीं करेगी और वह इस युग के साथ समीकरण भी नहीं कर पायेगी।

सामाजिक परिवर्तनों के साथ ही साथ गोत्र सम्बन्धी तथा पिण्ड सम्बन्धी प्रतिबन्ध का महत्व और आवश्यकता भी समाप्त होती जा रही है। प्रायः सगोत्र और सपिण्ड विवाह के विरुद्ध दो ही युक्तियाँ दी जाती हैं। एक तो यह कि इनका धर्म शास्त्रों में निषेध है और दूसरी यह कि इनका प्रभाव सन्तति पर अच्छा नहीं पड़ता है। वेस्टरमार्क का तो यह भी विश्वास है कि सपिण्ड अथवा निकट सम्बन्धियों में विवाह होने से एक प्रकार की यौन सम्बन्धी उदासीनता सी उत्पन्न हो जाती है और इससे बचने के लिए सपिण्ड विवाहों का निषेध किया

गया है। किन्तु इस प्रकार की विचारधारा आधुनिक मनोवैज्ञानिक खोजों के आधार पर तो समर्थन प्राप्त नहीं कर पाती है अतः यही मानना पड़ता है कि पुरातन युग के विशाल संयुक्त परिवार में नैतिकता को बनाये रखने का यही उपाय उस युग के नेताओं को दिखाई दिया होगा।

नारी की मर्यादा—विभिन्न समाजों में नारी की मर्यादा के भी विभिन्न मापदंड हैं और संभवतः उन्हीं के आधार पर पुरुषों की मर्यादा भी निश्चित की जाती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि किन्हीं समाजों में नारी सम्पत्ति भी मानी जाती थी और उसका क्रय किया जाना तो सम्भव था ही, उसे मित्र अतिथि आदि के रंजन के हेतु भी भेजा जाता था। हर प्रकार से दासी की भाँति उसे परिवार के सत्ताधारी की प्रत्येक आज्ञा मान कर ही चलना होता था। किन्हीं अन्य समाजों में नारी का पिता होना अपमानजनक माना जाता था और अपनी स्त्री का किसी भी अवस्था में किसी दूसरे के पास पत्नी रूप में पहुँच जाना अत्यन्त अपमानसूचक समझा जाता था। किसी की कन्या, बहिन अथवा पत्नी के साथ स्त्री पुरुष के रूप में सम्बन्ध स्थापित कर लेने से अधिक अपमान उस पुरुष का और किसी प्रकार भी नहीं किया जा सकता है ऐसा भी विश्वास किया जाता था और इस अपमान से रक्षा कर पाने की ही दृष्टि से किन्हीं समाजों में कन्या को जन्म लेते ही मार डाला जाता था। विवाह के पश्चात् पुरुष का स्त्री के घर जाना अथवा स्त्री का पुरुष के घर आना भी एक दूसरे की मर्यादा के ही मापदण्ड हैं। विभिन्न समाजों में नारी के स्थान को लेकर ही पुरुष की भी मर्यादा का प्रश्न उठता है किन्तु साधारणतया प्रायः सब ही समाजों में नारी की रक्षा पुरुष का कर्तव्य माना जाता है। यद्यपि आज के सभ्य समाज में नारी बहुत कुछ आत्मनिर्भर भी हो गई है फिर भी पुरुष का कर्तव्य माना जाता है कि वह नारी को आदर दे और सम्भवतः इसके पीछे नारी की शारीरिक दुर्बलता ही कारण रहा होगा।

दाम्पत्य कर्तव्य—यूँ तो भारत में किसी एक युग में परिवार में श्रमविभाजन तो होता था किंतु गृह कार्य करने के कारण संभवतः नारी को नीची दृष्टि से नहीं देखा जाता रहा होगा। कम से कम नारी को सुखी रखने, गृह देवी मानने और ऐसे ही अन्य आदेशों का तो हिन्दू धर्म शास्त्रों में अभाव नहीं है। यहाँ तक कि वैदिक ग्रन्थों में तो वधू

को गृह की, परिवार की साम्राज्ञी कहा गया है। जान पड़ता है कि किसी एक युग में यद्यपि नारी गृहकार्य करती थी और पुरुष अर्थोपार्जन किन्तु नारी का साधारणतया पद पुरुष से नीचा नहीं माना जाता था। परन्तु छठी शताब्दी तक तो वह दासी की श्रेणी तक पहुँच गई। इस प्रकार के पतन के कारण कुछ भी रहे हों किन्तु उनकी मर्यादा इस युग में अत्यन्त न्यून हो गई।

प्रायः सब ही देशों में प्राचीन युग में पति द्वारा पत्नी को दण्ड देने का विधान पाया जाता है। पर पुरुष से स्त्री के लिए सम्बन्ध रखने का निषेध प्रायः सब ही समाजों में रहा और ऐसा करने पर उसके लिए कठोर दण्ड का भी विधान भी पाया जाता है। सम्पत्ति पर प्रायः सब ही कहीं पुरुष का अधिकार माना गया है। सम्भवतः उसका कारण यही रहा होगा कि स्त्री अर्थोपार्जन नहीं करती थी और भरणपोषण के लिए पुरुष पर ही सदा सर्वदा आश्रित रहती थी। भारतवर्ष में धर्म शास्त्रों की दृष्टि से स्त्री को स्त्री धन पर ही अधिकार है यद्यपि पुरुष का कर्तव्य है कि उसका भरण पोषण करे।

तलाक—तलाक का अर्थ है विवाह बन्धन विच्छेद। जिस प्रकार विवाह एक समाज स्वीकृत बन्धन है उसी प्रकार उसका विच्छेद अथवा उस बन्धन से मुक्ति भी तब ही प्राप्त हो सकती है जब कि वह भी सर्वजन सम्मत अथवा समाज स्वीकृत हो। तलाक का प्रथा रूप में स्वीकार किया जाना अथवा न किया जाना बहुत कुछ इस पर अश्रित होता है कि किस समाज में विवाह को किस रूप में स्वीकार किया जाता है। जिन समाजों में विवाह एक सामाजिक कृत्य है वहाँ तलाक को स्वीकार कर लेने में उतनी अधिक कठिनाई नहीं होती है। यद्यपि किसी न किसी रूप में प्रायः सब ही समाजों में वैवाहिक कृत्य को धार्मिक रूप दे ही दिया जाता है किन्तु जहाँ वैवाहिक रूप रेखा होते हुए भी विवाह को सामाजिक बन्धन अथवा सामाजिक कृत्य ही अधिक माना जाता है वहाँ सैद्धान्तिक रूप से तलाक प्रथा को लेकर कोई निषेध नहीं होता है किन्तु कुछ समाजों में विवाह को न केवल एक धार्मिक कृत्य ही माना जाता है वरन् जन्मजन्मान्तर का बन्धन स्वीकार किया जाता है। ऐसी अवस्था में तलाक तथा पुनर्विवाह दोनों ही अमान्य हो जाने चाहिए किन्तु बात वस्तुतः ऐसी नहीं है। युग परिवर्तन के साथ ही साथ मानव के लिए यह मान लेना कठिन हो

गया है कि शारीरिक बन्धन आत्मा को भी बन्धन में जन्मजन्मान्तर के लिए बाँध सकते हैं। यों तो आत्मा और पुनर्जन्म भी विवादास्पद विषय हैं। तलाक प्रथा के विरोध का एक सामाजिक पक्ष तो हो सकता ही है और वह है मानव के समीकरण स्थापित कर पाने की योग्यता। यदि पति और पत्नी इस विचार से ही दाम्पत्य जीवन आरम्भ करेंगे कि हमें एक दूसरे से निबाहना ही है और इससे किसी प्रकार भी मुक्ति नहीं हो सकती है तो बहुत सम्भव है कि वे एक दूसरे के अनुकूल होने का ही प्रयत्न करें। ऐसा होने की उस अवस्था में और भी अधिक सम्भावना है जब कि नारी एकबारगी पुरुष की ही आश्रित न हो वरन् उसका भी अपना निजी सामाजिक स्थान हो, निजी महत्त्व हो और निजी उपयोगिता हो किंतु इसका दूसरा पक्ष यह भी है कि बर-बस ही दुःखी प्राणियों को जो कि एक दूसरे के ही कारण दुःखी हो परस्पर बाँध कर क्यों रखा जाए। यद्यपि आज भी भारत की ही अनेकों जातियों, वर्गों और श्रेणियों में तलाक प्रथा है और यह भी सम्भव है कि नारी को पूर्णतया समाज का पुरुष के समान ही उपयोगी, सबल एवं स्वस्थ अंग बना देने पर तलाक को प्रयोग में लाने की उतनी अधिक आवश्यकता ही नहीं रह जाए फिर भी वर्तमान अवस्था में हिन्दू समाज में तलाक प्रथा को वैधानिक स्वीकृति दे देना हितकर ही होगा। यद्यपि अन्य देशों के तलाक सम्बन्धी जो उदाहरण तथा आँकड़े हमारे सामने हैं वे विशेष उत्साह वर्धक एवं आशाजनक नहीं हैं। वस्तुतः तलाक का नाम भी लेना पाप समझा जाना और विवाह को बहुत ही हलका समझ कर प्रति दिन तलाक का ही ध्यान करते रहना दोनों ही अवस्थाएँ सामाजिक जीवन की सुख शान्ति के लिए हानिकर हैं और उनसे बचना ही उचित है।

परिवार और व्यक्तित्व का विकास—वस्तुतः व्यक्तित्व के विकास के लिए सर्वाधिक उपयुक्त स्थान परिवार ही है। जिस परिवार में परस्पर पति पत्नी में सुख सौहार्द्य होता है वहाँ बालकों का जीवन और विकास स्वाभाविक होता है। बालकों का शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और चारित्रिक विकास तब ही ठीक ढंग से हो सकता है जब कि माता-पिता दोनों ही समझौते की दृष्टि से परस्पर एक दूसरे के विचारों का आदर सम्मान करते हुए परिवार को एक सम्मिलित वस्तु समझें तथा बालकों के लालन पालन में रुचि लें और उस दायित्व को पूरी तरह

निबाहने का प्रयत्न करें। बालक के जीवन को आर्थिक तथा अन्य असुविधाएँ एवं कठिनाईयाँ इतना अधिक विषम और अस्वाभाविक नहीं बना पाती हैं जितना कि पति पत्नी की संघर्ष और परस्पर समझौते से भरी हुई दैनिक कार्य-प्रणाली।

बरजस कार्टल के मतानुसार अमरीका में विवाहित जन संख्या में से पाँचवा भाग अत्यन्त दुःखी है और दो तिहाई सुखी है। टरमेन प्रायः ३० प्रतिशत विवाहितों को असाधारण रूप से सुखी और एक प्रतिशत को अत्यधिक दुःखी पाते हैं। अन्य आँकड़ों में वह किसी एक सीमा तक बरजस कार्टल से सहमत हैं।

साधारणतया किसी भी स्वस्थ समाज में विवाह व्यक्ति को सुखी बनाने का साधन तथा उसके व्यक्तित्व के विकास का माध्यम होना चाहिए। टरमेन ने अपनी अमरीका में की गई खोजों के आधार पर यह निश्चय किया है कि प्रायः पैंतीस ऐसी शिकायतें हैं जो कि पति पत्नी एक दूसरे के विरुद्ध किया करते हैं। इनमें से बहुत सी शिकायतें तो ऐसी हैं जैसे कि स्वार्थी, स्नेहशील न होना; घमण्डी, ईर्ष्यालुआदि आदि किन्तु ध्यान से देखा जाए तो अधिकतर शिकायतें ऐसी हैं जो कि प्रायः साथ में रहने वाले व्यक्तियों की एक दूसरे से हो ही जाती हैं और उन्हें सहज ही मिटाया भी जा सकता है। 'काम' सम्बन्धी कठिनाइयाँ भी असुखी दाम्पत्य जीवन में कारण हो सकती हैं किन्तु यह भी सम्भव है कि ये कठिनाइयाँ उतनी वास्तविक न हों जितनी कि मनः प्राणिक (Psycho—Genetic)। वस्तुतः यदि किसी भी व्यक्ति के व्यक्तित्व का स्वाभाविक तथा साधारण रूप से ठीक प्रकार से विकास हुआ हो तो उसे किन्हीं भी साधारण किन्तु अपनी पूर्व परिस्थितियों से भिन्न परिस्थितियों के साथ आनुकूल्य स्थापित करने में कठिनाई नहीं होती है किन्तु व्यक्तित्व का ठीक-ठीक विकास न होने पर तो कहीं भी समीकरण करने तथा आनुकूल्य स्थापित करने सम्बन्धी कठिनाइयों का सामना व्यक्ति को करना पड़ता है और इस प्रकार की कठिनाइयों के मूल में वह अपने व्यक्तित्व का अभाव और दोष न देखकर प्रयत्न यही करता है कि पति अथवा पत्नी पर ही दोषारोपण करे। व्यक्तित्व का ठीक विकास होने पर स्वभाव एक तो यूँही सम एवं सन्तुलित होता है और यदि दूसरे व्यक्ति का व्यक्ति कुछ विचित्र भी हो तो सन्तुलित व्यक्तित्ववान् व्यक्ति में उससे आनुकूल्य स्थापित करने की

क्षमता भी होती है और धीरे-धीरे ऐसा करके उसके दोष का भी सुधार किया जा सकता है।

सुखी दम्पति—टरमेन ने सुखी दम्पतियों के व्यक्तित्व का विश्लेषण करके उनकी विशेषताओं की ओर संकेत किया है। यद्यपि व्यक्तित्व कुछ इतनी सरलता से विश्लेषण कर पाने योग्य वस्तु नहीं है फिर भी उन्होंने कुछ एक विशेषताओं का उल्लेख किया है और इसमें किसी एक सीमा तक वास्तविकता भी है। प्रायः सुखी विवाहित स्त्रियाँ सन्तुष्ट होती हैं। ये प्रायः दयापूर्ण व्यवहार करती हैं और ऐसे ही व्यवहार की आशा भी करती हैं। आसानी से चिढ़ती नहीं है। सामाजिक सम्बन्धों को प्रतिद्वन्द्वी परिस्थितियाँ समझ कर उनसे घबराती नहीं हैं। प्रायः सहयोग से कार्य करती है तथा महत्त्व की विशेष अभिलाषा नहीं करती हैं। प्रायः कार्य सेवा भाव और लगन से करती हैं। मेहनती और नियमित ढङ्ग से कार्य करनेवाली होती हैं। प्रायः परम्पराओं, प्रथाओं की प्रशंसक होती हैं। उनका दृष्टिकोण आशावादी और आत्मविश्वास झलकाता हुआ होता है। दुःखी विवाहित स्त्रियाँ प्रायः महत्त्व पाने की लोभी, विद्रोही, चिढ़नेवाली प्रकृति की तथा आक्रमणात्मक प्रवृत्ति की परिचायक होती हैं। वे स्वकेन्द्रित होती है तथा प्रसिद्धी पाने की इच्छुक होती हैं। व्यक्तिगत प्रशंसा की भी इच्छुक होती हैं। मेहनती कम और अव्यवस्थित कार्य करनेवाली होती हैं और परम्पराओं, प्रथाओं, धर्म आदि के प्रति क्रान्तिकारी प्रवृत्तियाँ रखती हैं।

सुखी विवाहित पुरुष संयमित, सम और सन्तुलित स्वभाववाले होते हैं। उनका व्यवहार प्रायः अच्छा और स्वाभाविक होता है। वह अधिक कार्य संलग्न और उत्तरदायी होते हैं। प्रायः सावधान, परम्परा, धर्म, प्रथा आदि पर विश्वास रखनेवाले होते हैं।

दुःखी पति प्रायः घबरानेवाले, स्त्रियों के प्रति आकर्षित होने पर उनसे बचनेवाले, सनकी, अन्तर्मुखी और आज्ञा देने तथा प्रभुत्व जमाने की चेष्टा करनेवाले होते हैं। वे प्रायः स्वभाव से अव्यवस्थित होते हैं और दिवा स्वप्नों में ही आनन्द लेते हैं। ये लोग पुरातन के प्रति अद्धद्धालु और क्रान्तिकारी धारणाओं को पोषित करनेवाले होते हैं।

टरमेन का तो यह सिद्धान्त है कि वस्तुतः अनमेल विवाह का ही दुष्परिणाम दुःखी जीवन होता हो, ऐसी बात नहीं है वरन्

दुःखी दाम्पत्य जीवन का कारण वे धारणाएँ हैं जो कि पति-पत्नी विवाह के पूर्व दुःख-सुख के विषय में रखते हैं। विवाह तो केवल अदान ही नहीं है प्रदान भी तो है अतः जिन दो व्यक्तियों में अनुकूलता स्थापित करने के गुणों का अभाव होगा, जो कि परिस्थितियों से समीकरण स्थापित नहीं कर पायेंगे वे अपने विवाहित जीवन में सुखी नहीं हो सकते हैं। वस्तुतः परिस्थितियों से आनुकूल्य कर सकना ही किसी भी व्यक्ति को दाम्पत्य जीवन में सुख और शान्ति दे सकता है। प्राचीन काल में भारत में वर और कन्या की खोज करते समय उनके गुणकर्म के अनुरूप होने की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था। गुरुकुलों के अध्यक्ष अनुकूल गुणवाले वर और कन्या को ही विवाह बन्धन में बाँधने के लिए प्रयत्नशील रहा करते थे। साधारणतया दो एक ही से गुण कर्मवाले पुरुष स्त्री खोज पाना भी तो सरल नहीं है। प्रायः जो व्यक्ति प्रारम्भिक जीवन में विवाह से पूर्व छात्रावास आदि में रह चुके होते हैं अथवा अपना सामाजिक जीवन बनाने में कुशल होते हैं जैसे क्लब आदि में जाना, वे परिस्थितियों से समझौता करने में भी कुशल हो जाते हैं। ऐसे व्यक्ति विवाहित जीवन में अधिक सुखी हो सकते हैं।

प्रायः सुखी परिवार का पारिवारिक वातावरण ऐसा होता है जिससे कि सहज ही कोई भी उस परिवार में सुख के अस्तित्व को पहचान पाता है। वहाँ बच्चों का माता-पिता द्वारा समान आदर होता है। बच्चे साधारणतया आत्म-विश्वासी, निर्भय और स्नेहशील होते हैं। उस परिवार में अतिथि का स्वागत और सम्मान होता है। बालकों पर प्रायः माता और पिता दोनों का ही समान अनुशासन होता है तथा किसी की भी ओर से अनावश्यक डाँट-फटकार नहीं होती है। प्रायः पति और पत्नी दोनों ही घर-गृहस्थी के काम-काज में समान रूप से रुचि लेते हैं तथा इस प्रकार की रुचि पति के बाहर के कामकाज में पत्नी भी लेती है। पारिवारिक तथा आर्थिक समस्याओं का दोनों के ही लिए एक सा महत्त्व होता है। यहाँ तक कि नौकरों आदि पर भी पति-पत्नी दोनों का ही समान अधिकार होता है। ऐसे परिवार में अनुशासन दृढ़ तो होता है किन्तु कठोर नहीं होता है और न पति अथवा पत्नी को एक दूसरे के ऊपर अपनी इच्छा को बरबस लाद देने की अभिलाषा भी नहीं होती है। मतभेद होने पर भी दोनों में परस्पर किसी न किसी स्तर पर समझौता हो ही जाता है। प्रायः ऐसे घरों में बालकों की शिक्षा का भी समुचित

और अनुकूल प्रबन्ध हो जाता है तथा आर्थिक कठिनाइयाँ भी उतने उग्र रूप में परिवार के व्यक्तियों को कष्ट नहीं दे पाती हैं क्योंकि पति-पत्नी मिल-जुलकर किसी न किसी उपाय से परिवार के अन्य व्यक्तियों को आर्थिक कठिनाइयों के कुप्रभावों से बचाये रखने का ही निरन्तर प्रयत्न करते रहते हैं। ठीक इसके विपरीत दुःखी परिवारों को भी देखने मात्र से ही उनके असन्तुलित और दुःखी दाम्पत्य जीवन का पता लग जाता है।

परिवार और समाज की आर्थिक स्थिति—समाज की आर्थिक स्थिति का परिवार की बनावट आदि पर बहुत प्रभाव पड़ता है। हो सकता है कि प्रारम्भ में पति पत्नी के ही घर रहता हो अथवा वैवाहिक बन्धन का वह स्वरूप ही न हो जो कि आज है किन्तु कुछ समय पश्चात् कृषि का आविष्कार हो जाने पर यह आवश्यक हो गया कि पति का अथवा पुरुष का महत्त्व कुछ अधिक हो जाये और वह हुआ भी। फलस्वरूप पति परिवार का प्रधान माना जाने लगा और स्त्री का विवाह के पश्चात् पति के घर आकर रहना ही अनिवार्य सा हो गया।

धीरे धीरे कृषि के लिए सुविधाजनक एवं आवश्यक होने के कारण सम्मिलित कुटुम्ब प्रथा आरंभ हुई किंतु फिर भी वर-वधू या तो एक ही घर में बस जाते थे क्योंकि प्रायः दोनों एक ही ग्राम के वासी हुआ करते थे और या पत्नी पति के ही ग्राम में उसके ही घर में जाकर रहने लगी। प्रायः ग्रामों में श्रम विभाजन के आधार पर व्यावसायिक बिरादरियाँ बनने लगीं और उन्हीं बिरादरियों के परस्पर विवाह आदि सम्बन्ध भी स्थापित होने लगे। धीरे-धीरे व्यक्ति की अपेक्षा परिवार के आर्थिक काम-काज का महत्त्व बढ़ने लगा और किसी भी एक प्रकार के व्यवसाय पर जीवित रहनेवाले परिवार के प्रायः प्रत्येक नवीन प्राणी को उस परिवार का ही व्यवसाय सीखने तथा उसे ही जीविकोपार्जन करने का साधन बनाने के लिए विवश होना पड़ा।

परिवार का प्रारम्भिक धरातल रक्त सम्बन्ध था किन्तु अब धीरे-धीरे केवल मात्र रक्त सम्बन्ध के आधार पर बने हुए परिवारों (Consanguineous family) का लोप होने लगा और उनका स्थान विवाह द्वारा स्थापित एवं संगठित परिवार (Conjugal family) लेने लगे अतः प्रायः व्यावहारिक दृष्टि से यही सुगम एवं सुविधाजनक जान पड़ने था लगा कि एक ही से व्यवसाय चलानेवाले परिवारों के वर-

कन्या में ही परम्पर विवाह सम्बन्ध हों। साथ ही साथ घरेलू अर्थ दर्शन का विकास भी होता गया। कृषि की रीति में विकास हुआ। पशु पालनू बनाये जाने लगे और हल तथा बैल को लेकर कृषि करने की सुविधा हो गई। धीरे-धीरे ग्रामीण अथवा घरेलू उद्योग धन्धों की उन्नति होती गई। फलस्वरूप आर्थिक काम-काज की दृष्टि से परिवार का महत्त्व और भी अधिक हो गया। वस्तुतः घरेलू अर्थनीति के अन्तर्गत उत्पादक और उपयोगकर्ता प्रायः एक ही होता है। केवल कुछ ही वस्तुएँ उपयोगकर्ताओं को बाहर से लेना पड़ता है जैसे कि हथियार, बर्तन, रेशमी वस्त्र आदि। इस प्रकार प्रायः परिवार अपने आप में ही पूर्ण होता है, अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने योग्य होता है। ऐसी अवस्था में परिवार एक छोटी-मोटी व्यावसायिक कम्पनी की भाँति ही हो जाता है जहाँ कि पत्नी एक साझीदार की भाँति होती है। यदि पत्नी परिश्रमी और मितव्ययी हो तथा उसके कारण गृह-प्रबन्ध कुशलतापूर्वक होता हो तो कोई भी पति उसे त्यागना नहीं चाहेगा और यदि त्याग भी दे तो वह अपने माता-पिता के परिवार में जाकर फिर से विवाह करके अन्य परिवार में अपनी उपयोगिता सिद्ध कर सकेगी अतः पत्नी अपनी आर्थिक उपयोगिता द्वारा पारिवारिक सम्बन्ध को दृढ़ करती थी। वस्तुतः दूसरी ओर यदि परिवार की आर्थिक आवश्यकताओं और माँगों के अनुरूप ही उसे आर्थिक सुविधाएँ भी दी जातीं तो धन के बँटवारे सम्बन्धी इतनी कठिनाइयों की उत्पत्ति ही न होती किन्तु मानव का प्रवृत्ति अब कुछ ऐसा होने लगी कि सशक्त व्यक्ति प्रायः अपने परिवार की आवश्यकताओं से अधिक धरती पर अधिकार करने लगे और यदि उनके परिवार में इतने व्यक्ति ही न हुए जो कि उस पूरी अधिकृत धरती को जोत और बो सकें तो उन्होंने अन्य परिवारों के व्यक्तियों को दास अथवा मजदूर रूप में इस कार्य के लिये रखना प्रारम्भ किया। परिणामस्वरूप धन के बँटवारे सम्बन्धी कठिनाइयों की नींव पड़ी। उद्योग-धन्धों के आरंभ हो जाने पर तो समस्या और भी जटिल हो गई और होती ही गई।

परिवारों की वृद्धि भी प्रायः पिता की ओर से अर्थात् उसकी संतानों और उसके पुत्रों की सन्तानों तथा उनकी पुरुष सन्तानों की संतानों को लेकर ही होता गई। विवाह में भी प्रेम की अपेक्षा आर्थिक समस्याओं एवं योग्यताओं की ओर ही अधिक ध्यान दिया जाने लगा। प्रायः जहाँ भी कहीं विवाह माता-पिता द्वारा सोच-विचार कर किये जाते थे

वहाँ भी वर कन्या की इच्छाओं को ध्यान में रखा जाय यह तो संभव रहा होगा किन्तु इस प्रकार के सम्बन्धों का मुख्य आधार आर्थिक प्रश्न और उनका हल करना ही रहा होगा। इस प्रकार की अवस्था में एक से अधिक स्त्रियाँ होना किसी भी पति के परिवार की आर्थिक स्थिति के लिए हितकर ही होता होगा किन्तु धीरे-धीरे कृषक परिवारों में बहु-भार्यता का लोप होता गया और एकभार्यता का प्रचार बढ़ता ही गया। माता का महत्त्व भी उस युग तक न्यून नहीं हो सका था और स्त्री की आर्थिक उपयोगिता के कारण बहुत सी स्त्रियों का एक ही पति के लिए मिल जाना भी संभवतः उतना सरल नहीं रह गया था। आधुनिक युग में जब स्त्रियों ने अपनी आर्थिक दृष्टि से उपयोगिता में कमी हो जाने दी और दो नाम रखने की प्रथा का आरंभ हुआ तो पिता के नाम से ही परिवार के सब ही व्यक्तियों के नाम चलने लगे और कन्या का कुल-नाम पिता की अपेक्षा पति के कुल-नाम से ही अधिक जाना जाने लगा।

व्यक्ति और परिवार— जब कि आर्थिक दृष्टि से परिवार का महत्त्व इतना अधिक बढ़ गया और व्यापार आदि में भी परिवार के ही नाम से काम काज चलने लगा तब धन वैभव का सम्बन्ध व्यक्ति की अपेक्षा परिवार के ही साथ अधिक जोड़ा जाने लगा अतः व्यक्ति की अपेक्षा परिवार का ही अधिक महत्त्व भी माना जाने लगा। प्रायः ग्रामों में तो अपेक्षाकृत परिवारों की संख्या न्यून होने के कारण तथा अन्य कुछ कारणों से परिवार ही विविध प्रकार के कृत्यों का एक मात्र केन्द्र सा ही हो गया। सामाजिक, धार्मिक, मनोरंजन और शिक्षा संबंधी समस्याओं का हल भी पारिवारिक क्षेत्र में ही होने लगा। ग्राम्य चौपाल ही प्रायः इन सब प्रकार के कामों का केन्द्र स्थान हो गया और इस प्रकार की चौपालें कभी-कभी तो मुखिया अथवा अन्य किसी महत्त्व-पूर्ण ग्रामीण की पारिवारिक सम्पत्ति ही हुआ करती थीं। यद्यपि परिवार के कार्यों के अतिरिक्त कुछ सार्वजनिक कार्य भी होते ही थे जैसे कि सामुदायिक त्योहार आदि का मनाना और इस प्रकार के सामुदायिक कार्यों की प्रतियोगिता परिवार सम्बन्धी कृत्यों में भी हो जाया करती थी किन्तु प्रायः सब ही कृत्यों का केन्द्र परिवार ही हुआ करता था। किन्तु किसी भी अवस्था में परिवार में व्यक्ति का महत्त्व परिवार के महत्त्व की अपेक्षा न्यून ही होता है।

नागरिक परिवार—नगरों की स्थापना होने और विशेषतया उनके विकास होने के कारण परिवार के ढाँचे और उसकी अवस्था पर बहुत ही अधिक प्रभाव पड़ा। उद्योग-धन्धों के विकास के कारण नगरों का क्षेत्रफल बढ़ता ही चला गया और उसका परिवार पर प्रभाव भी अत्यधिक पड़ता गया। नागरिक परिवार का सम्बन्ध भूमि के साथ तो रहा नहीं। ग्रामों से भिन्न नगरों के परिवारों ने जिन उद्योगों आदि में विशेषज्ञता प्राप्त करना आरम्भ किया उनमें पारिवारिक श्रम की अपेक्षा व्यक्तिगत श्रम की ही अधिक आवश्यकता पड़ती थी। प्रारम्भिक नागरिक परिवार तो ग्रामीण परिवार के ही आदर्श पर कुछ परिवर्तनों के साथ संगठित किया गया था। यद्यपि अब भी स्त्री का कार्य तो गृह प्रबंध आदि ही था किन्तु मजदूर अन्य परिवारों से भी लिए जाने लगे अतः परिवार की लौह प्राचीरें ढीली पड़ने लगीं। अभी तक प्रायः उत्पादन परिवार में ही रखा जाता था।

आर्थिक उत्पादन केन्द्र घर नहीं रहा—मिल आदि का प्रादुर्भाव होने से घर में वस्तुओं का उत्पादन करना कठिन हो गया। भाप आदि का प्रयोग होने के कारण वस्तुउत्पादन के लिए अधिकाधिक स्थान तथा श्रमिकों की भी आवश्यकता पड़ने लगी। स्टीम बायलर का तो घरों में लगाना सरल भी नहीं था अतः उत्पादन का केन्द्र घर के स्थान पर अब फैक्टरी हो गया। फैक्टरी का चलाना किसी एक परिवार का काम नहीं है भले ही वह परिवार कितना भी अधिक बड़ा क्यों न हो अतः नागरिक परिवार का मुख्य कार्य अब रह गया खाना तैयार करना, कपड़े धोना, सिलाई, घर की स्वच्छता आदि। आर्थिक उत्पादन का कार्य नागरिक परिवार का कार्य नहीं रह गया था। यद्यपि ग्रामीण परिवार में अभी तक उत्पादन कार्य का कुछ अंश शेष था किन्तु वहाँ भी उत्पादन कार्य परिवार के ही उत्तरदायित्वों में सम्मिलित हो ऐसी बात अब नहीं रह गई थी फिर भी किसी एक सीमा तक तो ग्रामीण परिवार उत्पादन के कार्य में सहयोग देता ही था। उत्पादित अन्न में से ही कृषक परिवार एक अंश जो कि आवश्यकता से अधिक होता है बाजार में बेचने के लिए भी भेज देता था। आर्थिक उत्पादन का केन्द्र जब कि घर ही न रहकर फैक्टरी आदि हो गया और जब कि पारिवारिक श्रम का स्थान व्यक्तिगत श्रम ने ले लिया तो फिर बहुसंख्यक अथवा बड़े परिवारों की भी उतनी अधिक आवश्यकता नहीं रह गई

और परिणाम यह हुआ कि परिवारों की सीमाएँ छोटी होती गई और नगरों में प्रायः पति-पत्नी और निजी बच्चों का ही परिवार रह गया। ऐसा होना सम्भव ही था क्योंकि अब व्यक्ति को संबंधियों की सहायता की उतनी अधिक आर्थिक दृष्टि से आवश्यकता नहीं रह गई थी। नगरों में न केवल यही कि पति-पत्नी को ही लेकर परिवार रह गये हों वरन् कुछ एक व्यक्ति तो अकेले ही रहते हैं। उन्हें स्वयं जीविकोपार्जन के लिए नगर में रहना पड़ता है और अपने परिवार को गाँव में रखना पड़ता है क्योंकि ग्राम में रहना अपेक्षाकृत कुछ सस्ता ही पड़ता है।

ग्रामीण परिवारों की अपेक्षा न केवल नागरिक परिवार छोटे ही होते हैं वरन आयोजित मातृत्व, संतान निरोध तथा परिवार नियोजन आदि की समस्याओं का जन्म भी नगर परिवारों को छोटा रखने की आवश्यकता के ही कारण होता है।

अन्य कर्त्तव्य—अर्थोपार्जन का कार्य तो परिवार के हाथ से चला ही गया। अन्य कार्यों में से भी कुछ कार्य अन्य संस्थाओं के हाथ में चले गये। शिक्षा कार्य स्कूल आदि के हाथ में चला गया। यहाँ तक कि संतानों की संख्या न्यून रखने के ही कारण परिवार के संतानों के पालन-पोषण आदि करने से सम्बन्धित कर्त्तव्यों में भी पर्याप्त न्यूनता आ गई अतः प्रायः परिवारों का मुख्य कार्य पति-पत्नी तथा संतानों में स्नेह सम्बन्धों को बनाए रखने और उनका प्रदर्शन करने तक ही सीमित रह गया। विवाह योग्य आयु भी कुछ अधिक हो गई और बालकों की स्कूली शिक्षा के अतिरिक्त स्कूल जाने योग्य अवस्था से पूर्व की अवस्था के लिए भी शिक्षा संस्थाओं की स्थापना हो गई अतः पति पत्नी का कार्य और भी कम हो गया। छात्रावासों में रहकर पढ़ने की व्यवस्था ने परिवार के कर्त्तव्यों में और भी कमी कर दी। फिर भी यह तो इस युग की मनोविज्ञान संबंधी खोजों ने सिद्ध ही कर दिया है कि बालक के व्यक्तित्व के निर्माण का मुख्याधार बालक का प्रारम्भिक जीवन ही होता है अतः परिवार का मुख्य कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व बालक के उपयुक्त व्यक्तित्व की नींव रखना ही हो गया है। यही नहीं परिवार की परिधि तो और भी छोटी हो गई क्योंकि जीविकोपार्जन के लिए अधिकतर परिवार के मुख्य पुरुष को परिवार से बाहर दौरे आदि पर ही रहना पड़ता है अतः बालकों का अधिकतर सम्बन्ध पिता से रह

ही नहीं जाता है। कभी-कभी मिलने पर परिवार का वह वातावरण नहीं रह जाता है जो कि साधारणतया ग्रामीण परिवारों में रहा करता था। प्रायः आजकल नगरों में पुरुषों की भाँति स्त्रियाँ भी जीविकोपार्जन करने की चेष्टा करने लगी हैं और ऐसी अवस्था में परिवार के नेतृत्व का प्रश्न उतना सरल नहीं होता है। ग्रामीण परिवार में पुरुष का महत्त्व अधिक था क्योंकि पुरुष कृषि कार्य में अधिक उपयोगी होता है। नागरिक परिवार में जब कि केवल पुरुष ही जीविकोपार्जन करता है तो गृहस्वामी ही गृह परिवार का नेता होता है किंतु जब कि स्त्री और पुरुष दोनों ही कमाने लगते हैं तो गृह परिवार के नेतृत्व का प्रश्न हल करना कठिन हो जाता है और उस अवस्था में दोनों ही समानाधिकार की ओर बढ़ते जान पड़ते हैं।

परिवार का भविष्य—यह तो हम देख ही चुके हैं कि परिवार अनेकों युगों से निकल कर तथा अनेकानेक परिवर्तनों को स्वीकार करता हुआ आज हमें अपने आधुनिक रूप में दिखाई देता है। इससे जान यह पड़ता है कि परिवार एक अत्यन्त प्रगतिशील एवं परिवर्तनों के उपयुक्त संस्था है। परिवर्तन भले ही कितने भी हुए हों परिवार प्रायः विश्व के सब ही समाजों में आज भी जीवित है। वस्तुतः परिवार एक सामाजिक संस्था है और यह सदा सर्वदा रहेगी ही क्योंकि इसका आधार 'बाल बच्चों की ममता' सर्वथा प्राकृतिक है। अतीत में परिवार का आर्थिक संस्था की दृष्टि से महत्त्व अत्यन्त क्षीण हो गया और परिणामस्वरूप परिवार के अनेकानेक कर्त्तव्यों में बहुत कमी भी आ गई किन्तु फिर भी परिवार के सब ही कर्त्तव्यों का महत्त्व कम नहीं हो पाया है। अतीत में परिवार और उसके सदस्यों का ध्यान पूर्णतया आर्थिक और सामाजिक कर्त्तव्यों की ओर ही लगा रहता था किन्तु आज दिन परिवार का ध्यान अधिकतर व्यक्तित्व और तत्सम्बन्धी समस्याओं को ही हल कर पाने की ओर लगा हुआ है।

यूं तो जिस प्रकार स्टीम इंजिन ने परिवार से उसका आर्थिक उत्पादन सम्बन्धी महत्त्व छीन लिया था आशा की जाती थी कि विद्युत शक्ति के अविष्कार के फलस्वरूप वह महत्त्व परिवार को फिर से मिल जायेगा किन्तु यह आशा छोटे परिवार और पारिवारिक उत्पादन के कार्य में होनेवाले अधिक श्रम के कारण निराश में परिणत हो गई। यह सम्भव है कि रेडियो आदि के अविष्कार के कारण मनोरंजन के

साधन खोजने के लिए सम्भवतः व्यक्ति को परिवार के बाहर न जाना पड़े। परिवार सामाजिक संस्थाओं में से एक सर्वाधिक महत्त्व पूर्ण संस्था है जो कि किसी एक सुदूर अतीत में प्रायः मानव के जीवन को सब ही ओर से घेरे हुए एक मात्र सी सामाजिक संस्था थी। आज वह अवस्था नहीं रह गई है फिर भी उस संस्था का महत्त्व अत्यधिक है और भविष्य में भी उसके सर्वथा लुप्त हो जाने की तनिक भी सम्भावना नहीं है। साथ ही साथ यह तो कहना ही पड़ेगा कि परिवार एक गतिशील सामाजिक संस्था है अतः उसकी रीति-नीति, रूप-रेखा में परिवर्तन, संशोधन, संवर्द्धन आदि तो होते ही रहेंगे। ऐसा होते रहना आवश्यक भी है और स्वाभाविक भी।

परिवार और राष्ट्र—राष्ट्र परिवार पर पूर्ण नियन्त्रण रखता है और सम्भवतः अन्य सब ही समझौतों आदि अथवा समितियों की अपेक्षा परिवार पर राष्ट्र कुछ अधिक ही नियन्त्रण रखता है। यह तो हम देख ही चुके हैं कि विवाह एक ऐसा सामाजिक समझौता है जिसकी शर्तें आदि निश्चित करना कुछ उन्हीं दो साझेदारों की इच्छा पर निर्भर नहीं है जिनके बीच यह समझौता हो रहा हो। यही नहीं, विवाह की आयु, उसकी मर्यादा आदि सब ही कुछ राष्ट्र द्वारा निश्चित किया जाता है। परिवार की सम्पत्ति पर विभिन्न व्यक्तियों के अधिकार, कुछ नियमों के उल्लंघन को सामाजिक अपराध मानना, परिवार की स्वाधीनता की सीमाएँ आदि सब ही कुछ राष्ट्र द्वारा उन व्यक्तियों के लिए जो कि परिवार के सदस्य हैं, निश्चित किया जाता है। अब यह प्रश्न हो सकता है कि राष्ट्र को परिवार संस्था पर इतना अधिक अपना अंकुश एवं नियंत्रण रखने का अधिकार किस प्रकार प्राप्त हुआ और इसका औचित्य कहाँ तक और क्यों है। एक प्रमुख कारण तो यह हो सकता है कि परिवार पर ही राष्ट्र के भावी नागरिक अथवा राष्ट्र के सदस्यों के चरित्र निर्माण का उत्तरदायित्व है और इस प्रकार के दायित्व का गुरुत्व इतना अधिक है यह तो कहने की आवश्यकता ही नहीं है। अतः इसमें कोई सन्देह नहीं कि विवाह दो व्यक्तियों—स्त्री और पुरुष का सर्वाधिक व्यक्तिगत एवं घनिष्ठ समझौता है किन्तु यह समझौता क्योंकि देश और राष्ट्र को नवीन नागरिक उत्पन्न करके देने से भी सम्बन्ध रखता है अतः राष्ट्र का जो कि समाज की ही प्रतिनिधि संस्था है, इसमें रुचि रखना, इस पर नियंत्रण रखना स्वाभाविक भी

है और उचित भी। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं होता है कि राष्ट्र का परिवार अथवा विवाह पर असीम नियन्त्रण होना चाहिए। इसमें कोई सन्देह नहीं कि युगों तक राष्ट्र ने धर्म अथवा जनहित के नाम पर परिवार और विवाह पर अपना बहुत अधिक नियन्त्रण बनाए रखा है किन्तु इस प्रकार का नियन्त्रण और अधिक धर्म के नाम पर नहीं चल सकता है। विवाह को स्थायी बनाना तो ठीक ही है किन्तु उसका स्थायीत्व मृत्यु की भाँति ठोस न होकर होना चाहिए स्नेहाधार को लेकर, कोमल और सजीव; जो कि दो साझीदारों की, जीवन यात्रा के सहपथिकों की इच्छा पर ही निर्भर हो सकता है अतः राष्ट्र को विवाह और परिवार पर वहीं तक नियंत्रण रखना चाहिए जहाँ तक कि वह राष्ट्रीय जीवन के लिए आवश्यक और हितकर हो और सारी सामाजिक समस्याएँ केवल मात्र सामाजिक स्वीकृति अथवा अस्वीकृति से तो हल हो भी नहीं जाती हैं अतः राष्ट्र तथा शासन का हस्तक्षेप करना कभी-कभी आवश्यक ही हो जाता है। देश, राष्ट्र और सार्वजनिक हित की दृष्टि से राष्ट्र को परिवार पर नियन्त्रण रखना चाहिए किन्तु इस प्रकार के नियन्त्रण का सीमित होना आवश्यक है। परिवार से सम्बन्धित राष्ट्र के कार्य संचालन करने की दृष्टि से अथवा नियन्त्रण करने की दृष्टि से तो होते ही हैं किन्तु यहीं पर राष्ट्र के कर्तव्यों की इतिश्री नहीं हो जाती है। इनके अतिरिक्त भी राष्ट्र के परिवार के प्रति कुछ अन्य कर्तव्य होते हैं जिन्हें हम सहकारिता के सम्बन्ध से किये गये कर्म कह सकते हैं जैसे कि माता और बालक के स्वास्थ्य की ओर ध्यान देना, बालकों की प्रारम्भिक शिक्षा का समुचित प्रबन्ध करना, घरेलू सम्बन्धों को बनाए रखने में सहायक होना, ऐसी घटनाओं आदि को रोकना जिनसे कि पारिवारिक जीवन पर बुरा प्रभाव पड़ता हो, आदि-आदि।

समुदाय—किसी भी देश अथवा जनता का अध्ययन करते हुए हमें यद्यपि जनता के स्थान-स्थान पर पूर्ण चित्र मिलते हैं किन्तु वे होते अव्यवस्थित और बेढंगे से ही हैं। यही नहीं, किसी स्थान पर आबादी अन्य स्थानों की अपेक्षा अधिक घनी होती है और उसके कारण भी होते हैं। यद्यपि संसार में कुछ ऐसे भी समुदाय हैं जिनके निवास स्थान केन्द्रित एवं स्थायी नहीं हैं फिर भी अधिकांश विश्व के जन समुदाय ऐसे ही हैं जिनके निवास क्षेत्र निश्चित स्थायी एवं केन्द्रित

होते हैं। जहाँ भी समुदाय छोटा होता है वहाँ केन्द्र में भेद करना कठिन हो जाता है किन्तु समुदाय के बड़े होने पर केन्द्र अधिक विस्तृत तो होता ही है उसमें विशेषज्ञता भी पाई जाती है। बड़े नगरों में तो व्यापारिक क्षेत्र, मनोरंजन क्षेत्र आदि पृथक्-पृथक् भी होते हैं। समुदाय का यातायात के साधनों से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है क्योंकि इन्हीं के द्वारा समुदाय का सामूहिक विकास सम्भव होता है। प्रायः बड़े नगर एक सांस्कृतिक केन्द्र की ही भाँति होते हैं जहाँ कि नवीन और पुरातन दोनों ही प्रकार की सभ्यताओं, संस्कृतियों आदि के चिन्ह और उनके सम्मिलन के फल दिखाई देते हैं तथा मानव संवादवहन, यातायात आदि की भी केन्द्रित सुविधाएँ मिलती हैं।

समुदाय का वाह्य ढाँचा—समुदाय के आन्तरिक ढाँचे की रूप-रेखा का आभास तो जन संख्या और उन संस्थाओं की आकृति प्रकृति से मिल जाता है किन्तु कोई भी एक देश केवल मात्र नगरों और ग्रामों तथा कस्बों आदि का एक झुण्ड मात्र ही तो नहीं होता है। इन सब को सङ्गठित एवं व्यवस्थित करके ही वह देश बन पाता है। इसी प्रकार नगर भी बहुत सी बस्तियों, क्षेत्रों एवं परिवारों का झुण्ड मात्र ही नहीं होता है वरन् उसमें कोई किसी प्रकार की व्यवस्था, प्रतिमान अवश्य होते हैं। जिस प्रकार समाज का ढाँचा प्रगतिशील एवं अपरिवर्तनशील होता है उसी प्रकार समुदाय भी तो ढाँचे की दृष्टि से प्रगतिशील ही होता है। अधिकतर ग्रामों में ध्यान केन्द्र एक ही होता है। एक ही गुँथे मिले हुए से प्रतिमान पर सारी ग्राम्य-व्यवस्था चलती है किन्तु नगरों में यद्यपि व्यवस्था होती है, यह सम्भव है कि अनेक पृथक्-पृथक् व्यवस्थाओं को एक ही चित्र में स्थान दिया जाए अतः नगर में एक ध्यान-केन्द्र अनेकों केन्द्रों में विभक्त हो जाता है और वे अनेक भिन्न-भिन्न होते हुए भी एक ही व्यवस्था के अंग होते हैं। समुदाय का ढाँचा प्राकृतिक ढंग पर ही विकसित होता है। समिति का विधान बनाया जाता है और उसके विकास की दिशा भी निर्धारित की हुई ही होती है किन्तु इस ढंग पर समुदाय का विधान बनाया नहीं जाता वरन् बनता जाता है। उसका कोई निश्चित प्रतिमान भी नहीं होता है। प्रतियोगिता और तत्सम्बन्धी शक्तियाँ, सत्ता प्राप्ति के लिए संघर्ष, आकर्षण, आर्थिक कारणों से पारस्परिक सहयोग आदि के कारण सामुदायिक प्रतिमान बनते चले जाते हैं। यहाँ तक कि नगर के जिन क्षेत्रों

में कोई एक व्यवसाय अथवा समुदाय का आर्थिक अंश-विशेष स्थिरता एवं दृढ़ता से जम जाता है उन क्षेत्रों को लेकर भी कभी कोई आयोजन किया गया हो ऐसी बात नहीं होती है वरन् स्वाभाविक ढंग से अपने आप विशेष और साधारण क्षेत्रों को लिये दिये नगरों का विकास होता चला जाता है। इस प्रकार के स्वाभाविक अथवा प्राकृतिक विकास के फलस्वरूप पिछले कुछ ही वर्षों में नगरों से सम्बन्धित अनेक प्रकार की समस्याओं का स्पष्ट ही जन्म हुआ दिखाई पड़ने लगा जैसे कि नगर के कुछ भागों का अपेक्षाकृत अधिक घनी आबादी लिये हुए होना आदि। इस प्रकार की दशा ने समाजशास्त्रियों को यह विश्वास करने के लिए प्रेरित किया कि नगरों के लिए किसी न किसी प्रकार की आयोजना की आवश्यकता है। यद्यपि आयोजन कर पाना भी कोई सरल कार्य नहीं है।

समुदाय का मनोवैज्ञानिक धरातल— वस्तुतः समुदाय का मुख्य आधार मनोवैज्ञानिक अथवा समुदाय सम्बन्धी मानव की गहन केन्द्रीय भावना एवं अनुभूति है। मानव समुदाय के भीतर अपने व्यक्तित्व को घुला मिला हुआ सा ही मानता है तथा समुदाय से भिन्न उसे अपना व्यक्तित्व पूर्ण नहीं जान पड़ता है। मानव समुदाय सम्बन्धी भावना का आरम्भ अपने परिवार और पारिवारिक जीवन में ही करने लगता है तथा व्यापक स्मृतियों, परम्पराओं, प्रथाओं संस्थाओं आदि सब ही के द्वारा इस केन्द्रीय भावना को अधिकाधिक ग्रहण करता जाता है। मानव यह भी सीखता और जानता जाता है कि मानव के लिए साथ रहना, सामाजिक जीवन व्यतीत करना अत्यन्त आवश्यक है और समुदाय मानव की इस प्रकार की आवश्यकता को पूरी भी करता है तथा व्यक्तित्वों के आधार पर एक पूर्ण भी बनाता जाता है। व्यक्ति सामाजिकता के साथ ही साथ समुदाय सम्बन्धी स्नेह भावना को भी ग्रहण करता जाता है। वस्तुतः व्यक्ति की सामाजिक अथवा सामूहिक अथवा समुदाय सम्बन्धी भावनाओं के कारण परार्थ अथवा परहितचिन्तन आदि नहीं होते हैं। इस प्रकार की भावनाएँ तो व्यक्तिगत ही होती हैं। सामाजिकता का आधार तो वह सामाजिक दृष्टिकोण है जिसे कि व्यक्ति अपने ही भीतर विकसित करता है। इस प्रकार के सामाजिक दृष्टिकोण अथवा भावना को तीन भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से जो कि पृथक् होते हुए भी अत्यन्त घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं, देखा जा सकता है। ये दृष्टिकोण इस प्रकार के हैं। एक तो वह जिससे कि व्यक्ति 'मैं' न कह कर 'हम' का

प्रयोग करता है। इस प्रकार की भावना में व्यापक अथवा सामाजिक व्यक्तित्व एवं सामूहिक सम्पत्ति आदि का बोध होता है। दूसरा दृष्टि-कोण वह है जिससे कि व्यक्ति समाज को अथवा समुदाय को एक पूर्ण की भान्ति देखता है और उसमें अपना स्थान अंश की दृष्टि से ग्रहण करके ही गौरव मानता है। नाटक में अनेकों पात्र अभिनय करते हैं। प्रत्येक पात्र का उत्तरदायित्व अपने अभिनय को करना ही होता है किन्तु उसे सारे नाटक की सफलता की चिन्ता रहती है और वह अपना अभिनय इसी दृष्टि से करता भी है जिससे कि सम्पूर्ण नाटक सफल हो सके। प्रायः जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में वह अपने को सम्पूर्ण समाज का एक अंग मान कर ही चलता भी है। तीसरा दृष्टिकोण व्यक्ति में एक दूसरे पर आश्रित रहने की आवश्यकता को समझना है। वह जानता है कि उसे समुदाय पर आश्रित रहना ही है अतः वह समुदाय को एक विशाल परिवार की भाँति ही समझता है यद्यपि उसकी विशालता के कारण उसका अधिकार समाज पर उतना अधिक नहीं होता है जितना कि परिवार पर। अतः तदात्मयता, निजी क्षेत्र का भी एक सामुदायिक स्थान होना और व्यक्तियों का अन्योन्याश्रित होना इन्हीं भावनाओं एवं दृष्टिकोणों के आधार पर मानव समुदाय सम्बन्धी भावना का निर्माण करता है।

राष्ट्र भी तो एक प्रकार का समुदाय ही है और यह भी कोई आश्चर्य की बात नहीं होगी यदि कभी मानव अन्तर्राष्ट्रीय भावनाओं को लेकर भी एकत्व का एक विशेष प्रकार का दृष्टिकोण बना ले। उस उस अवस्था में समस्त विश्व ही एक मानव समुदाय बन कर खड़ा हो सकेगा किन्तु सम्भवतः उस अवस्था में भी मानव की विश्व समुदाय सम्बन्धी भावना की नींव उसके इन्हीं तीन दृष्टिकोणों को लेकर पड़ेगी।

समितियाँ एवं मानव की रुचि—वस्तुतः मानव परस्पर एक दूसरे से समितियों के द्वारा ही सम्बन्धित होते हैं और संस्थाएँ भी समितियों के ही आधार पर बनती हैं। जनरुचि का समितियों आदि के निर्माण में बहुत अधिक महत्त्व होता है। वस्तुतः रुचि-विशेष और ध्येय-विशेष को लेकर ही किसी समिति-विशेष का निर्माण होता है। किसी भी रुचि-विशेष को जान पाने के पश्चात यह भी देखना पड़ता है कि इस रुचि का विकास सहकारिता के सिद्धान्त के आधार पर हो सकता है अथवा नहीं यदि हो पाता है तो उसी को लेकर

सदस्य आदि बना कर, समिति निर्माण करके उसके आधार पर ही रुचि-विशेष के विकास सम्बन्धी ध्येय की पूर्ति की जाती है किन्तु केवल मात्र रुचि-विशेष को जान पान ही समिति निर्माण के लिए सबल प्रेरक कारण नहीं हो पाता है। कार्यारंभ करने की योग्यता और शक्ति, उत्साह, संगठन करने की योग्यता आदि की भी समिति के संगठन कर पाने के लिए आवश्यकता होती है। जो व्यक्ति इस प्रकार के कार्य करने की योग्यता रखता है वही नेता बन जाता है और समिति निर्माण के लिए सफल एवं कुशल नेतृत्व की अत्यन्त अधिक आवश्यकता होती है। नेता का सर्वप्रथम कर्त्तव्य तो यह होता है कि वह अन्य व्यक्तियों में नवीन समिति के संगठन की आवश्यकता सम्बन्धी चेतना उत्पन्न करे। तत्पश्चात उस रुचि विशेष को जिसके आधार पर समिति का संगठन होना चाहिए अन्य रुचियों से भिन्न करके लोगों के सम्मुख रख सके और फिर उसे उसके संगठित रूप में अन्य सदस्यों की अन्य रुचियों के साथ व्यवस्थित और संगठित रूप में भी रख सके। जिस रुचि को ध्येय बनाना है उसका रूप-रेखा, आकृति प्रकृति, आदि को निश्चित करने का कार्य भी नेता का ही होता है। यद्यपि रुचियों के क्षेत्र भिन्न भिन्न होने पर नेता का कार्य भी भिन्न-भिन्न हो जाता है। विभिन्न रुचियों में प्रमुख आर्थिक, धार्मिक, शिक्षा सम्बन्धी, मनोरंजन सम्बन्धी और राजनीतिक आदि रुचियाँ ही होती हैं। रुचियों की भिन्नता के आधार पर ही विभिन्न प्रकार के नेताओं की भी उत्पत्ति होती है। आर्थिक संस्थाओं और समितियों को लेकर नेतृत्व के लिए मजदूर संघ आदि समितियों के नेतृत्व के लिए अत्यंत जटिल प्रतियोगितामय संघर्ष होता है और उसके माध्यम से ही नेता का चुनाव हो सकता है। प्रायः उपयुक्त गुणोंवाले नेता को चुन पाना ही इस प्रकार के संघर्ष का मुख्य ध्येय भी होता है। इतना तो सत्य ही है कि संस्थाएं समितियों को लिये दिये ही बनती हैं और समितियों के निर्माण के लिए उपयुक्त कारणों की आवश्यकता होती है जिनमें से प्रमुख हैं किसी ध्येय विशेष का ज्ञान और तत्सम्बन्धी चेतना तथा उपयुक्त नेता का होना। यह भी सत्य ही है कि उपयुक्त नेता के बिना समिति का संगठन हो नहीं पाता है किन्तु दूसरी ओर यह कठिनाई भी ध्यान देने योग्य है कि नेता की निजी रुचि यदि अत्यधिक प्रबल होती है तो कभी-कभी वह व्यापक ध्येय के लिए उतना अधिक कार्य ठीक ढङ्ग से नहीं कर पाता है। यद्यपि अपने ध्येय के प्रति सच्चा रहना एक गुण है और इसके बिना काम

भी नहीं चल सकता है फिर भी अपने आदर्शों पर इतना अधिक दृढ़ हो जाना जो कि मानसिक अनुदारता की सीमा तक ही पहुँच जाये सम्भवतः नेता के लिए हितकर भी नहीं होता है और उसे नेता का गुण भी नहीं कहा जा सकता है। कभी-कभी यह भी देखा जाता है कि व्यक्तिगत रुचियों एवं विचारों तथा संस्था अथवा समिति के उद्देश्यों में तनिक सा भी अन्तर होने पर समिति को किसी अत्यन्त सुयोग्य व्यक्ति के नेतृत्व से केवल इसी कारण वंचित रह जाना पड़ता है कि वह व्यक्ति अपने निजी विचारों और रुचियों का उतना अधिक बलिदान नहीं कर पाता है जितना कि समिति के अन्य सदस्य चाहते हैं।

निजी रुचियाँ प्रत्येक व्यक्ति में समान रूप से ही व्यक्तिगत होती हैं, और व्यापक रुचियाँ वे होती है जो कि आवश्यक रूप से अनेकों व्यक्तियों की सम्पत्ति होती हैं। यद्यपि इन दोनों ही प्रकार की रुचियों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है फिर भी जिन संस्थाओं को ये जन्म देती हैं उनमें प्रायः भिन्नता होती है। उदाहरणार्थ— आर्थिक समितियाँ प्रायः निजी रुचियों के आधार पर बनती हैं और उनका उद्देश्य प्रायः मजदूरी की दर आदि बढ़ाना होता है जो कि उनके प्रत्येक सदस्य की निजी रुचि ही होती है किन्तु सांस्कृतिक समितियों का आधार व्यापक रुचियाँ होती हैं। यद्यपि वे भी कुछ सदस्यों के लिए निजी रुचि भी हो सकती हैं किन्तु समिति के जन्म होने का कारण यही होता है कि उसका आधार व्यापक रुचि है। किसी भी प्रकार की समिति को बनाए रखने के लिए निजी रुचि को भी व्यापक रुचि में परिवर्तित करना ही पड़ता है।

समितियों का वर्गीकरण— किसी भी आधुनिक समाज में बहुत सी संस्थाएं तथा समितियाँ होती हैं और उन्हें किसी वर्ग-विशेष में बाँध कर सम्मुख रखना कुछ कठिन भी होता है क्योंकि प्रायः समिति की प्रेरक रुचि और उसकी घोषित रुचि में भेद हुआ करता है। घोषित रुचि के धीरे-धीरे परिवर्तित हो जाने की भी पूरी-पूरी सम्भावना होती ही है। ऐसी अवस्था में किसी भी समिति के मुख्य ध्येय एवं रुचि का पता लगाना भी कठिन हो जाता है। इसके अतिरिक्त रुचि ही तो समिति निर्माण का एक मात्र कारण नहीं होता है। इसके अतिरिक्त प्रसिद्धि एवं सत्ता की प्रबल आकांक्षा भी कभी-कभी समिति निर्माण के कारण हो जाते हैं।

प्रायः समितियों का प्रमुख वर्गीकरण तो विशेष और साधारण करके ही किया जा सकता है। प्रायः साधारण समितियाँ तो वे होती हैं

जिनका आधार व्यापक होता है जैसे कि स्त्री, पुरुष, विशेष आयु के बालक अथवा व्यक्ति, जाति, बिरादरी, नागरिक हित की संस्थाएँ, पितृ-सत्तात्मक परिवार। विशेष समितियाँ वे होती हैं जो कि उद्देश्य-विशेष को लेकर ही खड़ी होती हैं और उनमें भी कुछ तो प्रारम्भिक होती हैं और कुछ माध्यमिक तथा कुछ उपयोगी। प्रारम्भिक में क्लब आदि ऐसी संस्थाएँ अथवा समितियाँ जा सकती हैं जिनका उद्देश्य केवल सामाजिक सम्बन्ध हीं हों। दूसरे प्रकार की वे समितियाँ हैं जिनकी प्रमुख रुचि स्वास्थ्य एवं मनोरंजन सम्बन्धी होती है जैसे कि खेल आदि से सम्बन्धित समितियाँ परिवार और मंदिर तथा धार्मिक सम्प्रदायों आदि को भी इसी में गिना जा सकता है। कलात्मक रुचि को लेकर संगठित समितियाँ तथा दर्शन और विज्ञान से सम्बन्धित समितियाँ भी प्रारम्भिक समितियों में ही गिनी जा सकती हैं। माध्यमिक समितियों में शिक्षा सम्बन्धी रुचि के आधार पर संगठित पाठशाला, विद्यालय, विश्वविद्यालय आदि सब ही सम्मिलित की जा सकती हैं और उपयोगी समितियों का मुख्य लक्ष्य आर्थिक, राजनीतिक अथवा अनुसन्धानात्मक होता है। यह तो समितियों के वर्गीकरण का एक ढङ्ग है। इसके अतिरिक्त रुचियों के स्थायित्व के आधार पर भी समितियों का वर्गीकरण किया जा सकता है। यही नहीं विभिन्न रुचियों और उनके क्षेत्रों में परस्पर संघर्ष भी हो जाता है। इतना तो निश्चित ही है कि मानव समाज के विभिन्न अंगों तथा सदस्यों की रुचि के आधार पर समितियों का निर्माण होता है और इनमें से प्रमुख संस्थाएँ तथा समितियाँ वे ही होती हैं जिनकी ओर कि हम संकेत कर चुके हैं।

राजनीतिक संस्थाएँ तथा समितियाँ—राष्ट्र भी एक राजनीतिक संस्था है। इसके अन्तर्गत कई एक समितियाँ कार्य करती हैं। राष्ट्र वास्तव में समुदाय की एक ऐजेंसी है यद्यपि यह एक सीमित ऐजेंसी मात्र ही है। राष्ट्र सामाजिक ढाँचे का एक सबल स्तम्भ है, आधार है किन्तु एक मात्र आधार नहीं है। सामाजिक ढाँचा केवल मात्र राष्ट्र में ही सीमित नहीं हो जाता है। इसका महत्त्व अन्य समितियों की अपेक्षा कहीं अधिक है क्योंकि यह अन्य समितियों को भी नियन्त्रित करता है। आधुनिक युग में यह समस्या अत्यन्त विकट हो उठी है कि राष्ट्र को कहाँ तक अन्य समितियों का नियन्त्रण करना चाहिए। साम्यवादी सिद्धांत यह सिद्ध करने की

चेष्टा करते हैं कि आर्थिक संस्थाओं पर पूर्णरूपेण राष्ट्र का ही नियंत्रण होना चाहिए। दूसरी ओर एक अन्य विचारधारा के समर्थक जिन्हें सम्पूर्णवादी राजनीतिक विचारक कहा जा सकता है यह विश्वास करते हैं कि राष्ट्र को ही एक मात्र सर्वोपरि संस्था की भाँति देश भर की सब ही, जीवित संस्थाओं का नियंत्रण करना चाहिए। यही नहीं, जनरुचि का पूर्ण नियन्त्रण भी राष्ट्र ही कर सकता है। यद्यपि इन दोनों ही विचारधाराओं को कार्यान्वित किया गया। साम्यवादी विचारधारा में रूस ने और सम्पूर्णवादी विचारधारा ने गत युद्ध के समय में नात्सी जर्मनी और मसोलिनी की इटली में किसी एक सीमा तक अपने क्रियात्मक रूप का प्रसार किया किन्तु दोनों में से किसी भी विचारधारा को निर्विवाद सत्य नहीं कहा जा सकता है और न उनके सिद्धांतों को सत्य कह कर अभी तक घोषणा ही की जा सकती है अतः आज भी यह समस्या उतनी ही जीवित है जितनी कि किसी भी समय में थी कि राष्ट्र को अन्य संस्थाओं पर नियन्त्रण करने का कितना और कैसा अधिकार होना चाहिए। यदि हम अधिक विवाद में न भी पड़ना चाहें तो भी इतना तो सत्य ही है कि राष्ट्र का प्रमुख कार्य है जन रक्षा और जन रक्षा तब ही हो सकती है जब कि देशवासियों की बाह्य आक्रमणों से और आंतरिक संघर्षों से रक्षा की जाये। दोनों ही प्रकार की रक्षा तब ही हो सकती है जब कि देश सम्पन्न हो, उसका सर्वाङ्गीण विकास हो रहा हो और उसका यह अर्थ हुआ कि राष्ट्र का कार्य जनहित अथवा जनता का सर्वाङ्गीण विकास करना भी है। इस प्रकार प्रत्यक्षरूप से जनरक्षा और परोक्ष रूप से जनहित करना राष्ट्र का कार्य है। अब प्रश्न यह होता है कि ऐसा कर पाने के लिए राष्ट्र कहाँ तक अन्य संस्थाओं अथवा समितियों पर निर्भर रह सकता है अथवा उनके सहयोग से चल सकता है अथवा उसे स्वयं ही सारा उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेना चाहिए। वस्तुतः यह प्रश्न इतना अधिक विवाद ग्रस्त है कि इसको लेकर विभिन्न प्रकार की सम्मतियों का अभाव नहीं होगा किन्तु अच्छा तो यही हो कि राष्ट्र अन्य संस्थाओं आदि के सहयोग से जनहित का कार्य उसी सीमा तक करे जिस सीमा तक उसके ऐसा करने की नितान्त आवश्यकता हो। यूँ अन्य संस्थाओं और राष्ट्र के बीच एक मौलिक अन्तर है। अन्य संस्थाएं किसी प्रकार का पाशविक अधिकार, दण्ड विधान और शक्ति प्रयोग आदि करके अपने उद्देश्यों की पूर्ति नहीं करा सकती है जब कि राष्ट्र को इस प्रकार के अधिकार प्राप्त हैं। राष्ट्र

शक्ति का प्रयोग करके भी व्यक्ति से कार्य करा सकता है यद्यपि उसका ऐसा कर पाना भी सर्वथा निस्सीम नहीं है। राष्ट्र व्यक्ति पर तो शक्ति का प्रयोग कर सकता है किन्तु समूह पर वैसा नहीं कर सकता है अतः उसे भी जन रुचि, जन इच्छा के अधीन होकर रहना ही पड़ता है। फिर भी अन्य संस्थाओं की अपेक्षा उसके पास अधिक अधिकार होने के कारण ही वह सर्वोपरि संस्था मानी जा सकती है किन्तु फिर भी राष्ट्र की सत्ता पूर्ण नहीं है। अब यह प्रश्न हो सकता है आस्टिन जिस प्रकार की पूर्ण सार्वभौम सत्ता की कल्पना करते हैं वह आधुनिक राष्ट्र को क्यों नहीं दी जाती है। ब्लैकस्टन भी सत्ताधारी को सर्वोपरि, अनियन्त्रित और ऐसा अधिकारी मानते हैं जिसकी आज्ञा का उल्लंघन किया ही नहीं जा सकता है। भले ही वैधानिक अथवा कानूनी दृष्टि से हम राष्ट्र को सर्वोपरि एवं आस्टिन की दृष्टि के अनुसार पूर्ण सत्ता मान लें किन्तु वास्तविकता यह है कि राष्ट्र पूर्ण सत्ता का उपभोग नहीं कर पाता है। जनमत के अतिरिक्त भी अन्य सार्वजनिक संस्थाएँ एवं समितियाँ ही राष्ट्र की सत्ता के नियन्त्रण का कार्य करती हैं। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी कार्य हैं जिन्हें कि राष्ट्र कर ही नहीं सकता है। उदाहरणार्थ- किसी भी देश का विधान ऐसा न होगा जिसके द्वारा कि सामाजिक सुधार करने की चेष्टा न की गई हो। इस प्रकार की चेष्टा किसी एक सीमा तक सफल भी होती है किन्तु केवल मात्र विधान सभा में निर्मित नियमों के द्वारा किसी भी देश के वासियों को सामाजिक दृष्टि से न तो सुखी ही बनाया जा सकता है और न उनकी उन्नति ही की जा सकती है। अतः यह कहना कि राष्ट्र प्रत्येक व्यक्ति के जीवन के सब ही अंगों का पूर्ण विकास कर पायेगा व्यर्थ ही है।

राष्ट्र के कार्य— कुछ ऐसे भी कार्य हैं जिन्हें कि राष्ट्र ही कर सकता है। एक जटिल समाज एवं समुदाय में राष्ट्र ही एक प्रभावशाली और आधारभूत व्यवस्था स्थापित कर सकता है और ऐसा कर सकने का कारण यह है कि राष्ट्र निर्मित नियम एक भौगोलिक क्षेत्र-विशेष के सब ही व्यक्तियों पर अनिवार्य रूप से लागू होते हैं और राष्ट्र को यह भी अधिकार प्राप्त है कि वह उन नियमों को उन व्यक्तियों से मनवाए ही। इस प्रकार के व्यापक नियम बनाने, उन्हें मनवाने और उनमें किसी भी अपवाद को स्थान न देने का महत्त्वपूर्ण कार्य राष्ट्र ही कर सकता है। सब ही व्यक्तियों को समान अवसर देना तथा सब ही व्यक्तियों के लिए समान सुविधाएँ उपस्थित करना भी राष्ट्र का ही कार्य

है अतः यह भी एक मात्र इसी संस्था का कार्य हो सकता है कि समाज की विभिन्न संस्थाओं एवं संगठनों को एक सूत्र में बाँधें और उनमें परस्पर सहयोग एवं सहकारिता की भावना उत्पन्न कर सके। सामाजिक व्यवस्था बनाए रखने के लिए भी तो राष्ट्र की शक्ति की आवश्यकता होती है और सामाजिक व्यवस्था के बिना तो अन्य संस्थाएँ भी ठीक से कार्य नहीं कर सकती हैं। केवल मात्र व्यवस्था स्थापित कर देने और अनुशासन बनाए रखने से भी तो अन्य संस्थाओं का कार्य कर पाना सुलभ नहीं हो जाता है क्योंकि व्यवस्था एवं अनुशासन तो अत्याचारी शासन भी बनाए रख सकता है अतः एक पूर्ण स्वतन्त्र जनतान्त्रिक शासन के द्वारा स्थापित व्यवस्था ही इन उद्देश्यों को पूर्ण कर सकती है। यूँ तो बालक के जन्म होते ही उसकी सूचना किसी न किसी सरकारी एजेन्सी को देनी पड़ती है। कई राष्ट्रों में तो गर्भवती माता की देख-रेख और सन्तान की उत्पत्ति के सब ही साधनों और सुविधाओं का प्रबन्ध राष्ट्र की ही ओर से किया जाता है। तनिक बड़े होने पर उसकी शिक्षा दीक्षा का प्रबन्ध भी राष्ट्र की ही ओर से होता है। यह सब कार्य कर पाने के लिए यद्यपि शासन नागरिकों से कर के रूप में उनकी आय का एक भाग लेता है फिर भी उसके बदले सब ही प्रकार की सामूहिक सुविधाएँ भी नागरिकों को देता ही है। राष्ट्र के शासन का, तत्सम्बन्धी नीति का जनता के जीवन पर प्रभाव पड़ता है। यहाँ तक कि वस्तुओं की दर भी प्रशासकीय नीति द्वारा प्रभावित होती रहती है। विवाह, विवाह-विच्छेद, सम्पत्ति पर अधिकार और उसका बँटवारा, मकान बनवाना, बेकार होने पर कार्य दिलवाने का उत्तरदायित्व आदि सब कुछ राष्ट्र के द्वारा स्वीकृति प्राप्त करके ही किए जाते हैं अतः व्यक्ति के जीवन पर भी जन्म से और मृत्युपर्यन्त राष्ट्रीय प्रशासन का बहुत कुछ प्रभाव रहता है। यद्यपि इस प्रकार के कार्य सम्पन्न करने के लिए राष्ट्र की विभिन्न संस्थाएँ होती हैं जैसे कि राष्ट्रीय अथवा केन्द्रीय, प्रान्तीय, स्थानीय प्रशासन संस्थाएँ आदि।

यह तो निश्चित ही हो गया कि राष्ट्र एक समिति है और इसके कार्य अन्य समितियों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण हैं अतः इसकी महत्ता अन्य सामाजिक संस्थाओं एवं समितियों की अपेक्षा कुछ अधिक ही है। यह राष्ट्र तथा व्यक्ति की रक्षा के लिए तो उत्तरदायी है ही व्यक्ति के विकास और सार्वजनिक हित के लिए भी किसी एक सीमा तक उत्तरदायी है। उसका कार्य-अधिकार-क्षेत्र व्यक्ति का नागरिक एवं

सार्वजनिक जीवन है यद्यपि इस प्रकार के जीवन का आधार भी उसका सामाजिक व्यक्तित्व है जो कि लगभग उसके संपूर्ण व्यक्तित्व का एक बहुत बड़ा अंश है फिर भी राष्ट्र व्यक्ति के संपूर्ण व्यक्तित्व को नहीं ढक पाता है। व्यक्ति नागरिक के अतिरिक्त भी बहुत कुछ होता है और उसके जीवन के उन अंगों पर राष्ट्र का प्रत्यक्ष नियन्त्रण न तो होता ही है और न होना ही चाहिए अतः राष्ट्र तथा शासन सामाजिक ढाँचे का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। यद्यपि यह सामाजिक ढाँचे का सम्पूर्ण रूप नहीं है फिर भी एक अत्यन्त विशाल और महत्त्वपूर्ण अंग अवश्य है। किसी एक सीमा तक, सम्भवतः व्यवस्था बनाए रखने के लिए राष्ट्र का अन्य सामाजिक संगतियों पर नियन्त्रण रहता है किन्तु यह नियन्त्रण सीमित ही होता है पूर्ण नहीं।

सरल संस्कृतियाँ और शासन—प्रायः सरल संस्कृतियों में शासन व्यवस्था अत्यन्त सीधी-सादी होती है। आधुनिक आरण्यक जातियों में भी कोई सुगठित शासन व्यवस्था दिखाई नहीं देती है। बुशमैन, शोशोन, अंडमान निवासी एवं टेराडेलफ्यूगो निवासी प्रायः कोई सुगठित शासन व्यवस्था नहीं रखते हैं। आवश्यकता पड़ने पर कोई अस्थायी नेता चुन लिया जाता है और कार्य समाप्त हो जाने पर उसका नेतृत्व काल भी समाप्त हो जाता है। सरल संस्कृतियों में इस प्रकार के अस्थायी प्रबन्ध से काम चलना भी कठिन नहीं होता है क्योंकि वर्ग का सीमित ही स्वरूप होता है। न तो व्यक्तियों की ही अधिक संख्या होता है और न इतना विशाल समुदाय ही होता है जिसमें कि वैयक्तिक सम्पर्क स्थापित न किये जा सके और न व्यवस्था बनाये रखने के लिए ही कुछ लम्बा चौड़ा प्रबन्ध करना पड़ता है क्योंकि जन-संख्या इतनी अधिक होती ही नहीं है जिसमें कि व्यवस्था बनाये रखने संबंधी कठिनाई हो। अधिक जन-संख्या न होने के कारण समस्याएँ भी थोड़ी ही होती हैं और विकृत तथा असन्तुलित व्यक्तित्ववाले व्यक्तियों की संख्या भी न्यून ही होती है। इस प्रकार के समुदाय में संस्कृति प्रगतिशील तो हो ही नहीं सकती है। इस प्रकार की संस्कृति एकतत्त्वीय (Homogenous) होती है जबकि प्रगतिशील संस्कृतियाँ (Heterogenous) होती हैं जिनमें कि लोगों के विभिन्न मत, श्रेय, अश्रेय, उचित, अनुचित के विभिन्न मापदण्ड आदि मिलते हैं। इस प्रकार के सरल समाजों में संपत्ति का प्रायः अभाव ही होता है और सम्पत्ति न होने के कारण संपत्ति को लेकर जिन अपराधों की सृष्टि हुआ करती है

उनका भी अभाव होता है। फिर भी अन्य अपराधों का अभाव नहीं होता है।

सरल संस्कृतियों में राष्ट्र के अतिरिक्त नियन्त्रण के साधन— इस प्रकार की संस्कृतियों में यद्यपि शासकीय नियन्त्रण नहीं होता है तो भी परिवार, बिरादरी तथा इसी प्रकार की अन्य छोटी-बड़ी समितियों के द्वारा व्यक्तियों के आचार व्यवहार पर नियन्त्रण तो रखा ही जाता जाता है और कभी-कभी तो यह नियन्त्रण आवश्यकता से भी अधिक कठोर हो जाता है।

राष्ट्र का उद्गम - राष्ट्र के उद्गम के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वान् विभिन्न मतों का प्रसार एवं प्रचार करते हैं। मोर्ले कहते हैं कि राज्य उन अवस्थाओं को स्वीकार कर लेता है जो मानव के भीतर ही उत्पन्न एवं विकसित होनेवाली सामाजिकता से उत्पन्न हुई है और मानव की सुविधा की ही खोज में विकसित हुई है। कुछ विद्वान् इस मनोवैज्ञानिक सत्य को तो स्वीकार करते हैं कि मानव प्रकृति से ही एक सामाजिक जीव है और सामाजिकता उसके भीतर स्वाभाविक रूप से ही रहती है तथा इसी अन्तर्निहित सामाजिकता का आधार लेकर मानव ने समूह और राष्ट्र का संगठन किया किन्तु यह सब मानते हुए भी कुछ विद्वान् संस्थाओं को इस दिशा में भी अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं। विल्सन तो इसी दृष्टिकोण को लेकर पारिवारिक अनुशासन में ही राष्ट्र के उद्गम को देखते हैं। हो सकता है कि सामूहिक व्यवस्था का आरम्भ परिवार एवं बिरादरी से ही हुआ हो। कामन्स इस संबंध में विभिन्न वर्गों के बीच हुए समझौतों के एक एकत्रित क्रम की ओर संकेत करता है और इस क्रम को एक ऐसा क्रम मानता है जिसका कि आधार है व्यक्तिगत संपत्ति पर नियन्त्रण होना और इसी प्रकार की भावनाओं अर्थात व्यक्ति की व्यक्तिगत संपत्ति पर नियन्त्रण रखने की भावना से ही राष्ट्र एवं राज्य का जन्म होना। गम्प्लोविज यह मानते हैं कि राज्य कभी भी एक जाति अथवा कई जातियां द्वारा मिल कर अन्य जाति को दास बनाये बिना नहीं बन पाया है अतः यह भी संभव है कि राष्ट्र का निर्माण युद्ध और विजय के बीच ही हुआ हो।

राज्यों का विकास—किसी एक निश्चित पद्धति से न तो राज्यों का विकास ही हुआ और न उनका कोई एक ऐतिहासिक क्रम ही निश्चित किया जा सकता है। फिर भी उन परिस्थितियों तथा कारणों को खोजा जा सकता है जो कि राष्ट्र तथा राज्य के विकास के साथ सम्बद्ध किये

जा सकते हैं। वस्तुतः विभिन्न प्रकार की परिस्थितियों के विभिन्न प्रकार से हुए मिश्रणों ने विभिन्न प्रकार के राज्यों तथा राज्य प्रणालियों को जन्म दिया।

सम्पत्ति का आविष्कार होने के साथ ही साथ व्यक्ति में संपत्ति एकत्रित करने तथा उस पर एकाधिपत्य करने की भावना उदित हुई होगी। धीरे-धीरे अपेक्षाकृत अधिक सबल और बड़े परिवारोंवाले कृषक धरती के अधिक क्षेत्रफल पर अपना अधिकार करके उस पर कृषि करने के लिए दास, अनुचर, मजदूर आदि रखने लगे और उन पर भी अपना सिक्का जमाने लगे। उस युग में शक्ति का ही बोलबाला था अतः जिसके पास अधिक शक्ति थी तथा जो कि सफल लड़ाका था वही अपने दल का सरदार बन बैठा और यह स्वाभाविक ही था कि उसका महत्त्व दल के अन्य साधारण व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक हो गया। परिणामस्वरूप सामन्तवाद की नींव पड़ी। समय पाकर हो सकता है कि यही सामन्तवाद साम्राज्यवाद में परिवर्तित हो गया हो। यद्यपि आज साम्राज्यवाद की नींवें खोखली हो चुकी हैं और सामन्तवाद तो इससे भी कहीं पूर्व अस्त हो गया था फिर भी उसके क्षय के कारण खोज पाना कुछ सरल नहीं है। विभिन्न समुदायों में सामन्तशाही के नष्ट होने के कारण भी भिन्न-भिन्न थे। इन्हीं कारणों में औद्योगीकरण, लोकतन्त्र का विकास, जमींदारी प्रथा का उन्मूलन, विभिन्न समुदायों का एकीकरण, मुद्रा व्यवस्था का आविष्कार, संरक्षण के नवीन उपाय, शासन के क्षेत्रों का विस्तृत किया जाना, सांस्कृतिक एवं अन्य प्रगतिशील विचारों का आगमन आदि सम्मिलित किये जा सकते हैं। शक्तिशाली सरदारों के पारस्परिक संघर्षों और प्रतियोगिताओं का परिणाम सदासर्वदा एक राजा और एक राजत्व एवं साम्राज्य की ही स्थापना के रूप में हुआ हो ऐसी बात नहीं है वरन् कभी-कभी तो इन्हीं कारणों के फलस्वरूप संघीय राज्यों की भी स्थापना हो पाई है।

इस प्रकार की सरकारों के अतिरिक्त यूनान के ऐथेन्स और स्पार्टा आदि नगरों में नगर राज्यों की स्थापना भी हुई थी। यह ऐसे बड़े नगर थे जिनकी कि आस-पास की भूमि पर प्रभुता थी। कुछ ऐसे भी नगर राज्य थे जिनकी सत्ता विशाल क्षेत्र तक विस्तृत थी और यहाँ जल और स्थल दोनों का यातायात भी पर्याप्त विकसित था। ऐथेन्स और रोम ऐसे ही नगर थे। रोम का अधिकार क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत था अतः उसे साम्राज्य भी कहा जा सकता है। इन नगर साम्राज्यों के

पास यद्यपि भू-संपत्ति अधिक नहीं थी किन्तु वस्तुओं के रूप में संपत्ति पर्याप्त थी। वस्तु संपत्ति कुछ उतनी अधिक स्थायी नहीं होती है जितनी कि भू-संपत्ति अतः भू-संपत्ति वंशपरम्परा से एक दूसरे को प्राप्त होती हुई भी एक ही वंश के अधिकार में रहती है जब कि वस्तु संपत्ति के लिए ऐसा होना आवश्यक नहीं है। भूमि संपत्ति की रक्षा के लिए किले होते हैं और उनकी रक्षा के लिए सैनिक भी अपनी आजीविका की प्राप्ति भूमि के द्वारा ही करते हैं। एक भूखण्ड पर प्रायः एक ही वंश का अधिकार रहता है और वंश सम्बन्धी कुलीनता का जन्म भी इसी आधार पर होता है। नगरों में भू-संपत्ति न होने के कारण कृषि की अपेक्षा आर्थिक जीवन अधिक अस्थिर होने के कारण वंशानुक्रम कम सुरक्षित होता है। नगरों में जीवन अधिक केन्द्रित नहीं होता है और परिवार तथा बिरादरी आदि के बन्धन भी उतने अधिक कठिन नहीं होते हैं इसीलिए वंशानुगत शासन भी उतना जटिल एवं कठिन नहीं होता है। नगरों में परिवर्तनों की भी अधिक सम्भावना होती है और नागरिक समुदाय भी कुछ अधिक प्रगतिशील ही होते हैं क्योंकि नगरों में व्यापारिक विस्तार होने के कारण व्यापारीगण देश-विदेशों से नवीन विचारधाराएं भी लाते रहते हैं और उनसे नागरिक संस्कृति को प्रभावित करते रहते हैं। यद्यपि प्रारम्भ में तो सशक्त अथवा वैभवशाली व्यक्ति ही नगरों के शासक बने होंगे किन्तु समय पाकर नागरिक संस्कृति का भी विकास होता गया। नगर का शासन अधिकतर व्यापार द्वारा अर्जित धन से ही चलता था तथा व्यापारी और शिल्पकार ही उस धन को उपार्जित करते तथा वस्तुएं बेचकर विदेश से लाते थे धीरे-धीरे उन्होंने भी राज काज के काम में रुचि लेना आरम्भ कर दिया और इस प्रकार जनतन्त्र की स्थापना की जाने लगी।

प्रजातन्त्र का विकास—आधुनिक युग के आरम्भ तक भी अधिकतर देशों तथा समुदायों की शासन व्यवस्था राजतन्त्रीय ही थी किन्तु युग की प्रगति के साथ ही साथ राजतन्त्र का ह्रास होने लगा। भूमि अर्थ व्यवस्था का महत्त्व उद्योगीकरण के साथ ही साथ कम होने लगा। विश्व की अर्थ नीति का आधार बहुत कुछ उत्पादन शक्ति, बुद्धि और व्यवस्था होने लगा। परिणामस्वरूप साम्राज्यवादी अथवा राजतन्त्रीय व्यवस्था का अन्त होने लगा। विभिन्न देशों में इसका अन्त करने की रीति नीति भी भिन्न भिन्न ही रही। कहीं कहीं क्रान्तियाँ भी हुईं और राजा के स्थान पर

चुनाव द्वारा अधिकारी नियुक्त करने की प्रथा की नींव भी डाली जाने लगी। जहाँ राजा बने भी रहे और राजत्व को एकबारगी समाप्त नहीं किया गया वहाँ भी राजा के अधिकारों की सीमाएं अत्यन्त संकुचित कर दी गई। राजा का स्थान संसद और उसकी सत्ता का स्थान संसदीय सत्ता ने ले लिया। यहाँ तक कि जहाँ कहीं नाम मात्र के लिए राजा रह भी गये वहाँ भी राजस्व के समस्त साधनों पर संसद का अधिकार हो जाने के कारण वे संसद के आश्रित के रूप में ही बने रहने दिये गये। पूँजीवाद का साम्राज्यवाद के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था। भू-सम्पत्ति के युग में राजा राजस्व भूस्वामियों से, सामन्तों से, कृषकों एवं जमींदारों से प्राप्त करता था किंतु औद्योगीकरण के युग में उपज का एक भाग लेने मात्र से ही तो राजा का कार्य हो नहीं जाता अतः प्रत्येक व्यक्ति की आय पर कर लगने लगा अतः राजस्व सम्बन्धी व्यवस्था में भी परिवर्तन करना आवश्यक हो गया। कर व्यवस्था की रूप-रेखा में भी संसदों के आगमन और विकास के साथ ही साथ परिवर्तन एवं संशोधनादि होने लगे। व्यापारी वर्ग कुछ इतना अधिक सशक्त हो गया था और उसने राजा की शक्ति भी बहुत कुछ छीन छानकर अपने ही हाथ में कर ली थी। ऐसी अवस्था में केवल मात्र राजशक्ति समाप्त कर देने मात्र से ही तो व्यापारी वर्ग की शक्ति बढ़ जाने तथा उनके राज्य पर अधिकार कर लेने की सम्भावना थी नहीं अतः जनता की ओर से माँग आने लगी कि राज-सत्ता जनता के ही हाथ में रहे। जनता में भी यह चेतना उत्पन्न हो गई कि राष्ट्र के उद्गम के सिद्धांतों में दैवी सिद्धांत निरर्थक सा ही था अर्थात राष्ट्र का जन्म ईश्वर की इच्छा से, किसी एक व्यक्ति को राजा बना कर भेज देने से नहीं हुआ था वरन हुआ था जनता के अपने ही बीच इस प्रकार का एक सामाजिक समझौता कर लेने से। ह्वाब्स, लॉक और रूसो जैसे राजनीतिक विचारकों के विचारों ने इस सिद्धान्त को और भी अधिक बल दिया और जनता राजा के दैवी अधिकारों के दावे को व्यर्थ सा सिद्ध करके साधारण जनता के अधिकारों की माँग करने लगी। प्रजातन्त्र राज्य स्थापित हुए, नष्ट हुए, फिर से राजतन्त्र स्थापित हुए किंतु बहुत अधिक देर तक राजा एकछत्र शासन अथवा राजतन्त्र का नारा जीवित न रख पाये।

यद्यपि राजतन्त्र की कल्पना सुकरात, प्लेटो, कौटिल्य आदि विचारकों से बल प्राप्त करती रही किंतु ऋग वैदिक काल की राज्य व्यवस्था भी सहज ही विस्मरण नहीं की जा सकती है। इसके अतिरिक्त रोम

में एक समय गणराज्य था। ऐथेन्स के लोकतन्त्र को भी भुलाया नहीं जा सकता है और भारतवर्ष में भी बौद्ध-काल के आस-पास के गण-राज्य संख्या में न्यून होते हुए भी आदर्श थे। आज जनता के राजनीतिक अधिकारों की उपेक्षा कर पाना संभव नहीं है। भले ही लोकतन्त्र में दोष हो फिर भी लोकतन्त्र राजतन्त्र की अपेक्षा सामाजिक दृष्टि से लोकहित के अपेक्षाकृत अधिक निकट है। न्याय की स्थापना, व्यक्ति को समानाधिकार एवं व्यक्तित्व के विकास के लिए समान अवसर देना जितना अधिक लोकतन्त्र में सम्भव है उतना राजतन्त्र में नहीं। वस्तुतः देश में व्यवस्था बनाये रखना उतना कठिन कार्य नहीं है जितना कि प्रत्येक व्यक्ति के लिए न्याय सहज और सुलभ कर पाना। सम्भवतः विधि का शासन (rule of law) स्थापित करना लोकतन्त्र में ही सम्भव है। वस्तुतः किस व्यक्ति को क्या प्राप्त होना चाहिए, किसका क्या प्राप्य है यही निश्चित करना शासन के लिए सबसे कठिन कार्य है यहाँ तक कि ऐसा कर पाने का ठीक-ठीक आधार 'श्रम के आधार पर मूल्यांकन' करने का सिद्धान्त भी नहीं हो पाता है और बिना न्याय की स्थापना किये हुए, प्रत्येक व्यक्ति को उसका पावना दिये हुए व्यवस्था बनाये रखना भी सम्भव नहीं है जो कि राष्ट्र का मुख्य कार्य है अतः इस कार्य को भली प्रकार सम्पादित कर पाने के लिए राष्ट्र को लोकतन्त्र का ही सहारा लेना पड़ता है और ऐसा करना उचित भी है क्योंकि अभी तक मानव लोकतंत्र से अधिक श्रेयस्कर किसी शासन प्रणाली का आविष्कार कर भी तो नहीं पाया है।

राष्ट्र जिन कार्यों के लिए अधिक उपयुक्त है— कुछ ऐसे कार्य हैं जिन्हें कि राष्ट्र जनरक्षा और जनहित सम्बन्धी कार्यों के अतिरिक्त भी अपने कार्य क्षेत्र में ले सकता है। यद्यपि उनकी भी जनहित के ही लिए आवश्यकता होती है। उदाहरणार्थ, देश की प्राकृतिक देन का ठीक-ठीक उपयोग करना राष्ट्र की ही क्षमता है। कोई भी अन्य अधिक संस्था अथवा व्यक्ति जो भी इस प्रकार के कार्य करना चाहेंगे अधिक से अधिक एक वर्ग के हितों और रुचियों का ध्यान रख सकेंगे और इस दिशा में प्रतियोगिता होने की भी पूरी पूरी सम्भावना है किन्तु राष्ट्र ही एक मात्र ऐसी संस्था है जिसका कि सम्बन्ध सब ही देशवासियों से है अतः वह देश भर की समग्र प्राकृतिक देन को लेकर एक ऐसी आयोजना बना सकता है जिससे कि व्यापक रुचियों एवं व्यापक तथा सार्वजनिक हितों की रक्षा भी हो सके और तत्कालीन लाभ की ओर

ध्यान न देकर सम्पूर्ण हित और भविष्य की उन्नति एवं प्रगति की ओर भी ध्यान दिया जा सके। जिस प्रकार देश की सब ही प्राकृतिक देनों एवं शक्तियों का सदुपयोग केवल मानव जीवन को सुखी एवं स्वस्थ तथा सबल बनाने के लिए ही होना चाहिये उसी प्रकार वैज्ञानिक शोध कार्य भी केवल मानव हित के ही लिए होना चाहिये और इस प्रकार का नियन्त्रण करना राष्ट्र के ही लिए सम्भव है। इसी प्रकार घनी अनिच्छा में भी कभी-कभी राष्ट्र को मानव समुदाय की शक्ति, प्राकृतिक देन, धातु आदि, जंगलों तथा मत्स्यादिक का अनुपयुक्त तथा अनुचित ढङ्ग से प्रयोग होना भी रोकना ही पड़ता है। यह देश के और सब ही देशवासियों के हित में कभी कभी नहीं भी होता है भले ही वह देश के कुछ लोगों के व्यक्तिगत हित की बात हो। इसी प्रकार उद्योग धन्धों सम्बन्धी सुरक्षा की भी कभी-कभी व्यवस्था करना आवश्यक हो जाता है और राष्ट्र ही कानून के द्वारा यह कार्य कर सकता है।

इसी प्रकार दूसरी ओर व्यक्तियों के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास करने में सहायक होना और तत्सम्बन्धी सुविधाएँ तथा उसके लिए उपयुक्त वातावरण उपस्थित करना भी राष्ट्र का ही कार्य हो सकता है। मानवीय शक्ति एवं बुद्धि का पूर्ण विकास किए बिना कोई भी समाज अथवा राष्ट्र प्राकृतिक देन का करेगा भी क्या? अतः मानव के लिए राष्ट्र को प्राकृतिक देन का पूर्ण विकास और उपयोग करना होता है तथा वैसा कर पाने के लिए व्यक्तियों के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास करना भी आवश्यक हो जाता है और यह सब कुछ राष्ट्र तब ही ठीक ढङ्ग से कर पाता है जब कि वह शिक्षा, कला तथा अन्य ऐसे ही उद्देश्यों को लेकर चलनेवाली समितियों का परस्पर सहयोग सम्बन्ध स्थापित करा सके तथा सांस्कृतिक दृष्टि से उन्हें एक दूसरे के निकट लाकर एक दूसरे का पूरक बना सके।

वे कार्य जो कि राष्ट्र नहीं कर सकता—कुछ ऐसे भी कार्य हैं जिनका कि सम्पादन अन्य समितियाँ राष्ट्र की अपेक्षा अधिक कुशलता से कर सकती हैं। यद्यपि इन कार्यों की खोज के लिए भी हमें वातावरण और सामाजिक अवस्था की ओर देखना पड़ता है किन्तु प्रायः सब ही समाजों में कुछ कार्य तो ऐसे होते ही हैं जिन्हें करना राष्ट्र का कार्य नहीं होता है। राष्ट्र तो सम्पूर्ण समुदाय की संस्था है अतः यह तो व्यापक हितों और व्यापक रुचियों को लेकर ही चल सकती है किन्तु समाज में तो विशेष हितों और विशेष रुचियों की ओर ध्यान

देनेवाली संस्थाओं की भी आवश्यकता होती है और इस प्रकार की संस्थाओं का कार्य राष्ट्र नहीं कर सकता है।

इसके अतिरिक्त राष्ट्र जनमत का न तो नियन्त्रण ही कर सकता है और न दिशा निर्देशन ही। जनता की नैतिकता पर नियन्त्रण कर पाना भी राष्ट्र की शक्ति से बाहर है। इसी प्रकार समाज की प्रगति तथा सांस्कृतिक विकास की दिशा की ओर संकेत करना भी राष्ट्र की शक्ति से बाहर है।

राष्ट्र और विश्व— प्रत्येक राष्ट्र अपनी सीमाओं से बाहर भी कार्य करता है। उसे अन्य राष्ट्रों से भी तो सम्बन्ध रखना ही पड़ता है और इसी सम्बन्ध से अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की भी आवश्यकता पड़ती ही है क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था ही मानव के व्यापक और पूरक हितों की रक्षा और उनका विकास कर सकती है। आज कोई भी देश अलग-थलग रह कर तो विश्व में प्रगति कर नहीं सकता है। व्यापार, व्यवसाय, उत्पादन, उद्योग आदि आर्थिक हितों से लेकर कल्पना की ऊँची उड़ान कविता, जीवन के चित्र उपन्यास, संगीत, कला, संस्कृति आदि सब ही हितों को सम्मुख रख कर मानव को एक दूसरे से सम्बन्ध स्थापित करना उचित ही जान पड़ता है। देशों, जातियों एवं विभिन्न रक्त के मानवों में आदान-प्रदान आज अत्यन्त आवश्यक सा ही हो गया है और यही सम्भवतः मानव के हित के लिए आवश्यक भी है अतः सांस्कृतिक आदान-प्रदान के लिए तथा अन्तः सम्बन्धों का एक मापदण्ड निर्धारित करने के लिए तथा मानव के अनेकानेक व्यापक हितों की रक्षा के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त राष्ट्रों की सुरक्षा का भी तो कोई अन्य साधन नहीं है। ऐसा न होने पर तो प्रत्येक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के लिए भय का ही कारण होता है। राष्ट्र के पास शक्ति होती है और यही शक्ति देश में व्यवस्था बनाए रखती है किन्तु दूसरे देशों के साथ इसी शक्ति के बल पर युद्ध भी तो किये जा सकते हैं। यद्यपि आज दिन तक इस दिशा में जितने भी पग उठाये गये हैं वे दुर्भाग्य से असफल ही रहे फिर भी यह तो मानना ही पड़ता है कि किसी प्रकार की एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की आवश्यकता भी है ही और वही एक मात्र अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति बनाए रखने का उपाय भी है यद्यपि इस प्रकार की व्यवस्था का आधार विश्व में आर्थिक समता स्थापित करना तथा प्राकृतिक देन के आधार पर ही उत्पादन करने की योजना बनाना और सब ही देशों के आर्थिक हितों को ध्यान में रखते हुए ही विश्व व्यापार का आयोजन करना, होना चाहिए।

राष्ट्र-कल्याणकारी संस्था—आज दिन यह विश्वास किया जाता है कि विश्व युद्धों का प्रमुख कारण किसी सबल एवं सुव्यवस्थित अन्तर्राष्ट्रीय संस्था का अभाव है। यद्यपि समय-समय पर 'लीग आफ नेशंस' और आज भी यूनाइटेड नेशंस ऐसोसिएशन' जैसी संस्थाएँ बनीं और हैं किन्तु उनमें से किसी का भी अधिकार क्षेत्र उतना अधिक विस्तृत नहीं रहा जितना कि होना चाहिए। यही नहीं, जिस प्रकार राष्ट्र के पास शक्ति होती है और वह उस शक्ति के द्वारा अपने अधिकार क्षेत्र में व्यवस्था बनाए रखता है उसका भी प्रायः अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के पास अभाव सा ही रहा। फिर भी इस युग में राष्ट्र के कर्त्तव्यों में युद्ध करना सम्मिलित नहीं किया जाता है। आज दिन मानव की सभ्यता उस युग की सभ्यता से कहीं ऊपर उठ चुकी है जिसे कि बर्बर युग कहा जाता है, जब कि परिवारों, बिरादरियों, ग्रामों आदि में नरहत्या साधारण सी बात थी। आज का युग सभ्यता के आधार पर नरहत्या को यद्यपि अभी तक विस्मरण नहीं कर पाया है किन्तु यह उतनी व्यापक और साधारण सी बात नहीं रह गई है यहां तक कि कुछ राष्ट्र तो इसे दण्डस्वरूप भी स्वीकार करने को तत्पर नहीं हैं। आज के सभ्य राष्ट्रों में सरदारों के बीच होनेवाले युद्ध भी दिखाई नहीं देते हैं। राष्ट्रों की भीतरी शक्ति का उपयोग अधिकतर न्याय और व्यवस्था बनाए रखने में ही किया जाता है तब ही तो व्यक्तियों के द्वन्द्वयुद्ध आदि-सम्बन्धी अधिकार प्रायः सब ही सभ्य राष्ट्रों में लुप्तप्राय ही हो गये हैं। अब भयोत्पादक केवल राष्ट्रों की बाह्य शक्ति ही रह गई है किन्तु इस शक्ति का भी मुख्य लक्ष्य सामाजिक हित साधन अथवा जनलक्ष्य की प्राप्ति ही होना चाहिए। युद्धों को राष्ट्रों का कर्त्तव्य उस युग में माना जा सकता था जिस युग में मानव का मुख्य ध्येय केवल मात्र राजनीतिक-हित साधन ही था। आज वैसी बात नहीं रह गई है। आज के युद्ध सिंहासनों अथवा नारियों के लिए नहीं होते हैं। होते हैं तो केवल मात्र आर्थिक सुविधाओं और सत्ता के लिए जो कि किसी प्रकार भी मानव जीवन का सामाजिक दृष्टि से अन्तिम ध्येय नहीं माना जा सकता है अतः युद्ध को राष्ट्र का कर्त्तव्य नहीं माना जा सकता है। यही नहीं, आधुनिक जीवन की रीति-नीति के साथ युद्ध की पटरी भी तो नहीं बैठती है। यद्यपि आज भी मानव पूर्ण रूपेण विवेकशील व्यक्ति नहीं हो गया है फिर भी वह रक्तपात को नीची दृष्टि से अवश्य देखने लगा है। किसी एक युग में युद्ध में वीरता का प्रदर्शन करना ही केवलमात्र वीरता

का चिह्न माना जाता था किन्तु आज 'वीरता' की भी तो व्याख्या परिवर्तित हो गई है। आज तो उस व्यक्ति को भी 'वीर' ही कहा जायेगा जो कि यद्यपि रणक्षेत्र में किसी का रक्तपात नहीं करता, वीरतापूर्वक युद्ध नहीं करता वरन् कोढ़ियों को, दीन-दुःखियों की सेवा में तिल-तिल करके अपने सबल और सुन्दर शरीर को गला डालता है, जो संयम और त्याग तथा बलिदान की पराकाष्ठा कर देता है। युग धर्म के अनुसार मानव के नैतिक गुणों की व्याख्याएं भी परिवर्तित हो गई हैं। फलस्वरूप युद्ध जो कि किसी एक समय में एक आवश्यक राजनीतिक संस्था थी समाप्तप्राय हो गई फिर किसी एक युग में जब कि जीवन इतना अधिक यन्त्रों पर आश्रित नहीं था युद्ध में मानव के कुछ उन गुणों का विकास हो जाया करता था जो कि शान्ति काल में दबे ही रह जाते थे जैसे साहस आदि। आज दिन तो युद्ध भी यान्त्रिक हो गये हैं अतः उसकी भी तो कोई संभावना नहीं है। आज के युद्ध तो मानव को साहस और वीरता की दीक्षा भी नहीं दे पाते हैं, देते हैं केवल मात्र असीम वेदना, क्लेश, कष्ट और सर्वनाश का भयंकर ज्वालाएं। आज तो मानव यह भी समझने लगा है कि मानव का अभाव किसी भी वस्तु से पूरा नहीं किया जा सकता है और नरहत्या तो युद्ध में होगी ही अतः आज के राष्ट्रों के कर्त्तव्यों में कल्याणकारी कर्म ही सम्मिलित किये जा सकते हैं युद्ध की भांति विनाशकारी, विध्वंसकारी नहीं।

आधुनिक राजनीतिक समस्याएँ — इसमें कोई संदेह नहीं कि लोकतन्त्र से यह कल्पना की जाती थी कि यह एक ऐसा शासन होगा जिसमें कि जन-जन का भाग होगा अर्थात जो कि एब्राहम लिंकन के शब्दों में 'जनता का शासन, जनता के ही द्वारा और जनता के लिए ही होगा।' लोकतन्त्र का यह प्रभाव तो अवश्य हुआ कि प्रायः अधिकांश सभ्य देशों में वयस्कों को मताधिकार प्राप्त हो गया। महिलाओं को भी मताधिकार से वंचित नहीं रखा गया किन्तु इतना ही जाने पर भी यह कहना कठिन होगा कि लोकतन्त्र सर्वथा जनता के लिए एवं जनता द्वारा किया जानेवाला ही शासन है। वस्तुतः जनता के पास न तो इतना अधिक अवकाश ही होता है और न सब ही देशवासियों की राजनीतिक चेतना ही इतनी अधिक होती है कि वह राज-काज के काम में सक्रिय रूप से कुछ कर सके अतः इन विशाल जनसमूहपूर्ण देशों में लोकतन्त्र केवल मात्र कल्पना और आदर्श ही रह जाता है। उसका व्यावहारिक रूप आदर्श से कहीं भिन्न होता है। प्रायः विभिन्न देशों में

विभिन्न रीति-नीति का उपयोग केवल मात्र इसलिये किया गया कि जनता को राज्य के कामों में अधिकाधिक रुचि लेने के लिये प्रेरणा दी जा सके किन्तु फल आशाजनक नहीं हुआ।

वयस्क मताधिकार का अर्थ तो यह है कि प्रत्येक वयस्क व्यक्ति सोच समझ कर जिस राजनीतिक दल की नीति को देश के लिए हित कर समझता है उसे ही सत्ता दिलाने के लिये, शासक बनाने के लिए अपना मत दे और इस प्रकार देश के शासन को अपने मत द्वारा बल दे, राज-काज के कार्यों में भाग ले। यही नहीं, प्रायः प्रत्येक देश वासी किसी भी पद के लिये अपने को उपस्थित भी कर सकता है अर्थात चुनाव में खड़ा हो सकता है और यदि उसे जनमत प्राप्त हो सके तो वह शासन का एक स्तम्भ भी बन सकता है। आज के जटिल समाजों एवं राष्ट्रों में परोक्ष रूप से ही सरकारें बनाई जाती हैं अर्थात जनता विधान एवं धारा सभा आदि के सदस्यों का चुनाव करती है और वे स्वयं अपने नेता का और नेता अपनी परिषद् का चुनाव करते हैं। किन्तु प्रायः देखा यह जाता है कि चुनावों का भी वास्तविक उद्देश्य पूरा नहीं हो पाता है क्योंकि जनता राजनीतिक कार्यों में उतनी अधिक रूचि नहीं लेती है जितनी कि लोकतन्त्र बनाने के लिए लेना चाहिये।

किसी-किसी देश में जनता को कानून बनाने में मत देने का और भी अधिक अधिकार देने की दृष्टि से कुछ नवीन प्रणालियों का भी सृजन किया गया, जैसे कि मतदाताओं को विधेयक अथवा कानून बनाने से सम्बन्धित प्रस्ताव उपस्थित करने का अधिकार (Initiative) दिया गया तथा कहीं-कहीं विधानमण्डल अथवा धारा सभा द्वारा स्वीकृत विधेयक पर अन्तिम स्वीकृति अथवा अस्वीकृति जनता अथवा मतदाताओं से ही लेने से निश्चय (Referendum) किया गया। स्वाटजरलैण्ड में इसे प्रयोग में भी लाया गया किन्तु इस प्रकार के अधिकारों का उपभोग जनता ठीक ढंग से कर नहीं पाती है क्योंकि एक तो यूँ ही विधिनिर्माण इतना जटिल, कठिन एवं विशेष ढंग का कार्य है जिसे सहज ही सब ही व्यक्ति कर भी नहीं सकते हैं, दूसरे जनता के पास न तो इतना समय ही होता है कि विधि विधान की रूपरेखा को पूरी तरह पढ़े और समझे और न वे इतनी रूचि ही इन कामों में लेते हैं। यदि वे रूचि लेना चाहे भी तो जीवन के व्यस्तक्षण उन्हें ऐसा करने भी नहीं देते हैं। परिणाम यह होता है कि जो कुछ ही व्यक्ति अथवा दल निजी स्वार्थों अथवा अन्य कारणों से इन कामों में विशेष रूचि लेते हैं वे

विभिन्न प्रकार के प्रचार करते हैं और भोली जनता उन्हीं प्रचारों से प्रभावित होकर अपना मत पक्ष अथवा विपक्ष में बिना ठीक से सोचे समझे हुए दे देती है। परिणाम यही होता है कि जनता तो अपने अधिकार का उपयोग कर नहीं पाती और कुछ दल अथवा व्यक्ति अपनी मनमानी कर लेते है। इस प्रकार उन अधिकारों की उपादेयता कुछ भी नहीं रह जाती है।

वस्तुतः शासन कार्य यदि जनता को दिया जाय तो वह या तो करती नहीं है और या करने में असमर्थ होती है अतः शासन कार्य संसद, विधानमण्डल अथवा धारा सभा आदि के द्वारा ही किया जाता है और वहाँ बैठे हुए जनता के प्रतिनिधि अथवा कार्यकर्ता, अधिकारी आदि ही शासन कार्य करते रहते हैं। इस प्रकार के लोकतन्त्र को जनता के प्रतिनिधियों का शासन अथवा जनता का अपने प्रतिनिधियों द्वारा शासन तो कह सकते हैं किन्तु जनता का शासन नहीं कह सकते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि शासन जनता पर किया जाता है। सम्भवतः केवल मात्र नेतृत्व खोज पाने के कार्य को ही चुनाव का मुख्य उद्देश्य मान कर चला जाता है और सम्भवतः इसी को देख कर शुम्पीटर को कहना पड़ा कि आज का लोकतन्त्र वैकल्पिक नेतृत्व का चुनाव मात्र ही करता है। मतदाता एक अवधि विशेष तक एक प्रकार के नेतृत्व सहन करते हैं और फिर उससे असन्तुष्ठ होकर उसे हटाने का अधिकार रखते हैं किन्तु उनका अधिकार नेता चुनने तक ही है। एक बार नेता चुन लेने पर सारी शक्ति नेतृत्व के ही हाथों में चली जाती है। शासन की अन्य प्रणालियों की अपेक्षा लोकतन्त्र की प्रणाली की विशेषता यही है कि उसमें इतना अधिकार तो जनता को रहता ही है कि शासक की एक बार अयोग्यता सिद्ध हो जाने पर उसे निश्चित अवधि के पश्चात् शासन पद पर न रहने दे तथा अन्य शासन चुन सके। इसके अतिरिक्त वास्तविक दोष लोकतन्त्र प्रणाली का नहीं है, वरन् है हमारी चुनाव प्रणालियों का। वस्तुतः किसी भी देश में प्रजातन्त्र की सफलता तब ही हो सकती है जब कि सब ही देशवासी अथवा मतदाता पूर्णतया शिक्षित हों और राजनीति दृष्टि से जागरूक रहना चाहते हों। राजनीतिक चेतना का अभाव होने से कोई भी समुदाय पूर्णतया लोकतन्त्र अथवा प्रजातन्त्र शासन प्रणाली से लाभ नहीं उठा सकता है। जन शिक्षा और जन चेतना के अतिरिक्त देश व्यापी प्रचार के उचित साधनों का होना और उनके द्वारा उचित एवं सत्य ही समाचारों का प्रसारित एवं प्रचारित किया जाना लोकतन्त्र की सफलता के लिए आवश्यक है। सत्य समाचारों का प्राप्त न होना

जनता को कुमार्ग पर भी ले जा सकता ह। अधिकतर व्यक्ति इसीलिए तो अपने मत का ठीक-ठीक उपयोग नहीं कर पाते हैं कि उन्हें वास्तविक तथ्यों का ज्ञान भी नहीं हो पाता है और वे देश की समस्याओं को ठीक ढंग से समझ भी नहीं पाते हैं फिर उनका हल कौन खोज सकेगा यह तो जानना भी कठिन है। राजनीतिक चेतना न होने पर इस सम्बन्ध में जानने की विशेष उत्सुकता भी तो अधिकांश जनता को नहीं होती है अतः लोकतन्त्र की पूरी उपादेयता तो तब ही हो सकती है जब कि जनता शिक्षित हो, राजनीतिक दृष्टि से सचेत, जागरूक एवं सजग हो और सत्य समाचार मिलने की पूर्ण सुविधा हो।

वस्तुतः एकतत्त्वीय समाज में प्रजातन्त्र चल सकना कुछ कठिन नहीं होता है किन्तु आज के समाज में शासन व्यवस्था और अर्थ व्यवस्था प्रायः एक दूसरे से गुँथी मिली हुई ही होती है। यूँ तो पूँजीवाद के आविष्कार और औद्योगीकरण ने समाज में विभिन्नतत्त्वीयता (Heterogeneity) उत्पन्न कर ही दी थी किन्तु पूँजीवाद के आरम्भ होने से लेकर आज तक समाज में वर्ग बढ़ते ही चले गये यहाँ तक कि उद्योगपति, व्यापारी, श्रमिक, जमींदार, कृषक, बौद्धिक वर्ग आदि अनेकानेक वर्ग हो गये हैं। परस्पर इन वर्गों में विभिन्न प्रकार की असमानताएँ वर्तमान हैं। जीवन स्तर, आर्थिक स्थिति सम्बन्धी ही नहीं वरन् शिक्षा-दीक्षा, मत धर्म, संस्कृति आदि सब ही प्रकार के भेद इन वर्गों में पाये जाते हैं। दूसरी ओर राष्ट्र की समस्याएँ भी दिनों-दिन अधिकाधिक जटिल होती जा रही हैं। एक ओर तो विभिन्न सांस्कृतिक असमानताएं, आर्थिक विषमताएँ और दूसरी ओर जटिल राष्ट्रीय समस्याएँ इन दोनों को लेकर आज का लोकतंत्र एक उलझन में ही फंस गया है। यद्यपि इस उलझन को सुलझाने के प्रयत्नों में से एक भौगोलिक निर्वाचन क्षेत्रों का निर्माण करना है और दूसरा प्रतिनिधित्व के जनसंख्या तथा अन्य कुछ ऐसे ही आधार खोजना है। व्यवसाय तथा उद्योग धन्धों आदि से सम्बन्धित निर्वाचन क्षेत्र बनाये जाते हैं तथा आर्थिक आधारों को लेकर भी प्रतिनिधित्व की व्यवस्था की जाती है किन्तु इससे भी समस्या का पूरा हल तो हो नहीं जाता है। यही नहीं, आज के सामाजिक वर्ग स्थान विशेष पर तो केन्द्रित होते भी नहीं हैं अतः चुनाव सम्बन्धी कठिनाई का सामना करना ही पड़ता है। इन वर्गों को गूँथा भी नहीं जा सकता है क्योंकि प्रायः इन सब ही वर्गों के स्वार्थ भिन्न-भिन्न होते हैं और कभी-कभी परस्पर विरोधी भी होते हैं। लोकतंत्र का एक यह भी दोष होता है कि

भोली-भाली जनता को इसमें सहज ही स्वार्थी लोगों द्वारा गुमराह किया जा सकता है क्योंकि प्रचार ही लोकतंत्र का मुख्य आधार है और प्रचार सदा सर्वथा उचित दिशा की ओर ही संकेत करता हो ऐसी बात नहीं है।

राज्य और सामाजिक हित—कुछ वर्षों से कार्ल मार्क्स के विचारों के प्रसार और अन्य समाजवादी तथा साम्यवादी विचारकों की उन विचारों के प्रति श्रद्धा एवं समर्थन की भावना ने जनता को यह विचार करने को विवश कर दिया है कि राज्य कहाँ तक व्यक्ति के लिये सामाजिक दृष्टि से हितकर हो सकता है। वस्तुतः यह प्रश्न राज्य के विषय में न होकर किसी शासन प्रणाली विशेष के विषय में किया जा सकता है। राज्य अथवा सामाजिक एवं राष्ट्रीय सङ्गठन तो कार्य के हित के ही लिये होता है और उसकी इस दृष्टि से उपादेयता भी है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं होता है कि सब ही शासन प्रणालियाँ श्रेयस्कर हैं। कुछ लोगों का तो यह भी विश्वास है कि वह शासन प्रणाली श्रेयस्कर है जिसमें राष्ट्रीय सत्ता ही मानव जीवन के सब ही अंगों एवं अंशों को नियन्त्रण में रखने वाली होती है और ऐसा करने से ही व्यक्ति का कल्याण हो सकता है किन्तु इस प्रकार की राज्य प्रणाली के गुणों पर पूरा-पूरा ध्यान दे चुकने पर भी हमें कहना ही पड़ता है कि मानव का निजी महत्व भी तो उसके सामाजिक महत्व के साथ ही साथ चलता है। वस्तुतः मानव व्यक्ति तो है ही। उसके जीवन का एक पक्ष एकाकी है; निजी व्यक्तित्व है और दूसरा सामाजिक व्यक्तित्व। इन दोनों को साथ चलाने के अतिरिक्त उसे सन्तुलित रखने का और कोई उपाय है भी तो नहीं अतः उसके व्यक्तिगत जीवन को भी राष्ट्र की एकबारगी सम्पत्ति बना देना कुछ उचित नहीं जान पड़ता है। उसी शासन प्रणाली को सामाजिक दृष्टि से हितकर, कल्याणकारी माना जा सकता है जो कि व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन में जितना कम हस्तक्षेप कर सके उतना ही करे तथा प्रत्येक व्यक्ति को जितना अधिक राजकाज के कार्यों में सुविधापूर्वक भाग लेने दे सके उतना ही लेने दे। लोकतन्त्र (Democracy) राज्य प्रणाली में दोष हो सकते हैं किन्तु उसमें एक सर्वोत्कृष्ट गुण भी तो यह है कि वह व्यक्ति के महत्व को समझती और मानती है अतः उसे अन्य राज्य प्रणालियों की अपेक्षा अधिक महत्व तो दिया ही जा सकता है। यद्यपि दूसरी ओर यह भी राजनीतिक विचारकों का पुनीत कर्तव्य है कि वे उसके चुनाव

सम्बन्धी तथा अन्य दोषों के यथासम्भव मार्जन करने के उपायों की खोज करें।

आर्थिक संस्थाएँ—आर्थिक संस्थाएँ वे संस्थाएँ होती हैं जिनका सम्बन्ध व्यक्ति के जीविकोपार्जन, सम्पत्ति के उत्पादन और उसके संचय से होता है। कृषि कर्म से लेकर, उद्योग, धन्धें, मिल, फैक्टरी, कल, कारखाने और उनसे सम्बन्धित यातायात आदि के तथा संवाद वाहन के साधन, मुद्रा संस्थाएँ, क्रय-विक्रय, साख आदि से सम्बन्धित संस्थाएँ आदि सब आर्थिक संस्था के ही विभिन्न अंग होते हैं। यही नहीं, इस युग के सब ही वे साधन जिनके द्वारा मानव प्रकृति का अधिकाधिक अपने हित में उपयोग करता है अथवा उसके द्वारा ऐसे यन्त्रादिक, उपादान, साधनादि खोज लेता है जिससे कि मानव की सुख सुविधा का अधिकाधिक प्रबन्ध हो सके और उनकी सफलता के लिए जिन संगठनादि सम्बन्धी उपायों का प्रयोग करता है वे सब आर्थिक संस्थाओं के ही अन्तर्गत आते हैं। यद्यपि आधुनिक अर्थ-नीति एक ऐसी जटिल समस्या सी ही बन गई है जिसने व्यावसायिक मन्दी और बेकारी जैसी भयंकर समस्याएँ भी ला उपस्थित की हैं तथा पूँजीवाद और समाजवाद आदि को भी जन्म दिया है जिनके आधार पर यह प्रश्न किया जाने लगा है कि राष्ट्र का तथा शासन का देश की अर्थनीति के साथ क्या और कैसा सम्बन्ध होना चाहिए तथा अर्थ नीति एवं आर्थिक संस्थाओं का शासन द्वारा नियन्त्रण होना कहाँ तक सम्भव है, तथापि आधुनिक राजनीति से अर्थनीति को सर्वथा प्रथक करके देखा भी तो नहीं जा सकता है। सामाजिक जीवन का सम्बन्ध अर्थनीति से अत्यन्त घनिष्ठ है अतः आर्थिक संस्थाओं का समाज शास्त्र द्वारा अध्ययन किया जाना उचित ही है क्योंकि अर्थशास्त्र की प्रमुख एवं जटिल समस्याओं का हल सामाजिक दृष्टि से उन समस्या का अध्ययन करके ही खोजा जा सकता है। आर्थिक और सामाजिक संस्थाओं का सम्मिलित अध्ययन ही हमें किसी सफल निष्कर्ष तक ले जा सकता है।

आर्थिक समितियों से हमारा तात्पर्य विशेष रूप से उन समितियों से होता है जो कि प्रधानतः आर्थिक उद्देश्यों की पूर्ति में ही संलग्न होती हैं जैसे कि उत्पादन के साधन और तत्सम्बन्धी प्रतियोगिता, बंटवारे के सिद्धान्त, वस्तुओं का आयात-निर्यात आदि आदि। इसका तो यह अर्थ हुआ कि आर्थिक समितियों का मुख्य लक्ष्य अर्थोत्पत्ति

ही होना चाहिये। इस प्रकार की व्यवस्था का जिसे कि हम आर्थिक व्यवस्था कहते हैं केन्द्र बाजार होता है। वास्तव में आर्थिक और राजनीतिक समितियों में कुछ गहरी भिन्नता नहीं होती हैं। इन दोनों का ही कार्य-क्षेत्र तो मिलता-जुलता ही होता है यद्यपि दोनों की कार्य प्रणाली में भेद होता है। जिस प्रकार राजनीतिक समितियाँ केवल मात्र राजनीतिक उद्देश्य ही लेकर नहीं चल सकती है क्योंकि राजनीति को अर्थनीति से एक बारगी भिन्न करके देखना भी तो कुछ सरल नहीं होता है, उसी प्रकार आर्थिक समितियाँ भी केवल मात्र आर्थिक उद्देश्यों को ही लेकर नहीं चलती हैं। वस्तुतः सब ही प्रकार की समितियों के सम्मुख किसी न किसी रूप में आर्थिक हितों की समस्या होती ही है और इसी प्रकार आर्थिक समितियों के सम्मुख भी अर्थ उद्देश्य के अतिरिक्त भी अन्य प्रकार के हित और तत्सम्बन्धी समस्याएँ रहती ही हैं। प्रायः सब ही प्रकार की यहाँ तक कि अत्यन्त अनुदार आर्थिक नीति के अन्तर्गत भी यह सम्भव नहीं है कि अन्य सब ही प्रकार के हितों को एकबारगी प्रथक किया जा सके।

आर्थिक पद्धति—यह तो हम देख ही चुके हैं कि राजनीतिक एवं आर्थिक समितियों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है और यह भी सत्य है कि इनके कार्य क्षेत्रों में इतना अधिक अन्तर नहीं है जितना कि इनकी पद्धतियों में। अतः इनकी पद्धतियों का अध्ययन कर लेना ही उचित जान पड़ता है। आर्थिक पद्धति का मुख्य आधार है अर्थ की प्राप्ति और उस पर व्यक्तिगत अधिकार एवं नियंत्रण होने के उपाय करना। आर्थिक समितियां यह अर्थ करने के उद्देश्य को लेकर चलती हैं किन्तु प्राप्त करने के पश्चात् भी उस अर्थ पर व्यक्तिगत रूप से ही सदस्यों का अधिकार अथवा नियन्त्रण होता है। अर्थोत्पत्ति अथवा अर्थ प्राप्ति की प्रक्रिया में प्रथम समिति और तत्पश्चात् इसके सदस्य उस अर्थ का व्यक्तिगत रूप से उपयोग करना चाहते हैं और तत्सम्बन्धी साधन खोजते हैं। इस प्रकार की पद्धति को आर्थिक कह सकते हैं। राजनीतिक पद्धति के अनुसार चलने पर अर्थ पर प्रभुत्व राष्ट्र का, समुदाय का अथवा सार्वजनिक होना चाहिये। यद्यपि राष्ट्र भी प्राप्त अर्थ को आर्थिक व्यवस्था को ही लौटा देगा अर्थात् पुनः बँटवारे के सिद्धान्त के अनुसार व्यक्तियों को ही उपयोग में लाने के लिए दे देगा किन्तु जब तक वह अर्थ राष्ट्र के पास रहेगा तब तक तो उसका स्वरूप राष्ट्रीय अथवा सामुदायिक ही होगा। राज्य यदि एक पाठशाला अथवा सार्वजनिक उद्यान बनवाता

है तो वह वस्तु सब ही प्रकार के आर्थिक नियमों से तो मुक्त हो जाती है अर्थात् न तो उस पर उपयोग और उत्पादन के नियमों का प्रभाव पड़ता है और न माँग और प्राप्ति का ही। प्रतियोगिता की दृष्टि से उसे बाजार में भी जाना नहीं पड़ता है फिर भी उसका उपयोग सब ही व्यक्ति करते हैं। सार्वजनिक वस्तुएँ सदा सर्वदा सब ही व्यक्तियों द्वारा समान रूप से उपयोग में लाई जाती हों, ऐसी बात भी नहीं है। बहुत कुछ तो ऐसी अवस्था में देश की राजनीतिक स्थिति पर ही निर्भर रहता है। राजनीतिक पद्धति का उद्देश्य अधिकतर सार्वजनिक हित होता है और उसके कार्य का विस्तार सम्पूर्ण समुदाय ही होता है किन्तु आर्थिक क्रियाएँ बहुत से केन्द्रों पर पर केन्द्रित होती हैं अतः उनमें प्रतियोगिता भी अधिक होती है जो कि राजनीतिक पद्धति में दिखाई नहीं देती है अतः राजनीतिक पद्धति एक प्रकार की एकता को लेकर चलती है जबकि आर्थिक पद्धति में सामुदायिक एकता का स्थान जन-जन का व्यक्तिगत आर्थिक हित ले लिया करता है। ऐसी अवस्था में आर्थिक समितियों को एक विशेष प्रकार का संगठन ही मान सकते हैं।

आर्थिक समितियाँ और आर्थिक अवस्था—आर्थिक समितियाँ देश की आर्थिक अवस्था पर ही आश्रित होती हैं। वस्तुतः आर्थिक समितियों का कार्य क्षेत्र बाजार होता है। वहीं पर वस्तुओं तथा श्रम का आदान-प्रदान अर्थ के माध्यम से होता है। सम्भवतः प्रत्येक आर्थिक समिति का उद्देश्य यही होता है कि जितना अर्थ इस प्रकार के आदान-प्रदान की प्रक्रिया द्वारा प्राप्त किया जाए उसे विभिन्न उपायों से बढ़ाया जाए। पूर्णतया आर्थिक उद्देश्यों को ही लेकर चलने वाली समितियों का उद्देश्य तो इन प्रक्रियाओं द्वारा अर्थ का बढ़ाना और नियन्त्रण करना मात्र ही है किन्तु इस प्रकार की समिति प्रायः दिखाई नहीं देती हैं। साधारणतया आर्थिक समितियाँ भी विभिन्न उद्देश्यों को लेकर चलती हैं जिनमें जन-सेवा और जनहित की भावना भी कहीं-कहीं किसी न किसी रूप में निहित होती ही है।

आर्थिक जीवन का विकास—वस्तुतः मानव के आर्थिक जीवन का आरम्भ सम्पत्ति के आविष्कार के साथ ही साथ हुआ होगा। अनेकों उच्चकोटि के पशु भी सम्पत्ति संग्रह करके नहीं रखते हैं किन्तु मानव ने किसी एक युग में ऐसा करना आरम्भ कर दिया

था। उसने ऐसा कब किया यह निश्चित करना कुछ कठिन ही है किन्तु आरम्भ में यह तो निश्चित ही है कि अन्य पशुओं की भाँति मानव भी क्षुधा निवृत्ति करके ही सन्तुष्ट रह जाया करता होगा। धीरे-धीरे उसने कन्द मूल फल के अतिरिक्त मांस भक्षण भी आरम्भ किया और ऐसा कर पाने के लिए उसे उन औजारों की भी आवश्यकता पड़ी होगी जिनसे कि वह आखेट करके अपने लिए भोजन जुटा सके। यह भी सम्भव है कि जहाँ पशु अधिक संख्या में होंगे वहाँ मांस भषण का प्रचार शीघ्र और अधिक हुआ होगा। हो सकता है कि कृषि का आरम्भ होने से भी पूर्व मानव ने भोजन को पका कर खाना आरम्भ कर दिया हो और यह भी सम्भव है कि उसने ऐसा कर पाने के लिए अथवा इस दिशा में सुविधाएँ उपस्थित करने के लिए स्त्री और पुरुष के बीच श्रम का विभाजन कर लिया हो। सम्भवतः इसी के पश्चात अथवा साथ ही साथ परिवार की नींव रखी गई थी। फिर भी यह सम्भव है कि इसी काल के आस पास पुरुषों ने आखेट करके मांस संग्रह करना और स्त्रियों ने उसे पकाना तथा उसके पूरक खाद्य पदार्थ कन्द, मूल, फल, गिरियाँ, फलियाँ आदि बटोरने का कार्य करना आरम्भ कर दिया हो। भिन्न-भिन्न जातियों, समुदायों एवं संस्कृतियों में श्रम विभाजन की रीति-नीति भी भिन्न-भिन्न ही रही होगी। परिवार की नींव पड़ते ही समूह की नींव पड़ना भी आवश्यक ही हो गया क्योंकि आखेट के लिए भी तो कभी-कभी एक परिवार के सदस्यों से अधिक व्यक्तियों की आवश्यकता पड़ती है अतः कई परिवारों के व्यक्तियों को सामूहिक रूप से भोजन एकत्रित करने के लिये काम करना पड़ता होगा जो कि समूह में ही सम्भव है। यद्यपि खाद्य पदार्थ का सहकारिता-पद्धति से ही संग्रह किया जाता होगा किन्तु उसका बंटवारा तो पारिवारिक आधार पर ही होता होगा और यह भी सम्भव है कि उत्सवों आदि पर सामूहिक भोजन की व्यवस्था की जाती हो। इस काल में परिवार और समूह दोनों ही उत्पादन और उपयोग की इकाई का काय करते थे। जिस युग में आखेट ही जीविकोपार्जन का एक मात्र साधन था उस युग में पूंजी सीमित और तनिक सी ही थी जो कि प्रायः वही वस्तुएँ होती थीं जो कि आखेट करने के लिए उपयोगी हों किन्तु धीरे-धीरे मानव ने टिकाऊ पत्थर, कौड़ियां खालों आदि को सम्पत्ति बनाना आरम्भ कर दिया। सम्भवतः आखेट के युग में व्यापार को स्थान नहीं था। सम्भवतः व्यापार मानव की नैसर्गिक प्रकृति अथवा संस्कार भी नहीं

है। आरम्भ में तो कुछ व्यक्ति वस्तुओं की अदल-बदल मात्र ही करने लगे थे। कहीं-कहीं मूक व्यापार की भी कल्पना की जा सकती है। मूक व्यापार में सम्भवतः कुछ लोग एक स्थान पर कुछ वस्तुएँ छोड़ जाते होंगे जो कि दूसरे लोग ले जाते होंगे और वे उनके बदले कुछ अन्य वस्तुएँ जो कि उनके लिए सुलभ होती थी छोड़ जाते होंगे। यातायात के साधनों का प्रायः अभाव था अतः व्यापार उस समय अत्यन्त प्रारम्भिक रूप में ही रहा होगा। इसके अतिरिक्त सहयोग अथवा उपहार अथवा दोनों ही प्रारम्भिक समूहों में लेन-देन विनिमय के माध्यम रहे होंगे।

यद्यपि उस समय तक मुद्रा का आविष्कार नहीं हुआ था। फिर भी वस्तुओं का आदान-प्रदान उपहार के रूप में हुआ करता था। यही नहीं, आतिथ्य का भी आदान-प्रदान होता था। प्रत्येक पथिक को अतिथि होने के सम्बन्ध से न केवल भोजन ही वरन् अन्य कुछ वस्तुएँ प्राप्त करने का भी अधिकार था और उसके घर पहुँचने पर उसी प्रकार दूसरे व्यक्तियों को भी आतिथ्य प्राप्त करने का अधिकार था अतः यह परस्पर आदान-प्रदान आर्थिक विनिमय का रूप धारण कर लेता था। यद्यपि प्रारम्भिक समाजों में तथा तत्कालीन आर्थिक संगठनों में श्रम, कर, ऋण, ब्याज, व्यापार, मुद्रा आदि का स्थान नहीं था तो भी इनके द्वारा होने वाले कार्य उपहारों एवं आतिथ्य के आदान-प्रदान द्वारा सम्पन्न हो जाते थे। इस प्रकार की व्यवस्था में यद्यपि भूमि का सार्वजनिक प्रयोग होता था, उपहार आदि की व्यवस्था थी किन्तु उधार लेने-देने का कोई प्रश्न ही नहीं था फिर भी इसे साम्यवादी व्यवस्था नहीं कहा जा सकता है क्योंकि आखेटजीवी समाज के व्यक्तियों के आर्थिक जीवन में सामूहिक उपयोग तथा सम्पत्ति पर व्यक्तिगत अधिकार दोनों ही प्रचलित थे। व्यक्ति के निजी उपयोग की वस्तुएँ हथियार आदि उसकी निजी सम्पत्ति हुती थी। अधिक से अधिक इस प्रकार की वस्तुओं को पारिवारिक सम्पत्ति माना जा सकता है किन्तु ये सार्वजनिक सम्पत्ति नहीं थी। आखेट योग्य क्षेत्र समूह अथवा समुदाय की भूमि मानी जाती होगी। यद्यपि वे भी मानव मात्र की वस्तु नहीं थी। उसे भी एक समुदाय अपनी सम्पत्ति मानता था और अपनी बिरादरी के अतिरिक्त अन्य लोगों के उस क्षेत्र में आने पर उसका बलपूर्वक विरोध भी करता था भले ही उसका परिणाम युद्ध ही हो। आखेट के युग में भूमि को व्यक्तिगत सम्पत्ति बना पाना तनिक कठिन था क्योंकि भूमि में बसने वाले पशु गतिशील

होते हैं और आखेट जीवी का सम्बन्ध भूमि से न होकर उस पर विचरण करने वाले गतिवान पशु से ही अधिक हुआ करता था। न उस युग में आधुनिक वैज्ञानिक यन्त्रादि ही थे और न अन्य किसी प्रकार के भौतिक आविष्कार ही। सम्पत्ति भी अपेक्षाकृत अत्यधिक न्यून ही थी। ऐसी अवस्था में महत्व था क्षमता और साहस का। फिर भी वे लोग सर्वथा सम्पत्ति के मोह से शून्य हों, ऐसी बात भी नहीं थी। मृत्यु के पश्चात् व्यक्ति की सम्पत्ति भी उसके साथ ही गाड़ दी जाती थी। सम्भवतः इसके मूल में यह विश्वास कार्य करता था कि पुनर्जन्म होता है और उस जन्म में व्यक्ति को वही वस्तुएँ प्राप्त होती हैं जो कि उसके साथ गाड़ी जाती हैं। ख्याति जो कि एक अमूल्य सम्पत्ति मानी जाती थी उसके उत्तराधिकारियों को प्राप्त होती ही होगी।

आज के युग में अर्थ व्यवस्था का मूलाधार है लाभ अर्जन की अभिलाषा और इसी से व्यक्ति को आर्थिक कर्म करने की प्रेरणा भी मिलती हैं। पुरातन संस्कृतियों में भी यद्यपि सम्पत्ति न्यून थी किन्तु लाभ प्राप्ति की इच्छा का अभाव न था। उस लाभप्राप्ति की इच्छा का अर्थ था सम्मान लाभ, प्रतिष्ठा एवं ख्याति प्राप्ति क्योंकि उस युग में सम्मान, प्रतिष्ठा एवं ख्याति ही सम्पत्ति का काम करती थी। इस प्रकार की संस्कृतियों में जादू टोने, धर्म, सम्प्रदाय आदि सम्बन्धी भावनाओं का भी अभाव नहीं होता था।

ज्यों-ज्यों भौतिक आवश्यकताएँ बढ़ती गईं तथा भौतिक आविष्कार होते गए मानव के आर्थिक जीवन का विकास होता गया। पशु-पालन और कृषि ने मानव के आर्थिक जीवन को अपेक्षाकृत अधिक स्थिर एवं गतिशील कर दिया। खाद्य वस्तुओं की प्राप्ति कृषि के आविष्कार के कारण तथा पशु पालन की सुविधा प्राप्त हो जाने से निश्चित, नियमित और सरल हो गई। हल का आविष्कार भी हुआ, पशु-पालन का भी प्रसार हुआ और आखेटजीवी कृषक बनाकर एक स्थान पर, भूमि पर बस गए। समुदाय बड़े होने लगे और जिस कृषि का जन्म स्त्रियों के प्रयत्नों से हुआ था उसे पुरुषों ने अपना लिया। भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व होने लगा फिर भी कुछ उत्पादन कार्य जैसे बुवाई, कटाई आदि सामूहिक रूप में ही होते रहे। श्रम विभाजन अधिकाधिक स्पष्ट और निश्चित होता गया और विशिष्टीकरण का भी आरम्भ हुआ। पशु-पालन ने यातायात के साधन सम्बन्धी सुविधाएँ भी उपस्थित कर दीं।

पशुपालकों के कुछ पृथक दल और उनकी पृथक संस्कृतियाँ भी

हो गई। ये लोग सरलता से एक स्थान से दूसरे स्थान पर जा सकते थे। लूट मार करना, पशुओं और अन्न की चोरी करना भी इनकी प्रवृत्ति थी।

हाथ के काम के आविष्कार हो जाने से सम्पत्ति में वृद्धि भी होने लगी और उसकी विविधता भी बढ़ी। अदल-बदल तथा स्थानान्तरित की जाने योग्य वस्तुओं के उत्पादन ने व्यापार को जन्म दिया और श्रम विभाजन सिद्धान्त और भी अधिक विकसित हो गया। विशिष्टीकरण भी अधिक मात्रा में होने लगा। देश-विदेश में व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित होने लगे और यातायात की सुविधाएँ भी बढ़ाई जाने लगीं। सड़कों एवं भवनों का निर्माण हुआ। नगरों की स्थापना हुई और धातुओं के उपयोग का भी मानव को न केवल ज्ञान ही हुआ वरन् उसने धातु को लेकर मुद्रा का आविष्कार भी कर डाला। नागरिक जीवन में मुद्रा का प्रयोग भी बढ़ने लगा और व्यापारिक जीवन में इसकी आवश्यकता भी अधिक होने लगी। नगरों में आर्थिक संगठन बनने लगे और उनका विकास भी होने लगा। वस्तुओं का उत्पादन उनका व्यापार, बैंकों की स्थापना आदि ने आर्थिक नीति की रूपरेखा निश्चित की और पूँजीवाद का जन्म हुआ। इसी के आधार पर आधुनिक अर्थ नीति निर्धारित की गई।

आधुनिक अर्थ व्यवस्था—प्राचीन अर्थ व्यवस्था और आधुनिक अर्थ व्यवस्था के बीच में एक ऐसा युग आता है जिसे कि अर्थशास्त्र की दृष्टि से मध्य युग माना जा सकता है। इस युग में आर्थिक संगठन का विकास हुआ। आविष्कारों द्वारा नवीन यन्त्रों का जन्म हुआ और उनकी सहायता से उपभोग्य वस्तुओं का उत्पादन सुलभ कर लिया गया। आवश्यकता से अधिक उपभोग्य वस्तुओं का एक स्थान पर उत्पादन तो किया गया किन्तु उन सब ही का उपभोग तो नहीं किया जा सकता था क्योंकि वे स्थानीय आवश्यकता से अधिक थीं अतः उन्हें दूसरे देशों के बाजारों में खपत के लिये भेजना आवश्यक हो गया और ऐसा कर पाने के लिये विश्व के ऐसे देशों की खोज होने लगी जहाँ उन वस्तुओं का उत्पादन नहीं होता था। यदि वहाँ उन वस्तुओं की माँग भी नहीं होती थी जो कि स्वाभाविक ही था तो प्रयत्न यह भी किए जाने लगे कि वहाँ उनकी माँग उत्पन्न की जाए। इस युग से कुछ पूर्व सामान्त शाही का उदय हो चुका था और निर्बलों की रक्षा के लिये सामन्त शाही की आवश्यकता भी हो गई थी। उसी काल में नगरों के आर्थिक संगठनों का विकास हुआ और विशिष्टीकरण; यातायात के

साधनों का विकास, व्यापार का विकास, अर्थ व्यवस्था का क्षेत्र विस्तार आदि भी इन्हीं दिनों में हुआ। नगरों में उत्पादन व्यवस्था के साथ ही साथ कारखानों और तत्पश्चात् श्रमकार संघों का जन्म हुआ। यद्यपि उस युग के श्रमिक संघ अधिकतर कारखानों के स्वामियों और श्रमिकों के मिले-जुले हुए संघ ही थे।

सामन्तवाद के जन्म के साथ ही साथ औद्योगिक क्रान्ति का जन्म हुआ और उससे पूँजीवाद के सिद्धान्तों ने बल प्राप्त किया। यही नहीं, मुक्त व्यापार के समर्थन में तर्क दिए जाने लगे तथा विचारकों ने यह विश्वास दिलाने का प्रयत्न किया कि राज्य की ओर से देश की अर्थ नीति में जितना कम हस्ताक्षेप किया जायेगा उतना ही देश के लिये हितकर होगा। आविष्कारों ने तथा वैज्ञानिक उन्नति ने औद्योगिक क्रांति के युग में वाष्प परिचालित नवीन यन्त्रों का आविष्कार किया और धनी पूँजीपतियों में इन्हें अधिकाधिक उत्पादन का साधन बना कर कल, कारखाने, मिलें आदि आरम्भ की। श्रमिकों के पास तो इतना धन ही नहीं था कि वे इन बहुमूल्य यन्त्रादिक को लेकर व्यक्तिगत रूप से उत्पादन कर सकते जैसा कि वह पहले करते थे। अतः उन्हें वेतन भोगी श्रमिक बनना पड़ा। यन्त्रों के प्रयोग से उत्पादन बहुत अधिक परिणाम में तथा सस्ता भी होने लगा। फलस्वरूप जन साधारण उन वस्तुओं का उपयोग करने लगा जो पहले केवल धनी लोगों को ही उपलब्ध हुआ करती थीं। यूं तो हाथ के काम और शिल्पकारी में मानव पहले भी पर्याप्त उन्नति कर चुका था किन्तु वाष्प शक्ति के आविष्कार और प्रयोग से शिल्प को अधिक प्रोत्साहन मिला। अभी तक तो साधारण जनता केवल मात्र उन्हीं वस्तुओं का उपयोग करती थी जिसकी कि उसे नितान्त आवश्यकता होती थी किन्तु अब वस्तुओं का उत्पादन अधिक परिमाण में होना सम्भव हो जाने से तथा वस्तुओं की विविधता के कारण आवश्यकता के अतिरिक्त शौक की वस्तुओं का भी अधिक प्रचार होने लगा। इस प्रकार अर्थ व्यवस्था में भी एक प्रकार की नवीन क्रान्ति का उदय हुआ। इस नवीन अर्थ व्यवस्था में बहुत अधिक पूँजी लगा कर उत्पादन कार्य आरम्भ करना आवश्यक हो गया और इसी लिये इस अर्थ व्यवस्था को पूँजीवाद नाम दिया गया। एक ओर तो विपुल पूँजी की आवश्यकता और दूसरी ओर राज्य की ओर से हस्ताक्षेप करने के अधिकार पर रोक इन दोनों बातों ने मिल कर इस अर्थ व्यवस्था को नवीन रूप दे दिया। इस व्यवस्था के अनुसार उत्पादन और वस्तुओं के बंटवारे तथा उपभोग को जनता की माँग और

को सिर झुका कर सदा सर्वदा की भाँति आज स्वीकार कर लेने को तत्पर नहीं है। आज वह आय के इन अन्तरों के कारण खोजने को व्याकुल हो उठा है और वह यह देख ही रहा है कि विभिन्न व्यक्तियों की आय के बीच रहने वाले इस गहरे और गम्भीर अन्तर का कारण अधिकतर व्यक्ति की योग्यता, कुशलता अथवा श्रम न होकर केवल मात्र उसका पूँजीपति का पुत्र हो जाना ही है जिसका कि तात्पर्य हुआ सम्पत्ति का असमान सामाजिक वितरण। इस प्रकार के असमान वितरण की नींव किसी प्रकार भी सामाजिक न्याय के धरातल पर न होने के कारण और अन्य भी किसी प्रकार का नैतिक तर्क इस प्रकार के असमान वितरण के पक्ष में न होने के कारण इसके प्रति क्षोभ में होना स्वाभाविक ही है। यदि आय के अन्तर का आधार विभिन्न व्यक्तियों की योग्यता का अन्तर होता तो सम्भवतः किसी को भी इस व्यवस्था के प्रति क्षोभ न होता किन्तु बात तो ऐसी है नहीं अतः आज के युग में पूँजीवादी व्यवस्था के प्रति असंतोष दिखाई देता है।

यह कहा जाता है कि लाभ-अर्जन तथा व्यक्तिगत सम्पत्ति न रह जाने पर किसी भी व्यक्ति को कार्य करने की प्रेरणा कहाँ से प्राप्त होगी ? किन्तु यह तो आय के वितरण की घनी और गहरी विषमता का कोई समुचित उत्तर नहीं है। इस प्रकार की आय सम्बन्धी विषमता के कुपरिणामों में न्यूनता करने की दृष्टि से आधुनिक काल में आय-कर पद्धति और मृत्यु-कर आदि का आविष्कार किया गया है। इनके फलस्वरूप आय की विषमता कुछ कम भी हुई है किन्तु अन्तर फिर भी इतना अधिक है कि आर्थिक वैषम्य स्पष्ट दिखाई देता है। यूँ तो साम्यवादी रूस और लोकतन्त्र के समर्थक इंगलैण्ड, अमरीका आदि में भी विभिन्न ढंगों और उपायों से आर्थिक वैषम्य को समाप्त कर देने अथवा कम कर देने के प्रयत्न हो रहे हैं किन्तु यह कहना कठिन है कि अभी तक उनका परिणाम कहाँ तक सामाजिक दृष्टि से लोकहितकर हो सका है।

एक प्रकार के और भी प्रयत्न इस युग में हो रहे हैं। प्रायः यह विश्वास किया जा रहा है कि पूंजीवादी व्यवस्था को बनाए रखने के लिए श्रमिकों को सन्तुष्ट रखना अत्यन्त आवश्यक है अतः श्रमिकों की अवस्था में सुधार करके तथा उन्हें जीवन की सब ही सुविधाएँ देकर सन्तुष्ट किया जा सकता है। ऐसा करना कुछ इस लिए भी आवश्यक हो गया है कि श्रमिक आज पहले की अपेक्षा अधिक संगठित है। निधन और सम्पत्तिविहीन असहायावस्था में युगों से

शोषित होता हुआ श्रमिक अपनी निरन्तर गिरती हुई अवस्था में इस स्तर तक पहुँच गया था कि कार्ल मार्क्स की भविष्यवाणी के अनुसार कभी-कभी तो यही जान पड़ता था कि यही गिरने की निम्नतम अवस्था है। यद्यपि एक युग में यह माना जाता था कि अर्थ व्यवस्था से सम्बन्धित किसी भी कार्य में राज्य की ओर से हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए और उसी का यह परिणाम भी हुआ कि अधिक सुविधाप्राप्तवर्ग होने के नाते पूंजीवादियों ने मनमाना आर्थिक लाभ अपने लिए ही सुरक्षित रखने के लोभ से श्रमिकों को जीवनयापन के लिए कम से कम जितना धन आवश्यक है उससे भी कम धन ही आय के रूप में अथवा वेतन के रूप में दिया। अब तो राज्य को हस्तक्षेप करना ही पड़ा। जिस राज्य ने हस्तक्षेप न करके पूंजीपतियों को श्रमिकों का शोषण करने की पूर्ण स्वाधीनता प्रदान की थी उसी राज्य और उसके प्रशासकीय विभागों तथा विधिविधानादि ने मजदूरों को संगठित होने के अवसर भी प्रदान किए और उनकी अवस्था में सुधार करने के लिए आवश्यक-सुविधाएँ देने की दृष्टि से कानून आदि भी बनाने आरम्भ किए।

अभी तक श्रमिकों में पूंजीपतियों से लेन-देन करने की शक्ति नहीं के ही बराबर थी किन्तु राज्य द्वारा श्रमिक संघों के स्वीकृति प्राप्त हो जाने के पश्चात् यह शक्ति बढ़ गई, और मजदूर संघों का भी विकास होने लगा। जब श्रमिकों को जनता तथा राज्य की ओर से नैतिक बल प्राप्त होने लगा तो उनकी प्रतिरोध शक्ति भी बढ़ गई और वे भी बढ़ती हुई सम्पत्ति में साझा पाने के लिए अधिकाधिक उत्सुक होने लगे। फिर भी अब तक संगठित उद्योग-पति की शक्ति का सामना पूरी तरह संगठित श्रमिक शक्ति नहीं कर पाई है यद्यपि कार्ल मार्क्स की भविष्यवाणी और श्रमिकों में बढ़ती हुई राजनीतिक चेतना और प्रतिरोध शक्ति ने पूँजीपतियों को सजग तो कर ही दिया है फलस्वरूप प्रायः सब ही ऐसे देशों में जहाँ कि पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था चल रही है राज्य और उद्योगपति दोनों की ही ओर से श्रमिकों की अवस्था में अधिकाधिक सुधार करने के प्रयत्न हो रहे हैं। यहाँ तक कि उद्योगमनोविज्ञान के सिद्धान्तों के आधार पर भी श्रमिकों को सन्तुष्ट रखने के प्रयत्न किए जा रहे हैं।

यद्यपि सामाजिक हित की दृष्टि से तथा मानवता के प्रति यथेष्ठ सम्मान करने के नाम पर पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था का विरोध करना ही पड़ता है किन्तु दूसरी ओर यह भी सत्य है कि

पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था प्रत्येक श्रमिक को अधिक आय दिलाने वाले व्यवसाय की ओर आकर्षित करती है तथा प्रत्येक व्यवसायी को उस व्यवसाय को और बढ़ाने के लिए प्रेरित करती है जिसमें कि अधिक अर्थलाभ होने की सम्भावना होती है। इससे देश की सम्पत्ति के उत्पादन में तो वृद्धि होती है किन्तु निरन्तर अधिक सम्पत्ति उत्पादन के लिए स्थानान्तरित होते रहने की चेष्टा में संलग्न व्यापारी और श्रमिक दोनों ऐसी वस्तुओं के ही उत्पादन की ओर ध्यान देते हैं जो कि उनके लिए व्यक्तिगत रूप से अधिक लाभ दिलानेवाली होती है तथा उन वस्तुओं के उत्पादन से दूर ही रहते हैं जो कि मानवता के लिए हितकर, कल्याणकर, आनन्ददायिनी होती हुई भी आर्थिक दृष्टि से उत्पादक के व्यक्तिगत लाभ को बढ़ाने वाली नहीं होती हैं अत जहाँ एक ओर यह कहा जा सकता है कि पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था व्यक्तिगत लाभ में वृद्धि करके अधिकाधिक सम्पत्ति का उत्पादन देश में करती है और इस दृष्टि से सामाजिक हित की वृद्धि करती है अर्थात् देश की सम्पदा की वृद्धि करती है वहीं दूसरी ओर व्यक्तिगत लाभ का प्रलोभन, हानि का भय पूँजीपतियों को श्रमिकों के हित की ओर अधिक ध्यान नहीं देने देता तथा मानवता का समुचित आदर, सम्मान नहीं करने देता है। दूसरी ओर व्यक्तिगत लाभ का प्रलोभन आर्थिक कार्यशीलता को प्रोत्साहन भी देता है। यह एक विवादास्पद प्रश्न है कि इस प्रकार की कार्यक्षमता और कार्यशीलता मनुष्य में लाभ के प्रलोभन के अतिरिक्त भी अन्य किसी प्रेरक कारण द्वारा उत्पन्न की जा सकता है अथवा नहीं।

कभी-कभी पूंजी वादी अर्थ व्यवस्था उत्पादन को रोक भी देती है। व्यापारियों और उत्पादकों तथा कल कारखानों के स्वामियों और श्रमिकों में निरन्तर चलने वाली प्रतियोगिता ही उचित मूल्य और उचित पारिश्रमिक निश्चित करा पाती है किन्तु ऐसा भी तो अवस्था कभी-कभी आ जाती है जब कि उत्पादक किसी उद्योग विशेष में पूंजी लगाना उचित नहीं समझता है और यदि यही भावना अन्य उत्पादकों में भी फैल जाए तो विनियोग समाप्त हो जाता है और फलस्वरूप उत्पादन गिर जाता है। ऐसी अवस्था म उस वस्तु के उत्पादन के द्वारा होने वाली राष्ट्रीय आय रुक जाती है, श्रमिक बेकार होकर कष्ट पाने लगते हैं और समाज में आसन्तोष दिखाई देने लगता है। राष्ट्रीय हित की दृष्टि से अथवा देश की आवश्यकता के विचार से उत्पादन करना तो पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था का उद्देश्य है

ही नहीं अतः ऐसी अवस्था में पूँजीवादी व्यवस्था सामाजिक दृष्टि से से अहितकर ही सिद्ध होती है और ऐसे जटिल समय में राष्ट्र द्वारा हस्ताक्षेप होना अथवा किसी सामाजिक संस्था द्वारा नियन्त्रण होना समाज के हित के लिये आवश्यक हो जाता है।

उद्योगों का सामाजिक नियन्त्रण—इसमें कोई सन्देह नहीं कि अर्थ व्यवस्था की पूँजीवादी प्रणाली न तो बेकारी की ही समस्या का हल खोज सकती है और न मन्दी के समय में वस्तुओं के उत्पादन को न गिरने देने का उपाय ही खोज सकती है। यह भी सत्य है कि पूँजी पति व्यक्तिगत लाभ की आशा न होने पर किसी भी उद्योग में पूँजी लगाने को पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था के अन्तर्गत विवश नहीं किया जा सकता है अतः ऐसी अवस्था में श्रमिकों का बेकार हो जाना स्वाभाविक ही है और बेकारी, क्षुधा तथा अपनी असहायावस्था से उत्पन्न दुःख, क्षोभ और असन्ताप के कारण ऐसे समय में श्रमिक यदि राज्य के भी शत्रु बन जाएं तो कोई आश्चर्य की बात नहीं होगी। ऐसे ही समय में राजनीतिक क्रान्ति हो जाने की सम्भावना भी बढ़ जाती है। दूसरी ओर पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था को अमान्य करके यदि उद्योगों पर सामाजिक नियन्त्रण कर दिया जाए तो इस समस्या का अन्त हो सकता है। इस प्रकार के सामाजिक नियन्त्रण का आरम्भ जनोपयोगी सेवाओं के नियन्त्रण से हुआ था। और धीरे-धीरे इसका विस्तार क्षेत्र बढ़ता ही जा रहा है। समुदाय अथवा समूह द्वारा पूँजी का तथा अर्थव्यवस्था का नियन्त्रण करना यद्यपि सामाजिक दृष्टि से हितकर है किन्तु इस की सफलता तब ही निश्चित हो सकती है जब कि सर्व साधारण का नैतिक स्तर ऊंचा हो। सज्ञान, सामाजिक चेतना पूर्ण और शिक्षित नागरिक ही अर्थ व्यवस्था में सामाजिक नियन्त्रण को सफल बना सकता है।

यूं तो पूँजीवाद में भी अर्थ व्यवस्था एक विशेष रूप और ढंग से आयोजित थी ही किन्तु उससे कुछ आगे बढ़ कर आज हम आयोजित अर्थ व्यवस्था के ही युग में आ गए हैं। यूं तो पिछले कुछ समय में पूँजीवादियों ने पारस्परिक प्रतियोगिताएँ कम करने के उपाय खोजना आरम्भ कर दिया था। उद्योगों के स्थानीकरण तथा केन्द्रीकरण से ऐसा करना सम्भव भी हो गया था किन्तु इसके फलस्वरूप उद्योगों पर लगभग एकाधिकार सा ही होने लगा है और इससे श्रमिकों तथा उपभोक्ताओं के लिए जो तनिक-सा संरक्षण प्राप्त था वह भी समाप्त होने लगा है। एकाधिकार की ओर बढ़ती हुई इस प्रवृत्ति ने श्रमिकों को

चिन्तित कर दिया है और उद्योगों के सामाजिक नियन्त्रण की माँग बढ़ने लगी है।

यूं तो कृषि पर पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था का भी कुछ अधिक प्रभाव नहीं पड़ा था क्योंकि कृषि में अधिकतर नवीन यन्त्रों का प्रयोग भी तो हो ही नहीं पाया था और जहाँ हुआ भी वहाँ भी वह उद्योगों की भाँति पूँजीपतियों की ही वस्तु नहीं बन पाया अतः कृषि में न तो बड़ी पूँजी लगाने की ही आवश्यकता पड़ी और न संयुक्तपूँजीपद्धति का ही उस पर कोई विशेष प्रभाव पड़ा। सामाजिक नियन्त्रण का भी कृषि पर कोई विशेष प्रभाव पड़ेगा यह कहना कठिन है। फिर भी प्रथक-प्रथक उत्पादन सम्बन्धी योजनाओं का एकीकरण हितकर ही होगा।

अर्थ व्यवस्था के विकास के कारण--सामन्तशाही युग से पूँजीवादी तथा उसके पश्चात् सामाजिक नियन्त्रण की पुकार के युग तक भी अर्थ व्यवस्था की प्रगति अत्यन्त सन्तोषजनक रही। यद्यपि इस प्रकार की अर्थ व्यवस्था के विकास के अनेक कारण रहे। उनमें से कुछ की ही चर्चा हम यहाँ कर रहे हैं। वैज्ञानिक उन्नति और आविष्कारों के कारण आर्थिक कार्यों का विशेषीकरण हुआ और इस ओर प्रवृत्ति बढ़ती ही गई विशेषीकरण के फलस्वरूप अर्थ विनिमय व्यवस्था (Exchange) भी अधिकाधिक विकसित एवं विस्तृत होती गई। और विशेषीकरण के बढ़ने के फलस्वरूप जन साधारण अधिकाधिक बाजारों पर ही आश्रित होते गए। जब तक कि साधारण दैनिक आवश्यकता की वस्तुएँ व्यक्ति स्वयं तैयार कर लेते थे बाजार कभी-कभी लगा करते थे किन्तु उत्पादित वस्तुओं की बहुसंख्या तथा बाजार के विस्तार के कारण बाजारों का प्रतिदिन स्थायीरूप से लगना आवश्यक हो गया। पहले तो ग्रामवासी उत्पादक और उपभोक्ता परस्पर परिचित होते थे तथा एक दूसरे की आवश्यकता को समझते थे किन्तु अब प्रतिदिन स्थायीरूप से बाजार लगे रहने के कारण तथा विविध प्रकार की अधिकाधिक संख्या में वस्तुओं के हर समय बाजार में उपलब्ध होने के कारण उत्पादक तथा उपभोक्ता के व्यक्तिगत सम्बन्ध समाप्त हो गए। इस प्रकार के स्थायी और विशाल बाजारों में अधिक विशेषीकरण तथा बड़े पैमाने पर वस्तुओं के उत्पादन की सम्भावना तथा तत्सम्बन्धी अवसर अधिक होने लगे अतः अर्थ पद्धति सामाजिक हितों से स्वतन्त्र कार्य करने लगी। इस प्रकार

की अर्थ व्यवस्था की उन्नति का एक कारण यह भी था कि आर्थिक संस्थाएँ राज्य से स्वीकृति प्राप्त करके अपना निजी कानूनी व्यक्तित्व बना पाती थीं। इस प्रकार की संस्थाओं की चर्चा हम यथास्थान कर ही चुके हैं।

आर्थिक हित और सामाजिक कार्य—यद्यपि इन दोनों के बीच न तो कोई घनिष्ट सम्बन्ध ही है और न एकता तथा समता ही किन्तु दोनों का ही उद्देश्य होना तो जनहित ही चाहिए। एडमस्मिथ के मतानुसार प्रतियोगिता के द्वारा आर्थिक लाभ को सामाजिक कार्य अथवा उद्देश्य के समकक्ष रखा जा सकता है क्योंकि प्रतियोगिता अतिरिक्त सुविधाओं को सम कर देती है तथा प्रतियोगियों की प्रत्येक लाभ के अवसर को पाने के लिये होने वाली उत्सुकता के द्वारा श्रम-रहित लाभ की सम्भावना भी कम कर देती है किन्तु वास्तविकता तो यह है कि आज के युग में समान व्यक्तियों में स्वतन्त्र प्रतियोगिता कहीं दिखाई भी नहीं देती है क्योंकि आज दिन तो असमान आर्थिक संस्थाओं में ही प्रतियोगिता होती रहती है। प्राप्य और श्रम के बीच भी कहीं समता नहीं दिखाई देती है अतः यह कह पाना भी कठिन है कि आज तक आर्थिक हितों का किसी प्रकार का सामाजिक कार्यों से सामञ्जस्य स्थापित हो सका है अथवा आर्थिक संस्थाएँ आर्थिक हित को ही दृष्टि में न रख कर सामाजिक हित की ओर भी ध्यान देती हैं।

आर्थिक हितों पर रोक—वस्तुतः ऐसी संस्थाओं एवं ऐजेन्सियों का तो अभाव नहीं है जो कि उपभोक्ताओं को अपनी उत्पादित वस्तुओं की ओर आकर्षित करे किन्तु ऐसी संस्थाओं का अवश्य अभाव है जो कि उपभोक्ता को दिशा निर्देश करें, यह जानने में सहायक हों कि कौन सी वस्तु उसकी आवश्यकता के अधिक निकट है। यद्यपि उपभोक्ता के लिये उसकी माँग, उसकी आवश्यकता पथ प्रदर्शक का कार्य करती है किन्तु वह उपभोक्ता को यह तो बता सकती है कि अमुक वस्तु लेना चाहिये किन्तु इससे ही तो काम नहीं चल जाता। वस्तुओं की बहु-संख्या और विभिन्न उत्पादन संस्थाएँ उसे इस चक्कर में डाल देती हैं कि वह किसकी उत्पादित वस्तु ले। यहाँ तक कि सहकारी उपभोक्ता समितियाँ भी सामाजिक हित की अपेक्षा आर्थिक हित की ओर ही अधिक ध्यान देती हैं अतः बिचारे उपभोक्ता को कौन सी किस्म किस वस्तु की अच्छी है तथा उपयोगिता की दृष्टि से किस संस्था द्वारा उत्पादित वस्तु श्रेयस्कर है यह बताने वाली कोई भी संस्था नहीं मिलती है।

यद्यपि इस दिशा में कुछ वस्तुएँ प्रसिद्धी प्राप्त करके बाजार में अपनी साख जमा लेती हैं किन्तु उनके विषय में भी यह जानने का उपाय उपभोक्ता के लिये नहीं होता है कि वस्तु के मूल्य और उसकी उपयोगिता में कितना अनुपात है। एकाधिकार को लिए हुए पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था में तो लागत और मूल्य के बीच सम्बन्ध स्थापित करना उपभोक्ता के लिए और भी कठिन हो जाता है अतः किसी न किसी प्रकार से आर्थिक हितों पर रोक लगाई जानी चाहिये चाहे वह राज्य की ओर से हो अथवा प्रतिनिधि सामाजिक संस्थाओं की ओर से।

अर्थ व्यवस्था की कठिनाई—स्पष्ट और विशेष प्रकार के आर्थिक हितों तथा व्यापक सामाजिक हितों तथा सुविधाओं में जब ठीक आनुकूल्य तथा सामञ्जस्य स्थापित नहीं किया जाता है तो यह तो स्वाभाविक ही है कि इस प्रकार की असन्तुलित अर्थ व्यवस्था समाज में असंतोष को जन्म देती है। वस्तुतः आर्थिक हितों और सामाजिक हितों अथवा कार्यों में कई प्रकार से सम्बन्ध स्थापित हो जाते हैं इन्हीं में से एक प्रतियोगिता और मोल भाव करना (Bargaining) भी है। वस्तुतः प्रतियोगिता और मोल भाव करना यह दो विभिन्न प्रक्रियाएं हैं। एक ही उपभोक्ता को एक ही समय में समान अथवा मिलती-जुलती अथवा उसकी आवश्यकता की पूर्ति करने वाली वस्तु अथवा सेवाओं के दिए जाने के प्रस्तावों का विभिन्न व्यक्तियों अथवा संस्थाओं आदि के द्वारा रखा जाना प्रतियोगिता कहलाती है। मोल-भाव वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा मांग और खपत, क्रय कर्ता एवं विक्रय-कर्ता आदि के हितों का समीकरण हो जाता है। एक ही वस्तु के विभिन्न उत्पादकों में परस्पर प्रतियोगिता का सम्बन्ध होता है किन्तु कच्चे माल के उत्पादकों का पक्के माल तैयार करने वालों के साथ, थोक माल बेचने वालों का फुटकर माल बेचने वालों के साथ, बाजार में फुटकर माल बेचने वालों का उपभोक्ता के साथ, श्रमिक का स्वामी के साथ, ऋणदाता का ऋणप्राप्ति के इच्छुक व्यक्ति के साथ जो सम्बन्ध होता है उसे मोल-भाव का सम्बन्ध कह सकते हैं। ये दो सम्बन्ध सर्वथा भिन्न-भिन्न हैं। प्रतियोगिता सम्बन्ध रखने वाले व्यक्तियों का आमना-सामना कभी नहीं होता है और उन्हें एक दूसरे की आवश्यकता भी नहीं होती है, उनका काम भी एक दूसरे के बिना चल सकता है किन्तु मोलभाव का सम्बन्ध जिन व्यक्तियों के बीच होता है उन्हें एक दूसरे से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखना होता है तथा उस सम्बन्ध का अन्त वस्तु अथवा सेवाओं के विनिमय के द्वारा होता है। विनिमय तो आदान-प्रदान है और मूल्य

को निश्चय लागत और पारिश्रमिक दोनों को मिलाकर ही किया जाता है। प्रतियोगिता और मोल-भाव ये दो प्रक्रियाएँ अर्थ व्यवस्था में संघर्ष तो उत्पन्न करती ही रहती हैं आर्थिक हितों को भी निर्विरोध और अबाध गति से बढ़ने नहीं देती है। इन दोनों का कार्य-क्षेत्र और कार्य-विस्तार केवल मात्र व्यक्तियों तक ही सीमित नहीं होता है। बड़े पैमाने पर होने वाले उत्पादन छोटे पैमाने पर होने वाले उत्पादनों को समाप्त कर डालते हैं और सामूहिक रूप से सदा सर्वदा पूँजी और श्रम के बीच भी इन्हीं दोनों के आधार पर निरन्तर संघर्ष चलता ही रहता है। संघर्ष का सर्वाधिक कटु रूप तो वह होता है जिसमें कि पूँजीपतियों और श्रमिकों के बीच मोल भाव प्रक्रिया कार्य करती दिखाई देती है।

वस्तुतः अर्थ व्यवस्था इन सब संघर्षों एवं कठिनाइयों को लिए हुए ही एक व्यवस्था है। सब ही वे संस्थाएँ, व्यक्ति अथवा एजेन्सियाँ जो कि प्रतियोगिता संघर्ष में पड़ती हैं वस्तुतः समाज की साधारण अवस्थाओं से प्रभावित तो होती ही रहती हैं। इनके लिए कुछ न कुछ स्वाभाविक, प्राकृतिक एवं सामाजिक नियम से भी बन ही जाया करते हैं। इसके अतिरिक्त अर्थ व्यवस्था के भीतर भी और बाहर भी कुछ न कुछ ऐसी शक्तियाँ होती है जो कि मानव के व्यापक हितों का प्रतिनिधित्व करती हैं और उन्हीं के कारण आर्थिक हितों का प्रसार ही मानव जीवन का एक मात्र लक्ष्य नहीं बन पाता है। यही नहीं, बैंकिंग आदि की व्यवस्था के कायम हो जाने के कारण किसी एक समूह के मुद्रा सम्बन्धी किसी भी निश्चय का प्रभाव अत्यन्त व्यापक और अन्य समूहों को भी प्रभावित करने वाला होता है। यहाँ तक कि किसी एक देश की अर्थ नीति विश्व के अन्य देशों को भी प्रभावित करती ही है। यही कारण है कि विश्व की अर्थ नीति का बहुत कुछ अपने आप ही समीकरण भी होने लगता है। कहीं किसी एक भी देश की आर्थिक नीति में होनेवाले परिवर्तन अन्य देशों की आर्थिक नीति को भी किसी एक सीमा तक प्रभावित करने लगते हैं। इस प्रकार से विश्व के विभिन्न देशों की अर्थ नीति तथा अर्थ व्यवस्था के अन्योन्याश्रित होने के कारण कुछ अर्थ सम्बन्धी राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय नियमादि भी बन जाते हैं। सम्भव है कि किसी निकट भविष्य में विश्व भर का एक आर्थिक संगठन भी बन जाए और वही विश्व भर की अर्थ नीति को नियन्त्रित करने लगे। अभी तक जो अवस्था है उसमें होने वाला प्राकृतिक अथवा स्वाभाविक समीकरण सब ही समस्याओं को हल करने के लिए उपयुक्त नहीं है।

अन्यथा दरिद्रता, बेकारी असहायावस्था आदि कहीं दिखाई ही नहीं देती।

क्रियाशील आर्थिक संस्थाएं—यद्यपि कोई भी संस्था ऐसी नहीं हो सकती है जिसका एक मात्र उद्देश्य आर्थिक हित ही हो और दूसरी ओर विश्व की कोई भी संस्था सम्भवतः ऐसी नहीं होगी जिसका कि किसी प्रकार का भी आर्थिक हित से सम्बन्ध न हो। वस्तुतः अर्थ की आवश्यकता जीवन के लिए ही होती है और मानव जीवन तथा अर्थ का घनिष्ठ सम्बन्ध है अन्य संस्थाएँ भी मानव जीवन के ही किसी न किसी पक्ष से सम्बन्धित होती है और बिना अर्थ के कोई भी कार्य सम्पन्न नहीं हो पाता है अतः प्रायः सब ही संस्थाओं के कुछ न कुछ आर्थिक हित भी होते ही हैं। फिर भी कुछ आर्थिक संस्थाएँ ऐसी होती हैं जिनका उद्देश्य प्रत्यक्ष रूप से सम्पत्ति का उत्पादन नहीं होता है। आधुनिक सामाजिक व्यवस्था में जहां कि संस्थाओं का अन्योन्याश्रित होना और विशेषीकरण अत्यधिक हो गया है, इस प्रकार की क्रियाशील आर्थिक संस्थाएँ भी अनेकानेक हो गई हैं। विविध उद्देश्यों को लेकर चलने वाली इन संस्थाओं में श्रमिक संघ से लेकर उत्पादकों, व्यवसायियों आदि के संघों तक को तो गिना जा सकता है। रोटरी क्लब जैसी व्यवसायी सदस्य प्रधान संस्थाओं को भी सम्मिलित किया जा सकता है। श्रमिक संघ (Trade union) और विभिन्न व्यवसायों, उद्योग धन्धों आदि की अपनी अपनी समितियाँ दोनों ही वस्तुतः अपने सदस्यों के आर्थिक हितों की ओर ही ध्यान रखती हैं किन्तु उनमें भी यह होता है कि व्यवसायिक समितियों का उद्देश्य अपने सदस्यों की व्यवसायिक योग्यता को बढ़ाना भी होता है जो कि प्रत्यक्ष रूप से एक ऐसा सामाजिक कार्य है जिसका लक्ष्य आर्थिक हित नहीं है। श्रमिक संघों का उद्देश्य पूँजी पतियों की शोषण वृत्ति से श्रमिकों की रक्षा करना, उन्हें अधिक पारिश्रामिक दिलाना तथा उनकी कार्य करने की अवस्थाएँ उन्नत करना होता है। इन समितियों अथवा संघों का ध्यान कार्य सम्बन्धी योग्यता की अपेक्षा कार्य सम्बन्धी अवस्थाओं की ओर अधिक होता है। श्रमिक संघों ने महत्त्व इस युग में बहुत अधिक बढ़ गया है और इन संघों को श्रमिकों को अधिक वेतन और सुविधाएँ दिलाने की दिशा में भी पर्याप्त कार्य किया है।

सांस्कृतिक संस्थाएं—साधारणतया संस्थाओं को सांस्कृतिक

और उपयोगी इन दो श्रेणियों में रख कर देखा जा सकता है किन्तु कठिनाई का सामना तो तब करना पड़ता है जब कि सांस्कृतिक और उपयोगी इन दो प्रकार की संस्थाओं के बीच के अन्तर को समझने की समस्या हमारे सम्मुख आती है। यदि यह कहा जाए कि वे संस्थाएं जो कि साधनों को लक्ष्य करके चलती है, उपयोगी है और सांस्कृतिक संस्थाएँ वे है जिनका कि लक्ष्य साधन न होकर साध्य हुआ करता है। इसी को इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि संस्कृति से सम्बन्धित संस्थाएं सांस्कृतिक होती है और सभ्यता से सम्बन्धित संस्थाओं को उपयोगी कहा जा सकता है किन्तु संस्कृति और सभ्यता, साधन और साध्य इनको एक दूसरे से प्रथक करके देख पाना भी तो कुछ सरल नहीं है अतः यह कहा जा सकता है कि संस्थाओं के प्रमुख एवं प्रारम्भिक उद्देश्यों को देख कर ही यह निश्चित किया जा सकता है कि वे सांस्कृतिक हैं अथवा उपयोगी। प्रायः सांस्कृतिक संस्थाओं का धरातल सांस्कृतिक एवं सामाजिक होता है। उपयोगी अथवा अन्य किसी भी प्रकार की संस्थाओं में सदस्यों का परस्पर एक दूसरे से मिलना अथवा कहीं एकत्रित होना आवश्यक नहीं होता है किन्तु सांस्कृतिक संस्थाओं एवं समितियों का उद्देश्य उस समय तक पूरा हो ही नहीं सकता है जब तक कि सदस्य एक दूसरे से न मिलें क्योंकि इस प्रकार मिलने के द्वारा ही संस्था के उद्देश्य की पूर्ति हो पाती है अतः सांस्कृतिक संस्थाओं में एक दूसरे से मिलने जुलने की प्रक्रिया का ही महत्व होता है जब कि उपयोगी संस्थाओं में संस्था के अस्तित्व और कार्यों का जो प्रत्यक्ष फल होता है उसी का अधिक महत्त्व होता है। जिस प्रकार सांस्कृतिक जीवन का स्वतन्त्र एवं रचनात्मक होना आवश्यक है इसी प्रकार सांस्कृतिक संस्थाओं का भी स्वतन्त्र और रचनात्मक होना आवश्यक है। ऐसी दशा में एक ही क्षेत्र में अनेकानेक सांस्कृतिक संस्थाएं हो सकती है। उपयोगी संस्थाओं का एक ही पृष्ठभूमिका में होना आवश्यक होता है किन्तु सांस्कृतिक संस्थाओं के लिए इस प्रकार का कोई बन्धन नहीं होता है। वस्तुतः सांस्कृतिक संस्थाएं अपने उद्देश्य की पूर्ति तब ही ठीक ढङ्ग से कर पाती हैं जब कि उन्हें किसी आर्थिक, राजनीतिक व्यवस्था के बन्धन न बांध कर पूर्ण-रूपेण स्वतन्त्र समितियों द्वारा पनपने दिया जाए। सामाजिक विकास के लिए इस प्रकार की व्यवस्था आवश्यक भी है क्योंकि ऐसा न हो पाने पर धार्मिक, नैतिक एवं कलात्मक संस्थाओं को आर्थिक एवं राजनीतिक तथ्यों के साथ बांध कर पंगु बना देने के अतिरिक्त और

कोई फल नहीं होगा। यद्यपि सर्वेसर्वा ढङ्ग के राष्ट्र की प्रवृत्ति यही होती है कि नागरिकों के व्यक्तित्व के सब ही अंगों को राष्ट्रीय नियंत्रण की शृंखला में बाँध कर रखा जाए और सम्पूर्ण राष्ट्र के व्यक्तित्वों को अपने ही ढङ्ग पर विकसित होने के अवसर दिए जाएँ किन्तु इस प्रकार की मनोवृत्ति राष्ट्र की स्वस्थ्य प्रकृति की परिचायक नहीं हो सकती है। यूं भी आजदिन राजनीतिक विचारक सर्वेसर्वा राष्ट्र के दोषों से परिचित हो चुके हैं अतः यही उचित जान पड़ता है कि सांस्कृतिक संस्थाओं को स्वतन्त्र रह कर विकसित होने तथा अपने उद्देश्यपूर्ण करने का अवसर दिया जाए। धार्मिक सस्थाओं को सांस्कृतिक संस्थाएँ ही माना जाता है।

धार्मिक संस्थाएं——सम्भवतः धार्मिक विश्वासों का आदि मूल वह जिज्ञासा है जो कि मानव के मन में उस काल में उदय हुई थी जब कि वह अनियमित, विज्ञान जन्य सुविधाओं से रहित, भय एवं चिन्ता से पूर्ण जीवन व्यतीत कर रहा था, जब कि आदिदैविक और आधिभौतिक दोनों ही प्रकार की विपत्तियाँ उसके लिए बड़े भारी रहस्य और आश्चर्य थे। अपनी जिज्ञासा वृत्ति को शांत करने के लिये मानव ने कल्पना का आश्रय लिया। उसकी कल्पना ने उसे विभिन्न उत्तर दिए और वही उत्तर उसके धार्मिक विश्वास के आधार बन गए। ज्यों-ज्यों मानव ने प्रकृति पर विजय यात्रा करते हुये सफलताएं प्राप्त की, ज्ञान वृद्धि की, बहुत से प्रकृति के रहस्यों का उद्घाटन किया त्यों-त्यों उसके धार्मिक विश्वासों का स्वरूप भी परिवर्तित होता गया। यही कारण था कि साधारण प्राकृतिक तथ्य जैसे सूर्य ग्रहण, चन्द्र ग्रहण, वर्षा, आँधी, भूचाल, तूफान, जुड़वां बालक होना आदि भी शुभ और अशुभ माने जाते थे। स्वयं इन तथ्यों को न समझ पाने के कारण मानव ने उन्हें दैवीय अथवा अलौकिक शक्तियों के कार्य समझ लिया और उन शक्तियों से उसे भय होने लगा। उनकी कृपा का वह अभिलाषी बन गया और उस कृपा का पात्र बन पाने के लिए उन दैवीय शक्तियों की उपासना करने लगा। धार्मिक विचारों और दार्शनिक मतों का जन्म इन्हीं परिस्थितियों में हुआ। मानव ने आज दिन तक वास्तविक जगत की खोज और कल्पना के सहारे जो कुछ भी ज्ञान प्राप्त किया है उसे सहज ही दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। धार्मिक विश्वास और उपासना की रीति नीति उनमें से एक पक्ष है और जगत तथा विश्वनियन्ता से सम्बन्धित विश्वास तथा मानव के स्वयं अपने अस्तित्व एवं अहं के सम्बन्ध में विचार दूसरा पक्ष है। सर्वाधिक कठिन प्रश्न एवं रहस्य

सदा सर्वदा मानव के सम्मुख यही रहा कि विश्व का निर्माण क्योंकर हुआ। विभिन्न देश काल एवं परिस्थितियों में उत्पन्न होने वाले विचारकों ने अपने युग के प्रभावों को लिए दिये इस प्रश्न के विभिन्न उत्तर दिए। उन उत्तरों को लेकर भी दो प्रकार के शास्त्र बनपे। एक तो दर्शनशास्त्र और दूसरा कर्म काण्ड कहलाया। दर्शनशास्त्र में विचारों और उनकी आलोचना प्रत्यालोचना को स्थान मिला जब कि कर्म काण्ड में धार्मिकमत एवं विश्वासों के साथ गुंथे मिले करणीय कृत्यों की सूची बनाई गई।

जीवन-दर्शन—सृष्टि निर्माण के सम्बन्ध में प्राप्त आदिकालीन उक्तियों में प्रायः एक अलौकिक, सर्वशक्तिमान्, सर्व व्यापक, अनादि, अनन्त सृष्टिनियन्ता की कल्पना मिलती है। इस कल्पना का विस्तार क्षेत्र विभिन्न काल में विभिन्न प्रकार का रहा है किन्तु स्वयं न समझ पाने के कारण मानव ने आदिकाल में यह कल्पना अवश्य करना चाहा है कि हमारी शक्ति से अधिक दूर परे कोई एक ऐसी शक्ति है जो कि मानव की शक्ति का मूलस्रोत है अथवा मानव शक्ति की स्वामिनी है और उसकी उपासना करना, उसे प्रसन्न करना ही मानव के लिए हितकर है। इन्हीं शक्तियों की कल्पना करते हुए उसने अपने लिए हितकर सब ही शक्तियों को देवता मानने का प्रयत्न किया। प्रायः सब ही प्राचीन मतों में (जैसे कि जोरोआस्ट्रियन, ऋगवैदिक, नीलकी वादी के धार्मिक मतादि) अग्नि, वायु आदि प्राकृतिक वस्तुओं की पूजा की चर्चा मिलती है। यही नहीं, उपयोगी पशुओं की पूजा का विधान भी यत्र-तत्र मिलता ही है। प्राचीन मतों में हमें एक तो अलौकिक अन्तिम सत्ता में विश्वास और दूसरा उसे प्रसन्न करने की चेष्टा अवश्य दिखाई देती है। इनके अतिरिक्त प्रेतादि शक्तियों में विश्वास पुर्नजन्म में विश्वास और उसके लिए उपयुक्त तैयारियों आदि की बातें भी विस्मरण नहीं की जा सकती हैं। सृष्टि के उद्गम के सम्बन्ध में भी विभिन्न प्रकार की कथाएँ खोजने पर मिल सकती हैं। ये कथाएँ हमें आज भले ही हास्यास्पद जान पड़ें किन्तु उस युग में जब कि मानव का प्रकृति सम्बन्धी ज्ञान अत्यन्त नगण्य था इन्हीं कथाओं में उसे भारी सत्य की झलक प्राप्त होती होगी और इन्हीं के आधार पर वह अपना जीवन दर्शन भी गढ़ता होगा। इसमें कोई संदेह नहीं कि मानव को जीवन में खाने-पीने, सोने की आवश्यकता है किन्तु केवल मात्र इसी से उसको तृप्ति नहीं हो जाती है। इनके अतिरिक्त उसे एक प्रकार के जीवनोद्देश्य को भी सम्मुख देख कर

चलना होता है, भले ही वह अत्यंत सरल और सीधा सा ही हो। इसी प्रकार का जीवन दर्शन उसके अपने विश्वासों के बल पर आदि युग में तैयार किया था। उसी का विचारात्मक पक्ष दर्शन बन गया और कर्म पक्ष धर्म अथवा धार्मिक मत बना रहा।

धार्मिक संगठन—आदि काल में इस प्रकार के विश्वासों को लेकर व्यक्ति ही चले होंगे किन्तु कुछ ही समय में अपने हित की दृष्टि से तत्कालीन समूहों ने प्रथा रूप में इन धार्मिक कृत्यों को ग्रहण कर लिया और परम्परागत उत्तराधिकारों के रूप में ये एक पीढ़ी तक चलते गए। हो सकता है कि आदिकालीन समूहों में प्रायः एक ही प्रकार के धार्मिक विश्वास और जीवन दर्शन का प्रचलन हुआ हो और यह भी सम्भवतः मानव को कष्ट सहन करने की क्षमता देने के लिए ही हुआ हो। कभी किसी एक अज्ञात, अन्धकार पूर्ण युग में जीवन के विभिन्न संघर्षों एवं कठिनाइयों से उकता कर किसी एक मानव ने यह कल्पना की होगी कि कभी तो इन सब यातनाओं का अन्त होगा ही और उस अन्त का अर्थ सर्व समाप्ति तो मानव सम्भवतः उस समय तक सहन भी न कर पाता हो अतः उसने अपने अस्तित्व के किसी न किसी रूप में बने रहने की कल्पना के साथ ही साथ यह भी कल्पना की होगी कि फिर उसका मानव के ही रूप में कभी न कभी अस्तित्व होगा और उस अवस्था में उसे अधिक सुख और शान्ति प्राप्त होगी। इसी भावना को लेकर उसने पुनर्जन्म की कल्पना की होगी। इस कल्पना से अनेकों व्यक्तियों को बल, उत्साह और इस जन्म में कष्ट सहन की क्षमता प्राप्त होने लगी होगी और उन्होंने उसे स्वीकार कर लिया होगा। इसी प्रकार निजी कष्टों को सहन करना कठिन होने पर दुःख के, वेदना के, घनीभूत पीड़ा के कठिन क्षणों में मानव को किसी की सहायता की आवश्यकता का अनुभव हुआ होगा। सहायता उसे अपने परिवार के व्यक्तियों, मित्रों आदि से भी प्राप्त हो सकती थी किन्तु वह तो सीमित ही थी अतः उसका प्रयोग आदि दैविक दुःखों के विरुद्ध तो किया ही नहीं जा सकता था अतः मानव ने किसी ऐसी अलौकिक शक्ति की कल्पना की होगी जिसका अधिकार क्षेत्र केवल प्रकृति ही न हो वरन् समग्र 'अस्तित्व' हो और इस असीम विस्तृत अधिकार क्षेत्र का स्वामी होने के नाते वह मानव को सब ही प्रकार के दुःखों से मुक्ति देने में समर्थ हो। ईश्वर सम्बन्धी यह भावना किसी एक मानव अथवा परिवार तक ही सीमित न रहकर समूह के समस्त सदस्यों तक पहुँच गई होगी और यह विश्वास किया जाने लगा

होगा कि एक व्यक्ति की प्रार्थना की अपेक्षा अनेकों व्यक्तियों की प्रार्थना ईश्वर को अधिक प्रभावित कर सकेगी अतः सार्वजनिक पूजा गृह, मन्दिर, मसजिद आदि की स्थापना हुई और धार्मिक विश्वास एवं मत संगठित रूप में एक संस्था की भाँति समूह में कार्य करने लगे।

हो सकता है कि प्रारम्भ में अलौकिक शक्तियों की कल्पना प्राकृतिक शक्तियों में ही की गई हो और फिर उनके मूर्त रूप की कल्पना धीरे-धीरे विभिन्न प्रकार की अन्य वस्तुओं में की गई हो। इन सब ही से असन्तुष्ट होकर सम्भव है कि मानव ने अपने ही रूप में ईश्वर की कल्पना की हो और उससे भी कुछ आगे चल कर उसके निर्वैयक्तिक रूप की कल्पना की हो। मानव बुद्धि अलौकिक, शक्ति, सर्वशक्तिमान, सर्व व्यापक तथा सर्व शक्ति मान होने के अतिरिक्त एक और अनेक के तथा मूर्त और अमूर्त के प्रश्नों में भी उलझती-सुलझती रही और धार्मिक मत प्रबल संगठनों तथा व्यवस्थाओं के रूप में उत्तरोत्तर विकसित होते गए। इनके सार्वजनिक रूप ने धार्मिक सार्वजनिक उत्सवों एवं त्योहारों को भी जन्म दिया और विभिन्न प्रकार के यज्ञ और संस्कारों का भी जन्म हुआ।

वैज्ञानिक खोजों का प्रभाव---आदिकालीन धार्मिक मत और विश्वास सरल, सीधे, भोले-भाले अवश्य थे किन्तु सामाजिक तत्त्वों की कमी उनमें भी नहीं था। वस्तुतः सामाजिक और धार्मिक संगठनों का सदा सर्वदा का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा। वस्तुतः धर्म हमारे समस्त सामाजिक संगठनों को न केवल प्रभावित ही करता रहा वरन एक युग विशेष तक तो नियन्त्रित भी करता रहा। आदिकाल में मानव का जीवन एक इकाई था। उसके विभिन्न पक्ष एक ही शरीर के विभिन्न अंग थे जिन्हें कि एक दूसरे से पृथक नहीं किया जा सकता था अतः धार्मिक विश्वास, राजनीतिक एवं आर्थिक संगठन और जीवन दर्शन कुछ उसके जीवन में इतने गुथे मिले हुए थे कि एक को दूसरे से पृथक करके नहीं देखा जा सकता था। राजनीतिक संगठनों का प्रभाव एक युग विशेष में बहुत ही अधिक रहा किन्तु वह धीरे-धीरे न्यून होता गया और अलौकिक रहस्यमय तत्वों को लिए हुए धार्मिक संगठनों का महत्व अत्यधिक बढ़ गया तथा वह मानव के जीवन के सब ही पक्षों पर छा गए। यहाँ तक कि राजनीतिक संगठन भी उनका नियन्त्रण मान कर चलते रहे किन्तु राजसत्ता इस प्रकार की व्यवस्था को अधिक काल तक न मान सकी और राजा में भी दैवी शक्ति है अथवा राजा ईश्वर का ही अंश है इस प्रकार के

विचारों का प्रसार किया गया तथा प्रयत्न यह किया जाने लगा कि धार्मिक संस्थाओं और राजनीतिक संस्थाओं के परस्पर संघर्षों का अन्त राजसत्ता की ही प्रधानता में हो किन्तु धार्मिक सत्ता भी इस दिशा में सतत प्रयत्नशील थी। एक समय तक यूरुप इसी प्रकार के संघर्षों का अखाड़ा बना रहा। इसी बीच वैज्ञानिक खोजों ने मानव के प्रकृति सम्बन्धी ज्ञान को अधिकाधिक विकसित किया। सामाजिक अवस्था भी परिवर्तित हो रही थी। कृषि प्रधान, धर्म भीरु शान्ति-प्रिय मानव समूह भी अब नगरों की स्थापना, औद्योगिक क्रान्ति आदि की ओर बढ़ रहे थे। आदिकालीन सरल विश्वासों की नींव भी हिल गई थी और अर्थ व्यवस्था में तो भीषण क्रान्ति के कारण विशेष परिवर्तन होने लगे थे। इन सब सामाजिक क्रान्तियों एवं परिवर्तनों का प्रभाव मानव जीवन दर्शन के सब ही अंगों पर पड़ा और धार्मिक संस्थाएँ भी उससे अछूती न बची। धार्मिक सत्ता का सार्वभौम अधिकार और प्रभाव उतना अधिक नहीं रह गया था तथा धार्मिक विश्वासों में भी कर्म काण्ड की अपेक्षा दर्शन का ही अधिक प्रभाव होने लगा। परिणामस्वरूप मानव उतना अधिक धर्म भीरु नहीं रह गया था। राजनीतिक जगत में भी धार्मिक संस्थाओं का उतना अधिक प्रभाव नहीं रह गया था। वैज्ञानिक उन्नति उत्तरोत्तर होती गई और प्रकृति पर विजय प्राप्त कर के भी यद्यपि मानव उसके सब ही रहस्यों को नहीं जान पाया किन्तु उस दिशा में प्रयत्नशील अवश्य होता रहा।

आधुनिक प्रवृत्तियाँ—आज प्रायः विश्व के सब ही सभ्य राष्ट्रों ने यह मान लिया है कि यद्यपि धार्मिक मत एवं विश्वास का सार्वजनिक रूप एवं महत्त्व है फिर भी उसे राजनीतिक नियन्त्रण में रखना अनुचित है और ठीक इसी प्रकार से राजसत्ता पर उसका प्रभाव स्वीकार करना भी आवश्यक नहीं है अतः आज दिन अधिकांश सभ्य, प्रगतिशील एवं उन्नत राष्ट्रीय सरकारें जनता के धार्मिक विश्वासों में और उनकी धार्मिक संस्थाओं के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करती हैं। इससे पूर्व किसी एक सीमा तक धार्मिक संस्थाओं का कार्य क्षेत्र भी अत्यन्त विस्तृत था अर्थात् शिक्षा, संगीत, साहित्य, शिल्प तथा ललितकलाओं का विकास भी धार्मिक संस्थाओं के ही माध्यम से किया जाता था किन्तु अब धीरे-धीरे ये सब धार्मिक संस्थाओं के हाथ से निकल कर शिक्षा संस्थाओं अथवा अन्य सांस्कृतिक संस्थाओं के हाथ में चले गये। आर्थिक और सामाजिक जीवन पर भी धर्म के बन्धन अब उतने अधिक कठोर एवं सुदृढ़ नहीं रह गए हैं। यहाँ

तक कि पारिवारिक जीवन में भी धर्म की शक्ति क्षीण ही होती जा रही है। किसी एक समय में धार्मिक संस्थाएँ व्यक्ति के पाप-पुण्य के भार से लेकर शारीरिक चिकित्सा तक के भार को ग्रहण करती थीं। आज अवस्था इतनी अधिक परिवर्तित हो गई है कि इन सब ही प्रकार की सेवाओं का कार्य राष्ट्र ने अन्य राष्ट्रीय एवं व्यक्तिगत संस्थाओं द्वारा करवाना आरम्भ कर दिया है अतः धार्मिक संस्थाओं का सम्बन्ध मानव के व्यक्तिगत विश्वास और आत्मिक शान्ति से ही रह गया है। राष्ट्रों की प्रवृत्ति भी अधिकतर ऐहिकीकरण (Secularisation) की ही ओर बढ़ रही है। सम्भवतः इसका कारण यह रहा हो कि धार्मिक संस्थाओं ने अपने दार्शनिक पक्ष को उतना अधिक प्रोत्साहन न देकर अपनी समस्त शक्ति कर्मकाण्ड की ओर ही लगा दी थी और आज वैज्ञानिक उन्नति के कारण जीवन की सुविधाएँ बढ़ गई तथा मानव अधिक भौतिक दृष्टि से सजग हो गया। ऐसी अवस्था में यह स्वाभाविक ही था कि धार्मिक संगठनों के भौतिक कार्य उनसे ले लिये जाएँ क्योंकि अब अन्य संस्थाएँ उन्हें अधिक वैज्ञानिक ढंग से तथा अपेक्षाकृत शीघ्र ही पूरा कर पाती हैं। फिर भी मानव के जीवन में दर्शन एवं धर्म की कोई आवश्यकता रह ही न गई हो ऐसी बात भी नहीं है। आज भी मानव के मन की मूल जिज्ञासा शेष ही है। भले ही इलेक्ट्रोन सापेक्षवाद (Relativity) ने हमें सृष्टि एवं पदार्थों की गति के विषय में नवीन ज्ञान दिया हो किन्तु सृष्टि की रचना क्यों हुई, मानव के अस्तित्व का स्थायी रूप एवं तत्त्व क्या है? नैतिकता का मूल भूत सत्य क्या है आदि कुछ ऐसे मौलिक प्रश्न हैं जिनके उत्तर विज्ञान अभी तक नहीं दे पाया है और सम्भवतः दे पायेगा भी नहीं किन्तु मानव इन्हें जान कर इनसे सम्बन्धित अपनी जिज्ञासा शान्त करने के लिये आज भी व्याकुल है अतः दृष्टिकोण परिवर्तित होना तो आवश्यक है किन्तु धार्मिक संस्थाओं की आवश्यकता आज भी एकबारगी समाप्त नहीं हो गई है और दृष्टिकोण में परिवर्तन होना भी उसी दशा में सम्भव हुआ होगा जब कि धार्मिक संस्थाओं ने तात्त्विक एवं दार्शनिक कार्य छोड़ सा ही दिया होगा और वह अपने आप में एक पृथक् ज्ञान दर्शन सा बना कर चल रही होंगी। दूसरी ओर अनेकों वैज्ञानिक, विचारक एवं विद्वान ईश्वर की सत्ता एवं उसके अस्तित्व को असिद्ध भी तो नहीं कर पाये हैं अतः मानव के सर्वोत्कृष्ट विश्वास के आधार भूत तत्त्व को स्वीकार कर लेना ही सम्भवतः उचित हो। ऐसी अवस्था में यह कहना कठिन है कि धार्मिक संस्थाओं का कार्य

समाप्त हो गया है वरन् कहना तो यह उचित होगा कि उनके कार्य की दिशा परिवर्तित हो गई है और ऐसा होना तो ठीक ही है क्योंकि सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन होने पर प्रायः सब ही प्रकार की सांस्कृतिक संस्थाओं की दिशाओं में भी कुछ तो परिवर्तन होना अनिवार्य हो ही जाता है क्योंकि सब ही संस्थाओं का सामाजिक व्यवस्था से तो घना और गम्भीर अन्तःसम्बन्ध होता ही है।

यही नहीं, धार्मिक संस्थाओं का एक कार्य समाज में व्यक्ति को नैतिकता की ओर प्रवृत्त करना भी रहा है। कहां तक धार्मिक संस्थाएं इस उद्देश्य की पूर्ति कर पाई हैं यह कहना तो तनिक कठिन है किन्तु इतना तो कहा ही जा सकता है कि धर्म भीरुता ने एक युग में जन साधारण को उचित और श्रेय की ओर ले जाने में सहायता की ही थी। यह दूसरी बात है कि इस प्रकार उचित एवं श्रेय की ओर जाने को हम कहाँ तक नैतिक पथ मान सकते हैं। 'ईश्वर' सम्बन्धी विचार ने एक समय में दो प्रकार के नैतिक कार्य किए। इनमें से एक तो था नैतिकता का बाह्य एवं स्थिर माप दण्ड देना और दूसरा ईश्वर की कृपा अथवा स्नेह पाने के प्रलोभन से कंटकाकीर्ण नैतिक पथ को अपनाना। हो सकता है कि नैतिक दृष्टि से केवल मात्र नारायण अर्थात् अपने प्रिय पात्र की कृपा प्राप्ति के लिए ही श्रेयस्कर मार्ग का चयन करना उतना अधिक महत्व न रखता हो जितना कि श्रेय को केवल श्रेयत्व के लिए ही ग्रहण करना किन्तु सामाजिक दृष्टि से समाज में व्यवस्था बनाए रखने के लिए, सार्वजनिक हित की दृष्टि से यह मार्ग भी उपयोगी तो है ही। अतः धार्मिक संस्थाएं आज भी दार्शनिक और नैतिक कार्यों को लेकर समाज के लिए उपयोगी एवं हितकर संस्थाओं का कार्य कर सकती है।

वस्तुतः धार्मिक संस्थाओं ने साम्प्रदायिक रंग लेकर सामाजिक विभाजन की नींव डाल ही दी थी। यूं तो समान विचार, विश्वास एवं रहन-सहन, व्यवहार से व्यक्ति परस्पर सम्बन्धित हो ही जाते हैं और धार्मिक संस्थाएं जब कि साम्प्रदाय का रूप धारण कर चुकीं तो उन्होंने व्यक्ति के जीवन के सब ही अंगों को लेना भी चाहा। यहां तक कि उसके जीवन और रहन-सहन की सरल से सरल और सीधे से सीधी रीति नीति भी उसके सम्प्रदाय के द्वारा निर्धारित एवं निश्चित होने लगी। कृषि प्रधान युग के आत्मनिर्भर और अपने ही में पूर्ण तथा सीमित समाज में इस प्रकार चलना कठिन नहीं था किन्तु उन्नत और वैज्ञानिक तथा नागरिक ढंग पर विकसित जीवन के लिए इस प्रकार चल पाना कठिन हो गया। इस तरह के नियमों को मान कर

चलना तो असम्भव ही हो गया जैसे कि समुद्र पार जाने सम्बन्धी निषेध, खान-पान सम्बन्धी छूत-छात आदि-आदि। परिणामस्वरूप लोगों ने इन धार्मिक अथवा साम्प्रदायिक बन्धनों के प्रति अश्रद्धा दिखाना आरम्भ कर दिया अतः यह कहा जा सकता है कि आधुनिक युग में सामाजिक मनोवृत्तियां साम्प्रदायिक बन्धनों के विरुद्ध है किन्तु यह कहना कठिन है कि धार्मिक विश्वासों पर स्थित मानव की धार्मिक अनुभूति तथा जिज्ञासा की शान्ति के लिए अन्तिम तत्त्व की दार्शनिक खोज तथा नैतिक श्रेय एवं उन्नति के अनुसन्धान की आवश्यकता ही नहीं रही है यद्यपि यह कहना कठिन है कि कहां तक धार्मिक संस्थाएं इस प्रकार के सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक कार्य करने में सफल हो पायेंगी यदि वे उन्हें लक्ष्य मान कर चलें भी तो। इसके अतिरिक्त मानव मन के सन्तुलन के लिए भी धर्म की आवश्यकता पड़ती ही है किन्तु ऐसी अवस्था में धर्म साम्प्रदायिक बन्धन व्यवस्था आदि न रह कर व्यक्तिगत श्रद्धा एवं विश्वास के रूप में लिया जा सकता है। सामाजिक व्यवस्था कितनी भी अधिक सुगठित, सुव्यवस्थित और न्यायसम्मत क्यों न हो व्यक्ति को वेदना, दुःख, पीड़ा, दबाव आदि से सामना करना पड़ ही जाता है और ऐसी अवस्था में साधारणतया साधारण साहस और चरित्र के व्यक्ति व्याकुल हो उठते हैं उन्हें सन्तुलित कर पाने के लिए, शान्ति, धैर्य एवं साहस दिलाने के लिए धर्म और व्यक्तिगत विश्वास एवं श्रद्धा की आवश्यकता होती है। यही कारण है कि परिस्थितियों के परिवर्तित होने से सम्प्रदाय और तज्जन्य बन्धनादि में परिवर्तन तो हुए किन्तु मानव के भीतर से उत्पन्न होने वाली श्रद्धा, अनुभूति एवं विश्वास धुल पुछ नहीं सका।

क्रीड़ा और मनोरंजन संस्थाएं—मानव के सामाजिक जीवन में क्रीड़ा का अत्यधिक महत्व है। जीवन के प्रारम्भिक क्षणों से ही व्यक्ति क्रीड़ा में रुचि लेने लगता है। प्रायः वृद्धावस्था तक यह प्रवृत्ति विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त होती रहती है। इसकी अभिव्यक्ति के रूप परिवर्तित होते जाते हैं किन्तु मूल प्रवृत्तियों का अस्तित्व बना ही रहता रहता है क्रीड़ा आनन्ददायिनी होती है। यद्यपि क्रीड़ा में मानव की शारीरिक शक्ति का कम होना सम्भव है किन्तु उसके पश्चात प्राप्त होने वाले असीम आनन्द और परितृप्ति की तुलना में वह श्रम, श्रम नहीं जान पड़ता वरन आनन्ददायक कार्य ही जान पड़ता है।

क्रीड़ा प्रधानतः सामूहिक कार्य है और इसका सामाजिक दृष्टि से महत्व भी है। क्रीड़ा सामाजिक दृष्टि से व्यक्ति में साहस, धैर्य,

नियन्त्रण की भावना तथा स्वयं अनुशासित रहना, सामूहिक जीवन में स्थान पाना तथा स्थान देना सिखाती है। प्रायः एकाकी जीवन की स्वार्थपर प्रवृत्तियों से मानव को खेल के मैदान में ही मुक्त होना सीखने का अवसर मिलता है स्वास्थ्य वृद्धि के लिए भी क्रीड़ा हित कर एवं सहायक होती है। किन्तु सर्वाधिक उपयोग तो इसका व्यक्ति को सामाजिक प्राणी बन सकने के योग्य गुण ग्रहण करने का अवसर देना ही है। एक और भी क्रीड़ा का महत्वपूर्ण उपयोग है और वह है अतिरिक्त समय का सदुपयोग। वस्तुतः आजदिन व्यक्ति के लिए अतिरिक्त समय का उपयोग करना भी एक कठिन समस्या बन गई है और उसका सदुपयोग करना तो और भी कठिन जान पड़ता है। दैनिक कार्य में थका थकाया व्यक्ति किसी गम्भीर कार्य में उस अतिरिक्त समय को लगाना भी नहीं चाहता है जो कि काम काज कर चुकने के पश्चात उसे प्राप्त हुआ है। ऐसे समय को तो उसे मनोरंजन के कार्य में ही लगाने की प्रबल इच्छा हुआ करती है किन्तु मनोरंजन भी तो एकाकी व्यक्ति प्रायः कठिनता से ही कर पाता है अतः क्लब और इसी प्रकार की समितियों का संगठन इसी उद्देश्य से किया जाता है कि व्यक्ति अतिरिक्त समय का उपयोग स्वस्थ्य ढंग से मनोरंजन आदि में ही कर सके। यूं तो क्रीड़ा में भी व्यक्ति को पर्याप्त मनोरंजन प्राप्त हो जाता है किन्तु क्रीड़ा के लिए शारीरिक शक्ति की भी आवश्यकता पड़ती ही है। और सब ही आयु के व्यक्तियों को क्रीड़ा ठीक पड़ती भी नहीं है अतः क्रीड़ा के अतिरिक्त कुछ ऐसी मनोरंजन की संस्थाएँ होती हैं जिनमें कि अन्दर बैठ कर खेले जाने वाले खेल तथा अन्य इसी प्रकार के सामूहिक मनोरंजन की व्यवस्था की जाती है। नाटक, सिनेमा, रेडियो आदि भी मनोरंजन के ही साधन हैं और इस युग में इनका प्रचार भी कुछ अधिक ही बढ़ गया है। इनमें से कुछ समितियाँ तो मनोरंजन के साथ ही साथ शिक्षा अथवा ललित कलाओं के प्रसार का भी कार्य करती है। वस्तुतः मनोरंजन बहुत कुछ व्यक्ति की रुचि पर भी निर्भर होता है और व्यक्ति की रुचि उसके व्यक्तित्व से ही बनती है। किसी एक व्यक्ति को क्रीड़ा में आनन्द आ सकता है और उसी से उसका मनोरंजन होता है किन्तु किसी दूसरे व्यक्ति को क्रीड़ा की अपेक्षा कविता सुनने में अधिक आनन्द आता है और उसका मनोरंजन उससे ही अधिक होता है। किसी तीसरे व्यक्ति को नाटक देखने, नृत्य देखने तथा संगीत सुनने में अधिक आनन्द आता है उसका मनोरंजन उसी प्रकार के कार्यों में होता है अतः रुचियों

की विविधता का मनोरंजन में बड़ा भारी स्थान है और यही कारण है कि एक ही समुदाय, समूह अथवा समाज में विभिन्न प्रकार की मनोरंजन संस्थाएँ पनपती हैं और उनकी आवश्यकता भी होती ही है। मनोरंजन का सामूहिक होना आवश्यक है और यह संगठित तथा असंगठित दोनों ही प्रकार का होता है। ठीक यही बात क्रीड़ा के विषय में भी लागू होती है। असंगठित एवं अव्यवस्थित बालसुलभ क्रीड़ाओं से लेकर बड़े से बड़े क्रिकेट के मैच तक क्रीड़ा के ही अन्तर्गत माने जाते हैं किन्तु क्रीड़ा संस्थाएँ वे होती हैं जो कि इस प्रकार की क्रीड़ा आदि की सामूहिक योजनाएँ बनाती और चलाती हैं। व्यक्तिगत रूप से तो क्रीड़ा की सामूहिक व्यवस्था की भी नहीं जा सकती है। इसी भान्ति अन्य प्रकार के कला, साहित्य, सगीत आदि को लेकर जो मनोरंजन के सामूहिक आयोजन किए जाते हैं उनके लिए भी समाज में कुछ ऐसी संस्थाएँ होती है जो कि सामूहिक रूप से योजनाएँ बनाती और उनका प्रसार करती हैं। क्रीड़ा सम्बन्धी और अन्य मनोरंजन सम्बन्धी दोनों ही प्रकार की संस्थाओं में विविधता रहती है। विभिन्न क्रीड़ाओं को लेकर उनसे सम्बन्धित क्रीड़ा संस्थाएँ संगठित होती है तथा इसी ढंग से विभिन्न प्रकार के मनोरंजन के साधन लेकर उनके आधार पर विभिन्न संस्थाएँ संगठित होती हैं। इन संस्थाओं का सामाजिक दृष्टि से अत्यधिक महत्व होता है क्योंकि ये मानव के जीवन की एक बड़ी आवश्यकता की पूर्ति करती हैं और इस प्रकार मानव को मानव के निकट आकर एक दूसरे के सामीप्य से आनन्द प्राप्ति का भी अवसर देती हैं। इनमें रह कर ही मानव में सहन शीलता और एक दूसरे के हँसी मजाक को सहने की क्षमता भी आती है।

यद्यपि मनोरंजन के साधनों और तत्सम्बन्धी संस्थाओं की मानव को सामाजिक दृष्टि से बहुत बड़ी आवश्यकता है किन्तु मनोरंजन के साधनों का सामाजिक दृष्टि से नियन्त्रित होना भी आवश्यक है। कुप्रवृत्तियों एवं निम्नकोटि के आधारों पर आधारित मनोरंजन संस्थाओं पर राज्य की ओर से रोक होनी चाहिए। मनोरंजन संस्थाओं का मुख्य उद्देश्य स्वस्थ एवं शिक्षाप्रद मनोरंजन के साधन एवं अवसर उपस्थित करना होना चाहिए न कि केवल मात्र निम्नकोटि के आनन्द पाने के अवसर देना ही। आधुनिक युग में वैज्ञानिक आविष्कारों ने तो यह भी सम्भव कर दिया है कि मानव एकाकी होते हुए भी रेडियो टेलीवीजन आदि की सहायता से मनोरंजन प्राप्त कर सके किन्तु इतना

होते हुए भी सामूहिक मनोरंजन की आवश्यकता रह ही जाती है और उसके उचित नियन्त्रण की व्यवस्था भी राज्य की ओर से होनी ही चाहिए। सामाजिक ढाँचे में सब ही प्रकार की संस्थाओं का स्थान होता है और उन सब को लेकर ही समाज का ढांचा बन पाता है। मानव का सामाजिक जीवन भी इन सब ही प्रकार की संस्थाओं के बीच रह कर ही बनता एवं पनपता है। परिवार से लेकर, राष्ट्र, धर्म, सम्प्रदाय, क्लब, नाटक, समिति, साहित्य परिषद् आदि सब ही प्रकार की संस्थाएँ उसके व्यक्तित्व के निर्माण में योगदान देती हैं और सांस्कृतिक संस्थाएँ तो विशेष रूप से उसके व्यक्तित्व का सृजन करनेवाली होती हैं।

संस्था-संकुल—प्रायः अब तक हम सामाजिक ढाँचे के विभिन्न अंग प्रत्यंगों को देख ही चुके हैं। ये अंग प्रत्यंग केवलमात्र एक दूसरे के साथ सम्बन्धित रूप में अपना अस्तित्व ही नहीं रखते हैं वरन् विशेष प्रकार के सम्बन्ध भी रखते हैं तथा अपने-अपने निश्चित टाइम की पूर्ति करने के लिए कार्य भी करते रहते हैं। अपने विशेष कार्य की साधना करते हुए ये एक दूसरे से आनुकूल्य भी प्राप्त करते रहते हैं तथा एक दूसरे से समीकरण भी स्थापित करते रहते हैं और इस प्रकार की सम्मिलित व्यवस्था को कार्य-व्यवस्था (Functional System) कहा जाता है। ये कार्य-व्यवस्थाएँ विभिन्न प्रकार की होती हैं। वस्तुतः समाज एक सम्पूर्ण है और उसका ढाँचा एक मानव शरीर की ही भान्ति पूर्ण है। विभिन्न संस्थाएँ आदि उसके अंग प्रत्यंग हैं। यद्यपि इनके अपने अपने कार्य क्षेत्र होते हैं और ये अपने-अपने ही ढंग से अपने-अपने कार्य करते हैं किन्तु ऐसा भी तो एक निश्चित व्यवस्था के ही अनुसार होता है जो कि समाज को एक बनाये रखती है और इस प्रकार की व्यवस्था ही कार्य व्यवस्था है। पूर्ण समाज के सम्बन्ध से भी हम कार्य व्यवस्था की चर्चा कर सकते हैं और विभिन्न संस्थाओं की अपनी-अपनी क्षेत्रीय कार्य प्रणालियों को लिए-दिए भी हम उनकी अपनी-अपनी कार्य व्यवस्था की बात कर सकते हैं अतः इन अंग प्रत्यंगों का अपना निजी अस्तित्व, कार्य क्षेत्र और कार्य व्यवस्था तो है ही, इसके अतिरिक्त पूर्ण को लेकर इन सब को लिए-दिए भी एक कार्य व्यवस्था होती है।

संस्कृति और सभ्यता—आज का समाज जटिल और घना है। इसमें विभिन्न रुचियां विभिन्न प्रकार के सामाजिक तत्त्वों आदि को जन्म देती हैं। इस प्रकार के सामाजिक तत्त्व व्यक्तिगत समितियों से दूर

परे भी हो सकते हैं किन्तु इन सब को लिए-दिए ही संस्थाओं के संकुल (Institutional Complex) बन जाते हैं। यूँ तो हमने विभिन्न संस्थाओं एवं समितियों की चर्चा पृथक् पृथक् शीर्षक लेकर की थी किन्तु वस्तुतः वे उतने अधिक अन्तर पर नहीं होती हैं। राजनीतिक और आर्थिक तथा इसी प्रकार अन्य संस्थाओं को पूर्णतया एक दूसरे से पृथक् करके देखा ही नहीं जा सकता है अतः सब ही संस्थाएँ आधुनिक जटिल समाज में विभिन्न होती हुई भी एक संकुल के रूप में गुंथ मिल जाती हैं। इसके अतिरिक्त कोई भी ऐसी विशाल संस्था हो ही नहीं सकती है जो कि मानव के सब ही प्रारम्भिक अथवा माध्यमिक चित्रों को लेकर चल सके अतः संस्कृति अथवा सभ्यता से सम्बन्धित व्यवथाओं के आधार पर विभिन्न रुचियों की परितृप्ति के लिए विभिन्न सस्थाएँ बन जाती हैं और इनके प्रतिमान, सम्बन्ध और प्रक्रियाएँ आदि अपने-अपने ही होते हैं। उदाहरणार्थ-सांस्कृतिक संस्थाओं की गति विधि, रीति नीति, कार्य प्रतिमान आदि एक विशेष ढंग के होते हैं और सभ्यता से सम्बन्धित संस्थाओं के कुछ दूसरे ही ढंग के। इन्हें ठीक ढंग से समझ पाने के लिए उन प्रतिमानों आदि का धरातल अथवा इनकी पृष्ठ भूमिका को समझ लेना आवश्यक है फिर भी अन्तिम रूप से हमें यह स्मरण रखना ही चाहिये कि ये सब एक ही समाज के अंग प्रत्यंग मात्र ही है। किसी भी एक संस्था-संकुल का विश्लेषण करके अध्ययन करने पर यह ज्ञात होता है कि वह कई एक मानव रुचियों को लेकर ही चलता है और उसे समाज के विभिन्न अंगों से सहायता की भी अपेक्षा रहती है।

हमने मुख्यतः सांस्कृतिक और सभ्यता से सम्बन्धित इन्हीं दो व्यवस्थाओं की चर्चा की है। वस्तुतः मानव जो भी कुछ सामाजिक दृष्टि से करता, जानता अथवा समझता है वह इन दोनों में से किसी न किसी एक व्यवस्था के अन्तर्गत आ ही जाता है। यह तो हम देख ही चुके हैं कि सभ्यता में उन सब ही भौतिक सुविधाओं, यन्त्रों, संगठनों, जीवनयापन की रीति-नीति और उनसे सम्बन्धित वस्तुओं आदि को रखा जा सकता है जिनका कि आविष्कार मानव ने अपनी जीवन यात्रा को सरल एवं सुखद करने के लिये, जीवन की गति विधि को नियंत्रित करने के लिए किया है। इसमें भौतिक यन्त्रादि, उनके विभिन्न प्रयोग और प्रयोग करने की रीतियाँ आदि भी सम्मिलित की जा सकती हैं। मानव ने आज तक दो प्रकार के सभ्यता सम्बन्धी आविष्कार किए हैं। एक तो वे हैं जो कि मानव की प्रकृति के ऊपर

विजय घोषित करते हैं और दूसरे उसे स्वयं अपने को, अपने समाज को संगठित करना सिखाते है। इनकी चर्चा तो हम यथास्थान कर भी चुके हैं। इन दोनों को ही सभ्यता में सम्मिलित किया जाता है। संस्कृति किसी एक सीमा तक सर्वथा भौतिक न होकर तनिक अभौतिक मानसिक धरातल पर स्थापित की जाती है। जीवन की बाह्य आवश्यकताओं की पूर्ति, बाह्य जीवनयापन की सुविधाओं को उपस्थित करने का कार्य सभ्यता करती है किन्तु मानव के भीतर भी तो कुछ आकांक्षाएँ रहती ही हैं और उन्हीं की परितृप्ति के साधन संस्कृति कहलाते हैं अतः संस्कृति मानव की आन्तरिक प्रकृति एवं प्रवृत्तियों तथा विचार करने के ढंग आदि की वह अभिव्यक्ति है जो कि साहित्य, कला, संगीत, धर्म, मनोरंजन हास विलास आदि में प्रसार पाती है। इतना होते हुए भी सांस्कृतिक व्यवस्था सभ्यता सम्बन्धी व्यवस्था से सर्वथा पृथक् ही हो. ऐसी बात नहीं है। मानव जीवन में दोनों का ही स्थान है और दोनों का ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह भी आवश्यक नहीं है कि जिन संस्थाओं का सम्बन्ध संस्कृति से हो वे सभ्यता से एकबारगी दूर परे ही रहती हों किन्तु विभिन्न सामाजिक संस्थाओं को सांस्कृतिक अथवा सभ्यता सम्बन्धी व्यवस्थाओं के अन्तर्गत रखकर देखा जा सकता है। इन दोनों व्यवस्थाओं की कार्य प्रणाली में भी तनिक भेद है। सभ्यता सम्बन्धी अथवा उपयोगिता सम्बन्धी व्यवस्था अपनी कुशलता का माप दण्ड रखती है। मानव ने जिन जीवनयापन की सुविधाओं का आविष्कार किया है उनकी तुलनात्मक आलोचना की जा सकती है। इसमें किसी को भी कोई आपत्ति नहीं होगी यदि यह कहा जाए कि अंगीठी की अपेक्षा बिजली का चूल्हा अधिक उपयोगी अथवा अच्छा है। उससे कार्य कुशलता बढ़ जाती है। इस प्रकार का मापदण्ड संस्कृतिक व्यवस्था को लेकर उपस्थित नहीं किया जा सकता है क्योंकि साधन के सम्बन्ध में अपेक्षाकृत, तुलनात्मक दृष्टि से अधिक अच्छा अथवा कम अच्छा कहना सरल है किन्तु साध्य अथवा ध्येय के विषय में इस प्रकार की आलोचना करना कठिन है। यह कहना कि भवभूति की अपेक्षा कालीदास अधिक आनन्द की सृष्टि कर सके अथवा उनकी रचनाएँ अधिक श्रेष्ठ हैं, कठिन है। यही नहीं, आधुनिक युग प्रगति ने यह तो हमें निश्चय करा ही दिया है कि सभ्यता शीघ्रता से प्रगति की ओर बढ़ रही है किन्तु संस्कृति के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता है। सभ्यता को लेकर दौड़ की जा सकती है किन्तु सांस्कृतिक दौड़ नहीं लगाई जा

सकती है। सभ्यता का लाभ तो प्रायः सब ही व्यक्ति उठा सकते हैं किन्तु संस्कृति का उपयोग उतने व्यापक रूप में नहीं किया जा सकता है। यहां तक कि सांस्कृतिक उत्कृष्ट वस्तुओं का आनन्द भी प्रायः सब ही व्यक्ति एक सा नहीं उठा सकते हैं। सभ्यता तो दूसरे देशों से सीखी और ली जा सकती है किन्तु संस्कृति का आदान-प्रदान न तो उतना सरल ही है और न सम्भव ही। दोनों व्यवस्थाओं में घना अन्तर होते हुए भी दोनों परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं। यहां तक कि किसी समूह अथवा समाज की संस्कृति का उस देश की सभ्यता और तत्सम्बन्धी आविष्कारों पर भी गहरा प्रभाव पड़ता है। यह हो सकता है कि किसी वस्तु विशेष अथवा प्रक्रिया विशेष में हमें संस्कृति अथवा सभ्यता की ओर अधिक झुकाव दिखाई दे किन्तु उसके साथ ही साथ भले ही कम झुकाव हो हमें दूसरा पक्ष भी दिखाई अवश्य देता है अतः यह तो निश्चित ही है कि जीवन के दोनों ही पक्ष साथ-साथ किसी न किसी मात्रा में अवश्य चलते हैं। यही नहीं, एक ही वस्तु एक ही समय में विभिन्न व्यक्तियों को उनकी रुचि के अनुसार सांस्कृतिक अथवा उपयोगी भी प्रतीत हो सकती है किन्तु यह तो बात ही दूसरी है। रुचियों की विविधता के अतिरिक्त यह भी तो विचारणीय है कि किसी एक सीमा तक मानव को सांस्कृतिक विकास की ओर बढ़ते हुए भी भौतिक विकासों द्वारा सहायता मिलती है। आज दिन भी वैज्ञानिक सभ्यता की देन रेडियो, अधिकाधिक संख्या में छपते हुए समाचार पत्र, पुस्तकें, माईक्रोफोन आदि भी तो सांस्कृतिक विचारों के प्रसार में सहायक होते ही हैं। दूसरी ओर यदि विचारों का विकास ही न हो, भौतिक विचार धाराएँ जन्म ही न लें तो इन सब की उपयोगिता ही समाप्त हो जाए अतः वैज्ञानिक आविष्कारों द्वारा प्राप्त ये साधन तो सांस्कृतिक प्रचार और प्रसार के लिए माध्यम का कार्य करते हैं। सांस्कृतिक व्यवस्था मानव को इस प्रकार के आविष्कारों की ओर प्रेरित करने अथवा न करने के लिए भी एक कारण होती है और दूसरी ओर जैसा कि हम देख ही चुके हैं कि समाज की तत्कालीन सभ्यता सांस्कृतिक प्रगति की ओर बढ़ने में सहायक होती है अतः दोनों व्यवस्थाओं का परस्पर अन्योन्याश्रय का सम्बन्ध तो होता ही है। यह भी विचारणीय प्रश्न है कि संस्कृति को किस श्रेणी अथवा प्रकार की सभ्यता की सहायता की अत्यधिक आवश्यकता होती है। संस्कृति को अध्ययन सम्बन्धी सुविधा के लिए दो भागों में विभाजित किया जा सकता है अमर संस्कृति तो देश, काल आदि के बन्धनों से कुछ ऊपर ही रहती है यद्यपि वह भी बाता-

वरण के प्रभावों से सर्वथा शून्य होती हो, सम्भवतः ऐसी बात नहीं है और वातावरण का सभ्यता से घनिष्ठ सम्बन्ध तो होता ही है। वस्तुतः सभ्यता वातावरण ही तो बनाती है। फिर भी इस प्रकार की संस्कृति सभ्यता से उतनी अधिक प्रभावित नहीं होती है जितनी कि तत्कालीन संस्कृति। अमर साहित्य, अमर कला, अमर संगीत, अमर दार्शनिक विचारों, अमर नैतिक तत्वों एवं सत्य का जो स्वरूप मध्यकालीन योरुप में था, वही आज भी है और मान्य है। ऋग्वैदिक काल में जिन तत्त्वों की खोज हुई थी, मानव ने जिस सत्य के अपने अन्तर में दर्शन किए थे वे आज भी उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं जितने कि उस दिन थे। गीता में किया गया नैतिक पथप्रदर्शन मानव के लिए जितना महाभारत काल में उपयोगी था उतना ही आज भी उपयोगी एवं महत्वपूर्ण है। तत्कालीन संस्कृति पर सभ्यता एवं वातावरण का कुछ अधिक ही प्रभाव पड़ता है। विद्युत युग के वातावरण में उत्पन्न सांस्कृतिक तथ्य, यह तो स्वभाविक ही है कि पाषाण युग के सांस्कृतिक तथ्यों से भिन्न हों किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि उन दोनों के भीतर कहीं किसी भी रूप में समता न हो क्योंकि दोनों का ही आधार कोई एक सत्य तो होगा ही, भले ही वह एक में दूसरे की अपेक्षा अधिक अविकसित रूप में वर्तमान हो अतः यह तो कहा ही जा सकता है कि सामाजिक ढांचे का आधार सामाजिक संस्थाएं, दो प्रकार की व्यवस्थाओं के साथ चलती हैं और ये दोनों व्यवस्थाएं किसी एक सीमा तक अन्योन्याश्रित हैं तथा एक दूसरे की पूरक भी हैं।

अध्याय ९

सामाजिक परिवर्तन

समाज एक प्रक्रिया है सदा सर्वदा समाज और सामाजिक जीवन में परिवर्तन होते रहे है और होते रहेंगे। एक हजार वर्ष पूर्व का समाज आज के समाज से कुछ इतना अधिक भिन्न था कि यदि आज हमें उस समाज में ले जाकर खड़ा कर दिया जाए तो हम वहां कुछ भी पहचान न पाए। इसी प्रकार आज से एक हजार वर्ष के बाद समाज की रूपरेखा इतना अधिक परिवर्तित हो जायगी कि आज उसके विषय में किसी भी प्रकार की कल्पना कर पाना कठिन ही नहीं वरन असम्भव है। फिर भी सदा सर्वदा इस प्रकार की भविष्य सम्बन्धी कल्पनाएं की जाती रही है यद्यपि वे ठीक तो कभी भी नहीं हो पाई है। इसका कारण यह है कि समाज में होने वाले परिवर्तनों की गति सदा सर्वदा बहुत मंद रही है। एक और कारण यह भी है कि प्रकृति में होनेवाले परिवर्तन मानव जीवन में होने वाले परिवर्तनों की अपेक्षा कहीं अधिक समय लेते है और मानव जीवन भी कुछ अपेक्षाकृत इतना छोटा है कि उसमें परिवर्तनों का शीघ्रातिशीघ्र होना सम्भव भी है। यही नहीं प्रायः अन्य सब ही वस्तुओं की अपेक्षा मानव समाज का ढांचा अधिक शीघ्रता से परिवर्तित होता रहता है। यही कारण है कि अन्य सब ही विज्ञानों की अपेक्षा समाज शास्त्र का धरातल, उसकी पृष्ठभूमिका अधिक शीघ्रता से परिवर्तित होती रहती है। हम अपने ही देश में अपने ही जीवन काल में दिखाई पड़ने वाले सामाजिक परिवर्तनों को देख कर ही इस कथन की सत्यता का अनुमान लगा सकते है। किन्तु इसी कारण से सामाजिक प्रगति की सीमा और उसके स्वरूप के विषय में किसी भी प्रकार की भविष्य से सम्बन्धित अनुमानित घोषणा नहीं कर पाते

हैं। सामाजिक प्रगति के भविष्य के सम्बन्ध में अनुमानित घोषणा न कर पाने का प्रमुख कारण यह है कि समाज काल के साथ-साथ निर्मित होता जाता है। यह कोई स्थिर वस्तु भी नहीं है और व्यक्तित्व भी नहीं है, यह तो एक प्रगति ही है। यह एक प्रक्रिया है किसी प्रक्रिया का स्थायी परिणाम नहीं अतः इसके सम्बन्ध में तो यह भी कहा जा सकता है कि यह एक ऐसी वस्तु है जिसका कि अस्तित्व तत्सम्बन्धी प्रक्रियाओं में निहित है। ज्योंही प्रक्रिया समाप्त हुई उसका फल भी अन्तर्ध्यान हो जाता है अतः समाज तो वह प्रक्रिया है जो कि चलती रहती है और उसके गतिशील होने के कारण ही समाज का अस्तित्व है। उससे पृथक करके समाज को न तो देखा ही जा सकता है और न अध्ययन का विषय ही बनाया जा सकता है। कवि कविता की रचना करता है। रचना तो एक प्रक्रिया है। उसके समाप्त हो जाने पर भी कविता तो बनी ही रहती है। उसे युगों तक जीवित रखा जा सकता है और युग युगान्तर तक मानव उस कविता का आनन्द उठा सकते हैं, उससे सुखानुभूति प्राप्त कर सकते हैं किन्तु जिस प्रक्रिया द्वारा उसकी उत्पत्ति हुई है उसे जीवित नहीं रखा जा सकता है। कविता संस्कृति का अंश बन जाती है किन्तु वह प्रक्रिया ही तो सामाजिक ढाँचा बनाती है, समाज है। प्रथाओं का, परम्पराओं का अत्यधिक प्रभाव मानव जीवन पर होता है किन्तु तब ही तक जब तक कि मानव उनका पालन करता रहे, उन्हें मान्यता देता रहा। ज्योंही समाज के सदस्यों ने उन प्रथाओं अथवा परम्पराओं को छोड़ दिया विश्व ब्रह्माण्ड में कहीं उनका अस्तित्व खोजने पर भी मिल नहीं पायेगा। उन्हें पुरातन युग की स्मृति की भांति किसी भी उपाय से जीवित नहीं रखा जा सकता है और यहीं पर उनका अन्य वस्तुओं से अन्तर है किन्तु सभ्यता और संस्कृति दोनों की अवस्था इस दिशा में समाज से भिन्न है। सभ्यता और संस्कृति के चिह्न बने रहते हैं। यहाँ तक कि यदि वे उपयोग में न भी लाए जाएँ तो भी उनका अस्तित्व एकबारगी नष्ट नहीं हो जाता है और वे एक सभ्यता विशेष अथवा संस्कृति विशेष के स्मृति चिह्नों की भांति जीवित रहते है किन्तु समाज और सामाजिक ढांचा तो इन दोनों के लिए एक ऐसे धरातल का कार्य करता है जिसे कि 'वर्तमान सम्बन्धों की एक सतत परिवर्तित होती रहने वाली साम्यावस्था' (a changing equilibrium of present relationships) ही कहा जा सकता है। अब जब कि समाज का मूल भूत स्वरूप ही सभ्यता और संस्कृति से

भिन्न है तो यह स्वभाविक ही है कि सामाजिक परिवर्तनों का स्वरूप भी सभ्यता से सम्बन्धित तथा सांस्कृतिक परिवर्तनों से भिन्न हो। हमारा प्रत्यक्ष सम्बन्ध तो सामाजिक सम्बन्धों से ही है जो कि सतत प्रगतिशील हैं और जिन्हें किसी भी काल विशेष में देखा, जाना, सुना, पहचाना तो जा सकता है किन्तु जिनकी प्रगति को न तो रोका ही जा सकता है और न पकड़ कर रखा ही जा सकता है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि सामाजिक अवस्थाएँ क्षणिक परिवर्तनों का विषय है। यदि ऐसा होता तो मानव का जीवन भी कठिन हो जाता। यद्यपि सामाजिक परिवर्तन अन्य प्राकृतिक परिवर्तनों को देखते हुए अपेक्षाकृत शीघ्र होते हैं किन्तु इतने शीघ्र भी नहीं होते हैं कि मानव उन्हीं में उलझ जाएं। प्रायः उसमें जीवनयापन करनेवाले मानव को यह अनुभव तो होता ही है कि समाज परिवर्तनों में से होकर चलता है फिर भी वह निरन्तर बना ही रहता है और इस प्रकार के मानव-अनुभव का कारण यह है कि सामाजिक मानव प्राणियों की रुचियां, उनके दृष्टिकोण इस निरन्तर परिवर्तित होने वाले समाज में भी बने रहते हैं अतः परिवर्तनों के मध्य से चलते हुए भी सामाजिक ढांचा इतने धीरे और इस ढंग से परिवर्तित होता है कि मानव अपनी बनी रहनेवाली रुचियों और दृष्टिकोणों के आधार पर उसे पहचान पाता है।

सामाजिक परिवर्तन का होना अत्यावश्यक है क्योंकि मानव जीवन की परिस्थितियां और अवस्थाएं भी तो परिवर्तित होती रहती हैं। यदि मानव जीवन स्थायी होता तो सम्भवतः समाज और सामाजिक ढांचा भी स्थायी होता किन्तु ऐसा होना किस प्रकार सम्भव होना यह कल्पना से भी परे की बात है। यह कहना भी कठिन है कि प्रागैतिहासिक समाज भी प्रगतिशील नहीं है क्योंकि यदि ऐसा होता तो सम्भवतः आज का प्रगतिशील समाज भी दिखाई न देता अतः यह तो निश्चित ही है कि समाज एक प्रक्रिया है, प्रगतिशील है, काल में निरन्तर अग्रसर होता रहता है। अब देखना यह है कि इस प्रगतिशील एवं परिवर्तित होते रहनेवाले समाज में मानव अपने सम्बन्ध एक दूसरे के साथ कैसे स्थापित करते रहते हैं तथा वे कौन सी सामाजिक प्रक्रियाएं हैं जिनमें से होकर सब ही सामाजिक संस्थाओं एवं सामाजिक संगठनों को जाना पड़ता है तथा वे कौन से परिवर्तन हैं जिनका सामना सब ही सामाजिक ढांचे के तत्वों तथा

सामाजिक शक्तियों को करना ही पड़ता है। इसके अतिरिक्त यह भी देखना आवश्यक है कि वातावरण अथवा उन परिस्थितियों में होने वाले परिवर्तन जो कि सामाजिक व्यवस्था एवं ढांचे का आधार हैं, कहाँ तक सामाजिक व्यवस्था को प्रभावित करते हैं।

सामाजिक परिवर्तन के कुछ स्थायी तत्व—मानव के वातावरण में होने वाले प्रत्येक परिवर्तन का अर्थ मानव के लिये इस दृष्टि से भी विशेष महत्वपूर्ण होता है कि यह उसके अन्य मानवों के साथ स्थापित सम्बन्धों को भी प्रभावित करता है। जिस युग में विद्युत से चलनेवाले पंखे का कहीं पता भी नहीं था धनी व्यक्ति किसी एक मनुष्य को पंखा खींचने के लिये नौकर रखते थे। अन्धे अथवा अत्यधिक वृद्ध अथवा बालक भी इस काम के लिये रखे जा सकते थे। बिजली के पंखे का आविष्कार होने से मानव के वातावरण में परिवर्तन हुआ किन्तु उसका केवल इतना ही अर्थ नहीं था। उसके फलस्वरूप अनेकों उन व्यक्तियों को भी तो बेकार होना पड़ा जो कि पंखा कुली का काम करके जीवन निर्वाह करते थे अतः मानव श्रम विभाजन पर भी वातावरण में होने वाले इस परिवर्तन का प्रभाव पड़ा। यह तो हम देख ही चुके हैं कि वातावरण में होने वाले परिवर्तन मानव के अन्तःसम्बन्धों को भी प्रभावित करते हैं अर्थात् सभ्यता मानव के ऊपर कुछ सामाजिक सम्बन्धों को लादती है और दूसरी ओर कुछ ऐसे भी तत्व होते हैं जिन्हें कि मानव अपने वातावरण के ऊपर लागू करता है किन्तु कुछ सामाजिक परिवर्तन ऐसे भी होते हैं जो कि मानव के वातावरण में होने वाले परिवर्तनों के परिणाम नहीं होते हैं अथवा सभ्यता से सम्बन्धित परिवर्तनों के परिणाम नहीं होते हैं। प्रत्येक समूह में कुछ न कुछ ऐसे सांस्कृतिक तत्त्व भी तो होते हैं जो कि निरन्तर समूह को अपने बाह्य वातावरण और आन्तरिक मांगों के साथ समीकरण स्थापित करने में सहायता देते रहते हैं तथा सभ्यता के विभिन्न अंग प्रत्यंगों को निमन्त्रित करने की दिशा में प्रयत्नशील रहते हैं। प्रत्येक समाज में कुछ सामाजिक परिवर्तन तो सदा चलते रहते हैं। इन्हीं में बाह्य वातावरण, जीवीय अवस्थाएँ, सभ्यता सम्बन्धी व्यवस्था और सांस्कृतिक व्यवस्था में होने वाले परिवर्तन सम्मिलित किये जा सकते हैं। इन्हीं के आधार पर सामाजिक परिवर्तनों का अध्ययन किया जा सकता है, उन्हें समझा जा सकता है।

बाह्य अथवा भौतिक वातावरण में कुछ न कुछ परिवर्तन तो सदा होते ही रहते है। कुछ भौगोलिक परिवर्तन तो धीरे धीरे और इस ढङ्ग से सदा ही होते रहते हैं कि हम उन्हें सरलता से जान भी नहीं पाते हैं। आँधी, तूफान, भूचाल, नदियों का मार्ग परिवर्तन, पर्वतों का स्थान परिवर्तन आदि के अतिरिक्त भी ऋतु परिवर्तन और इसी प्रकार के अन्य भौतिक एव भौगोलिक परिवर्तन सदा सर्वदा होते रहते है। अपनी सुविधा और आवश्यकता के अनुसार मानव ने उन परिवर्तनों के प्रभावों के विरुद्ध लड़ने के उपाय भी खोज लिये हैं। वैज्ञानिक आविष्कारों ने मानव को अपने भौतिक बाह्य वातावरण में होने वाले परिवर्तनों के प्रभावों को नियन्त्रित करना सिखा दिया है और यह उसकी प्रकृति पर विजय है। यही नहीं, पृथ्वी के गर्भ से मानव ने अपने उपयोग की वस्तुएं निकालना और उनका विभिन्न प्रकार से उपयोग करना भी सीख ही लिया है।

दूसरे प्रकार के परिवर्तन जीव सम्बन्धी होते हैं। सामाजिक परिवर्तनों का आधार जन संख्या का घटना, बढ़ना आदि भी होते हैं। इस प्रकार के जीवीय परिवर्तनों का महत्व अन्य तत्वों के साथ मिलकर अपना प्रभाव डालने में ही होता है। जन संख्या को सन्तुलित रखने के लिये जिन अवस्थाओं की कुछ वर्ष पूर्व आवश्यकता होती थी उनमें भी नवीन वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण परिवर्तन हुए हैं। पुरातन काल में जन संख्या ठीक बनाये रखने के लिये अधिक बालकों के जन्म की आवश्यकता पड़ती थी किन्तु अब एक ओर जन्म और दूसरी ओर मृत्यु पर किये जाने वाले नियन्त्रण के नवीन उपायों ने अवस्था में परिवर्तन कर दिया है। फलस्वरूप जन्म की संख्या अपेक्षाकृत कुछ न्यून ही हो गई है।

भौतिक जीवन की सुविधाएँ भी दिन दिन अधिकाधिक होती ही जाती है अर्थात उस दिशा में भी सामाजिक जीवन में परिवर्तन होते ही हैं। भौतिक वातावरण से सम्बन्धित परिवर्तनों को लाने में मानव का यद्यपि अपना हाथ तो बिलकुल ही नहीं होता है किन्तु वह उन्हें किसी एक सीमा तक नियन्त्रित करने के उपाय अवश्य कर पाता है। जीवीय परिवर्तनों को भी वह किसी एक सीमा तक ही नियन्त्रित कर पाता है किन्तु भौतिक सुविधाओं का जन्म तो उसके अपने प्रयत्नों के फलस्वरूप ही होता है और इस प्रकार की सुविधाओं का उपयोग कर पाने के लिये उसे सामाजिक जीवन की रूप-

रेखा में बहुत कुछ परिवर्तन करना पड़ता है। मोटरकार का आविष्कार होने से पूर्व मानव का सामाजिक जीवन यातायात के अन्य साधनों जैसे घोड़ा गाड़ी आदि को लेकर ही चलता था। मोटरकार का आविष्कार मानव जीवन के यातायात पक्ष में एक सुविधा लेकर आया किन्तु उस सुविधा का लाभ उठाने के लिये मानव को अपने उस सुविधा प्राप्ति के पूर्व के स्वभाव को भी परिवर्तित करना पड़ा। इसी प्रकार जीवन के अन्य सब ही क्षेत्रों में नवीन आविष्कारों ने मानव को अपने सामाजिक जीवन में परिवर्तन करने की प्रेरणा दी। जिस युग में घोड़ा गाड़ी से ही यात्रा की जाती थी उस युग में साधारणतया लोग यात्रा तब ही करते होंगे जब कि उसकी घनी आवश्यकता होती होगी क्योंकि घोड़ा गाड़ी द्वारा यात्रा करने में समय भी अधिक लगता था और भय भी अधिक होता था किन्तु मोटरकार का आविष्कार हो जाने पर लोगों की कम यात्रा करने की आदत में भी परिवर्तन हुआ होगा। आवश्यकता के अतिरिक्त केवल मनोरंजन के ही लिये यात्रा करना भी मानव के सामाजिक जीवन की रीति नीति में सम्मिलित हो गया होगा अतः नवीन आविष्कारों एवं नवजन्य सुविधाओं को जीवन में ग्रहण कर पाने के लिये मानव अपने स्वभाव में परिवर्तन करता है और स्वभाव में परिवर्तन न हो जाने के कारण उत्तरोत्तर नवीन आवश्यकताएँ बढ़ती जाती हैं। इसी प्रकार इंजिन, रेडियो, टेलीग्राफ, टेलीफोन आदि ने सामाजिक जीवन में परिवर्तन किये हैं। यद्यपि इनके प्रभाव भी देशकाल आदि के अनुसार विभिन्न जाति एवं वर्गों पर विभिन्न प्रकार के पड़े किन्तु सब ही समूहों एवं समाजों पर इन आविष्कारों ने प्रभाव डाले। किस समूह पर कैसा और कितना प्रभाव पड़ा यह जान पाने के लिये हमें उस समूह की मूल्यांकन योजना (Scheme of Values) पर ध्यान देना होगा। समाचार पत्र किसी भी उदार समूह अथवा समाज के लिये विश्व के विभिन्न देशों में सांस्कृतिक एकता स्थापित करने का साधन हो सकता है किन्तु वही किसी अन्य अनुदार समूह अथवा समाज में, जातियों में परस्पर भय और एक दूसरे के प्रति अविश्वास उत्पन्न करने का भी साधन हो सकता है।

यही नहीं, नवीन आविष्कार मानव के अन्तः सम्बन्धों में भी परिवर्तन लाया करते हैं। उत्पादन की प्रक्रियाओं में होने वाला प्रत्येक परिवर्तन जो कि नवीन आविष्कारों का ही फल है मानव के

अन्तःसम्बन्धों में भी परिवर्तन ला देता है। पास ही पास बसने वाले सैकड़ों जुलाहों का वस्त्र बनाना समाज की एक अवस्था और मानव के एक प्रकार के अन्तःसम्बन्धों को दर्शाता है और यन्त्रों द्वारा उससे सैकड़ों गुणा अधिक कार्य उतने ही मनुष्यों द्वारा बड़ी भारी कपड़ा मिल में किया जाना मानव समाज की एक अन्य ही अवस्था और अन्तःसम्बन्धों की व्यवस्था का परिचायक होता है। वस्तुतः मानव की प्रकृति पर विजय प्राप्त करने की इच्छा उसकी अपनी ही प्रकृति को अभिव्यक्त करने की इच्छा के द्वारा संचालित होती है अतः मुख्यतः तो मानव अपनी ही अभिव्यक्ति चाहता है।

पुरातन तथा आधुनिक सभ्य समाज में एक और भी मूलभूत अन्तर है। पुरातन समाज में जीवन की सब ही सुविधाएँ किसी न किसी रूप में दैविक देन अथवा मानवेतर समझी जाती थी अतः मानव साधारणतया उनके विकास करने की बात सोच ही नहीं पाता था किन्तु आधुनिक सभ्य समाज में जीवन की सब ही सुविधाएं केवल मात्र साधन समझी जाती है इसीलिये उनके विकास के लिये मानव सदा सर्वदा प्रयत्नशील रहता है। उपयोगी होने के नाते तथा साधन होने के कारण इनमें निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं। मानव उनके साथ विभिन्न परीक्षण आदि भी करता रहता है ताकि उनका उत्तरोत्तर विकास करता जाए अतः भौतिक तथा सभ्यता सम्बन्धी सुविधाएं सांस्कृतिक सीमाओं से भी मुक्त होकर, प्रगतिशील होकर उन्नति पथ पर बढ़ती ही जाती हैं।

यद्यपि सांस्कृतिक व्यवस्था में अपेक्षाकृत कम शीघ्रता से प्रगति होती है फिर भी मानव के मूल्यांकन का मापदण्ड बाह्य परिवर्तनों और भौतिक सभ्यता सम्बन्धी परिवर्तनों के प्रभाव के फल स्वरूप ही परिवर्तित होते रहते हैं और ये मूल्यांकन निजी रूप से महत्वपूर्ण शक्तियां हैं तथा सामाजिक परिवर्तनों पर इनका प्रभाव होता है। ये उनका संचालन भी करती हैं। संस्कृति अपने आप में भी परिवर्तनशील और प्रगतिशील है। मेकआइवर और पेज के मतानुसार संस्कृति मूल्यवान भी है और अभिव्यक्त भी। मूल्यांकन भी मानव के अनुभवों में परिवर्तन होने के साथ ही साथ परिवर्तित होते जाते हैं और यह भी आवश्यक नहीं है कि उन अनुभवों से मनुष्य को सन्ताप ही होता हो। सन्ताप हो अथवा न हो प्रत्येक अवस्था में मानव के मूल्यांकन मापदण्ड पर अनुभवों का प्रभाव

पड़ना ही है। यही नहीं, प्रत्येक युग के अपने अपने मूल्यांकन होते हैं और उन्हीं मूल्यांकनों के आधार पर उस युग के साहित्य संगीत आदि सांस्कृतिक तत्व निर्मित होते रहते हैं। उन्हीं के आधार पर उस युग की विचारधाराएँ भी बनती रहती हैं। और युगकालीन सामाजिक आन्दोलनों में भी युगकालीन मूल्यांकन ही प्रतिभासित होते रहते हैं। युगकालीन आधारों को लेकर सांस्कृतिक परिवर्तन होते ही रहते हैं। यही नहीं, विचारों की अभिव्यक्ति और संस्कृति के प्रकटीकरण के ढंग परिवर्तनशील ही होते हैं और उन्हीं से सम्बन्धित कुछ नियमादि भी होते हैं। अनेक नये ढंगों में से कोई भी एक ढंग विशेष ध्येय को प्राप्त करने योग्य पूर्ण रूपेण नहीं होता है और यदि किसी काल विशेष में मानवों को वह सन्तुष्ट कर भी पाता है तो भी सदा सर्वदा ऐसा नहीं कर पाता है। वस्तुतः एक समय ऐसा अवश्य आता है जब कि मानव उसमें सन्तुष्ट न होकर नवीन की खोज करने लगता है। आधुनिक जटिल समुदायों में तो सांस्कृतिक रुचियों की विविधता होती ही है और इसी कारण विभिन्न मूल्यांकन के मापदण्डों, प्रेरणाओं तथा संस्कृति के अन्य विभिन्न अंगों तथा परिवारों, श्रेणियों, व्यावसायिक समूहों, धार्मिक समूहों आदि में संघर्ष चलते रहते हैं। इनमें से प्रत्येक दूसरे पर प्रभाव डालने तथा एक दूसरे का नियन्त्रण आदि करने रहते हैं। इनमें से प्रायः सब ही तत्व परिवर्तित परिस्थितियों में अपने अपने महत्व को बढ़ाने का प्रयत्न करते रहते हैं और किसी भी प्रकार का हो, वातावरण में होनेवाला प्रत्येक परिवर्तन चाहे वह अचानक हो और चाहे प्रयत्न करके लाया हुआ, समाज में रहने वाले सब ही समूहों के अन्तःसम्बन्धों में कुछ न कुछ परिवर्तन तो ला ही देता है। उदाहरणार्थ—किसी युग विशेष में किसी समूह विशेष में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा लोकतन्त्र के आदर्शों का महत्व बढ़ जाता है और ऐसा होने से उस समुदाय के प्रायः सब ही समूहों पर किसी न किसी सीमा तक इन्हीं विचारों का प्रभाव पड़ने लगता है किन्तु उसके स्थान पर यदि किसी दूसरे युग में अनुशासन और केन्द्रीय व्यवस्था सम्बन्धी मान्यताओं एवं धारणाओं का महत्व अधिक बढ़ जायेगा तो उस युग में सब ही संस्थाओं, समूहों आदि से व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की भावनाओं का प्रभाव कम होने लगेगा और उसका स्थान अनुशासन सम्बन्धी भावनाएँ एवं धारणाएँ लेने

लगेंगी। इसी प्रकार विभिन्न कालों में विभिन्न भावनाएँ एवं धारणाएं महत्व प्राप्त करती रहती हैं और उन्हीं का प्रभाव उस युग की सब ही संस्थाओं, समूहों आदि पर पड़ता रहता है। यद्यपि ये परिवर्तन शील मूल्यांकन सभ्यता सम्बन्धी आविष्कारों आदि के द्वारा प्रभावित होते रहते हैं किन्तु इनका प्रभाव भी तो बाह्य जीवन एवं वातावरण पर पड़ता ही है।

सामाजिक परिवर्तन के प्रतिमान—यद्यपि सामाजिक परिवर्तनों के विषय में न तो कुछ अनुमान ही किया जा सकता है और न कोई भविष्य सम्बन्धी वाणी ही सरलतापूर्वक की जा सकती है किन्तु फिर भी इन परिवर्तनों में कुछ न कुछ व्यवस्था एवं नियम तो देखे ही जा सकते हैं। परिवर्तनों को जिन ढंगों के अन्तर्गत रख कर देखा जा सकता है उनमें से कुछ तो ये हैं। एक प्रकार के परिवर्तन और प्रगति तो इस प्रकार होती है जिसमें कि जान पड़ता है कि परिवर्तन अचानक ही हो गया जैसे कि किसी भी अनुसन्धान अथवा आविष्कार के सम्बन्ध में देखा जा सकता है। यह तो ठीक है कि उसका उद्गम तो अचानक हुआ सा ही जान पड़ता है किन्तु सत्य केवल इतना मात्र ही नहीं है। वस्तुतः अनुसन्धान अचानक नहीं हो जाता है वरन् उन अनुसन्धान की घोषणा होने से पूर्व अनुसन्धानकर्ता बहुत सी ऐसी अवस्थाओं से होकर निकल चुका होता है जो कि उस अनुसन्धान की तैयारी सी मानी जा सकती हैं। इसका यह अर्थ हुआ कि वैज्ञानिक शोध कार्य एक बड़ी सी तैयारी के पश्चात् सम्पन्न होता है और यदि सम्पन्न हो जाए तो वह उसी समय तक विकास एवं उन्नति की ओर बढ़ता जाता है जब तक कि वह किसी एक ऐसी स्थिति तक नहीं पहुँच जाता है जहाँ से कि दूसरे ऐसे ही अनुसन्धान की नींव पड़ती हो। अतः प्रायः एक प्रतिमान वह होता है जिसमें कि सभ्यता सम्बन्धी आविष्कार तथा वैज्ञानिक उन्नति साथ ही साथ चलती हो किन्तु अधिक विस्तार पाने के पूर्व दोनों में कहीं एक स्थान पर सामञ्जस्य और उपयोगिता की सीमा स्थापित हो पाई हो। प्रायः इस प्रकार के प्रतिमान अनुसन्धान और वैज्ञानिक खोजों आदि में ही देखे जाते हैं।

दूसरे प्रकार के प्रतिमान वे होते हैं जिनमें कि जनसंख्या के आन्दोलन और आर्थिक कार्यादि यूँ तो उन्नति की दिशा में बढ़ते जाते हैं किन्तु उनकी बढ़ने की दिशा सदा आगे की ही ओर हो ऐसी बात नहीं

होती है। कभी कभी वे पीछे की ओर भी लौटते हुए जान पड़ते हैं। जनसंख्या सम्बन्धी तत्त्वों को दृष्टि में रखते हुए आर्थिक तत्त्वों को इसी प्रकार के सामाजिक परिवर्त्तनों के प्रतिमान के अन्तर्गत रखा जा सकता है। नगर बढ़ते हैं, बढ़ते चले जाते हैं और फिर मिटते हैं। व्यावसायिक कार्य आरम्भ होते हैं, उन्नत होते हैं और नष्ट भी हो जाते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बढ़ते भी हैं और गिरते भी हैं। तीसरे प्रकार के प्रतिमान सांस्कृतिक आन्दोलनों और प्रचलन सम्बन्धी परिवर्तनों में पाए जाते हैं। इन परिवर्तनों में उन्नति और, अवनति, आगे बढ़ना और पीछे हटना साथ ही साथ चलते रहते हैं[3]।

भले ही परिवर्तनों को किसी भी प्रतिमान के अन्तर्गत रखने का प्रयत्न करें इतना तो सत्य ही है कि सामाजिक परिवर्तन कुछ उतने सीधे और सरल नहीं होते हैं। उनमें कुछ न कुछ जटिलता तो रहती ही है। यद्यपि उसे जटिलता अथवा परिवर्तन के आधारभूत गतिशीलता को ठीक ठीक किन्हीं नियमों, विधि विधानों, दिशा संकेतों आदि के बन्धन में बाँधा नहीं जा सकता है। यूँ इन्हें अध्ययन की सुविधा के लिए प्रतिमानों के रूप में देखा तो जा सकता है किन्तु नियमों में बाधा नहीं जा सकता है।

परिवर्तन के परिचायक—सामाजिक परिवर्तन में जीवन और प्रगति के चिह्न और तत्सम्बन्धी विचारों का आभास तो उसी दशा में मिलता है जब कि उन्हें प्रक्रिया के रूप में समझा जाता है। प्रक्रिया वह निरन्तर चलता रहनेवाला सामाजिक परिवर्तन है जो कि वर्तमान सामाजिक शक्तियों के द्वारा किसी व्यवस्था विशेष के भीतर ही संचालित होता है। सामूहिक प्रक्रिया वह प्रक्रिया है जो कि एक विशेष ढंग से एक ही समूह के सदस्यों में अन्तः सम्बन्ध एक बार स्थापित हो चुकने के पश्चात उन्हें विशेष स्वरूप दिलाती है। समाजशास्त्रियों का सम्बन्ध इसी प्रकार की सामाजिक प्रक्रियाओं से होता है। इन प्रक्रियाओं में स्थान प्राप्ति, संगठन, विगठन आदि को भी सम्मिलित किया जा सकता है। किसी भी प्रक्रिया का अध्ययन करते हुए किसी भी वस्तु की उसके अन्तर्गत एक अवस्था से दूसरी अवस्था तक होने वाली प्रगति को सब ही दशाओं और गतियों पर ध्यान देना होता है। यद्यपि यह भी आवश्यक नहीं है कि उन विभिन्न दशाओं में परस्पर कोई सम्बन्ध हो अथवा उनकी प्रगति की कोई दिशा विशेष हो। प्रक्रिया का अर्थ प्रगति

नहीं है। वह तो एक गति मात्र है जो कि धीरे धीरे एक एक पग करके चलती है तथा एक स्तर अथवा अवस्था को दूसरे से मिलाती हुई एक पूर्ण सा बनाती चलती है। इस प्रकार से यह एक विकासवादी प्रगति की भाँति सामाजिक परिवर्तन को सम्भव करता है। इसी को प्रक्रिया कहा जाता है। प्रक्रिया परिवर्तन की द्योतक होती है। यही नहीं, विकास अथवा उन्नति भी सामाजिक परिवर्तन की परिचायक होती है। सामाजिक परिवर्तन में केवल मात्र गतिशीलता अथवा अस्तित्व का बना रहना (Continuity) ही तो नहीं होती है वरन परिवर्तन से सम्बन्धित दिशा संकेत भी होता है और दिशा संकेत यदि उन्नति की ओर हो तो उसे वैज्ञानिक दृष्टि से विकास कहा जा सकता है। विकास का अर्थ केवल मात्र 'बढ़ने' से कुछ अधिक ही होता है। परिमाण घना होना अथवा केवल मात्र बढ़ना दिशा संकेत नहीं करता। ऐसी अवस्था में विकास से तात्पर्य केवल मात्र परिमाण की गम्भीरता से ही नहीं लिया जाता है वरन् अग्रगति अथवा विकसित होने से लिया जाता है।

'उन्नति' भी किसी न किसी प्रकार के सामाजिक परिवर्तन का ही परिचय देती है। उन्नति अथवा अवनति से तात्पर्य श्रेय अथवा अश्रेय, उचित अथवा अनुचित से नहीं होता है। उन्नति और विकास में भी भेद होता है। विकास तो किसी तत्त्व में विभिन्न अंगों की अग्रगति अथवा प्रगति मात्र को ही कहते हैं। उसमें उस तत्त्व अथवा वस्तु का विकसित होना, विकास प्राप्त होना जाना जा सकता है। उन्नति केवल मात्र प्रगति की दिशा का ही परिचय नहीं देती है वरन यह भी दिखाती है कि प्रगति किस दिशा विशेष की ओर हो रही है अथवा किसी विशेष लक्ष्य को लेकर उसी की प्राप्ति की ओर चला जा रहा है और वह ध्येय अथवा लक्ष्य विशेष किसी आदर्श के द्वारा ही निश्चित किया गया है। विकास में जो शक्तियाँ कार्य कर रही होती हैं उन्हीं की गतिविधि के द्वारा प्रगति का होना निश्चित किया जाता है किन्तु उन्नति का स्पष्ट अर्थ उद्देश्य-प्राप्ति की दिशा में बढ़ना होता है, लक्ष्य प्राप्ति की ओर गतिशील होना होता है। और इस अवस्था में लक्ष्य, ध्येय अथवा उद्देश्य भी कोई कार्य-कारण के अनिवार्य सम्बन्ध से नहीं, वरन् मूल्यांकन निर्णय के आधार पर निश्चित किया जाता है। यह सम्भव है कि विकासवादी प्रक्रिया भी उसी ध्येय तक ले जा रही हो जिस तक कि हम पहुँचना चाहते हैं किन्तु यह न तो आवश्यक

ही है और न इसका कोई तार्किक अथवा विशेष कारण ही होता है। इस प्रकार के ध्येय अथवा उद्देश्य और उसके आधार स्वरूप मूल्यांकन सिद्धान्त भी विभिन्न व्यक्तियों और विभिन्न समूहों के साथ साथ परिवर्तित होते रहते हैं किन्तु विकासवादी प्रक्रियाएं बाहरी वातावरण आदि में प्राप्त होती हैं अतः यूँ कहना चाहिए कि वातावरण में रहती हैं। केवल उनको खोज पाना आवश्यक होता है और यदि इन्हीं के द्वारा हमारे मूल्यांकन के मानसिक स्तर की माँग भी पूरी हो सके तो और भी सुन्दर हो और उस दशा में फिर वह हमारे लिए विकास ही न रह कर उन्नति भी हो जायेगा।

प्रक्रिया, विकास, उन्नति आदि से समाज में होने वाले परिवर्तन का परिचय प्राप्त होता है। परिवर्तन किसी भी प्रकार का हो एक सामाजिक प्रक्रिया ही तो है और विकास तथा उन्नति प्रगति के परिचायक हैं किन्तु प्रगति के लिये भी तो वस्तु और उसकी पृष्ट भूमिका की आवश्यकता पड़ती है। यदि कोई प्रगति करता है तो जिस भी किसी वस्तु की प्रगति होती है वह किसी न किसी धरातल पर किसी पृष्ठभूमिका में तो होती ही है और उस धरातल पर तथा उस पृष्ठ भूमिका में उस वस्तु के अन्य वस्तुओं के साथ सम्बन्ध भी होते ही हैं। सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को लिए दिए वह वस्तु यदि विकास की ओर बढ़ती है अथवा उन्नति करती है तो अन्य उससे सम्बन्धित आस-पास की, वातावरण में रहनेवाली वस्तुओं पर भी तो कुछ न कुछ प्रभाव पड़ता ही है और विकास अथवा उन्नति के कारण होनेवाले उस वस्तु के विकसित अथवा उन्नत स्वरूप से अन्य वस्तुओं को भी अपना सम्बन्ध बनाए रखने के लिये समीकरण स्थापित करना पड़ता है किन्तु वैसे तब ही तो हो सकता है जबकि वे वस्तुएं उसके साथ आनुकूल्य स्थापित करें। यदि वे सब ही वस्तुएँ एक व्यापक प्रक्रिया में साथ ही साथ चल रही होती हैं तो उनके सम्बन्धों में कुछ अन्तर आने की भी सम्भावना हो सकती है जिसे समीकरण एवं आनुकूल्य स्थापित करके ही दूर किया जा सकता है।

सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाएँ—यह तो हम देख ही चुके हैं कि प्रत्येक समाज में सामाजिक परिवर्तन होते ही रहते हैं और उनमें विविधता पाई जाती है अतः यह तो स्वाभाविक ही है कि उन विभिन्न परिवर्तनों को लाने वाली सामाजिक प्रक्रियाएं भी विविध हों। ये प्रक्रियाएँ कभी-कभी साथ-साथ एक ही समय में काम करती हैं।

उदाहरणार्थ—किसी एक स्थान पर किसी एक वस्तु, व्यक्ति अथवा विचार विशेष को सत्ता बढ़ाने का अर्थ किसी दूसरी वस्तु, व्यक्ति अथवा विचार के महत्व को न्यून करना है। इसी प्रकार समाज में कहीं क्रान्ति दिखाई देती है तो कहीं किसी मामले में शान्ति स्थापित होने के लक्षण दीख पड़ते हैं। कहीं समीकरण स्थापित होता है तो कहीं संघर्ष, द्वन्द भी आरम्भ हो जाता है। कहीं समाज के सदस्य नवीन लक्ष्य की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील दिखाई देते हैं तो कहीं पुरातन की ओर लौटने का आभास भी होने लगता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ये विविध प्रक्रियाएँ परस्पर विरोधी होने पर भी एक ही समाज में कार्य करती रहती हैं अतः यह विचारणीय बात है कि इन विभिन्न परिवर्तनों और विभिन्न सामाजिक प्रक्रियों का आधार क्या कोई एक ही प्रकार का आन्दोलन होता है, जिसके द्वारा समाज को एक सम्पूर्ण के रूप में ही देखा जा सकता है। यदि समाज में परिवर्तन होते हैं तो क्या सम्पूर्ण समाज ही इन परिवर्तनों के द्वारा न केवल प्रभावित ही होता है वरन् परिवर्तित हो जाता है? सम्भवतः ऐसा नहीं होता है क्योंकि ऐसा होने पर तो समाज का पूर्वास्तित्व ही समाप्त हो जायेगा किन्तु हम तो यह भी देख चुके हैं कि समाज एक प्रक्रिया है। समाज परिवर्तनों के बीच भी चलता तो रहता ही है अतः यदि यह मान ही लिया जाय और ऐसा मानना उचित भी है कि समाज अपना निजी अस्तित्व जो कि एक प्रक्रिया के रूप में ही प्रकट होता है, बनाए रख कर भी विभिन्न प्रकार के परिवर्तनों का लक्ष्य बनता तथा उनसे प्रभावित होता है फिर भी यह एकबारगी न तो ऐसा परिवर्तन ही हो जाता है कि पहचाना न जा सके और न कुछ इसी प्रकार के परिवर्तन होते हैं कि एक समाज नष्ट हो जाये और दूसरा बने। समाज का निरन्तर बना रहनेवाला अस्तित्व उन सब परिवर्तनों को लिये दिये, अपने में स्थान देता, उनसे प्रभावित होता भी बना रहता है। तब क्या इन सामाजिक प्रक्रियाओं का कोई विशेष लक्ष्य अथवा पथ विशेष होता है अथवा ये किसी विशेष ढंग से समाज से सम्बन्धित रह कर अपना कार्य करती जाती हैं? इसी प्रश्न को इस प्रकार भी रखा जा सकता है कि वे सामाजिक प्रक्रियाएँ कौन सी और कैसी हैं जिन से सामाजिक परिवर्तनों का होना सम्भव होता है। इस प्रश्न का उत्तर विभिन्न समाज शास्त्रियों एवं विचारकों ने विभिन्न प्रकार से दिया है। उनमें से कुछ की चर्चा यहां की जायेगी।

सामाजिक परिवर्तन चक्र की भान्ति चलनेवाली प्रक्रिया— प्रायः सदा सर्वदा जगत को देखने और समझने के लिये मानव ने निजी जीवन, निजी अनुभवों को ही माप दण्ड माना है। मानव अपने जीवन में सम्बन्धित जिस सर्वाधिक सत्य तत्त्व का अनुभव करता है वह है जन्म मरण। व्यक्ति जन्म लेता है, बढ़ता पनपता है और पूर्ण यौवन प्राप्त कर चुकने पर फिर धीरे धीरे विनाश की ओर बढ़ने लगता है और अन्त में उसका शरीर, उसकी इहलोक की लीला समाप्त हो जाती है। बड़े और छोटे, महान और तुच्छ, राजा और रंक, महाबली और महा दुर्बल किसी के भी जीवन में इस अनश्वर नियम का व्यतिरेक नहीं देखा जाता है अतः मानव का इस नियम को सत्य स्वीकार कर लेना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। मानव जब कि यह विश्वास करने लगा कि सृष्टि का सबसे महान सत्य जन्म मरण चक्र ही है अर्थात उत्पत्ति, उन्नति और विनाश और तत्पश्चात फिर उत्पत्ति, यही चक्र सत्य प्रक्रिया है तो उसे यह मानते देर नहीं लगी कि एक यही नहीं सब ही सामाजिक परिवर्तन एक चक्र की भांति चलने वाली प्रक्रिया के रूप में ही पाये जाते हैं। इसी सत्य के दर्शन उसे मानव के शरीर के अंगों की कार्य प्रणाली जैसे हृदयगति श्वास प्रक्रिया से लेकर बड़ी से बड़ी घटना में होने लगे और उसने सामाजिक प्रक्रिया को चक्र की भांति कार्य करने की ही प्रणाली को सत्य मान लिया।

सामाजिक परिवर्तन-विकासवादी प्रक्रिया— प्रायः सब ही वस्तुओं का विकास होता है। सृष्टि के आदि से प्रायः सब ही वस्तुओं यहां तक कि डार्विन के मतानुसार तो जीवीय विकास भी हो रहा है अतः यह मान लेना ही उचित जान पड़ता है कि समाज में होनेवाले परिवर्तन भी समाज के विकास के ही द्योतक होते हैं। हर्बर्ट स्पेन्सर और उसके समर्थक इसी प्रकार की विचारधारा के प्रचारक एवं प्रसारक माने जा सकते हैं। विकास प्रायः उस प्रक्रिया की ओर संकेत करता है जिसके द्वारा किसी वस्तु के चरित्र के अन्तर्निहित गुणों के अथवा उन पक्षों का स्पष्टाकरण अथवा प्रकट होना सम्भव होता है जो कि उसमें पूर्व उस वस्तु के भीतर ही बीज रूप में छिपे हुए तो थे किन्तु विकसित नहीं हो पाये थे। इस मत को मान लेने पर यह तो मानना ही पड़ेगा कि समाज की आज दिन तक की कोई भी अवस्था ऐसी नहीं है जिसे कि उसकी पूर्णावस्था कहा जा सके

अतः समाज धीरे-धीरे सामाजिक परिवर्तनों के द्वारा विकसित होता जा रहा है और सामाजिक परिवर्तन उसके विकास के ही द्योतक हैं। इसका तो यही तात्पर्य होगा कि समाज जैसा कि आज दिन है अपूर्ण है किन्तु उसमें विकसित हो पाने के गुण और उसके लिए आवश्यक तत्त्व वर्तमान हैं। उसे विकसित होने के लिए उन सब ही वस्तुओं आदि को लेकर ही परिवर्तित होना पड़ता है जो कि उसके भीतर हैं और उस पर ही आश्रित हैं। ऐसी अवस्था में विकास की ओर बढ़ते हुए उन वस्तुओं को भी अपनी स्थिति परिवर्तित करते रहना पड़ता होगा क्योंकि उन वस्तुओं के लिए भी तो परिवर्तित होते हुए वातावरण से समाकरण स्थापित करना आवश्यक होता है क्योंकि विकसित होते हुए समाज में किसी भी वस्तु अथवा घटना अथवा कार्यादि का वातावरण तो परिवर्तित होता ही है। विकासवादी प्रक्रिया केवल मात्र 'होना' ही नहीं है वरन बढ़ना, विकसित होना है। वस्तुतः समाज शास्त्र में इस सिद्धान्त को जीवशास्त्र से ऋण लेकर ही लागू किया जाता है। यद्यपि डार्विन ने इसे जिस रूप में जीवशास्त्र सम्बन्धी विकास पर लागू करके देखा है ठीक उसी रूप में इसे सामाजिक धरातल को लेकर स्वीकार कर पाना कुछ उतना सरल नहीं है किन्तु इतना तो कहा ही जा सकता है कि ढांचे से सम्बन्धित भेद प्रभेद किसी न किसी रूप में कार्यों से सम्बन्धित अवश्य ही होते हैं। जीवन में अनेक स्थलों पर भेद, प्रभेद, विभिन्नताएँ (differentiation) देती है। सम्पूर्ण जीवीय व्यवस्था अथवा जीवन में भी विभिन्नता दिखाई देती ही है और यही नहीं वस्तु विशेष में भी जब कि वह विभिन्न काल में विभिन्न रूप धारण करती है भिन्नता के दर्शन होते हैं। जब भी कोई वस्तु अथवा व्यक्ति परिवर्तित होता है तो उसके परिवर्तन के विभिन्न स्तर भिन्नता अथवा उसके विभिन्न रूपों के ही परिचायक होते हैं अतः जीवन में हर कहीं भिन्नता दिखाई देती है। इससे यही जान पड़ता है कि बहुत सी व्यवस्थाओं की एकताओं में भी प्रभेदकारी अथवा विभिन्नता की प्रदर्शिका प्रक्रिया चलती ही रहती है किन्तु उन अवस्थाओं में जो वस्तु परिवर्तित होती है उसके विभिन्न स्वरूपों के साथ साथ प्रक्रिया में भी परिवर्तन होते जाते हैं। वस्तुतः समाज न तो वस्तु ही है और न व्यक्ति ही। वह तो एक ऐसी एकता अथवा व्यवस्था है जिसमें एक दो नहीं वरन् अनेकों परिवर्तन होते हैं और परिवर्तनों की इस शृंखला के बीच

से होकर उसे जाना पड़ता है। इन्हीं में से होकर वह अपने नवीन रूपों को ग्रहण करता है यद्यपि इस प्रक्रिया का सम्बन्ध उस व्यवस्था के भीतर होनेवाले विभिन्न कार्यों से भी होता ही है।

समाज को भी तो जीवित रहने के लिए संघर्ष करते रहना पड़ता है और संघर्ष में प्रायः वही सामाजिक प्रथाएँ, नियम, व्यवस्थाएँ आदि जीवित रह पाती हैं जो कि आधुनिक मांगों को पूरा कर पाने में समर्थ होती हैं अर्थात् वातावरण के साथ आनुकूल्य स्थापित कर पाती हैं, समीकरण कर पाती हैं अन्यथा नवीन प्रथा, नियमादि का जन्म होता है और ऐसा होता ही रहता है। यद्यपि कभी कभी क्रान्ति द्वारा भी ऐसी अवस्थाएँ उत्पन्न की जाती हैं अथवा मानव को उनके लिए विशेष प्रयत्नशील होना पड़ता है। अधिकतर यह विश्वास किया जाता है कि विकास भिन्नताओं और एकता अथवा पूर्णता की ही एक प्रक्रिया है अर्थात भिन्नताओं को एकता की, पूर्णता की ओर ले जाकर और फिर पूर्णता को विविधताओं में विभाजित करके पुनः पूर्णता की ओर ले जाना ही इस प्रक्रिया का मुख्य कार्य है। समाज में यह प्रक्रिया कई प्रकार से कार्य करती हैं। उदाहरणार्थ-श्रम विभाजन का विस्तार और वह भी इस प्रकार से जिससे कि अधिक व्यक्ति विशेष प्रकार के कार्यों में लग सकें ताकि सहकारिता के आधार पर एक अपेक्षाकृत अधिक सुगठित एवं विस्तृत व्यवस्था स्थापित की जा सके और ऐसा करके समूह में कार्य सम्बन्धी अन्तः सम्बन्ध अधिक सुगठित एवं सुव्यवस्थित रूप में स्थापित एवं संचालित किये जा सकें। यही नहीं कार्य करनेवाली संस्थाओं एवं समितियों की संख्या भी बढ़ती जाती है और उनकी संख्या बढ़ने के साथ ही साथ उनके कार्य अधिक स्पष्ट हो जाते हैं। यातायात के साधनादि भी संख्या में अधिक और अधिक सुविधाजनक होते जाते हैं। यदि हम मानव समाज के इतिहास का अध्ययन करें तो प्रायः हमें ये तीनों ही बातें समाज के विकास के साथ-साथ ठीक-ठीक लागू होती हुई दिखाई देती हैं। ज्यों ज्यों समाज विकसित होता जाता है उसमें श्रम विभाजन अधिक विस्तृत और स्पष्ट तथा विशेषीकरण के सिद्धान्त पर ही आधारित होता दिखाई देने लगता है। संस्थाओं तथा समितियों की संख्या में वृद्धि तो होती ही है उनके कार्य भी अधिक स्पष्ट एवं विशेष ढङ्ग के होते जाते हैं और यातायात के साधनादि भी बढ़ते और

अधिकाधिक सुविधाजनक होते जाते हैं। दुर्खेम[1] ने समाज के विकास के परिचायकों एवं माप दण्डों में से सामाजिक श्रम विभाजन को ही प्रमुख माना है यद्यपि कुछ अन्य विचारकों ने संस्थाओं एवं समितियों अथवा यातायात के साधनों को ही महत्व पूर्ण स्थान देने की चेष्टा की है।

श्रम विभाजन—यह तो हम देख ही चुके हैं कि सर्वाधिक सरल समाज में अर्थात् प्रागैतिहासिक काल के समाज में व्यक्ति की आवश्यकताएँ इतनी न्यून थीं कि वह स्वयं उन्हें पूरा करने के लिये काम कर ही लिया करता था किन्तु धीरे-धीरे सभ्यता के विकास के साथ-साथ मानव की आवश्यकताएं बढ़ती गईं क्योंकि अब वह उन समूहों का सदस्य बनता गया जो कि अपेक्षाकृत अधिक जटिल थे। ग्राम्य जीवन स्तर तक भी मानव अपनी सीमित आवश्यकताओं एवं मांगों की पूर्ति बहुत कुछ स्वयं ही, एकाकी ही करता रहा किन्तु ग्राम्य जीवन में भी यह अवस्था अधिक देर तक नहीं रही। मांगों के बढ़ने से मानव को कार्यों की विभिन्नता के आधार पर तथा किसी न किसी रूप में उनका विशेषीकरण करते हुए श्रम का विभाजन करना पड़ा। एकाकी कोई भी व्यक्ति अपनी सब ही आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिये अपने को अयोग्य पाने लगा अतः उसे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी अन्य व्यक्तियों के सहयोग की आवश्यकता पड़ने लगी और उसने विभिन्न कार्य विभिन्न व्यक्तियों को सौंप दिये। धीरे धीरे इस दिशा में विशेषीकरण अधिकाधिक गहन एवं जटिल रूप में होता गया। सभ्यता के विकास के साथ-साथ श्रम विभाजन भी अधिकाधिक विस्तृत और गहन होता गया। उदाहरणार्थ यूँ तो किसी न किसी श्रम विभाजन सभ्यता के पूर्व के ही काल से होता आया है। उस समय में भी सम्भवतः पुरुष आखेट किया करते थे और नारी फल जड़ें आदि बटोर कर लाया करती थी। यह भी तो एक प्रकार का श्रम का विभाजन ही था। उसके सैकड़ों वर्षों पश्चात सभ्यता के युग के आरम्भ में यह तो सम्भव था कि श्रम विभाजन इस अवस्था तक हो कि एक व्यक्ति वस्त्र बुन कर तैयार कर दे और दूसरा उसे काट कर तथा सीकर कोट के रूप में पहनने योग्य बना दे किन्तु आधुनिक युग की भाँति यह सम्भव नहीं था कि श्रम विभाजन का विस्तार इतना अधिक हो जाए कि एक कोट को बनाने के लिये काटनेवाला व्यक्ति उसके विभिन्न टुकड़ों को जोड़ने वाले से

भिन्न हो और उसको सीने, बटन लगाने, इस्त्री करने आदि विभिन्न कार्यों को करने वाले व्यक्ति भिन्न-भिन्न हों तथा सब ही विशेषज्ञ हों। ऐसा होना अर्थात् श्रम विभाजन का विस्तार इतना बढ़ जाना तो इसी युग में सम्भव हुआ है। ज्यों-ज्यों सभ्यता का विकास होता जायेगा श्रम विभाजन का विशेषीकरण के आधार पर विस्तार भी अत्यधिक ही होता जायेगा।

वस्तुतः उत्पादन के आधार पर स्थापित, संगठित अथवा आयोजित अर्थ नीति का आधार भूत अथवा मूल सिद्धान्त भी श्रम विभाजन के आस पास ही खोजा जा सकता है। ज्यों ही किसी समूह की उत्पादन शक्ति अथवा उत्पादन बढ़ता है अथवा समाज अभाव की अपेक्षा साधारणतया मांगों की पूर्ति हो जाने की सी अवस्था में पहुँच जाता है प्रायः उत्पादन कम होने लगता है और बेकारी बढ़ने लगती है जिसका कि एकमात्र उपाय उत्पादन के विभिन्न अंग प्रत्यंगों को पृथक कर के उनका विशेषीकरण करना ही है। इस प्रकार की अवस्था को श्रम के अधिकाधिक विस्तार पूर्वक विभाजन से सहायता मिलती है क्योंकि आद्योगीकरण और उसकी विविधता तथा विशेषीकरण का जितनी ही शीघ्रता से विस्तार होता है उतना ही अर्थनीति को आयोजित करना तथा किसी उद्योग विशेष को आयोजित करना कठिन हो जाता है किन्तु किसी भी उद्योग में विशेषीकरण अधिक कर देने पर श्रम विभाजन का अधिक विस्तार हो जाता है और अधिक व्यक्ति काम पाने लगते हैं।

वस्तुतः सामाजिक संगठन, औद्योगीकरण प्रभेदकरण और श्रम विभाजन का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। सम्भव है कि श्रम विभाजन की सर्व प्रथम युद्ध काल में ही आवश्यकता पड़ी हो। भारतीय वर्ण व्यवस्था इस मत का एक अच्छा उदाहरण हो सकती है। युद्धकालीन कठिनाइयों के कारण सब ही लोग न तो देव पूजा ही कर पाते थे और न युद्ध पर ही पूरा ध्यान दे सकते थे और न व्यवसाय सम्बन्धी, कृषि सम्बन्धी कार्य ही हो पाते थे अतः इन सब ही आवश्यक कार्यों के ठीक ठीक सम्पादन के लिये यह आवश्यक था कि कुछ लोगों की नियुक्ति एक कार्य पर हो और कुछ अन्य व्यक्तियों की दूसरे कार्य पर ताकि सब ही कार्य ठीक ढंग से सम्पन्न किये जा सकें। स्पष्ट ही है कि धार्मिक मत दि, आर्थिक व्यवस्था, संस्थाओं आदि की स्थापना और राजनीतिक वर्गीकरण आदि का भी श्रम विभाजन व्यवस्था पर

प्रभाव पड़ता है। अतः यह तो निश्चित ही है कि मानव ने जब से सामाजिक व्यवस्था स्थापित की तब ही से किसी न किसी रूप में समाज में श्रम विभाजन व्यवस्था बनी रही और ज्यों-ज्यों समाज की सभ्यता का विकास होता गया उसकी अर्थनीति भी अधिक विस्तृत बहुमुखी और जटिल होती गई। फल स्वरूप श्रम विभाजन भी अधिकाधिक जटिल, विस्तृत और विशेषीकरण को लेकर होने लगा। समाज में स्थित श्रेणियों, वर्गों और विभिन्न पद मर्यादा आदि का श्रम विभाजन पर भी किसी न किसी रूप में प्रभाव पड़ता ही रहा।

आदिकाल से ही समाज में श्रम का किसी न किसी रूप में विभाजन होता रहा है किन्तु इस प्रकार के विभाजन के कुछ अधार भी होते हैं। इन आधारों को लेकर जिन व्यापक सांचों में अथवा जिन शीर्षकों के नीचे रख कर श्रम विभाजन को देखा जा सकता है उनमें प्रमुख लिंग, क्षेत्र, अर्थ नीति और सामाजिक विशेषी करण पर ही आधारित होते हैं। दुर्खेम[१] का तो विश्वास है कि इस प्रकार के श्रम विभाजन का मूल सिद्धान्त एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति की योग्यता की भिन्नता में ही निहित है। यह सत्य है कि सब ही मानव न तो एकसी कार्य क्षमता ही अपने भीतर रखते हैं और न प्रत्येक कार्य कर सकने की एक सी योग्यता ही। कारण भले ही कुछ भी हो किन्तु एक व्यक्ति की योग्यता एवं कार्य क्षमता का दूसरे व्यक्ति के उन्हीं गुणों से भिन्न होना एक ऐसा सत्य है जिसे विस्मरण नहीं किया जा सकता है अतः विभिन्न व्यक्तियों को उनकी योग्यता एवं क्षमता के अनुरूप कार्य देने से ही समाज का हित साधन हो सकता है। सम्भव है आदि काल में श्रम विभाजन का यही कारण रहा हो। दुर्खेम से कुछ वर्ष पूर्व फर्डिनेन्ड टोनीस और जार्ज सिम्मेल भी सामाजिक प्रभेदकरण के सम्बध में अपने मत दे चुके थे और वे भी दुर्खेम के मत से कुछ विशेष भिन्न नहीं हैं। यहां तक कि दुर्खेम के विचार में श्रम विभाजन एक ऐसी बाह्य सामाजिक प्रक्रिया है जिस का प्रभाव समाज के सब ही अंगों पर पड़ता है और किसी भी समाज में श्रम विभाजन का अभाव अथवा कम होना उसके समाजिक जीवन के सब ही पक्षों में अपना स्पष्ट प्रभाव दिखाता है। काल पाकर किसी भी समाज में श्रम विभाजन बढ़ता है और उसके बढ़ने के प्रभाव भी समाज के जीवन के सब ही पक्षों में स्पष्ट दिखाई देते हैं।

योग्यता सम्बन्धी व्यक्तिगत कई प्रभेदों को ही श्रम विभाजन का मूल कारण मान लेने पर यह भी मानना पड़ता है कि धीरे धीरे सामाजिक ढांचे और कार्य सम्बन्धी अनुकूलनाओं में विकास होते जाते हैं और इस प्रकार के सामाजिक विकास के फलस्वरूप विशेषीकरण के अवसर बढ़ते जाते हैं। जन संख्या की वृद्धि, उनके ऊपर एक ही स्थान पर घनी आबादी के रूप में बस जाने से उत्पन्न होनेवाली उलझनों को सुलझाने का उपाय श्रम विभाजन का विस्तार ही होता है। श्रम विभाजन किसी एक सीमा तक व्यक्तिगत भेद प्रभेदों तथा अन्य कुछ कारणों तथा तत्वों से सीमित किया जाता है।

श्रम विभाजन के ही फलस्वरूप एक मानव समूह दूसरे से भिन्न और अपने आप में ही विशेषता प्राप्त हो जाता है। एक ही मुहल्ले में रहने वाले बढ़ई श्रम विभाजन के तो आधार पर ही तो अपने आप को कुम्हारों, चमारों आदि से भिन्न समझने लगते हैं। इस प्रकार का अन्तर कितनी दूर तक जाता है और समाज में क्या रूप ले लेते हैं तथा एक व्यवसाय को दूसरे से कहां तक ऊंचा और नीचा गिनाने लगता है यह दूसरी बात है किन्तु इस प्रकार का समाज के भीतर होने वाला वर्गीकरण अथवा वर्ण व्यवस्था श्रम विभाजन के ही परिणाम हैं। यह व्यक्तियों की अन्योन्याश्रित स्थिति को स्पष्ट करना है और समाज के भीतर व्यक्ति के व्यक्तित्व के भार को इतना अधिक नहीं होने देता है जिससे कि वह समूह के अस्तित्व के लिये भय का कारण हो सके। श्रम विभाजन समूह के हितों को ध्यान में रखता है परन्तु समूह और व्यक्ति पूर्ण तथा एकाकार तो कभी हो ही नहीं पाते हैं अतः व्यक्ति का व्यक्तित्व भी बना रहता है। सामाजिकता और व्यक्तित्व बनाए रखने की भावनाएं श्रम विभाजन के द्वारा अन्तःक्रियाओं में रत रहती हैं और इन्हीं के फल स्वरूप समाज में विभिन्न वर्गों एवं श्रेणियों का अस्तित्व बना रहता है अतः यह कहना ठीक ही होगा कि उन का अस्तित्व श्रम विभाजन व्यवस्था के कारण ही बना रहता है। वर्गों एवं श्रेणियों का व्यवस्था कठिन, कठोर और स्थायी नहीं हो पाती है क्योंकि श्रम विभाजन व्यवस्था के भीतर ही व्यक्ति के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति के लिए भी नेतृत्व और व्यक्तिगत स्वतंत्रता के रूप में

पर्याप्त अवसर रहते ही हैं और वे सामाजिक संगठन को लोहे की भान्ति दृढ़ और स्थायी तथा अप्रगतिशील नहीं होने देते हैं अतः श्रम विभाजन व्यवस्था नियन्त्रित होती है। जहां एक ओर उस में मानवीय प्रवृत्तियों को अभिव्यक्ति मिलती है वहीं मानव की व्यक्ति बने रहने की भावना और नेतृत्व आदि के रूप में उसकी अभिव्यक्ति और प्रसरित व्यक्तिगत भावनाएं तथा गुण उसे नियन्त्रित भी करते रहते हैं। इस प्रकार से नियन्त्रित श्रम विभाजन भी प्रतियोगिता पर आश्रित होता है तथा अधिकाधिक अन्योन्याश्रम की ओर ही ले जाता है। अधिकतर प्रतियोगिता तथा चुनाव के सूक्ष्म तथा अप्रत्यक्ष रूप ही इस दिशा में काम करते हैं। यह तो हम देख ही चुके हैं कि श्रम विभाजन विशेषीकरण द्वारा प्रभावित होता भी है और उसे प्रभावित करता भी है। श्रम विभाजन की भान्ति ही विशेषीकरण भी व्यक्ति के व्यावसायिक क्षेत्र के चुनाव की स्वतन्त्रता के अधिकार और व्यक्तिगत योग्यता में भेद प्रभेद के सिद्धान्त को अभिव्यक्ति देता है। एक बार किसी भी प्रकार के विशेषीकरण के स्थापित हो जाने के पश्चात् श्रम विभाजन, विशेषीकरण और व्यक्तियों को योग्यता के आधार पर व्यवसाय का चुनाव आदि अन्योन्याश्रय के सम्बन्ध को अधिकाधिक दृढ़करते जाते हैं और फिर सब एक व्यवस्था के रूप में संगठित होते जाते हैं।

प्रतियोगिता अथवा प्रतिस्पर्धा और द्वन्द्व अथवा विरोध— प्रतियोगिता विभिन्न प्रकार की क्रियाओं के बीच एक ऐसा सम्बन्ध है जो कि उस समय उत्पन्न होता है जब कि किसी एक प्रकार की क्रिया की सफलता दूसरे प्रकार की क्रिया की सफलता को सीमित करती है अथवा उसमें रुकावट डालती है। द्वन्द्व विभिन्न प्रकार की क्रियाओं के बीच एक ऐसा सम्बन्ध है जो कि उस समय उत्पन्न होता है जब कि एक क्रिया दूसरी क्रिया को नष्ट करने की चेष्टा करती है। प्रतियोगिता की यह विशेषता होती है कि कोई भी एक क्रिया एकाकी होने पर उतनी शीघ्रता एवं तीव्रता से नहीं होती है जितनी कि तीव्रता और शीघ्रता से वह किसी के साथ प्रतियोगिता सम्बन्ध होने पर होती है किन्तु एक की सफलता दूसरे की सफलता में बाधा तो देती ही है। यह आवश्यक नहीं है कि जहाँ प्रतियोगिता हो वहाँ द्वन्द्व अथवा संघर्ष भी हो। प्रतियोगिता तो एक ऐसा सम्बन्ध है जिसमें कि दो व्यक्ति अथवा वस्तुएँ एक ही लक्ष्य की

प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होती हैं किन्तु एक की सफलता दूसरे की सफलता को सीमित करना चाहती है यद्यपि दोनों ही एक दूसरे को सीमित करके स्वयं लक्ष्य प्राप्ति कर लेने की चेष्टा में संलग्न होते हैं ?

प्रायः प्रतियोगिता अथवा प्रविस्पर्धा (Competition) व्यक्तिगत, भावना पूर्ण और चेतन दृष्टि कोण से नहीं की जाती है किन्तु अपेक्षाकृत विरोध अथवा द्वन्द्व (Conflict) कुछ अधिक व्यक्तिगत, भावना एवं उत्तेजनापूर्ण और जानबूझ कर जूझ पड़ने वाला सम्बन्ध होता है। दो प्रतियोगियों के लिए यह सम्भव है कि वे एक दूसरे के अस्तित्व का भी ज्ञान न रखते हों किन्तु दो प्रतिद्वन्द्वियों के लिए यह सम्भव नहीं है। इसका तो यह तात्पर्य हुआ कि प्रतियोगिता के लिए सामाजिक सम्बन्ध होना आवश्यक नहीं है अर्थात् प्रतियोगिता दो क्रियाओं का एक ऐसा सम्बन्ध है जो कि केवल उनमें से एक के परिणाम के द्वारा ही जाना जाता है। क्रिया अपने आप तो नहीं किन्तु उसका फल दूसरी क्रिया और उसके फल को प्रभावित करता है। प्रतियोगिता में प्रत्यक्ष ध्येय तो निजी क्रिया अथवा कर्ता की सफलता ही होता है किन्तु परोक्ष लक्ष्य तो अपने प्रतियोगी का असफल होना भी होता है। प्रतिद्वन्दिता में एक व्यक्ति की क्रियाओं का लक्ष्य दूसरे व्यक्ति की क्रियादि को नष्ट करना ही होता है। कभी कभी द्वन्द्व अनजाने भी हो जाता है जैसे कि कभी कभी अनजाने और बिना किसी विशेष उद्देश्य अथवा लक्ष्य के ही एक व्यक्ति टेलीफोन मिलाता है और उससे दूसरे व्यक्ति की मिलाई हुई लाइन के साथ द्वन्द हो जाता है और यह कट भी सकती है। दूसरी ओर यह भी आवश्यक नहीं है कि प्रतियोगिता सदा सर्वदा अनजाने, व्यक्तिगत द्वेष और भावना से सर्वथा मुक्त ही हो। खेल सम्बन्धी प्रतियोगिताओं में दो प्रतियोगियों में परस्पर सामाजिक सम्बन्ध भी रहता है और भावना तथा उत्तेजना की उपस्थिति भी ऐसी दशा में सम्भव है। यूँ साधारणतया प्रतियोगिता की अपेक्षा प्रतिद्वन्द में व्यक्तिगत द्वेष, उत्तेजना, प्रतिद्वन्दिता सम्बन्धी चेतना आदि अधिक होते हैं किन्तु केवल इन्हीं के आधार पर एक को दूसरे से पृथक करते नहीं देखा जा सकता है क्योंकि दोनों में ही न्यूनाधिक मात्रा में इन तत्वों की उपस्थिति की सम्भावना हो सकती है। खेलों में प्रतिद्वन्द्वी भावनाओं की स्पष्टतया अभिव्यक्ति होती है किन्तु खेलों में यह भी आवश्यक है कि प्रति-

द्वन्दिता तो हो किन्तु व्यक्तिगत द्वेष का लेश मात्र भी न हो। राजनीतिक चुनाव, आर्थिक व्यावसायिक प्रतियोगिताएँ और जीवन के अन्य अनेकों क्षेत्रों में भी प्रतियोगिता और प्रतिद्वन्द दोनों ही क्रियाएँ स्पष्ट रूप में दिखाई देती हैं। सामाजिक प्रगति के लिए, विकास के लिए इन दोनों की ही आवश्यकता है किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि ये दोनों ही पूर्णतया क्रियाओं के बीच स्थापित सम्बन्धों के ही दो रूप हैं। यदि खेल के मैदान में दो प्रतिद्वन्दी पूर्णतया द्वेष रहित होते हुए भी एक दूसरे की क्रियाओं में बाधा पहुँचाने, नष्ट करने के लिए सचेष्ट रहते हैं तो कोई कारण नहीं है कि जीवन के अन्य क्षेत्रों में जैसे व्यावसायिक अथवा राजनीतिक दो व्यक्ति पूर्णतया द्वेष रहित होकर प्रतियोगिता की दौड़ में भाग न ले सकें। कोई समुचित कारण नहीं हो सकता है कि कोई दो प्रतिद्वन्द्वी एक दूसरे की क्रियाओं में बाधा बिना व्यक्तिगत द्वेष के डाल सकें जब कि खेल के मैदान में वह ऐसा कर पाते ही हैं अतः इन दोनों सामाजिक प्रक्रियाओं की उनके स्वस्थ रूप में सामाजिक विकास के लिए आवश्यकता है।

सहयोग अथवा सहकारिता और संगठन—प्रतियोगिता और प्रतिद्वन्दिता तो क्रियाओं के वे सम्बन्ध है जो कि दो व्यक्तियों द्वारा पृथक पृथक फल उत्पन्न करने के लिए की जाती हैं किन्तु सहकारिता विभिन्न क्रियाओं के बीच स्थापित एक ऐसा सम्बन्ध है जो कि एक ही परिणाम की ओर ले जाने में प्रयत्नशील होता है। कई एक व्यक्तियों द्वारा की गई क्रियाएँ जो कि एक ही व्यापक फल की उत्पत्ति के लिए प्रयत्नशील हों जिस सम्बन्ध में बंधी हुई होती हैं उसे सहकारिता कहा जाता है। परिणाम इच्छित हो अथवा अनिच्छित, फल सफलता की घोषणा करता हो अथवा असफलता की किन्तु उस फल को लाने के लिए की गई क्रियाओं के पारस्परिक सम्बन्ध को 'सहकारिता' ही कहा जायेगा। अनेकों क्रियाओं का एकत्रीकरण सहकारिता नहीं है। अनेकों क्रियाओं का एक ही समय में एक ही उद्देश्य को लेकर किया जाना भी सहकारिता नहीं है वरन् उन सब क्रियाओं का परस्पर सम्बन्धित होकर एकत्व भाव से किसी एक लक्ष्य की ओर ही बढ़ना सहकारिता कहाता है।

विभिन्न क्रियाओं के बीच सहकारिता सम्बन्ध स्थापित करना संगठन कहलाता है। सहकारिता का ही जटिल एवं संकुल रूप संगठन

कहा जाता है। संगठन दो प्रकार के सम्बन्धों को व्यक्त करता है। सहकारिता और विभिन्नता इन दोनों ही प्रकार के सम्बन्धों को उस अवस्था में संगठन में ही स्थान मिलता है जब कि वे परस्पर सम्बन्धित होकर विभिन्न क्रियाओं को एक ही व्यापक लक्ष्य की ओर ले जाने के लिए प्रयत्न शील होते हैं। नेतृत्व के आधार पर संगठन में ही किसी को विशेषता भी प्राप्त होती है और वह पूर्ण व्यवस्था का संचालन, संगठन करने लगता है। सहकारिता से सम्बन्धित विविधता अथवा विशेषता अथवा नेतृत्व सोच समझ कर बनाई गई योजना का फल भी हो सकता है। आधुनिक सभ्यता के युग में आयोजित संगठनों का बहुत महत्व है। प्रायः जीवन के सब ही क्षेत्रों में सामाजिक विकास के लिए आयोजित संगठन बनाए जाते हैं किन्तु अचानक बन जाने वाले और आयोजन के बिना ही उत्पन्न हो जाने वाले संगठनों का कार्य भी सामाजिक विकास की दृष्टि से नगण्य नहीं है। सोरोकिन सहयोगात्मक क्रियाओं को तीन भागों में विभक्त करते हैं। एक तो सहयोग आंशिक होता है जिसमें कि कुछ अंश स्पर्धाजनित भावना का होता है और कुछ सहयोग की भावना का, एक और प्रकार का सहयोग इस प्रकार किया जाता है जिसमें कि समूह के सदस्य सहकारिता के ही सिद्धान्त पर कार्य करते हैं, परस्पर सहयोगी भी होते हैं किन्तु ऐसा वे जान-बूझ कर सहयोग के अर्थ ठीक-ठीक समझ कर नहीं करते वरन होता ही जाता है। पूर्ण सहयोग वह होता है जिसमें कि सब ही सदस्य समष्टिहित की भावना से प्रेरित होकर सहयोग देते हैं। किसी प्रकार से भी दिये गये सहयोग की सामाजिक जीवन के लिए अत्यधिक आवश्यकता होती है। सहयोग अथवा सहकारिता के बिना सामूहिक जीवन का काम काज ठीक प्रकार से चलना कठिन हो जाता है अतः यह एक ऐसी सामाजिक प्रक्रिया है जो कि सामाजिक जीवन को प्रेरणा देती है और जिसकी सामाजिक जीवन के लिए अत्यन्त आवश्यकता होती है?

सामाजिक प्रक्रिया और सामाजिक सम्बन्ध—यह तो हम आरम्भ में ही देख चुके हैं कि समाज स्वयंमेव एक प्रक्रिया है और इसी कारण वह बना भी रहता है। जिसे हम सामाजिक जीवन कहते हैं वह भी तो एक प्रकार का परस्पर सम्बन्धित क्रियाओं का जाल है जो कि व्यक्तियों के जीवन से ही मिल कर बनता है? इस प्रकार

के सम्मिलन में व्यक्तियों का व्यक्तित्व तो बना ही रहता है किन्तु सामाजिक संगठन भी चलता ही रहता है। जिस प्रकार व्यक्ति का जीवन एक ऐसा चेतना प्रवाह है जो कि विभिन्न अन्तः सम्बन्धित विचार आदि से मिल कर बनता है उसी प्रकार सामाजिक जीवन एक ऐसी सामाजिक प्रक्रिया है जिसमें विभिन्न क्रियाएं सामाजिक दृष्टि से एक दूसरे से सम्बन्धित होती हैं। इस दृष्टि से उन्हें सामाजिक प्रक्रियाएं कहा जा सकता है और इन सब अन्योन्याश्रित सामाजिक प्रक्रियाओं से मिल कर ही सामाजिक प्रक्रिया अथवा सामाजिक जीवन बनता है। सामाजिक जीवन प्रक्रिया इस अर्थ में तो है ही कि वह जीवित रहता है, चलता रहता है, बना रहता है, इसके अतिरिक्त वह क्रियाओं से ही तो मिल कर बनता है तथा प्रगतिशील भी है। उसकी प्रत्येक क्रिया आगे की ही ओर, पुरातन से भिन्न नवीन की ही ओर बढ़ती रहती है। सामाजिक प्रक्रिया एकाकी नहीं है। उसके भीतर अनेकानेक क्रियाएं, प्रक्रियाएं कार्य करती रहती हैं और इन सब के कार्यों में कहीं न कहीं, कोई न कोई सम्बन्ध तो बना ही रहता है। यह आवश्यक नहीं है कि यह सामाजिक सम्बन्ध किसी प्रकार की कोई प्रक्रिया ही हो। यह तो केवल मात्र सम्बन्ध भी हो सकता है यद्यपि सामाजिक जीवन और उसकी प्रगति के लिए इस प्रकार के अन्तःसम्बन्धों की आवश्यकता सदा सर्वदा रहती ही है। सम्भवतः इन अन्योन्याश्रित क्रियाओं एवं तत्वों को अन्तःसम्बन्धों द्वारा ही सुव्यवस्थित एवं सुगठित रूप में बनाए भी रखा जा सकता है।

सामाजिक विकास की दिशा—समाज के भीतर ही होने वाली क्रियाएँ, प्रक्रियाएं अन्तः सम्बन्धों के द्वारा एक दूसरे से गुंथी मिली समाज के विभिन्न अंगों को विकसित करती जाती हैं। यदपि उनका लक्ष्य कोई नैतिक उद्देश्य एवं ध्येय की प्राप्ति नहीं होता है। यहां तक कि यह भी निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता है कि सामाजिक प्रक्रियाओं का लक्ष्य मानव के लिए सुख अथवा आनन्द की प्राप्ति ही होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मानव सुख की खोज करता रहा होगा और आज भी करता है किन्तु सुख और सुविधा का स्वरूप कभी और किसी युग में भी उसके निकट न तो स्पष्ट ही रहा है और न इतना अधिक परिचित ही कि वह उसी की ओर लक्ष्य करके अपने सामाजिक संगठनादि स्थापित करता। किसी एक सीमा

तक तो यह मान लेना उचित ही जान पड़ता है कि जीवीय विकास का सिद्धान्त यदि मान लिया जाए तो जिस प्रकार जीवीय विकास किसी एक उद्देश्य को लेकर तो चला नहीं था फिर भी धीरे-धीरे प्राणी जीवन का विकास होता गया और आज हम पहले की अपेक्षा कहीं अधिक विकसित रूप में जीवन को देख पाते हैं। किन अवस्थाओं में से होकर प्राणी जीवन इस स्तर तक पहुँच पाया है यह कहना कठिन है और इसके सम्बन्ध में विभिन्न मत भी हो सकते हैं किन्तु इतना तो निश्चित ही है कि जीवीय प्रगति के सम्मुख कोई स्पष्ट पथ नहीं था जिस पर कि वह चलता चला गया हो। ठीक इसी प्रकार मानव समाज के सम्मुख भी कभी कोई लक्ष्य अथवा ध्येय विशेष नहीं रहा था जिसकी ओर बढ़ने की चेष्टा उसकी प्रगति कही जायेगी अथवा जिस ध्येय की प्राप्ति के लिए समाज आगे बढ़ता जा रहा था। हो सकता है कि प्रत्येक अचानक प्राप्त अवसर ने मानव को एक नवीन सुविधा की प्राप्ति के निकट ला दिया हो और प्रत्येक प्राप्त सुविधा ने मानव को अधिकाधिक सुविधा प्राप्ति के पथ पर बढ़ने का अवसर दिया हो किन्तु ऐसा किसी लक्ष्य अथवा उद्देश्य अथवा ध्येय विशेष के बिना ही होता रहा अतः इस प्रकार की प्रगति को अधिकाधिक 'विकास' ही कहा जा सकता है उन्नति नहीं क्यों कि उन्नति तो मानव समाज निम्न स्तर से उच्च स्तर की ओर जाने को ही कहता है और सामाजिक दृष्टि से उच्च और निम्न का कोई मापदण्ड मानव के सम्मुख कभी भी स्पष्ट नहीं रहा है। ऐसी दशा में यह कहना कि मानव समाज की निरन्तर प्रगति निम्न से उच्च की ओर ही होती रही है किस मापदण्ड को लेकर सिद्ध किया जा सकेगा। प्रगति तो हुई है, मानव ने प्रकृति पर विजय भी प्राप्त की हैं, अपनी भौतिक सुविधाएं भी बढ़ा ली हैं किन्तु क्या इसी को उसका निम्न स्तर से ऊपर उठना, उच्च स्तर की ओर बढ़ना कहा जा सकता है। क्या यह मानव का नैतिक दृष्टि से श्रेय की ओर बढ़ना अथवा अन्तिम श्रेय, अनन्त श्रेय की प्राप्ति की ओर प्रगति करना कहा जा सकता है। सम्भवतः ऐसा करना ठीक नहीं होगा अतः अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि मानव समाज विकास को प्राप्त हो रहा है, उसकी प्रगति उसे विकास की ओर ले जा रही है किन्तु ऐसा होना उसका उन्नति करना, उन्नति के पथ पर बढ़ना है अथवा नहीं, यह नहीं कहा जा सकता है।

सामाजिक परिवर्तन-उन्नति—प्रायः सामाजिक विकास और सामाजिक उन्नति को मिला देने की प्रवृत्ति समाजशास्त्रियों में पाई जाती है। विकास से तात्पर्य बढ़ने से तो है, विभिन्न अन्तर्निहित गुणादि के विकास अथवा स्पष्टीकरण करने अथवा उन्हें अभिव्यक्ति देने से भी है किन्तु वह उन्नति से भिन्न ही है और यह आवश्यक भी नहीं है कि जो समाज विकसित हो वह अनिवार्य रूप से उन्नत भी हो अथवा जो विकास के पथ पर हो वह उन्नतिशील भी हो। यह भी आवश्यक नहीं है कि जो समाज अधिक विकसित हो वह जीवित रहने के अधिक योग्य एवं कुशल भी हो अथवा नैतिक दृष्टि से अधिक सुखी अथवा अधिक श्रेय भी हो। इसमें कोई सन्देह नहीं कि आधुनिक समाज अपेक्षाकृत अधिक जटिल है। पुरातन काल के अथवा प्रागैतिहासिक समाज की अपेक्षा आज के समाज में कहीं अधिक विशेषीकरण, विविधता, श्रम विभाजन के विभिन्न रूप और ढंग तथा संस्थाओं एवं यातायात के साधनों की विविधता और उनमें संख्या वृद्धि दिखाई देती है किन्तु यह कहना कठिन ही है कि यह सब होते हुए भी आज का समाज अपेक्षाकृत अधिक सुखी और नैतिक दृष्टि से उन्नति शील भी है अतः विकास को उन्नति से भिन्न करके तो देखना ही होगा। विविधता, विशेषीकरण, सामाजिक जटिलता और बहुमुखी प्रतिभा आदि सामाजिक विकास के द्योतक तो हो सकते हैं किन्तु उन्नति के परिचायक नहीं हैं। कुछ विचारक सामाजिक परिवर्तन को सामाजिक उन्नति और तद्रूपेण प्रक्रिया के साथ सम्बन्धित करने की चेष्टा करते तो हैं किन्तु यह कहना तनिक कठिन है कि वैज्ञानिक सभ्यता के विकास को कहाँ तक नैतिक अथवा किसी भी दृष्टि से सामाजिक उन्नति माना जा सकता है और ऐसा करते हुए उस ध्येय की खोज कर पाना भी कुछ सरल नहीं होगा जो कि इस प्रक्रिया का लक्ष्य होगा जिसे कि हम उन्नति कहेंगे।

विभिन्न समूह और उनमें परस्पर सम्बन्ध—एक मानव की दूसरे मानव से यूँ तो किसी एक समूह में भी कर्मों की विविधता के कारण तथा अन्य अनेकों कारणों से भेद प्रभेद, विभिन्नताएँ होती हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपने कार्य की विशेषता से पहचाना भी जाता है और उसका व्यक्तित्व भी बहुत कुछ उसी ढंग का हो जाता है जिस ढंग का कार्य उसे समाज में प्राप्त होता है किन्तु न केवल व्यक्ति में समाजों में भी भिन्नताएँ होती ही हैं। प्रत्येक समाज दूसरे समाजों से किसी न

किसी रूप में भिन्न होता है। एक ही समाज के विभिन्न सदस्यों में आन्तरिक विविधता और भिन्नता पूर्णतया स्पष्ट होती है फिर भी वे सब ही इस दृष्टि से एक होते हैं कि वे एक ही समाज अथवा समूह के सदस्य हैं। यद्यपि आधुनिक विश्व के समाजों में पारस्परिक निकटता एवं निकट सम्बन्ध बढ़ते जा रहे हैं फिर भी प्रत्येक समाज अपने व्यक्तित्व को सुरक्षित रखता ही जाता है। एक ही समाज के विभिन्न व्यक्तियों में केवल इसी स्थान पर एकता होती है कि वे सब ही एक व्यापक सामाजिक सम्पत्ति के उत्तराधिकारी हैं। सम्भवतः इसी सम्बन्ध में उनमें कुछ व्यापक विशेषताएं भी होती हों। इस एक व्यापक सम्बन्ध के अतिरिक्त अन्य सब ही सम्बन्धों में वे एक दूसरे से भिन्न होते हैं। प्रायः एक ही समूह के सदस्य एक दूसरे से एक प्रकार के अपनत्व की भावना की अपेक्षा करते हैं। उनमें इस प्रकार की एकता और अपनत्व की भावना होती भी है और वे यह भी विश्वास करते हैं कि उनमें से प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तिगत हित भी उसी समूह के साथ तथा उस समूह के अन्य सदस्यों के साथ बने रहने में ही है। इसी कारण उनमें एक दूसरे के प्रति सहानुभूति की भावना भी उत्पन्न हो जाती है और उसका कारण केवल मात्र यह स्वार्थपूर्ण भावना ही नहीं होती है कि मेरा व्यक्तिगत हित इस समूह के साथ रहने में ही निहित है। निजी समूह के प्रति अपनत्व की भावना व्यक्ति में, उस समूह के सदस्य में समूह को तथा उस समूह की सांस्कृतिक सम्पत्ति को लेकर गर्व की भावना भी भर देती है इसी प्रकार अन्य समूहों के प्रति परत्व की भावना भी प्रत्येक समूह के सदस्यों में रहती ही है, यद्यपि आधुनिक युग में अपने और पराए समूहों की सीमाएं कुछ अस्पष्ट और उलझी हुई सी होने लगी हैं। उदाहरणार्थ— मैं भारतीय हूं किन्तु अध्यापक भी हूं। हो सकता है कि थ्योसोफिस्ट भी होऊं। ऐसी अवस्था में यद्यपि राजनीतिक और वह भी भौगोलिक दृष्टि कोण को लेते हुए मेरा समूह, मेरा समाज भारतीय है किन्तु अध्यापक होने के सम्बन्ध से विश्व ब्रह्माण्ड के सब ही अध्यापकों से भी मेरा सम्बन्ध है, एकत्व का सम्बन्ध है अतः मेरा समाज अध्यापक समाज है। थ्योसोफिस्ट फ्रान्सीसी हो अथवा जर्मन वह मुझे अधिक अपना जान पड़ता है क्योंकि विश्वास की दृष्टि से मैं थ्योसोफिस्ट समूह से सम्बन्धित हूं और हो सकता है कि राजनीतिक विचारधारा की दृष्टि से मैं लोकतन्त्रवादी हूं अतः मेरा समूह लोकतन्त्रवादी समूह भी हो सकता है।

विभिन्न समूहों में समता का अथवा प्रभुता एवं आज्ञाकारिता का सम्बन्ध हो सकता है। दूसरे प्रकार के सम्बन्ध स्थापित करने के लिये समूहों का उच्च और उच्चतर आदि में विभाजित होना अथवा उच्च एवं निम्न में विभाजित होना आवश्यक हो जायेगा। आधुनिक युग में विश्व में विभिन्न समूहों में साम्यावस्था स्थापित कर पाने की घनी आवश्यकता जान पड़ती है क्योंकि विविध समूहों में यदि असाम्यावस्था रहा अथवा प्रभुता एवं आज्ञाकारिता का सम्बन्ध रहा तो कभी भी युद्ध होने की सम्भावना हो सकती है किन्तु पूर्ण साम्यावस्था तो किसी प्रकार और कभी भी स्थापित नहीं की जा सकती है क्योंकि विभिन्न समूहों में असाम्यावस्था होना तो प्रगतिशील सम्बन्ध है ही। विभिन्न समूहों में होने वाली पारस्परिक प्रतियोगिता तो एक सामाजिक प्रक्रिया है और यह आवश्यक नहीं है कि इस प्रकार की प्रतियोगिता की दिशा एक ही हो अथवा सब ही समूह उसमें एक ही प्रकार के हो सकते हैं अतः यह भी आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक समूह एक विशेष प्रकार का ही महत्व प्राप्त करना अथवा उसी दिशा में सर्व प्रथम रहना चाहेगा। यह सत्य है कि समूहों में होने वाला प्रतियोगिता को संगठन के संस्थाजन्य अथवा और स्वरूपों एवं प्रकारों द्वारा सीमित और न्यून किया जा सकता है किन्तु दूसरी ओर यह भी स्मरण रखना चाहिए कि विभिन्न समूहों में होने वाली प्रतियोगिता आविष्कारों तथा सभ्यता के अन्य साधनों के विकास को प्रेरणा भी देती है। कुछ विचारक तो यह भी मानते हैं कि इस प्रकार की प्रतियोगिता समाज के प्रगतिशील रूप को बनाए रखने के लिए आवश्यक ही है। यह कहना तो कठिन है कि इस कथन में कितना सत्य है किन्तु फिर भी इसका कुछ-न कुछ महत्व तो मानना ही पड़ता है। यूं तो हम देख ही चुके हैं कि साधारणतया प्रतियोगिता में व्यक्तिगत भावनाओं का उतना अधिक अंश नहीं रहता है जितना कि प्रतिद्वन्दिता अथवा विरोध में रहता है। व्यक्ति और समूह दोनों के ही सम्बन्ध में यह उक्ति चरितार्थ होती है। फिर भी वास्तविक जीवन में प्रायः प्रतियोगिता तथा प्रतिस्पर्धा को प्रतिद्वन्दिता तथा विरोध से भिन्न नहीं किया जा पाता है। उचित है अथवा अनुचित यह निर्णय देना तो इस समय हमारा उद्देश्य नहीं है और इस सम्बन्ध में हम अपनी आशा भी प्रकट कर चुके हैं फिर भी सत्य तो यह है कि विभिन्न प्रतिद्वन्द्वी समूहों में विरोध और ईर्षा तो उत्पन्न हो ही जाती

है यद्यपि ऐसा होना ही आवश्यक होता है यह न तो हम कह ही सकते हैं और न इस सम्बन्ध में कोई समुचित तर्क अथवा कारण ही दे सकते हैं। सम्भवतः प्रतिद्वन्दिता भी जीवित रह पाने के लिए होने वाले संघर्ष का ही एक अंग है। समूहों में प्रतिद्वन्दिता का भी सामूहिक रूप होता है। युद्ध इसी प्रकार के सामूहिक विरोध अथवा प्रतिद्वन्दिता का ही परिणाम होता है। प्रायः विश्व में आज दिन तक कभी भी कोई ऐसा युग नहीं देखा गया है जब कि सामूहिक प्रतिद्वन्दिता अथवा विरोध नहीं था। इस प्रकार के विरोध के विभिन्न कारण हो सकते हैं। जन संख्या का इतना अधिक बढ़ जाना कि वह प्राप्त भूमि और सुविधाओं से ही सन्तुष्ट न रह सके, कम सुविधा प्राप्त अधिक जनसंख्या वाले समूह को अधिक सुविधा प्राप्त कम जनसंख्या वाले समूह के विरोध में खड़ा कर सकता है। गत युद्ध का एक कारण यह भी था कि यद्यपि यूरोप के कई एक देशों की जनता में उत्पादन शक्ति और उत्पादन कर पाने योग्य बुद्धि एवं क्षमता थी, वे उत्पादन करते भी थे किन्तु उन सब ही को विश्व में ऐसे बाजार प्राप्त नहीं थे जहाँ कि वे उत्पादित वस्तुओं की खपत कर सकें। कुछ देशों को तो ऐसी सुविधा आवश्यकता से अधिक प्राप्त थी और कुछ के पास कोई भी बाजार नहीं था। भारत, चीन आदि देशों को बाजार रूप में लिया जाता था किन्तु इन पर किसी देश विशेष के राजनीतिक अधिकार होने के कारण उन्हों की आर्थिक सत्ता भी होती थी और शासक वर्ग अपने देश के अतिरिक्त अन्य देशों के उत्पादकों के प्रति सदय नहीं होते थे जो कि स्वाभाविक ही था अतः वैज्ञानिक दृष्टि से कुशल तथा उत्पादन शक्ति प्राप्त देशों के हृदय में उन देशों अथवा समूहों के प्रति प्रतिस्पर्धा एवं विरोध की भावना उत्पन्न हो गई जो कि उत्पादन सम्बन्धी कुछ कम ही अथवा बराबर की योग्यता रखते हुए भी उन्हें बाजार नहीं प्राप्त होने देते थे। सामूहिक विरोध अथवा प्रतिद्वन्दिता के कारणों में आर्थिक, राजनीतिक यहाँ तक कि धार्मिक विश्वास भी सम्मिलित किये जा सकते हैं। यदपि आज दिन के विरोधों का कारण मुख्यतः आर्थिक ही होता है फिर भी कुछ ही काल पूर्व तक धार्मिक विश्वासों में मतभेद होने के कारण भी सामूहिक विरोध और युद्ध हुआ करते थे। संस्कृति सम्बन्धी अथवा व्यक्ति सम्बन्धी उच्चता का अभिमान भी विरोध का एक कारण हो सकता है।

अन्तःसमूहप्रतिद्वन्द्विता अथवा तज्जन्य विरोध विभिन्न रूप से प्रकट किया जा सकता है। इस प्रकार के विरोध किसी एक ही देश अथवा समाज के भीतर विभिन्न समूहों के बीच हो सकते हैं और विभिन्न देशों के विभिन्न समाजों के बीच भी हो सकते हैं। इन्हें प्रकट करने की रीति एक समूह का दूसरे पर आक्रमण करना है। आक्रमण शरीर पर भी हो सकता है और विचारों आदि पर भी। युद्ध, दंगे, फौजदारी, दलबन्दी और इसी प्रकार के अन्य हिंसात्मक संगठन विरोध के ही फल होते हैं। इस प्रकार की घटनाएं होती हैं और समाप्त भी हो जाती हैं किन्तु किसी भी दृष्टि से इनका प्रभाव उन दोनों ही समूहों पर अच्छा नहीं पड़ता है जिनमें कि परस्पर विरोध है क्यों कि युद्ध, दंगे आदि पारस्परिक विरोध को तो प्रकट कर देते हैं किन्तु उन अवस्थाओं में सुधार नहीं कर पाते हैं जिनके कारण इस प्रकार के विरोध का जन्म होता है। विरोध भी प्रत्यक्ष और परोक्ष दो प्रकार के होते हैं। विरोध का प्रत्यक्ष रूप तो युद्ध दंगों आदि में प्रकट हो जाता है किन्तु परोक्ष रूप होता है समूह का मर्यादा पर आक्रमण करना। विरोध के और भी कई रूप होते हैं जैसे तोड़ फोड़ करना। इस प्रकार के विरोध का जन्म प्रायः पूंजीपति और श्रमिक के बीच उत्पन्न विरोध के फलस्वरूप ही होता है। विरोध किसी न किसी प्रकार के एक समूह द्वारा दूसरे समूह पर होने वाले आक्रमण से ही जाना जाता है। विरोध एक असामाजिक अथवा समाज विरोधी क्रिया है और इससे छुटकारा तब ही पाया जा सकता है जब कि विरोध उत्पन्न करने वाली अवस्थाओं से बचा जा सके जो कि कठिन अवश्य है।

अन्य सामाजिक प्रक्रियाएँ—अभी तक हमने मानव के जितने भी सामाजिक सम्बन्ध देखे हैं वह उसके व्यवहार से ही जाने जाते हैं। वस्तुतः सामाजिक व्यवहार ही समाज के अस्तित्व को बनाए रखता है और सामाजिक व्यवहार का कारण मनुष्य की कोई नैसर्गिक प्रवृत्ति अथवा नैसर्गिक संस्कार नहीं है वरन उसकी सामाजिक आवश्यकताएं हैं और ये आवश्यकताएं, उसकी शारीरिक मांगें नैसर्गिक अवश्य हैं। मानव के सामाजिक व्यवहार का आधार हैं अन्तःक्रियाएं। एक मानव दूसरे मानव से सम्बन्धित होता है। इस प्रकार के अन्तः सम्बन्ध एवं अन्तः क्रिया की प्रेरणा उन्हें एक दूसरे के सामीप्य से प्राप्त होती है। केवल मात्र शारीरिक सामीप्य ही नहीं

धरन गुण स्वभाव की किसी एक सीमा तक एकता उन्हें अन्तःक्रिया आरम्भ करने के लिए प्रेरित करती हैं जैसे हितों का एक सा होना, गुण स्वभाव की एकता, कार्य क्षेत्र की एकता आदि। इनमें से किसी एक भी प्रकार का सम्बन्ध न होने से तो अन्तःप्रेरणा का होना ही कठिन होगा और उस अवस्था में अन्तः क्रिया उत्पन्न कहाँ से होगी। वास्तव में अन्तःक्रिया का जन्म दो व्यक्तियों की समीपता से तो होता है किन्तु उसके अतिरिक्त भी प्रेरणा की आवश्यकता होती है। दो व्यक्ति पड़ोसी होते हुए, एक दूसरे को देखते हुए भी वर्षों अन्तः क्रियाविहीन जीवन यापन कर सकते हैं अतः अन्तःक्रिया के लिए अन्तः प्रेरणा का होना आवश्यक है। किसी एक ओर से प्रेरणा पाकर एक व्यक्ति आरम्भ करता है फिर उसकी प्रतिक्रिया होती है और फिर उस प्रतिक्रिया से प्रेरणा उत्पन्न होती है और इसी प्रकार प्रेरणा प्रतिक्रिया के द्वारा दो व्यक्तियों में सम्बन्ध स्थापित होता ही चला जाता है। इसी चक्र को अन्तःक्रिया कहते हैं। इस प्रकार की अन्तःक्रिया में प्रेरणा और प्रतिक्रिया भिन्न-भिन्न न रह कर एक ही हो जाती है।

सामाजिक क्रियाओं, अन्तर्क्रियाओं का अध्ययन हम विभिन्न समूहों अथवा समष्टि को लेकर करते हैं व्यक्तियों को नहीं। सामूहिक अन्तःप्रेरणा एवं सामूहिक प्रतिक्रिया ही सामूहिक व्यवहार से सम्बन्धित होती हैं। सामाजिक अन्तः क्रियाओं के लिए भी उसी प्रकार सामान्य की आवश्यकता है जिस प्रकार कि व्यक्तियों के बीच अन्तःक्रिया स्थापित कर पाने के लिए होती है। सामूहिक व्यवहार और तत्सम्बन्धी अन्तःक्रियाओं की स्थापना के लिए भाषा, एक दूसरे से अनुकूलता स्थापित करने, अन्तःसम्बन्ध स्थापित करने और हितों तथा उद्देश्यों की एकता का भी आश्रय लिया जाता है। प्रायः मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मानसिक एकता भी अन्तःक्रिया स्थापित करने में सहायक होती हैं। सामाजिक अन्तःक्रिया दो ही रूपों में अथवा अवस्थाओं में दिखाई देती है, एक है नेतृत्व और दूसरी सदस्यता। सदस्यता स्थायी भी हो सकती है और आकस्मिक भी। जिस प्रकार की सदस्यता होगी उसी के अनुरूप व्यवहार भी होगा। स्थायी सदस्यता के साथ उत्तरदायित्व की भावना अधिक दृढ़तापूर्वक संलग्न होती है।

किसी भी समाज अथवा समूह का स्थायी सदस्य भीड़ के सदस्य होने के नाते जो कार्य करता उसकी स्थायी सदस्य के पद से

अपेक्षा कहीं अधिक उत्तरदायित्व पूर्ण ढंग से कार्य करेगा और उसका ऐसा करना स्वाभाविक ही है। यह तो हम यथास्थान देख ही चुके हैं कि किसी भी समाज की संस्कृति का निर्माण करने वाले समूह अथवा संस्थाएं स्थायी ही हुआ करती हैं आकस्मिक नहीं।

सामाजिक जीवन का आधार तो अन्तःक्रियाएं अथवा सामाजिक व्यवहार होता ही है और इन्हें लिये दिये ही सामाजिक प्रक्रियाएं चलती हैं अतः हमें समूहों के अन्तःसम्बन्ध और उनकी यथार्थावस्था को वैज्ञानिक ढंग से समझ पाने के लिये सामाजिक प्रक्रियाओं का अध्ययन करना होता है। इनमें से कुछ सामाजिक प्रक्रियाओं की चर्चा हम कर चुके हैं। वास्तव में एक समाज अथवा समुदाय में एक ही समय में कई एक प्रक्रियाएं कार्य कर सकती हैं। उन विभिन्न प्रक्रियाओं का परस्पर सम्बन्ध हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है। एक ही समाज में शत्रु के प्रति विरोध की भावना और शत्रु को परास्त कर पाने के लिये आपस में एकीकरण, सहयोग एवं सहकारिता की भावनाओं का कार्य भी चल सकता है। हमारे व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों ही प्रकार के जीवन में एक ही व्यक्ति में भी एक ही समय पर विभिन्न प्रक्रियाएं कार्य करती हुई मिल सकती हैं। हम किसी से सहयोग करते हैं और किसी से प्रतिस्पर्धा, किसी से अनुकूलता प्राप्त करने के प्रयत्न होते रहते हैं और किसी से विरोध चलता रहता है। इसी प्रकार विभन्न समूहों में भी अपने ही भीवर तथा बाहर आपस में विभिन्न प्रक्रियाएं चलती रहती हैं। इन प्रक्रियाओं में से प्रमुख सहकारिता और सहयोग, प्रतियोगिता अथवा प्रतिस्पर्धा और विरोध अथवा प्रतिद्वन्दिता की चर्चा तो हम कर चुके हैं। अनुकूलता (Accomodation), समीकरण (adjustment), सात्मीकरण (Assimilation), और सुझाव (suggestion) को भी सामाजिक प्रक्रियाओं में सम्मिलित किया जा सकता है। वस्तुतः सामाजिक जीवन में अनुकूलता स्थापित करने का भी महत्व होता ही है। विभिन्न समूह अथवा समाज परस्पर विरोध का ही सम्बन्ध रखते हों, ऐसी बात नहीं है। प्रतियोगिता समूहों को, प्रतियोगियों को प्रेरणा देकर प्रगति शील बनाती है, उनको आगे बढ़ाती है। यद्पि उनमें से प्रत्येक अपने मार्ग को ही प्रशस्त करते हुए आगे बढ़ते हैं किन्तु कोई और भी

बढ़ रहा है और वह कहीं हमसे आगे न बढ़ जाए इस प्रकार की प्रतिस्पर्धा प्रत्येक प्रतियोगी को प्रेरणा और बल प्रदान करती है। यूं दोनों में से सफलता तो एक ही को मिल सकती है। फिर भी प्रेरणा और बल तो दोनों को ही मिलता है। किसी दूसरे समूह से की जानेवाली प्रतियोगिता में सफलता प्राप्त करने के लिए समूह की सब ही आन्तरिक शक्तियां परस्पर सहयोग देती हैं और सहकारिता के आधार पर समूह प्रगति करता जाता है। प्रतिद्वन्दिता दो समूहों को विरोध की ओर ले जाती है और एक दूसरे से विरोध का ही सम्बन्ध स्थापित हो जाने पर परिणामस्वरूप एक दूसरे पर आक्रमण होते हैं जिनका कि प्रकट स्वरूप युद्ध, दंगे, तोड़ फोड़, एक दूसरे की हानि करना आदि होता तो है किन्तु केवल मात्र यही होता हो, ऐसी बात भी नहीं है। युद्ध के पश्चात सन्धि भी तो होती ही है, दंगों के पश्चात शान्ति और हड़तालों के पश्चात समझौते आदि एक दूसरे से अनुकूलता प्राप्त करने के ही तो प्रयत्न हैं। समूहों की भी परस्पर एक दूसरे के प्रति हिंसात्मक प्रवृत्ति ही नहीं होती है सहानुभूति भी होती है और सन्धि अथवा समझौता उसी के आधार पर किया जाता है। अनुकूलता प्राप्त करने के लिए किसी न किसी रूप में समीकरण स्थापित करना आवश्यक हो जाता है। दूसरे के मत को ही ग्रहण कर पाना अथवा ऐसे दृष्टि कोण का लेना जिसमें कि दूसरे पक्ष के साथ अपना एकीकरण हो जाए सात्मीकरण कहा जा सकता है और प्रायः सुधारकों की तो सामाजिक एवं सामूहिक जीवन में बड़ी आवश्यकता होती है।

सब ही सामाजिक परवर्तन इन्हीं सामाजिक प्रक्रियाओं के फल होते हैं। सामाजिक परिवर्तन का रूप भले ही चक्र की भान्ति माना जाए अथवा विकास के रूप में अथवा उन्नति के रूप में, सामाजिक प्रक्रियाओं का महत्व तो प्रत्येक अवस्था में बना ही रहता है और इन्हीं के द्वारा सब ही प्रकार के सामाजिक परिवर्तनों का होना सम्भव होता है अतः समाज शास्त्र से सम्बन्धित किसी भी प्रकार के अध्ययन में इनका एक बहुत महत्वपूर्ण स्थान होता है। सामाजिक जीवन की ये प्रक्रियाएं जिस प्रकार सामूहिक जीवन में लागू होती हैं उसी प्रकार व्यक्ति के सामाजिक जीवन में भी इनका महत्व रहता ही है।

अध्याय १०

जन-संख्या

जन-संख्या—यह तो हम देख ही चुके हैं कि समुदाय उन व्यक्तियों एवं समूहों से ही मिलकर बनता है जो कि एक दूसरे से सम्बन्धित होते हैं और एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। जब कि कुछ व्यक्ति एक ही क्षेत्र में वास करते हैं और यातायात, संवादवहन अथवा अन्य उपायों से परस्पर सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं, तो उन व्यक्तियों में कुछ व्यापक सामाजिक एवं सांस्कृतिक विशेषताएँ उत्पन्न हो जाती हैं और वे लोग समुदाय के रूप में सङ्गठित हो जाते हैं। एक ही स्थान में वास करनेवाले व्यक्तियों में तो स्थानीय अथवा क्षेत्रीय सम्बन्ध स्थापित हो ही जाते हैं किन्तु ये सम्बन्ध स्थायी तो होते नहीं। इनके परिवर्तित हो जाने पर इनसे सम्बन्धित उस समूह की सामाजिक प्रथाएँ तथा संस्थाएँ आदि भी नवीन वातावरण में फिर से समीकरण स्थापित करने के लिए तत्पर हो जाती हैं। प्रायः समुदाय के वातावरण में परिवर्तन उसकी जन-संख्या में परिवर्तन होने के ही कारण हुआ करते हैं। समुदाय की जन-संख्या में वृद्धि होने से उस समुदाय की संस्थाओं आदि में कुछ न कुछ परिवर्तन भी होता ही है और समीकरण स्थापित करने की भी आवश्यकता होती ही है। समुदाय तो सांस्कृतिक दृष्टि से संगठित जनसमूह भी है और भौगोलिक दृष्टि से जनसमूह का एक स्थान पर बसना भी। इन दोनों को मिलाकर ही समुदाय बनता है। बहुत से लोग यदि एक ही स्थान पर अथवा एक ही क्षेत्र में बस जायँ तो भी उनका राशीकरण समुदाय नहीं कहा जा सकता। समुदाय बन सकने के लिए उनका सांस्कृतिक दृष्टि से एक होना भी तो आवश्यक है और ऐसा तब ही हो सकता है जब कि वे एक सी प्रथाएँ, भावनाएँ, हित, सामाजिक परम्पराएँ आदि बना सकें। कोई भी समुदाय एकाकी नहीं होता है। वह तो किसी न किसी बड़े क्षेत्र का अंग ही होता है अतः उसका अध्ययन अन्य समुदाय से सम्बन्धित रूप में ही किया जा सकता है और उसी दृष्टि से उसकी जन-संख्या का विभाजन अथवा स्थानीकरण भी समझा जा सकता है। यह तो हम यथास्थान देख ही चुके हैं कि प्रायः विभिन्न क्षेत्र अथवा

भूखण्ड भौगोलिक दृष्टि से अपनी-अपनी विशेषताएँ रखते हैं और यद्यपि वे ही एकमात्र जन-संख्या को प्रभावित करने का कारण नहीं होती है फिर भी जन-संख्या के विभाजन और समुदाय के बनने आदि में उनका प्रभाव तो रहता ही है। उन प्रभावों पर तो हम एक दृष्टि डाल भी चुके हैं।

जन-संख्या निर्माण और उसका स्वरूप—प्रत्येक समुदाय में जन-संख्या की दृष्टि से विविधता दिखाई देती ही है। इस प्रकार की विविधता और भिन्नता एक समुदाय से दूसरे समुदाय को भिन्न तो करती ही हैं फिर भी प्रत्येक समुदाय अपनी-अपनी विशेषता को भी स्पष्ट करता है। इन विविधताओं और भिन्नताओं के प्रकार एवं साँचों का ही अध्ययन इस स्थान पर किया जा सकता है। जन-संख्या के प्रकारों और विविधताओं का आधार रक्त-सम्बन्धी जाति-व्यवस्था, लिंग, आयु, व्यावसायिकवर्ग आदि हो सकते हैं। इनके अतिरिक्त नागरिकों में शिक्षित, अशिक्षित, विदेशी विभिन्न सम्प्रदाय आदि भेद-प्रभेद भी किये जा सकते हैं। प्रायः किसी भी समुदाय की जन-संख्या में स्त्री और पुरुष तो पाये ही जाते हैं और उन स्त्री और पुरुषों में भी आयु, शिक्षा, धार्मिक विश्वास, व्यवसाय आदि के आधार पर वर्ग-भेद किये जा सकते हैं।

किसी भी समुदाय की जन-संख्या में किसी रक्तविशेष के ही व्यक्तियों का होना अथवा न होना अथवा मिश्रित रक्त के व्यक्तियों का होना अथवा विभिन्न रक्त-सम्बन्धों के व्यक्तियों का होना उस समुदाय की सामाजिक स्थिति पर प्रभाव डालता है। यों तो प्रायः एक समुदाय में एक ही रक्त के व्यक्ति अधिकतर पाये जाते हैं किन्तु आधुनिक समुदायों में मिश्रित एवं विभिन्न रक्त के व्यक्ति भी मिल सकते हैं। अमेरिका जैसे विशाल भू-खण्डों में विभिन्न रक्त, भाषा और विशेषताओंसहित व्यक्ति भी दिखाई देते हैं। भारतवर्ष में भी हिमालय से कन्याकुमारी तक एक ही रक्त के व्यक्ति बसे हुए हैं यह कहना कठिन है क्योंकि भाषा, धार्मिक विश्वास आदि की विविधता एवं विभिन्नता तो पूर्णरूपेण स्पष्ट है ही। यद्यपि फ्रान्स, जर्मनी, चीन, जापान, इँगलैण्ड आदि कुछ देशों में रक्त की दृष्टियों से जन-संख्या में बहुत कुछ समता दिखाई देती है किन्तु अन्य दृष्टियों से थोड़ी बहुत विविधता भी दिखाई दे ही जाती है।

किसी भी समुदाय की जन-संख्या में स्त्री और पुरुष में से किसी एक की संख्या का न्यून अथवा अधिक होना उनमें से प्रत्येक के जन्म की

संख्या एकत्रित करने से ही स्पष्ट हो जायगा। जन-संख्या पुरुष और स्त्री में विभक्त होती है।

जन-संख्या विभाजन विभिन्न आयु के अनुसार भी की जा सकती है। इस प्रकार के विभाजन का सामाजिक दृष्टि से विशेष महत्त्व होता है। किसी भी समुदाय का आर्थिक विकास और आर्थिक व्यवहार उस समूह की आयु की दृष्टि से विविधता दिखाता है। उत्पादन-शक्ति की दृष्टि से प्रायः वृद्ध और बालक उतने अधिक उपयोगी नहीं होते। क्योंकि उनकी उत्पादन शक्ति तो सीमित ही होती है युवकों की अपेक्षा न्यून भी होती हैं किन्तु उत्पादन करना किसी आयुविशेष के ही व्यक्तियों का काम नहीं होता है क्योंकि कम आयु के बालक और बड़ी आयु के वृद्ध भी उत्पादन के कार्यों में लगे रह सकते हैं किन्तु साधारणतया उनकी उत्पादन कर पाने की शक्ति युवकों की अपेक्षा न्यून ही होती है फिर भी अपवाद स्व कहीं पाये जा सकते हैं। अधिकतर उत्पादन-कार्य तेरह, चौदह वर्ष की आयु के बालक से लेकर पैंतालीस, पचास वर्ष के पुरुषों तक के द्वारा ही किया जाता है। इस प्रकार उत्पादन-कार्य अधिकतर जन-संख्या के एक भाग के ही द्वारा किया जाता है। उस श्रेणी के भी सभी व्यक्ति उत्पादन-कार्य में संलग्न हों ही यह भी आवश्यक नहीं होता है क्योंकि उनमें शारीरिक दृष्टि से अयोग्य, विक्षिप्त आदि भी तो हो सकते हैं। कुछ देशों में इसी श्रेणी के कुछ लोग ऐसे भी होंगे जो कि उत्पादन-कार्य के योग्य हैं, करना भी चाहते हैं किन्तु बेकारी के कारण मारे-मारे घूमते हैं। यदि यह मान भी लिया जाय कि एक विशेष आयु के भीतर के व्यक्ति उत्पादन-कार्य करते हैं तो भी उसमें नीचे और ऊपर की आयु के व्यक्ति तो आर्थिक दृष्टि से उन पर ही आश्रित रहते हैं अतः देश की अर्थनीति पर उसके आयु के आधार पर देखे जानेवाले वर्ग प्रभाव डालते ही हैं। यही नहीं, आयु के आधार पर समुदाय के कर्म-सम्बन्धी जीवन के भी कुछ पक्षों को देखा जा सकता है। आयु के आधार पर जन-संख्या का विभाजन समुदाय की व्यावसायिक, मनोरंजन-सम्बन्धी, राजनीतिक, धार्मिक, शिक्षा सम्बन्धी क्रियाओं आदि पर भी प्रभाव डालता है। कुछ कार्य तो विशेष आयु के व्यक्तियों तक ही सीमित रहते हैं। प्रायः मनोरंजन के प्रतिमान भी आयु के साथ ही साथ परिवर्तित होते रहते हैं।

एक विशेष आयु में जो मनोरंजन भले लगते हैं आवश्यक नहीं है कि आयु बढ़ जाने पर भी वही अच्छे लगें। इसी प्रकार धार्मिक, राजनीतिक,

शिक्षा एवं प्रशासन-सम्बन्धी क्रियाएँ भी आयु के साथ-साथ परिवर्तित होती रहती हैं। जन्म और मरण की संख्या और तत्सम्बन्धी आयु विवरण भी सामाजिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण अध्ययन हैं।

विवाह योग्य आयु और विवाहों की संख्या भी सामाजिक दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण अध्ययन है। प्रायः सभी देशों एवं समुदायों में विवाह योग्य आयु भी घटती-बढ़ती रहती है तथा विवाहित व्यक्तियों की संख्या भी विभिन्न काल में भिन्न-भिन्न हो सकती है। यूरप, अमेरिका आदि में विवाहित एवं अविवाहित स्त्री-पुरुषों की, तलाकों की तथा हमारे देश में विधवाओं की संख्या भी अध्ययन का विषय हो सकते हैं।

जन-संख्या का विभाजन उन व्यवसायों एवं कामों के आधार पर भी किया जा सकता है जिनमें कि देशवासी लगे होते हैं। प्रमुख कार व्यवसायों में कृषि, उत्पादन, व्यापार, प्रशासकीय नौकरियाँ, अध्यापन, घरेलू और व्यक्तिगत नौकरियाँ आदि गिने जा सकते हैं। इनके अतिरिक्त भी अन्य अनेकों व्यवसायों की चर्चा की जा सकती है तथा इनमें भी विभाग एवं उप-विभाग आदि किए जा सकते हैं। बेकारों की संख्या भी देखी जा सकती है। प्रायः देश के कुछ भागों में अन्य भागों की अपेक्षा एक विशेष प्रकार के व्यवसाय का अधिक प्रचलन होना सम्भव है। किसी भी देश में उद्योगीकरण और व्यवसाय तथा व्यापार-सम्बन्धी विकास उस देश की जन-संख्या के व्यावसायिक आधार पर हुए विभाजन को परिवर्तित कर देते हैं किन्तु व्यवसाय और व्यापार आदि के विकास पर सभ्यता के विकास, वैज्ञानिक खोजों, कच्चे माल तथा नवीन उत्पादन-सम्बन्धी प्रयोगों आदि के आविष्कार आदि का घना प्रभाव पड़ता है। यातायात-सम्बन्धी सुविधाओं का स्थान भी इस दृष्टि से नगण्य नहीं है।

स्थान-सम्बन्धी प्रतियोगिता—वस्तुतः भोजन और स्थान ये दो ऐसी प्रमुख वस्तुएँ हैं जिनके लिए मानव को जीवित रह पाने की दृष्टि से संघर्ष करना ही पड़ता है। वास्तविक समस्या तो जन-संख्या और स्थान तथा प्राकृतिक देन के अनुपात की ही है। विश्व में स्थान और खाद्य सामग्री तो सीमित ही है और उसे इच्छानुसार बढ़ाया नहीं जा सकता है। किसी भी प्रकार के जीवीय अस्तित्व का आधार उसका जीवित रहने के लिए स्थान और भोजन पाना ही है। यदि स्थान और खाद्य वस्तुएँ असीम होतीं तो किसी प्रकार की कठिनाई इन्हें लेकर उत्पन्न ही न होती किन्तु वास्तविकता तो ऐसी है नहीं अतः जीवित रहने के लिए घना संघर्ष करना पड़ता है और इस प्रकार के संघर्ष को पार करके कुछ ही प्राणी जीवित

रह पाते हैं। जो इस प्रकार के संघर्ष में से भी जीवित रह जाते हैं वे या तो अन्य जीवियों को नष्ट करके जीवित रहते हैं अथवा उन्हें अपने लिए खाद्य वस्तुएँ बना लेते हैं।

जीवित रहने के लिए चलनेवाले संघर्ष और तत्सम्बन्धी प्रतियोगिता में प्राय: तीन प्रकार के प्रतियोगी भाग लेते हैं। उनमें से एक तो होती हैं प्राकृतिक शक्तियाँ, दूसरे विभिन्न प्रकार के प्राणी और तीसरे विभिन्न प्रकार के मानव प्राणी। प्रकृति की मानव-जीवन के लिए नकारात्मक और सकारात्मक दोनों ही प्रकार की सेवाओं की आवश्यकता है। जीवन के योग्य प्राकृतिक अवस्थाएँ न होने पर भी तो जीवन नहीं रह सकता है अर्थात् एक विशेष तापमान, भोजन, जल आदि के बिना भी मानव जीवित नहीं रह सकता है। यदि प्रकृति मानव को ये वस्तुएँ प्रदान न करे तो मानव जीवन चिन्ता में पड़ सकता है और नष्ट भी हो सकता है। दूसरी ओर प्रकृति अपने कुछ कार्यों द्वारा भी जैसे कि आँधी, तूफान, भूचाल आदि, मानव जीवन को नष्ट कर सकती है अत: जीवित रह पाने के लिए मानव को प्रकृति के सहयोग की आवश्यकता है। विभिन्न प्रकार के प्राणी भी आपस में जीवन के लिए संघर्ष करते रहते हैं। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण समस्या तो भोजन की प्राप्ति है। विश्व में भोजन तो सीमित ही है किन्तु सभी प्राणियों की संख्या में वृद्धि होना भी अनिवार्य है अत: जीवित रह पाने के लिए सब ही उस सीमित मात्रा में उपलब्ध भोजन की प्राप्ति करना चाहते हैं। कुछ प्राणी तो दूसरे प्राणियों को खाकर ही स्वयं जीवित रह पाते हैं। उदाहरणार्थ—कुछ पशु वनस्पति को खाकर जीवित रहते हैं। चिड़ियाँ कीड़े-मकोड़ों का भक्षण करती हैं। कुछ पशु अन्य पशुओं को खाद्य पदार्थ मान लेते हैं। मानव वनस्पति और पशु दोनों को ही खाकर जीवित रहता है। यही नहीं, कुछ प्राणियों के लिए खाद्य-सामग्री एक ही होती है अत: उसकी प्राप्ति के लिए भी छीना-झपटी, संघर्ष होता ही है। उस खाद्य पदार्थ पर भी कभी कभी टिड्डियों आदि का हमला हो जाता है और वह नष्ट हो जाता है। एक ही प्रकार के प्राणियों में जीवित रहने के लिए होनेवाले संघर्ष भी कुछ अपरिचित और विचित्र नहीं हैं।

सामाजिक प्रतियोगिता—मानव जीवित रहना चाहता है और इसी लिए वह युग-युगान्तर से प्रकृति तथा अन्य प्राणियों के साथ जीवित रहने के लिए संघर्ष करता रहा है। इस प्रकार के संघर्ष का प्रमुख ध्येय स्थान और पर्याप्त मात्रा में खाद्य वस्तुओं की प्राप्ति ही है। प्रागैतिहासिक

अथवा सभ्यता से पूर्व के मानव समाज के अधिकांश युद्धों का कारण भोजन सामग्री-सम्बन्धी प्रतियोगिता ही होती थी। किसी एक क्षेत्रविशेष की जन-संख्या वृद्धि पर या तो खाद्य सामग्री में भी उसी अनुपात से वृद्धि कर पाना आवश्यक हो जाता था और या परस्पर युद्ध होने लगते थे जिनमें कि कुछ लोगों का नष्ट होना अनिवार्य ही था।

यों तो किसी भी क्षेत्र में पाये जानेवाले प्राकृतिक पदार्थ, उस क्षेत्र की प्राकृतिक देन यह निश्चित कर सकती है कि उस क्षेत्र में किस सीमा तक जन-संख्या-वृद्धि हो सकती है क्योंकि उस जीवित रहने के लिए पर्याप्त सामग्री उत्पन्न करने में अधिक परिश्रम करके कुछ वृद्धि तो की जा सकती है, पर वह भी तो सीमित ही है। विश्व की जन-संख्या का वितरण, विभाजन खाद्य-सामग्री के उपलब्ध होने के आधार पर तो हुआ नहीं है अतः ऐसे भी स्थान विश्व में हैं जहाँ का अन्न-उत्पादन वहाँ की जन-संख्या की आवश्यकता से अधिक है। ऐसी अवस्था में उपाय केवल यही हो सकता है कि जिन क्षेत्रों में अन्न अधिक उत्पन्न होता है उन क्षेत्रों से लेकर जहाँ अन्न का उत्पादन कम है किन्तु जन-संख्या अधिक है, कुछ अन्न भेज दिया जाय।

इससे यह तो स्पष्ट ही हो गया है कि विश्व में कुछ ऐसे भी क्षेत्र हैं जो कि खाद्य सामग्री की प्राप्ति के लिए अन्य क्षेत्रों पर आश्रित रहते हैं। अतः सामाजिक अन्योन्याश्रय के सम्बन्ध के विकास की आवश्यकता पड़ी ही है क्योंकि कुछ क्षेत्रों की विभिन्न माँगों की पूर्ति के लिए एकमात्र उपाय उनका अन्य क्षेत्रों पर आश्रित रहना ही होता है किन्तु ये कार्य केवल दया-भाव से ही होता हो ऐसी बात नहीं है। जो क्षेत्र उन्हें अन्न भेजते हैं वे बदले में कुछ अन्य पदार्थ, बनी हुई वस्तुएँ अथवा सेवाएँ लेते हैं। इस प्रकार का अन्योन्याश्रय का सम्बन्ध तभी चल सकता है जब कि यातायात और संवादवहन की पूरी सुविधाएँ हों। इस प्रकार की सुविधाएँ उत्पन्न करने का अर्थ है एक जटिल सामाजिक व्यवस्था की स्थापना जिसमें न केवल यातायात और संवादवहन की सुविधाएँ ही सम्मिलित होती हैं वरन् नगरों में घरों की व्यवस्था, वस्तुओं की अदला-बदली की व्यवस्था, समुदाय में वस्तुओं और सेवाओं आदि की अदला-बदली की व्यवस्था और कच्चे माल को बने माल के रूप में परिणत करने की सुविधाओं सम्बन्धी व्यवस्था भी होगी। यद्यपि विश्व के विभिन्न समुदायों में ऐसी व्यवस्थाओं की स्थापना की गई है फिर भी सामाजिक परिवर्तन तो होते ही रहते हैं और वे नवीन परिस्थितियों एवं वातावरण

के साथ नवीन ढंग से समीकरण स्थापित करना भी आवश्यक कर देते हैं।

मानव की माँगें, उसकी आवश्यकताएँ भी तो आज उतनी सरल नहीं रह गई हैं जितनी कि सभ्यता के आदिकाल में रही होंगी। आज मानव की प्रतियोगिता का विस्तार जीवित रहने के लिए होनेवाले संघर्ष से कहीं आगे बढ़ गया है। सभ्यता के विकास के साथ ही साथ मानव की माँगें विभिन्न प्रकार के आराम, सुख, सामाजिक सुविधाओं, रुचियों आदि तक भी विस्तृत हो गई हैं अतः अब वह अन्य मानवों के साथ केवल जीवित रहने के ही लिए संघर्ष नहीं करता है वरन् सभी प्रकार की सुख, सुविधाएँ पाने के लिए भी प्रतियोगिता करता रहता है। इन माँगों की पूर्ति इसलिये भी कठिन है कि उनका कहीं भी तो अन्त नहीं है। एक प्रकार की माँगों की पूर्ति होते ही दूसरे प्रकार की माँगें उत्पन्न हो जाती हैं और पहली माँगें भी अधिक विस्तृत होने लगती हैं। किसी एक युग में फाउन्टेन-पेन अज्ञात था तब भी मानव का काम काज तो चलता ही था। फिर यह एक वैभव माना जाने लगा किन्तु आज दिन यह हमारी घनी आवश्यकता की वस्तु है। इसी प्रकार विभिन्न देशकाल के अनुसार ही वस्तुओं की आवश्यकताएँ भी उत्पन्न होती रहती हैं। किसी एक समुदाय के लिये मोटर कार केवलमात्र वैभव और ऐश्वर्य का चिह्न है किन्तु किसी दूसरे समुदाय में वही जीवित रहने के लिए एक आवश्यक वस्तु बन गई है। इस प्रकार की अवस्था ने ही तो सभ्यता के विकास को सम्भव किया है। यदि इस प्रकार की प्रतियोगिता न होती तो सम्भवतः सभ्यता का विकास भी न हो पाता।

इस युग की अधिकांश प्रतियोगिता का प्रेरक कारण अधिकाधिक धन-प्राप्ति है जिससे कि प्रत्येक मानव अपना रहन-सहन का स्तर ऊँचा कर सके अर्थात् अधिकाधिक जीवन-सम्बन्धी सुविधाएँ अथवा सभ्यता की, वैज्ञानिक युग की देनों का प्रयोग कर सके। जन-संख्या की वृद्धि के साथ साथ इस प्रतियोगिता की तेजी भी बढ़ रही है। जन-संख्या ज्यों ज्यों बढ़ेगी एक ओर तो उपलब्ध सामग्री की वृद्धि के प्रयत्न किये जायँगे और दूसरी ओर राष्ट्रीय भावनाओं के आधार पर इस प्रतियोगिता में तीव्रता आती जायेगी। मानव समुदाय राष्ट्रीय भावनाओं को लेकर, राष्ट्रीय आधार पर अपने अपने राष्ट्रों के लिए विश्व व्यापार में, विश्व उत्पादन में और विश्व की इसी प्रकार की अन्य आर्थिक क्रियाओं में अधिकाअधिक सुविधाएँ प्राप्त करने के लिये प्रतियोगिता में संलग्न है। आज की प्रतियोगिता

मानव की मानव से होनेवाली होड़ नहीं है वरन् राष्ट्रों की राष्ट्रों से अथवा एक समुदाय की अथवा उसके एक अंग की दूसरे समुदाय से अथवा उसके एक अंग से होनेवाली प्रतियोगिता है। इस प्रकार की अधिकाधिक सुविधाएँ सत्ता के आधार पर ही तो प्राप्त होंगी अतः विश्व पर अधिकाधिक सत्ता प्राप्त करने के लिए भी विभिन्न राष्ट्रों में प्रतियोगिता हो रही है। इसे आर्थिक एवं राजनीतिक प्रतियोगिता कहा जा सकता है और जब यह प्रतियोगिता अपनी तीव्रता में एक विशेष कटुता के स्थान तक पहुँच जाती है तो परिणामस्वरूप युद्ध, विश्व-युद्ध होते हैं।

जन-संख्या का परिमाण—यद्यपि इस प्रकार की प्रतियोगिता से सम्बन्धित कुछ अन्य तथ्य भी हैं किन्तु स्थान और भोजन-सामग्री के अनुपात में जन-संख्या का परिमाण इनमें से एक महत्त्वपूर्ण, विचारणीय तथ्य है। इसके अतिरिक्त जन-संख्या के प्रकार और मानव की प्रतियोगिता-सम्बन्धी योग्यता पर भी ध्यान दिया जा सकता है। सभी मानव हर प्रकार से एक से तो होते नहीं हैं। शारीरिक और मानसिक दोनों ही दृष्टि से कुछ मानव औरों की अपेक्षा अधिक कुशल और कुछ कम कुशल होते ही हैं। प्रायः किसी भी समुदाय में साधारणतया अत्यधिक दुर्बल व्यक्ति से लेकर अत्यधिक शारीरिक दृष्टि से सशक्त व्यक्ति तक मिल जाते हैं। इसी प्रकार बौद्धिक दृष्टि से महा बुद्धिहीन, महा मूर्ख से लेकर अत्यन्त कुशाग्र बुद्धि, परम बुद्धिमान तक मिल जाते हैं। यह भी सम्भव है कि किसी क्षेत्र-विशेष के वासियों में एक प्रकार के व्यक्ति दूसरे प्रकार के व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक हों किन्तु परिमाण की अपेक्षा गुणों का मापना कुछ अधिक कठिन है। परिमाण में तो केवल संख्या की ही आवश्यकता है जो कि सरलता से जानी जा सकती है किन्तु गुणों के मापने के लिए तो कोई एक मापदण्ड भी चाहिए जो कि निर्धारित करना उतना सरल नहीं है।

साधारणतया गुणों का मापदण्ड स्वाभाविक से आरम्भ होता है किन्तु कितना कौन सा गुण स्वाभाविक माना जा सकता है यह निश्चित करना भी तो कठिन है। किसी एक क्षेत्र में जो गुण महान् माना जाता है किसी दूसरे क्षेत्र में वह साधारण और स्वाभाविक से भी निम्न हो सकता है अतः गुण अथवा योग्यता भी वातावरण विशेष के आधार को लेकर ही मापी जा सकती है। वस्तुतः जीवित रहने के लिए आवश्यक गुणों का निश्चय भी संघर्ष के स्वरूप, वातावरण की आवश्यकताओं और सामाजिक जीवन-विशेष के संगठन के आधार पर ही किया जा सकता है। ऐसे भौगोलिक क्षेत्र में जहाँ कि जलवायु और जंगली पशु मानव के लिए

अत्यधिक भयप्रद और असुविधाजनक है मानव के लिए जीवित रहने की योग्यता का मुख्याधार शारीरिक बल और प्राण-रक्षा सम्बन्धी कुशलता ही होगी किन्तु सभ्य समुदाय के किसी नगर में इस प्रकार की योग्यता एवं कुशलता जीवित रहने के लिए उतनी अधिक आवश्यक नहीं समझी जायगी जितनी कि अन्य प्रकार की योग्यता एवं कुशलता। दोनों समुदायों के सामाजिक संगठनों में भी आकाश-पाताल का अन्तर होना स्वाभाविक ही है। जन-संख्या पर उसके शारीरिक बल एवं मानसिक गुणों का प्रभाव तो पड़ता ही है, रक्त, लिंग, आयु, दाम्पत्य जीवन की अवस्थाओं आदि का भी प्रभाव पड़ता है क्योंकि ये सब तथ्य सामुदायिक जीवन की क्रियाओं, मानव के व्यापक सामाजिक अन्तःसम्बन्धों आदि पर भी अपना प्रभाव डालते हैं। अधिकतर तो ये सांस्कृतिक प्रतिमान, मानव के जीवन-सम्बन्धी संघर्ष अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बन जाते हैं।

मालथ्यूस का जन-संख्या सम्बन्धी सिद्धान्त—यों तो जन-संख्या सम्बन्धी कई एक सिद्धान्त मिलते हैं किन्तु मालथ्यूस का सिद्धान्त अन्य सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है। उनका मुख्य उद्देश्य तो मानव के दुःखों का ही अध्ययन करना था और इसी उद्देश्य को लेकर खोज करते हुए उन्होंने अपनी पुस्तक में अपने जन-संख्या-सम्बन्धी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। मालथ्यूस समय समय पर इसी पुस्तक के नवीन संस्करणों में नवीन विचार धाराओं का भी प्रतिपादन करते रहे। मालथ्यूस के जन-संख्या-सम्बन्धी सिद्धान्त के आधारस्वरूप दो प्रमुख मान्यताएँ हैं। एक तो यह है कि स्त्री और पुरुष दोनों में ही व्यापक रूप से भावनाओं और उत्तेजनाओं का अस्तित्व रहता ही है और दूसरा यह कि मानव के अस्तित्व के लिए भोजन की आवश्यकता है। उनके विचारानुसार यदि जनसंख्या की वृद्धि पर रोक न लगाई जाय तो वह खाद्य-सामग्री की वृद्धि के अनुपात से कहीं अधिक तेजी से होगी। यही कारण है कि जनसंख्या के अनुपात में खाद्य सामग्री न्यून हो जाती है। वह इसकी यह कह कर व्याख्या करते हैं कि जनसंख्या तो रेखागणित के नियमानुसार बढ़ती है उदाहरणार्थ १, २, ४, ८, १६, ३२, ६४ आदि किन्तु उसके पालनार्थ आवश्यक अन्य पदार्थ अंकगणित के नियमानुसार बढ़ते हैं जैसे कि १, २, ३, ४, ५, ६, ७ आदि अतः ऐसी ही अवस्था रहने पर कुछ ही दिनों में मानव जन-संख्या इतनी अधिक हो जायगी कि किसी प्रकार भी उसे बनाये रखना कठिन हो जायगा। अब भी जनसंख्या की वृद्धि और अन्य पदार्थों की वृद्धि के अनुपात में इतना अधिक अन्तर होने से ही

मानव का उन पदार्थों के लिए संघर्ष चलता रहता है और उसे कष्ट, क्लेश और दुःख का सामना करना पड़ता है। इसी से जनसंख्या में न्यूनता आती है।

जनसंख्या-वृद्धि पर रोक—जनसंख्या की वृद्धि पर कुछ रोकें भी होती ही हैं जैसे कि युद्ध, रोग, बालमृत्यु, अत्यधिक दरिद्रता और घनीभूत पीड़ा की अन्य ऐसी ही अवस्थाएँ। कुछ तो ऐसे दुःख हैं जो कि दरिद्रता से उत्पन्न होते हैं जैसे कि रोग, शोक आदि। पर्याप्त भोजन की कमी शरीर को दुर्बल और रोगों का घर कर ही देती है किन्तु कुछ अन्य ऐसी अवस्थाएँ हैं जिन्हें कि हम स्वयं ही उत्पन्न करते हैं जैसे कि युद्ध आदि। इस प्रकार की प्रत्यक्ष रोकें (positiue checks) जनसंख्या को न्यून करने का काम करती है और उस समय तक इनका प्रभाव रहता है जब तक कि जनसंख्या और खाद्य-सामग्री का अनुपात ठीक नहीं हो जाता है। एक बार ऐसा हो जाने पर फिर जनसंख्या में वृद्धि होने लगती है और फिर वही क्रम चलता रहता है। इन प्रत्यक्ष रोकों के अतिरिक्त मालथ्यूस कुछ अन्य रोकों (preuentiue checks) की भी चर्चा करते हैं। संयम, विवाह योग्य आयु का बढ़ाना, देर से अथवा बड़ी आयु में विवाह करना आदि अन्य प्रकार की रोकें हैं। ये रोकें यदि समाज में अनाचार एवं असन्तोष न फैलाएँ तो बहुत अच्छी हैं।

वस्तुतः मालथ्यूस ने तीन प्रमुख तथ्यों का प्रदिपादन किया। एक तो उन्होंने यह दिखाने का प्रयत्न किया कि जनसंख्या की सीमाएँ जीवित रहने की सुविधाओं और सामग्री का उपलब्ध होना है। जनसंख्या को जितनी खाद्य-सामग्री उपलब्ध हो सके उससे अधिक उसकी वृद्धि नहीं हो सकती है क्योंकि ऐसा हो जाने पर किसी न किसी प्रकार से अतिरिक्त संख्या का नष्ट किया जाना आवश्यक हो जायगा। खाद्य-सामग्री तो सीमित ही है अतः उसके अनुपात से अधिक होकर जनसंख्या जीवित किस प्रकार रहेगी। दूसरा तथ्य यह है कि जनसंख्या तो जब तक उसे नियन्त्रित, सीमित न किया जाय अथवा उस पर प्रबल रोक न लगाई जाय, बढ़ेगी ही और तब तक बढ़ती रहेगी जब तक कि खाद्य-सामग्री बढ़नी है। तीन उपायों से जनसंख्या खाद्य सामग्री के अनुपात पर रखी जाती है और वे उपाय हैं संयम, दुःख और अन्य प्रकार के कष्ट एवं अपराध। सम्भवतः उनका प्रमुख उद्देश्य इस सिद्धान्त के प्रतिपादित करने में यही दिखाना था कि मानव के दुःखों का मूल जनसंख्या-वृद्धि ही है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि मालथ्यूस ने जनसंख्या-सम्बन्धी इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करके एक नवीन दिशा की ओर संकेत किया किन्तु जन-संख्या की वृद्धि को गणित के आधार पर मापना कुछ बहुत ठीक नहीं जान पड़ता है। यह भी सन्देहा स्पद है कि मानव व्यवहार गणित के नियमों के अन्तर्गत आ भी सकता है अथवा नहीं। इससे अतिरिक्त जन-संख्या-वृद्धि के साथ सम्बन्धित और भी तो अनेक मानव व्यवहार और मानव के सामाजिक जीवन सम्बन्धी तथ्य हो सकते हैं जो कि ठीक-ठीक गणित के नियमों के अन्तर्गत किए गये अध्ययन के आस-पास कहीं अपना स्थान नहीं पाते हैं। जान पड़ता है कि इस प्रकार के सिद्धान्त को केवल मात्र एक स्थायी समाज में ही लागू किया जा सकता है क्योंकि इसमें समाज में होनेवाले विकासवादी परिवर्तनों एवं उन्नति के लिए तो पर्याप्त गुंजायश ही नहीं रखी गई है। सम्भवत: इस सिद्धान्त ने उन विभिन्न उपायों आदि पर भी पूरा ध्यान नहीं दिया है जो कि मानव ने अपनी वैज्ञानिक ज्ञान-वृद्धि के साथ ही साथ खाद्य-सामग्री की वृद्धि के लिए, उसे देर तक खाने योग्य बनाये रखने के लिये तथा तत्सम्बन्धी आवश्यकताओं में कुछ न्यूनता करने के लिए खोज निकाले हैं अत: यह कहना तो कठिन है कि यह सिद्धान्त किस सीमा तक मान लेने के योग्य है फिर भी इसका महत्त्व इस दृष्टि से तो मानना ही पड़ता है कि इसने विचारकों का ध्यान जनसंख्या-वृद्धि-सम्बन्धी समस्याओं की ओर आकर्षित किया। यह भी सत्य है कि जनसंख्या में वृद्धि खाद्य-सामग्री में वृद्धि की अपेक्षा अधिक शीघ्रता से होती है उनका अनुमान भले ही गणित के नियमों को लेकर ठीक ठीक न जाना जा सके। यह भी सत्य है कि मानव के अधिकांश दु:खों का कारण विश्व में उपलब्ध खाद्य-सामग्री की अपेक्षा जनसंख्या का अधिक होना ही है। यों तो परिवार नियोजन का जन्म रहन-सहन के स्तर ऊँचा करने की पुकार के ही कारण होने लगा था यह भी जन-संख्या की वृद्धि पर रोक लगाने का एक अच्छा उपाय है। अब भी परिवार नियोजन की चर्चा और उस पर कार्य करना उन्हीं परिवारों तक सीमित है जिनका रहन-सहन ऊँचा ही था। अधिकांश निम्न वर्ग के लोगों में सन्तान उत्पत्ति की संख्या अब भी न्यून नहीं हुई है अत: जनसंख्या की वृद्धि अब भी तेजी से हो रही है। और इसके साथ ही साथ मृत्यु की संख्या भी बढ़ ही रही है।

जनसंख्या नियन्त्रण के प्रयत्न—मानव जनसंख्या के नियन्त्रण की आवश्यकता को तो समझ गया है। यही नहीं, समाजशास्त्रीय और सामाजिक

संगठनों के नेता तो इस दिशा में भी प्रयत्नशील हैं कि जनता की संख्या के नियन्त्रण के साथ ही साथ उसके गुणों में वृद्धि की जाय। जनसंख्या नियन्त्रण का विचार किसी न किसी रूप में मानव-समाज में सदासर्वदा ही कार्य करता रहा है। किसी एक समय में भ्रूणहत्या, बालहत्या, बालिकाओं को जन्म लेते ही मार डालना, वृद्ध और अशक्त व्यक्तियों की हत्या कर डालना आदि प्रचलित था। आज के सभ्य समाज में इन उपायों को तो अच्छी दृष्टि से नहीं देखा जाता है। इन अमानुषिक कृत्यों को फिर से प्रचलित किया भी नहीं जा सकता है। किन्तु इनके स्थान पर सन्तति-निग्रह, बड़ी आयु में विवाह, प्रव्रजन आदि को प्रचलित किया जा रहा है। रहन-सहन के स्तर को ऊँचा करने की चिन्ता आज प्रायः सभी सभ्य देशों के नागरिकों को हो रही है और उसका उपाय जनसंख्या को सीमित और नियन्त्रित रखना तथा परिवारों को छोटा रखना ही है किन्तु जनसंख्या की वृद्धि पर रोक लगाना आज दिन व्यक्ति की ही इच्छा पर निर्भर है। यदि व्यक्ति अपने रहन-सहन के स्तर को ऊँचा करने की इच्छा से सन्तति-निग्रह करे तब ही जनसंख्या की अनियन्त्रित वृद्धि रोकी जा सकती है।

कहीं कहीं तो किसी किसी समूह की प्रवृत्ति अपने समूह की जनसंख्या की वृद्धि की ओर भी रहती है और इसी कारण से वह जनसंख्या वृद्धि के लिए जनता को प्रेरित भी करते हैं। सन्तानों की संख्या अधिक होने पर राज्य की ओर से पुरस्कार आदि दिये जाने की व्यवस्था की जाती है। धार्मिक दृष्टि से सन्ततिनिग्रह आदि को पाप भी घोषित किया जाता हैं। वस्तुतः युद्धों में अपनी शक्ति बढ़ाने की ही दृष्टि से कुछ राष्ट्र, समुदाय अथवा समूह अपनी जनसंख्या बढ़ाने के प्रयत्नों में संलग्न रहते हैं। जर्मनी के नात्सीज़म और इटली के फ़ासीजम में यही प्रवृत्ति दिखाई देती थी।

आधुनिक युग में कुछ दिनों से जनता की प्रवृत्ति गुणों की वृद्धि की ओर है। आधुनिक युद्धों में भी तो जनसंख्या का उतना अधिक महत्व नहीं रह गया है जितना कि बुद्धि का क्योंकि इस युग में युद्धों का आधार शारीरिक बल न होकर बुद्धि-बल ही होता है अतः प्रयत्न यह किया जा रहा है कि यथासम्भव विवाह-सम्बन्धी कानूनों द्वारा सामाजिक दृष्टि से अयोग्य व्यक्तियों के जन्म लेने पर ही रोक लगाई जाय। यद्यपि विश्व में कहीं और किसी भी समाज में इस प्रकार के नियन्त्रण के उपायों का

ठीक ढंग से विकास नहीं हो पाया है किन्तु लोग इस दिशा में प्रयत्नशील अवश्य हैं।

पिछले कुछ समय से जनसंख्या को लेकर इन्हीं तीन प्रकार के प्रयत्नों की ओर लोग बढ़ रहे हैं। लोगों का ध्यान तो जनसंख्या-सम्बन्धी समस्या की ओर दिनोदिन अधिकाधिक आकर्षित होता जा रहा है।

जनसंख्या पर विभिन्न प्रभाव—जनसंख्या की वृद्धि न्यून करने का एक उपाय है जन्मसंख्या न्यून करना और कुछ देशों में तो पिछले कुछ वर्षों में जन्मसंख्या में न्यूनता हुई भी है। इस प्रकार की न्यूनता के कई एक कारण हो सकते हैं। एक कारण तो परिवार नियोजन ही है। प्रायः इधर यह विश्वास ज़ोर पकड़ता जा रहा है कि एक परिवार में दो ही बच्चे होने चाहिए। बालकों की संख्या के विषय में मतभेद हो सकता है किन्तु प्रायः सभी विचारक इस प्रवृत्ति के तो हो ही गये हैं कि एक परिवार में बालकों की संख्या पहले की अपेक्षा अब कम ही होनी चाहिए। इस प्रकार के विचार को लेकर जो जान-बूझकर प्रयत्न किए जाते हैं, जन्मसंख्या में न्यूनता होने का एक कारण वे प्रयत्न भी हो सकते हैं। इस प्रकार जन्मसंख्या में सचेतन प्रयत्नों द्वारा न्यूनता लाने का सम्बन्ध सामाजिक प्रतियोगिता, औद्योगीकरण, व्यक्तिवाद आदि से सम्बन्धित प्रक्रियाओं से भी है ही। कृषि प्रधान सरल ग्रामीण जीवन में बालक परिवार के लिए हितकर होते थे क्योंकि वे सभी बड़े होकर परिवार की आय के एकमात्र साधन कृषि में सहायता देते थे और उनसे परिवार के रहन-सहन के स्तर पर कुछ विशेष प्रभाव नहीं पड़ता था क्योंकि जीवन सीधा सादा ही होता था और अन्न का तो अभाव था ही नहीं किन्तु नागरिक जीवन में ऐसी बात नहीं है। औद्योगीकरण के फलस्वरूप नागरिक जीवन का प्रसार एवं विकास हुआ और बालक परिवार के लिए आय वृद्धि में हितकर न होकर व्यय कराने का ही कारणमात्र रह गया प्रत्येक बालक पर पृथक् से व्यय करने के कारण तथा व्यय की मदों में वृद्धि हो जाने के कारण जैसे शिक्षा, मनोरंजन आदि परिवार में अधिक बालकों के होने का अर्थ परिवार के रहन-सहन के स्तर को गिराना ही हो गया। इसका अर्थ यह हुआ कि यदि परिवार के व्यक्ति अधिक होंगे तो उनमें से प्रत्येक को उनकी इच्छाओं और माँगों को पूरा करने की सुविधाएँ प्राप्त नहीं हो सकेंगी। दूसरी ओर नगरों में व्यक्ति अधिकाधिक सामाजिक पद-

मर्यादा की वृद्धि की ओर भी ध्यान देने लगा जिसका सरल उपाय आर्थिक पद-मर्यादा बढ़ाना ही है।

हो सकता है कि इसके अतिरिक्त कुछ सभ्यताविकासजन्य भौतिक कारण भी हों जैसे स्त्रियों में प्रजनन-शक्ति का न्यून हो जाना आदि किन्तु उनके विषय में कुछ भी कहना कठिन है। यूँ प्रायः सभी सभ्य देशों की प्रवृत्ति जन्मसंख्या कम करने की ओर ही है और इस दिशा में उनके सफलता के चिन्ह भी दिखाई देते हैं।

जनसंख्या-वृद्धि—किसी भी समुदाय की जनसंख्या में वृद्धि होने का एकमात्र कारण प्राकृतिक वृद्धि अथवा अधिक बालकों का जन्म होना ही नहीं है। एक दूसरा कारण भी होता है और वह है किसी अन्य स्थान से लोगों का प्रव्रजन। अभी हाल ही में पाकिस्तान से बहुसंख्या में लोग भारत में आये। कुछ लोग यहाँ से भी उधर गये किन्तु वह तो एक विशेष प्रकार की परिस्थितियों के कारण होनेवाला मानव प्रव्रजन था। यों भी कभी कभी एक क्षेत्रविशेष में बाहर से लोग आ जाते हैं। प्रायः किसी भी समुदाय अथवा देश की अचानक होनेवाली जनसंख्या-सम्बन्धी वृद्धि इन दोनों ही कारणों से होती है किन्तु साधारणतया जन-संख्या-वृद्धि का कारण प्राकृतिक वृद्धि अथवा मृत्यु संख्या से जन्म संख्या का अधिक होना ही होता है।

यों प्रायः सभी देशों में जनसंख्या की वृद्धि तो हो रही है किन्तु वृद्धि की तेजी अनेकों देशों में घट रही है।

यह तो हम कह ही चुके हैं कि प्रायः इधर सभी लोगों की प्रवृत्ति जनता के गुणों को बढ़ाने की ओर हो रही है किन्तु समूहों में गुणों की भिन्नता के दो कारण होते हैं, एक तो व्यक्तिगत भेद और दूसरे सामूहिक अन्तर। इस प्रकार के अन्तर के कारण आनुवंशिक भी होते हैं और वातावरण के द्वारा उत्पन्न हुए भी। प्रायः यह कहा जाता है कि आनुवंशिक अन्तर के विषय में तो कुछ किया नहीं जा सकता है। कुछ रक्तजातियाँ दूसरों की अपेक्षा हीन मानी जाती हैं क्योंकि वे कभी किसी प्रकार का साहित्य, कला, विज्ञान आदि से सम्बन्धित सृजन, रचना नहीं कर पाई हैं किन्तु इस प्रकार का विश्वास सम्भवतः भ्रममूलक ही है। भली प्रकार विश्लेषण करने से तो यह जान पड़ता है कि उन्हें कभी उपयुक्त अवसर ही नहीं प्राप्त हो सके। फिर भी गुणों की दृष्टि से एक समूह और दूसरे समूह के बीच अन्तर होता ही है किन्तु इन गुणों को ठीक ठीक माप सकने की कोई सुविधा मनुष्य अब तक निकाल नहीं सका है। केवल अनुमान के

ही बल पर स्वीकृत तथ्यों को वैज्ञानिक कहना तो भूल ही होगी और जब तक कोई एक वैज्ञानिक दृष्टि से ठीक मापदण्ड नहीं मिल जाता है तब तक शारीरिक बल, सांस्कृतिक गम्भीरता, कलात्मक सौन्दर्य, सामाजिक प्रथाओं और प्रचलन किसी भी दृष्टि से एक मानवसमूह को दूसरे से श्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता है अतः इस समय तो इतना ही मान लेना पर्याप्त होगा कि समूहों में अन्तर तो है किन्तु उन्हीं अन्तरों, भेदों के आधार पर एक समूह को दूसरे की अपेक्षा श्रेष्ठ अथवा निकृष्ट, एक को उच्च और दूसरे को निम्न नहीं कहा जा सकता है। इसी प्रकार सम्भवतः ग्राम्य समुदाय की अपेक्षा नागरिक समुदाय को भी अधिक सभ्य भले ही कह लिया जाय, अधिक श्रेष्ठ कहना उचित नहीं होगा।

यन्त्र-विज्ञान (Technology)—सामाजिक व्यवस्था कई तत्त्वों से मिलकर बनती है और सामाजिक व्यवस्था का एक अत्यन्त आवश्यक कार्य है किसी भी सामाजिक समूह का अपने वातावरण से समीकरण स्थापित करना। इस कार्य को कर पाने के लिए कई तत्त्वों की आवश्यकता होती है और इन्हीं को लेकर पिछले लगभग ५०० वर्षों से आविष्कार आदि किये जा रहे हैं। आज दिन मानव अपने वातावरण से अपना, अपने समूह का समीकरण वैज्ञानिक यन्त्रों, उनके प्रयोग करने की रीति-नीति के ज्ञान के आधार पर ही स्थापित करता है। इसी को यन्त्र-विज्ञान कहा जा सकता है। यद्यपि इस विज्ञान में केवल यन्त्रों के सम्बन्ध में ज्ञान ही नहीं होता है वरन् उनका वातावरण से समीकरण स्थापित करने में कहाँ, क्या और कैसा उपयोग होना चाहिए, यह ज्ञान भी सम्मिलित किया जाता है।

यन्त्र-विज्ञान के कार्य—संक्षेप में यदि कहा जाय तो यन्त्र-विज्ञान की आवश्यकता और उसका प्रमुख कार्य मानव जीवन को बनाये रखना है अर्थात् जीवन-सम्बन्धी सभी सुविधाएँ एकत्रित करना है। समाज के सभी सदस्यों के लिए खाद्य-सामग्री, वस्त्र, वासस्थान, हर प्रकार की आन्तरिक और बाह्य सुरक्षा का प्रबन्ध, यातायात तथा संवादवहन के साधन और विचारों के प्रसार के साधन उपस्थित करना यन्त्र-विज्ञान का ही कार्य हो गया है। मानव ने विज्ञान अर्थात् प्रकृति की शक्ति से सम्बन्धित ज्ञान प्राप्त किया और उस ज्ञान की सहायता से यन्त्र आदि का आविष्कार किया किन्तु यह सब इसी लिए तो किया कि मानव को जीवन-यापन की सुविधाएँ अधिकाधिक प्राप्त हो सकें। यन्त्र-विज्ञान एक सामूहिक व्यवस्था है इसके

द्वारा सम्पूर्ण समूह की जीवन-सम्बन्धी सुविधाओं का प्रबन्ध किया जा सकता है किन्तु प्रत्येक व्यक्ति को तो अन्य संगठनों और उनकी क्रियाओं के द्वारा ही जीविकोपार्जन आदि के अवसर और साधन प्राप्त हो सकेंगे। अन्य सामाजिक व्यवस्थाओं, संगठनों और यन्त्र-विज्ञान तथा तत्सम्बन्धी संगठन में भेद यही है कि अन्य संगठन विभिन्न प्रकार से समाज के लिए हितकर एवं उपयोगी तो होते हैं, विभिन्न प्रकार के मानव के सामाजिक अन्तःसम्बन्धों के लिए उनकी गहरी आवश्यकता भी होती है किन्तु वे यह निश्चित नहीं कर पाते हैं और न ही उनके आधार पर यह निश्चित हो पाना सम्भव ही है कि समूह किस प्रकार से किन औजारों को प्रयोग में लाकर, किस ढंग से कार्य करके, किस प्रकार के ज्ञान को प्राप्त करके खाद्य-सामग्री, वस्त्र, वासस्थान और रक्षा के उपाय आदि प्रस्तुत कर सकता है अतः जीवन की नितान्त प्रत्यक्ष माँगों की पूर्ति के साधन और उपाय खोजना ही यन्त्र-विज्ञान का कार्य है।

यद्यपि इस प्रकार के विज्ञान की मानव को बहुत आवश्यकता है किन्तु इसका ठीक ठीक उपयोग भी वातावरण को देख कर ही किया जा सकता है। भेड़ के ऊन से अथवा किसी अन्य पशु के ऊन से बढ़िया गरम वस्त्र कैसे तैयार किया जा सकता है यह ज्ञान अत्यन्त उपयोगी है किन्तु इसका उपयोग उन्हीं लोगों के लिए तो हो सकता है जो कि ऐसे स्थान पर रहते हों जहाँ कि ऐसे पशु मिल सकते हैं अन्यथा वह ज्ञान भी व्यर्थ ही हो जायगा अतः यन्त्र-विज्ञान का उपयोग भी वातावरण के अनुरूप ही किया जा सकता है। यही नहीं, यन्त्र-विज्ञान का ठीक ठीक उपयोग तभी किया जा सकता है जब कि सामाजिक व्यवस्था और संगठन भी उसके उपयोग के अनुकूल वातावरण उपस्थित कर सकें।

प्रायः यान्त्रिक तत्त्व एक यान्त्रिक-व्यवस्था के अंगों की भाँति ही कार्य करते हैं। यद्यपि गृह-यान्त्रिक-व्यवस्था, गृह-निर्माण यान्त्रिक-व्यवस्था, कृषि-यान्त्रिक-व्यवस्था आदि भिन्न भिन्न हैं और एक में होनेवाले परिवर्तन अन्य सभी व्यवस्थाओं में परिवर्तन नहीं कर देते हैं फिर भी प्रत्येक यान्त्रिक-व्यवस्था के विभिन्न तत्त्व उस व्यवस्था के अन्तर्गत ही अन्योन्याश्रित होते हैं। उदाहरणार्थ—कृषि-व्यवस्था में ट्रैक्टर का प्रादुर्भाव केवल हल और बैल का ही स्थान ले लेता हो ऐसी बात नहीं है। ट्रैक्टर के आ जाने से कृषि-व्यवस्था के प्रायः सभी अंगों पर प्रभाव पड़ता है। यहाँ तक कि हल को ठीक करनेवाले ग्रामीण बढ़ई और लुहार के स्थान पर मिस्त्री, मैकेनिक का आना तथा द्वार पर बाँध दिये जानेवाले बैल तथा कोने

में रख दिये जानेवाले हल के स्थान पर आनेवाले ट्रेक्टर के लिए रखने का स्थान खोजना पड़ता है। यहां नहीं, बैल के सानी-भूसी-करने की व्यवस्था बदल जाने से तथा उससे समय की बचत हो जाने से भी जीवन-व्यवस्था में परिवर्तन हो जाता है। धीरे धीरे ट्रेक्टर के आने के फलस्वरूप कई अन्य क्षेत्रों की व्यवस्थाएँ भी प्रभावित होती हैं। किसी भी यान्त्रिक-व्यवस्था की कार्य-सम्बन्धी साम्यावस्था में एक बार आ जानेवाला परिवर्तन प्रायः उस व्यवस्था के सभी अंगों पर, अंशों पर प्रभाव डालता है। प्रायः एक विशेष प्रकार के वैज्ञानिक-यन्त्र का किसी भी व्यवस्था में आविष्कार होना उस व्यवस्था के सम्पूर्ण स्वरूप को ही परिवर्तित कर देता है क्योंकि उसके प्रयोग के लिए अन्य आस-पास की वस्तुओं को भी परिवर्तित करने की आवश्यकता पड़ जाती है।

यान्त्रिक-विज्ञान की उन्नति का इतिहास यह दिखाता है कि यह उन्नति सभी क्षेत्रों में एक सी ही मात्रा में नहीं हुई है और सम्भवतः इसके कारण सामाजिक-मनोवैज्ञानिक तत्त्व हैं। पिछले वर्षों में वैज्ञानिकों की प्रवृत्ति यही रही कि किसी न किसी ज्ञान-क्षेत्र में खोजें करने में संलग्न ही रहना चाहिए। उन्होंने खोजें कीं भी किन्तु वे तो उपयोगितावादी ही हैं अतः उन्होंने यह भी देखा कि जब भी कभी किसी यान्त्रिक-व्यवस्था के एक अंग में, एक तत्त्व में कोई परिवर्तन किया जाता है तो उसके फलस्वरूप सारी व्यवस्था ही को परिवर्तित करना पड़ता है।

यान्त्रिक-व्यवस्था और श्रम-सम्बन्धी संगठन—किसी भी यान्त्रिक आविष्कार का प्रयोग किसी एक ही व्यक्ति द्वारा किया जाना कठिन होता है अतः सहकारिता और संगठित श्रम-व्यवस्था के आधार पर ही उसका उपयोग किया जाता है। किसी भी यान्त्रिक आविष्कार की सफलता उस यन्त्र की कुशलता पर उतनी अधिक नहीं होती है जिसका कि आविष्कार किया गया है जितनी कि उस श्रम-संगठन-व्यवस्था पर होती है जिसके द्वारा कि उसे काम में लाया जाता है। कितने अधिक सहयोग से सभी काम करनेवाले कार्य करते हैं यह भी तो उस यन्त्र की सफलता-सम्बन्धी निर्णय देते समय देखनेवाली बात होती है। यान्त्रिक-व्यवस्था में श्रमिकों अथवा सभी सहयोगियों, सहकर्मियों का स्वेच्छा से कर्म करना आवश्यक है। पुरातन व्यवस्था में तो स्वामी बरबस दासों को मार-पीट कर काम करा सकता था क्योंकि एक तो वह उसके काम को स्वयं समझता था और उसके सम्बन्ध में अनुमान भी लगा सकता था किन्तु आधुनिक यान्त्रिक-व्यवस्था में स्वामी को बहुत

कुछ काम करनेवालों के सहयोग और वह भी स्वेच्छाजन्य सहयोग पर आश्रित रहना पड़ता है क्योंकि काम अधिक जटिल हैं और स्वामी उनकी यान्त्रिक उलझनों को तो समझ भी नहीं सकता है, दूसरी ओर यदि चाहें तो काम करनेवाले क्षण भर में ही एक पेंच ढीला करके सारी मशीन को ही ढेर कर सकते हैं।

श्रम-संगठन सारे समाज से ही सम्बन्धित होते हैं और इनका सम्बन्ध वर्णव्यवस्था, वर्गीकरण, व्यक्तिगत सम्पत्ति-व्यवस्था, उत्पादन तथा उपभोग-सम्बन्धी वस्तुओं एवं श्रम सम्बन्धी विचारधाराओं आदि की व्यवस्था आदि से भी होता है। यही नहीं, राज्य के भी व्यापार, नीति, कर-व्यवस्था, व्यावसायिक रीति-नीति से भी इनका सम्बन्ध रहता ही है। इस व्यवस्था का अधिक प्रकट स्वरूप प्रायः नगरों में ही दिखाई देता है। यों नगरों का जन्म और विकास भी यान्त्रिक-व्यवस्था के ही फलस्वरूप हुआ है। इस व्यवस्था के फलस्वरूप ही उत्पादन-केन्द्रवर के स्थान पर सामूहिक क्षेत्र अर्थात् मिल, फैक्टरी आदि स्थापित हो गये और विशेषीकरण का जन्म हुआ तथा नगरों में उसी आधार पर विशेष वस्तुओं के उत्पादन-केन्द्र भी स्थापित हुए। सम्भवतः अन्य श्रम-संगठनों की अपेक्षा सहकारी श्रम-संगठन बड़े पैमाने पर की जानेवाली यान्त्रिक-श्रम-व्यवस्थाओं की दृष्टि से अधिक उपयोगी भी सिद्ध हुए। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यान्त्रिक-व्यवस्था ने उत्पादन के क्षेत्रों में संगठित श्रम-व्यवस्था को महत्त्वपूर्ण स्थान दिलाया किन्तु इतना होने पर भी घरेलू उद्योग-धन्धों का कार्य एकबारगी ही समाप्त नहीं हो गया है और न विश्वब्रह्माण्ड की सारी ही वस्तुएँ यान्त्रिक ढंग पर तैयार की जाने लगी हैं। आज भी यद्यपि उपयोगी वस्तुओं का उत्पादन यान्त्रिक-व्यवस्था के ही अन्तर्गत होता है और ऐसा होने से न केवल मानव-शक्ति और समय की बचत ही होती है वरन् वस्तुएँ भी अधिक संख्या में तथा अच्छे ढंग पर तैयार हो जाती हैं किन्तु कलात्मक और सुन्दर वस्तुओं का महत्त्व उनके अयान्त्रिक ढंग पर तैयार किये जाने में ही होता है। यान्त्रिक-व्यवस्था वस्तुओं में एकरूपता तो ले आई है और व्यापार की दृष्टि से उसका महत्त्व भी है किन्तु आज भी कैमरे द्वारा तैयार चित्र का महत्त्व चित्रकार द्वारा बनाये गये चित्र की अपेक्षा कम है। मशीन द्वारा कढ़ाई की जाती है किन्तु फिर भी हाथ की कढ़ाई और लखनऊ के हाथ के चिकन तथा ज़री के काम की तथा बनारस के काम की कलात्मक दृष्टि से माँग एक बारगी समाप्त नहीं हो गई है। यान्त्रिक-व्यवस्था ने श्रम-संगठन को

जन्म दिया और उसका प्रभाव हमारे सामाजिक जीवन के सभी क्षेत्रों पर पड़ा।

यान्त्रिक-व्यवस्था ने न केवल संगठित श्रम-व्यवस्था को ही जन्म दिया वरन् पुरातन श्रमविभाजन को भी प्रभावित किया। इस व्यवस्था के प्रादुर्भाव से पूर्व भी श्रमविभाजन था किन्तु उसके आधार पर कुछ इतनी जटिल वर्गव्यवस्था अथवा श्रेणी संगठन नहीं हुआ था। यद्यपि भारतवर्ष में वर्णव्यवस्था के साथ ही साथ एक सुदृढ़ वर्गव्यवस्था भी बन गई थी जिसमें ब्राह्मण अन्य तीनों वर्णों की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ माना गया था और क्षत्रीय का महत्त्व ब्राह्मण के पीछे तथा उससे नीचा माना गया था। वैश्य और शूद्र इनके भी पीछे आते हैं। यान्त्रिक व्यवस्था ने एक और ही प्रकार का वर्गीकरण कर दिया जिसमें कि व्यावसायिक कुशलता अथवा कार्यक्षेत्र के ही आधार पर व्यक्ति को सामाजिक पद-मर्यादा प्राप्त होने लगी। इस व्यवस्था के अन्तर्गत इंजीनियर का महत्त्व लुहार से, मिस्त्री से तथा अन्य ऐसे ही आश्रित कार्य करनेवालों से अधिक है क्योंकि वह उन्हें संचालित एवं नियन्त्रित करता है अर्थात् इस व्यवस्था के अन्तर्गत वर्गीकरण इस आधार पर नहीं हुआ कि कौन क्या कार्य करता है वरन् इस आधार पर हुआ कि किसी भी कार्यक्षेत्र में कौन नेतृत्व करता है और कौन व्यक्ति उसके नेतृत्व में रह कर कार्य करते हैं अतः नेता और आज्ञाकारी, मालिक और श्रमिक, नियुक्ति करनेवाला और नियुक्त होनेवाले आदि में अन्तर किये जाने लगे और समूह के भीतर ही इस प्रकार के भेद-प्रभेद की व्यवस्था श्रेणीकरण अथवा वर्गीकरण कहलाई। इसी प्रकार की जन्मगत सदस्यता जाति कहलाती है।

यद्यपि यान्त्रिक-व्यवस्था और वर्गीकरण में परस्पर सम्बन्ध है किन्तु यह सम्बन्ध उतना दृढ़ नहीं है जितना कि यान्त्रिक-व्यवस्था और श्रम-संगठनों में था। भारतवर्ष में किसी समय जाति अथवा वर्णव्यवस्था का आरम्भ 'कर्म' में हुआ होगा तत्पश्चात् उसका आधार हो गया 'जन्म' और वह युगों तक चलता रहा यद्यपि आज उसकी नींवें ढीली हो गई हैं।

सम्पत्ति—सम्पत्ति उन वस्तुओं को कह सकते हैं जो कि किसी भी समाज, समुदाय अथवा समूह के मानव की आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं। इन वस्तुओं में भूमि, गुण, कार्यकुशलता, घर, धन आदि सभी कुछ सम्मिलित किया जा सकता है। सम्पत्ति को प्रयोग में लाने का अधिकार व्यक्ति अथवा समूह को हो सकता है। यह अधिकार पूर्ण भी हो सकता है और सीमित भी। प्रत्येक समाज

अथवा समुदाय में सम्पत्ति की अपनी ही कोई न कोई विशेष व्यवस्था होती है। सम्पत्ति पर अधिकार रखने की वैधानिक व्यवस्था भी विभिन्न समाजों में विभिन्न प्रकार की ही होती है। सम्पत्ति-सम्बन्धी अधिकारों को निश्चित करते हुए मानव विभिन्न विचारधाराओं से प्रभावित होता है, जैसे कि धार्मिक आदि। किन्तु इन सब से अधिक प्रभावशाली तत्त्व आधुनिक युग में यन्त्र-विज्ञान और यान्त्रिक-व्यवस्था ही हो गई है।

यान्त्रिक-व्यवस्था की दृष्टि से कलात्मक वस्तुओं, धार्मिक दृष्टि से पूजनीय वस्तुओं तथा ऐतिहासिक दृष्टि से मूल्यवान् वस्तुओं का मूल्यांकन करना कठिन होता है किन्तु सब ही वे वस्तुएँ जो कि उपयोगी होती हैं यान्त्रिक-व्यवस्था में मूल्यवान् मानी जाती हैं। उपयोगी वस्तुओं का भी मूल्यांकन-सम्बन्धी मापदण्ड वातावरण एवं परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तित होता रहता है। किसी समय भू-सम्पत्ति ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण सम्पत्ति मानी जाती थी किन्तु यन्त्र-विज्ञान और यान्त्रिक-व्यवस्था के कारण उसके महत्त्व में अब कुछ कमी आ गई है और इस युग में जब कि कोई भी वस्तु ऐसी नहीं रह गई है जिसका कुछ न कुछ उपयोग न हो प्रायः सभी वस्तुएँ सम्पत्ति के किसी न किसी स्तर पर तो रखी ही जा सकती हैं भले ही उनका मूल्य एक-दूसरे की अपेक्षा न्यूनाधिक हो। समुदाय अथवा समाज में सम्पत्ति का विभाजन एक विशेष समस्या है और इसका प्रभाव प्रायः सभी सामाजिक संगठनों पर पड़ता है।

सम्पत्ति का विभाजन—किसी भी समूह अथवा समुदाय में सम्पत्ति होती है, उत्पादन भी होता है और प्रत्येक समूह यथासम्भव सम्पत्ति-वृद्धि के उपाय भी किया ही करता है। सम्पत्ति की वृद्धि के उपायों का उस समूह अथवा समुदाय के सामाजिक जीवन पर घना प्रभाव पड़ता है किन्तु उत्पादित वस्तुओं, सम्पत्ति का उस समूह के सदस्यों में किस प्रकार विभाजन किया जाता है यह देखना सामाजिक दृष्टि से और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है।

वितरण की परिभाषा चैपमैन (Chapman) के मतानुसार इस प्रकार की जा सकती है कि यह वह क्रिया है जिसके द्वारा किसी भी वर्ग द्वारा उत्पादित की गई सम्पत्ति को विभिन्न सहकर्मियों, मालिकों के एजेण्टों तथा जो भी कोई उत्पादन में सक्रिय रहे हैं उनके बीच वितरित किया जाता है।

प्रारम्भिक समाज में उत्पादन प्रायः प्रत्येक परिवार द्वारा पृथक् पृथक् किया जाता था अतः वितरण की समस्या सरल थी किन्तु आधुनिक सभ्य

समाजों में उत्पादन भी तो जटिल हो गया है। उत्पादन-कार्य में अनेकों हाथ मिल कर कार्य करते हैं अतः उत्पादित सम्पत्ति का वितरण करना भी एक समस्या हो गई है।

वस्तुतः वितरण के एक पृथक् सिद्धान्त की आवश्यकता है और यह उसी सिद्धान्त के आधार पर निश्चित नहीं किया जा सकता है जिस सिद्धान्त के आधार पर वस्तुओं का मूल्य निश्चित किया जाता है। यह आवश्यकता इसलिए है कि मानव को काम करने के लिए उसी प्रकार नहीं लगाया जा सकता है जिस प्रकार मार्शल के शब्दों में 'यन्त्र, घोड़े अथवा दास' को लगाया जा सकता है अतः वितरित सम्पत्ति उसके लिए यथेष्ठ प्रलोभनीय होनी चाहिए तभी वह उत्पादन का काम कर सकेगा।

वितरणों के आधारों में एक प्रधान आधार है श्रम के अनुसार ही उसका मूल्य निर्धारित करना अथवा श्रम के अनुरूप ही पारिश्रमिक प्राप्त होना। जिस व्यक्ति का जितना ही अधिक श्रम होगा उसे उतनी ही अधिक मजदूरी मिलेगी। अब कठिनाई यह पड़ती है कि श्रम और पारिश्रमिक में कौन-सा और कैसा अनुपात रखा जाय। इस अनुपात का आधार श्रम का काल होना चाहिए अथवा श्रम का स्वरूप अथवा उस श्रम से उत्पादित वस्तु की माँग और उसकी स्वपन अथवा उत्पादित वस्तु का मूल्य अथवा उसका कोई और ही आधार होना चाहिए, यह निश्चित करना अत्यन्त कठिन है यहाँ तक कि श्रम के मूल्य का आधार वस्तु के मूल्य के आधार-सम्बन्धी सिद्धान्त भी तो नहीं हो सकते हैं। वस्तु के मूल्य का निश्चय माँग को दृष्टि में रख कर किया जाता है अर्थात् वस्तुओं और सेवाओं का मूल्य, सीमान्त उपयोगिता अथवा सीमान्त उत्पादन-शक्ति के द्वारा निर्धारित किया जाता है किन्तु उस माँग की पूर्ति में परिवर्तनहोने से जो तत्कालीन प्रभाव वस्तुओं के मूल्य पर पड़ता है वह भी इस प्रकार का होता है जिस प्रकार कि पूर्ति में फेलाव जो कि उसके मूल्य को संकुचित करनेवाला होत है। किसी भी वस्तु की माँग कम हो जाने पर उसका उत्पादन घट सकता है और किसी भी वस्तु की माँग और उसका मूल्य बढ़ जाने पर वस्तु क उत्पादन बढ़ भी जाता है किन्तु श्रम के विषय में यह सिद्धान्त लागू नहं होता है। श्रम की माँग घट जाने पर भी श्रमिकों की उत्पत्ति अर्थात् बालकं का उत्पन्न होना घट नहीं जाता है अतः उस दृष्टि से श्रम का मूल्य अथव पारिश्रमिक निर्धारित नहीं किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त यहाँ सीमान्त उत्पादनन-शक्ति के आधार पर वितरण के सिद्धान्त की चर्चा भी की ज सकती है। इस सिद्धान्त के अनुसार उत्पादन के प्रत्येक साधन को वह

पारिश्रमिक अथवा पुरस्कार मिलना चाहिए जो कि सीमान्त उत्पादन-शक्ति के बराबर होता है। सीमान्त उत्पादन-शक्ति वह इकाई है जिसे लगानेवाला लगाने के उपयुक्त समझ कर ही लगाता है और जिसके लगाने से यह प्रकट होता है कि दिये हुए उत्पादन के साधनों में एक अधिक इकाई, साधनस्वरूप जोड़ी गई। आवश्यकता न रहने पर उत्पादन के कुछ साधन जहाँ पर सीमान्त उत्पादन-शक्ति कम रह जाती है वहाँ से हटाकर उस स्थान पर लगा दिए जाते हैं जहाँ कि उत्पादन शक्ति अधिक होती है किन्तु श्रम के सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं है। श्रम की इकाइयाँ पूर्णरूपेण विनिमय का विषय नहीं हैं। यदि एक व्यवसाय से दूसरे व्यवसाय में श्रम का विनिमय स्वतन्त्रता-पूर्वक हो सकता तो श्रम शक्ति इस प्रकार वितरित की जाती कि उसकी सीमान्त उत्पादन-शक्ति प्रत्येक व्यवसाय में बराबर ही रहती। किन्तु वस्तु-स्थिति तो अभी तक ऐसी नहीं है। उद्योग-पति प्रत्येक व्यवसाय में उत्पत्ति के साधनों को एक दूसरे के स्थान पर स्थानापन्न के सम्बन्ध में बदलता रहता है और इस प्रकार से एक ऐसे संयोग पर पहुँच जाता है जिससे कि उन्हें उत्पादनशक्ति का अधिकाधिक योग प्राप्त होता है। यदि कोई पूँजीपति यह देखता है कि उसके व्यवसायविशेष में श्रम की सीमान्त उत्पादन-शक्ति पूँजी की उत्पादन-शक्ति से न्यून है तो वह कम श्रम और अधिक पूँजी लगायेगा। ऐसी अवस्था में श्रम की उत्पादन-शक्ति बढ़ेगी और पूँजी की उत्पादन-शक्ति घटेगी। इस प्रकार यह क्रम तब तक चलता रहेगा जब तक कि दोनों की शक्ति बराबर नहीं हो जायगी। साधारणतया सम्पत्ति के वितरण का आधार किसी भी अवस्था में समाज के सदस्यों की अथवा उत्पादन के सभी माध्यमों की आवश्यकता नहीं होती है वरन होती हैं अन्य बहुत सी बातें जिनका कि व्यक्ति की माँगों से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। सामाजिक दृष्टि-कोण से देखने पर सम्पत्ति का वितरण उत्पादन के सभी साधनों के बीच तो होना ही चाहिए किन्तु मात्र पूँजी और संगठन के अतिरिक्त उसका श्रम भी एक साधन है और इस साधन का सम्बन्ध समाज के मानव प्राणियों से है जिनकी कि निजी आवश्यकताएँ, माँगें भी होती हैं और उनकी पूर्ति होना आवश्यक है। वस्तुतः सम्पत्ति के वितरण में यह बात ध्यान देने योग्य है किन्तु आज विश्व के अधिकांश देशों की अर्थ-नीति में इस पर ध्यान नहीं दिया जाता है। श्रम की माँग और आवश्यकताओं के अतिरिक्त दूसरा आधार हो सकता है सम्पत्ति का सभी समाज के सदस्यों में एक सा विभाजन किन्तु इसकी आलोचना तो यह कह कर

की जायेगी कि ऐसी अवस्था में अर्थशास्त्रीय व्यवस्था और उत्पादन व्यवस्था में भारी क्रान्ति आ जायगी जो कि सम्भवतः हितकर न हो। जिस प्रकार श्रम का मूल्य आज दिन साधारणतया निर्धारित किया जाता है उसके आधार पर तो अपनी विवशता के कारण श्रम ही एक ऐसा उत्पादन का माध्यम रह जाता है जिसके साथ पूरा पूरा न्याय तो हो ही नहीं पाता है वरन जिससे सम्बन्धित मानवों में असन्तोष होने के कारण सामाजिक विगठन के भी चिह्न दिखाई देने लगते हैं।

श्रम के जीविका सिद्धान्त का महत्त्व तो मानना ही पड़ता है। फ्रान्सीसी अर्थशास्त्रियों की फ्रिजियोक्रेटिक विचारधारा से उत्पन्न यह सिद्धान्त साधारणतया उन्नीसवीं शताब्दी में स्वीकार कर लिया गया था और लैजले तथा काले मार्क्स ने भी इस सिद्धान्त को अपनी विचारधाराओं का आधार बना लिया। सामाजिक दृष्टि से भी इस सिद्धान्त का महत्त्व नगण्य नहीं है। इस सिद्धान्त के अनुसार श्रमिक का पारिश्रमिक उस स्तर पर ठहर जाता है जहाँ कि वह उस पारिश्रमिक में भले ही कठिनाई से हो, अपना और अपने परिवार का भरण-पोषण कर पाता है। यदि पारिश्रमिक इस स्तर से ऊपर उठता है तो व्यक्ति को विवाह करने और घर बनाने का उत्साह होता है। श्रमपूर्ति में उन्नति होने से पारिश्रमिक जीविका की सीमा तक आ जाता है और यदि पारिश्रमिक इस सीमा से तनिक भी नीचे गिर जाता है तो श्रमिकों में निरुत्साह, अन्नाभाव के कारण अकाल मृत्यु आदि बढ़ जाती है और फिर श्रम-पूर्ति कम हो जाती है। यह क्रम उस समय तक चलता है जब तक कि फिर से जीविका की सीमा तक नहीं पहुँच जाता। रिकार्डो तो यह भी विश्वास करता था कि पारिश्रमिक जीविका के स्तर से ऊपर की ओर बढ़ सकता है। इस सिद्धान्त का सबसे बड़ा दोष यह है कि यह केवल पूर्ति की ओर से ही लिया गया है। माँग की ओर इसमें बिलकुल भी ध्यान नहीं दिया गया है और वस्तुतः श्रम की अन्य वस्तुओं की भाँति माँग और पूर्ति के ही आधार पर निश्चित किया जाता है श्रमिक की आवश्यकताओं के आधार पर नहीं जो कि एक पूर्णतया श्रामक व्यवस्था है।

एक और सिद्धान्त जे० एम० मिल ने सम्मुख रखा है और इसके अनुसार पारिश्रमिक श्रम की माँग व पूर्ति पर अथवा प्रत्यक्षतः श्रम क्रय करने के लिए लगाई गई पूँजी और श्रमिकों की संख्या के बीच के अनुपात पर निर्भर करता है अर्थात् पारिश्रमिक कोष अथवा चलपूँजी और श्रमिकों की संख्या के आधार पर ही पारिश्रमिक निश्चित किया जाता है

जो कि और भले ही कुछ हो सामाजिक दृष्टि से सन्तोषजनक और हितकर नहीं हो सकता है।

अमेरिका के अर्थशास्त्री बालकर पारिश्रमिक को वह बचत मानते हैं जो कि उत्पादन के अन्य साधनों का भुगतान कर देने के पश्चात् बच रहे। किराया, लाभ और ब्याज निकाल कर जो बचे वही पारिश्रमिक होना चाहिए किन्तु यह तो कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं है। इसका तो यह अर्थ हुआ कि श्रम की उत्पादन-शक्ति बढ़ने पर राष्ट्रीय अंश और पारिश्रमिक बढ़ेंगे किन्तु पारिश्रमिक के बढ़ने-घटने से न तो श्रम की योग्यता का कोई सम्बन्ध है और न श्रमिक की आवश्यकताओं, माँगों का।

पारिश्रमिक का सीमान्त उत्पादन-शक्ति-सम्बन्धी सिद्धान्त श्रम की माँग और पूर्ति दोनों की ओर ध्यान देता है। इसके अनुसार पारिश्रमिक माँग और पूर्ति के साधनों की शक्ति के बीच समानता करके निर्धारित किया जाता है। श्रम की माँग वस्तुओं की माँग से ही तो उत्पन्न होती है अतः वस्तुओं के मूल्य के अनुसार ही श्रम का मूल्य भी माँग और पूर्ति के अनुसार घटता-बढ़ता रहेगा।

सम्पत्ति-वितरण का जो भी सिद्धान्त हो उसमें लगान, लाभ और ब्याज को लेकर इतनी कठिनाई उत्पन्न नहीं होती है जितनी कि श्रम को लेकर। सम्पत्ति के अनुचित ढंग से किये जानेवाले वितरण का सामाजिक संगठन पर बहुत ही अधिक प्रभाव पड़ता है। पारिश्रमिक का आधार किसी एक सीमा तक तो मानव श्रमिक की आवश्यकताएँ होना चाहिए। यह कहना कठिन है कि कहाँ तक 'कार्य शक्ति अनुसार और पारिश्रमिक आवश्यकतानुसार' के सिद्धान्त को माना जा सकता है किन्तु यदि पूर्णतया इस सिद्धान्त को लेकर कभी चला जा सके तो भी पारिश्रमिक कुल उत्पादन का एक ऐसा भाग तो होना ही चाहिए जो कि 'श्रम' को जीवनयापन करने के लिए एक अच्छा साधन सिद्ध कर सके। वस्तुतः व्यवसायी प्रत्याशित मजदूरी की सीमान्त उत्पत्ति के मूल्य के बराबर भी तो पारिश्रमिक नहीं देता है। यद्यपि वह अग्रिम धन देकर तथा उत्पादित सम्पत्ति के प्राप्त करने के काल तक के बीच के अन्तर के समय में खतरा लेता है किन्तु दूसरी ओर यह भी तो सत्य है कि श्रमिक को जीवनयापन करने योग्य पारिश्रमिक और जीवन की साधारण सुविधाएँ तो मिलनी ही चाहिए अन्यथा वह असन्तुष्ट, पीड़ित, दुःखी मानव समाज के वातावरण में असन्तोष और दुःख की ही वृद्धि करेगा।

पारिश्रमिक का अधिकतर माना जानेवाला आधुनिक सिद्धान्त यह

प्रतिपादित करता है कि पारिश्रमिक क्षणिक और दीर्घकालीन अथवा स्थायी इन दो प्रकारों का होता है। क्षणिक पारिश्रमिक व्यवसायी सीमान्त उत्पादन-शक्ति के अनुसार निर्धारित करता है और दीर्घकालीन अथवा स्थायी पारिश्रमिक उतना होना चाहिए जिससे कि श्रमिक अपने रहन-सहन के स्तर को साधारणतया ठीक रख सके। स्थायी पारिश्रमिक में श्रम की सीमा वहाँ होती है जहाँ पर कि श्रमिक की सीमान्त उत्पादन-शक्ति श्रमिक के पूर्ति मूल्य के बराबर हो और यह रहन-सहन के स्तर के अनुसार ही निश्चित किया जाना चाहिए। पारिश्रमिक दो अन्तिम सीमाओं के बीच कहीं पर निर्धारित किया जाता है। एक ओर तो पारिश्रमिक का उच्चतम स्तर वह होता है जो कि व्यवसायी श्रमिक की सीमान्त उत्पादन-शक्ति के अनुसार निश्चित करता है। इसे सीमा-आर्थिक पारिश्रमिक कह सकते हैं और दूसरी ओर वह सीमा होती है जिसे कि श्रमिक अपने रहन-सहन के स्तर के अनुसार निश्चित करता है किन्तु दूसरी सीमा तो सदासर्वदा रह नहीं पाती है क्योंकि श्रमिक की मोल-तोल करने की शक्ति उद्योगपति की शक्ति से बहुत ही कम होती है और वह अपने श्रम को बेचने के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार से जीवनयापन करने का उपाय नहीं खोज पाता है अतः कभी कभी उसे अपने श्रम की सीमा से नीचे गिरकर भी उद्योगपति से समझौता करना पड़ता है और उस अवस्था में उसके मन में असन्तोष बना ही रहता है। वह उसकी अभिव्यक्ति समय समय पर विद्रोह और संघर्ष आदि करके करता ही रहता है।

यद्यपि सापेक्ष पारिश्रमिकों में घना अन्तर रहता ही है और उसके कारण श्रमिकों की योग्यता में अन्तर, स्पर्धाहीन दलों का होना, व्यापारिक शिक्षा-सम्बन्धी कठिनाइयाँ, व्यवसाय की विपरीतता में अन्तर आदि होते ही हैं फिर भी समाज में सन्तोष तथा सामाजिक संगठन एवं व्यवस्था बनाए रखने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि श्रमिकों को श्रम का मूल्य उनके जीवन की आवश्यकताएँ पूरी करने के उपयुक्त मिलना ही चाहिए तथा उसमें इतनी गुंजायश भी होनी ही चाहिए कि वह दुर्दिन में आर्थिक दृष्टि से एकबारगी ही पिस न जाय। ऐसा न हो पाने पर फलस्वरूप सामाजिक असन्तुलन ही उत्पन्न होगा।

सामाजिक असन्तुलन (Social Maladjustments)—आधुनिक सभ्यता की देन हो अथवा कोई अन्य ही कारण रहा होगा किन्तु सामाजिक समस्याएँ आज दिन मानव समाजशास्त्रियों का ध्यान आकर्षित करने लगीं हैं और उनकी ओर से आँखें बन्द भी नहीं की जा सकती हैं। आधुनिक

समाजों एवं समूहों में सामूहिक विरोध और असहयोग की धमकी, समूहों के तथा वर्गों के आपसी द्वन्द्व, व्यक्तियों की अनैतिक प्रवृत्तियाँ, आर्थिक असन्तोष आदि इतने बढ़ गये हैं कि इस सब से समाज को ही भय होने लगा है अतः इनसे बचने तथा इनका हल खोज निकालने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी है।

सामाजिक परिवर्तनों ने सामाजिक जीवन के प्रायः सभी पक्षों में पर्याप्त सुधार एवं विकास किये हैं, जीवन-यापन की सुविधाओं में वृद्धि भी की है। नवीन भौतिक एवं वैज्ञानिक ज्ञान-वृद्धि ने मानव को जीवन-सम्बन्धी सुविधाएँ ही नहीं दी हैं वरन सांस्कृतिक सुविधाएँ अर्थात् सांस्कृतिक विकास की सुविधाएँ तथा जीविकोपार्जन के सम्बन्ध में भी चुनाव करने की पहले से अधिक स्वाधीनता दी है किन्तु इसके साथ ही साथ यह भी सत्य है कि प्रत्येक सामाजिक परिवर्तन ने यह भी आवश्यक कर दिया है कि नवीन परिस्थितियों के साथ समाज अथवा समूह नवीन ढंग से समीकरण भी स्थापित करे और इस प्रकार के समीकरण स्थापन की आवश्यकता ने नवीन सामाजिक समस्याएँ भी खड़ी कर दी हैं। आधुनिक सभ्यता इनमें से कुछ समस्याओं का हल तो अभी तक खोज नहीं पाई है। इस प्रकार की समस्याएँ पारिवारिक जीवन में तलाक के रूप में, आर्थिक जीवन में बेकारी और दरिद्रता, निर्धनता के रूप में, नैतिक जीवन में अपराध के रूप में, राजनीतिक जीवन में आन्तरिक विद्रोह आदि के रूप में तथा इसी प्रकार जीवन के अन्य क्षेत्रों में किसी न किसी रूप में दिखाई दे जाती हैं और ये सब सामाजिक असन्तुलन का ही तो फल है। जहाँ भी कहीं नवीन परिस्थितियों एवं नवीन वातावरण के साथ समूह समीकरण स्थापित कर सका है, अनुकूलता स्थापित कर पाया है वहाँ इस प्रकार की समस्याएँ नहीं दिखाई देती हैं किन्तु जहाँ कहीं ऐसा नहीं हो पाया है वहाँ समाज अथवा समूह और नवीन वातावरण तथा परिस्थितियों में असन्तुलन स्पष्ट ही दिखाई दे जाता है और यह असन्तुलित अवस्था ही समस्याएँ उत्पन्न कर देती हैं। इस प्रकार की समस्याओं का हल खोज पाने के अतिरिक्त किसी अन्य उपाय से समाज का हित होना सम्भव नहीं है।

सामाजिक विगठन (Social Disorganisation)– वस्तुतः समाज एक सम्पूर्ण है और यह एक ऐसा सम्पूर्ण है जो कि विभिन्न क्रियाशील एवं प्रगतिशील भागों से मिल कर बना है। जिस प्रकार शरीर के स्वस्थ रहने का अर्थ है उसके अंग-प्रत्यंगों का ठीक ठीक एक दूसरे से समीकरण

स्थापित करते हुए अपना अपना कार्य सुचारु रूप से सम्पन्न करते जाना अथवा किसी भी यन्त्र के ठीक ठीक चलने का अर्थ है उसके विभिन्न उन भागों का जिनसे कि वह मिल कर बना है अपना ठीक ठीक कार्य करते जाना ठीक उसी प्रकार सामाजिक संगठन का अर्थ है समाज के विभिन्न भागों, अंगों-प्रत्यंगों अर्थात विभिन्न संस्थाओं, व्यक्तियों, विचारधाराओं, मान्यताओं, धारणाओं, कार्यशैलियों, उत्पादन और वितरण आदि की रीति-नीति का ठीक ठीक एक दूसरे के साथ सन्तुलित अवस्था में रह कर कार्य करते जाना। जिस प्रकार शरीर के किसी एक भी अंग के रोगी हो जाने का प्रभाव सारे शरीर पर पड़ता है अथवा मशीन के किसी भी पुर्जे के बिगड़ जाने का अर्थ पूरी मशीन का ही कार्य बन्द हो जाना होता है ठीक उसी प्रकार समाज के किसी भी एक अंग में विकार होने का अर्थ होता है पूरे समाज का किसी न किसी रूप में उस विकार से प्रभावित हो जाना। किसी भी समाज अथवा समूह की विभिन्न भौतिक सभ्यता की विभागीय शक्तियों का, मानव की रचनात्मकशक्तियों एवं विभिन्न अभिव्यक्तियों का सन्तुलित रूप में कार्य करना. परस्पर एकता, अनुकूलता, पूरकता और सहयोग का सम्बन्ध रख कर चलना तथा परस्पर एक दूसरे के बीच सामञ्जस्य स्थापित करने के अवसर देते हुए कार्य करते रहना सामाजिक संगठन कहलाता है। इसमें कहीं भी व्यतिरेक होने पर. बाधा पड़ने पर विषमता, प्रतिकूलता और गड़बड़ी की सम्भावना होने लगती है जो कि सामाजिक विगठन के लक्षण है।

सामाजिक विगठन के प्रकार - सामाजिक विगठन दो प्रकार के होते हैं। एक तो वह जो कि सामाजिक परिवर्तन का ही एक पक्ष है तथा साधारणतया जिसका अस्तित्व अस्थायी होता है और उसे सामाजिक स्थिरता तथा सामाजिक परिवर्तन द्वारा उत्पन्न हुई पुनःसंगठन के बीच की अवस्था कहा जा सकता है। हम देख ही चुके हैं कि समाज एक प्रक्रिया है अतः इसका गतिशील होना अत्यन्त आवश्यक है। गतिशील होने के कारण समाज सदासर्वदा एक ही सा तो रह नहीं सकता है और यदि रह सकता होता तो इसे प्रगतिशील कहा ही नहीं जा सकता था। ऐसी अवस्था में समाज तो प्रगति करेगा ही अर्थात् उसमें परिवर्तन तो होंगे ही और ये परिवर्तन वातावरण एवं परिस्थितियों में भी परिवर्तन ला देंगे। समाज में स्थापित संस्थाओं, धारणाओं आदि में ये परिवर्तन एक साथ ही तो आ नहीं सकते अतः उन्हें इनसे उत्पन्न हुई अवस्थाओं से आनुकूल्य प्राप्त करना होगा जो कि आरम्भ में कठिन जान पड़ेगा फलस्वरूप विरोध का

होना स्वाभाविक ही है और ऐसी दशा में समाज का पुराना अर्थात् परिवर्तन से पूर्व का संगठन नवीन अवस्थाओं में अनुपयुक्त होने के कारण विशृङ्खल हो ही जायगा किन्तु इस प्रकार की सामाजिक विशृङ्खलता और विभिन्न सामाजिक शक्तियों का असन्तुलन अस्थायी सामाजिक विगठन होगा क्योंकि इसके पीछे वे प्रयत्न भी तो होंगे जो कि समाज का पुनः संगठन करने के लिए किये जा रहे होंगे और कुछ ही काल पश्चात् सभी सामाजिक संस्थाएँ आदि, धारणाएँ मान्यताएँ आदि, नवीन वातावरण से अनुकूलता स्थापित कर लेंगी अर्थात् समाज का पुनः संगठन हो जायगा इस प्रकार के सामाजिक विगठन को अस्थायी सामाजिक विगठन कह सकते हैं किन्तु कठिनाई तो यह है कि सामाजिक प्रक्रियाएँ अत्यन्त धीमी चाल से चलती हैं अतः यह निश्चय करना भी कुछ कठिन हो जाता है कि यह सामाजिक विगठन अस्थायी है अथवा कुछ अधिक स्थायी। इसके अतिरिक्त विगठन और संगठन दोनों ही तो सापेक्ष शब्द हैं अतः इन दोनों का प्रयोग सीमित अर्थ में ही किया जा सकता है। वह विगठन जो कि अपेक्षाकृत अधिक देर तक रहनेवाला होता है अथवा जिसे लाँघ कर शीघ्र ही पुनः संगठन कर पाने की सम्भावना नहीं दिखाई देती है उसे अपेक्षाकृत अधिक स्थायी विगठन माना जा सकता है। यों तो समाज के गतिशील होने के कारण उसमें सदासर्वदा ही पुनर्व्यवस्थापन एवं किसी न किसी रूप में पुनः संगठन की आवश्यकता पड़ती ही रहती है। पुनर्व्यवस्थापन-सम्बन्धी आवश्यकता समाज के पुरातन अथवा तत्कालीन व्यावहारिक सम्बन्धों आदि में ढीलापन लाने लगती है। नवीन सम्बन्धों की स्थापना की आवश्यकता स्पष्ट दिखाई देने लगती है किन्तु सामाजिक नियन्त्रण के साधन तो पुरातन समाज के ही अनुकूल होते हैं अतः नवीन की स्थापना में कुछ कठिनाइयाँ तो होती ही हैं। अब देखना केवल इतना ही होता है कि कहाँ तक सामाजिक परिवर्तन जन्य अवस्था के होते हुए भी सामाजिक अन्य शक्तियाँ सामाजिक विगठन को धीरे धीरे पीछे छोड़कर नवीन संगठन का आधार बन जाती हैं और समाज का नवीन ढंग पर पुनःसंगठन कर देती हैं।

सामाजिक समस्याओं तथा विगठन के कारण—सामाजिक विगठन के कारण खोज पाना कोई सरल कार्य नहीं है क्योंकि समाज स्वयं ही एक जटिल प्रक्रिया है और सामाजिक विगठन तो और भी जटिल और बहुमुखी हुआ करता है। वर्तमान सामाजिक विगठन का कारण विभिन्न विद्वान् भिन्न भिन्न बताते हैं। किन्तु कोई भी एक कारण सम्भवतः पूरी

तरह सामाजिक विगठन के लिए उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता है। वस्तुत: समाज जैसा कि हम देख ही चुके हैं विभिन्न तत्त्वों से मिलकर बना है अत: उसके विगठन का कारण किसी एक ही तत्त्व को ठहरा देना अनुचित होगा। हम सामाजिक विगठन के उन विभिन्न कारणों पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे जो कि विभिन्न विद्वानों ने सम्मुख रखे हैं। वस्तुत: इन सभी विचारकों ने कारण-कार्य-सम्बन्ध से सामाजिक समस्याओं को समझने का प्रयत्न किया है। इनके मतानुसार कुछ परिस्थितियाँ ही ऐसे कारण हैं जिनके फलस्वरूप सामाजिक विगठन कार्यरूप में सम्मुख आया है अथवा जिन कारणों ने समाज में ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी है जिसे कि हम समाज के लिए एक कठिन समस्या समझते हैं। इस प्रकार के जिन विभिन्न कारणों की चर्चा हम करेंगे प्राय: उनमें से प्रत्येक का प्रतिपादन एवं समर्थन एक ही नहीं अनेक विद्वानों एवं विचारकों ने किया है।

प्राय: अनेकों विचारकों का विश्वास है कि धार्मिक विश्वास की न्यूनता के फलस्वरूप दैवेच्छा से दण्डस्वरूप सामाजिक समस्याएँ मानव के सम्मुख आ गई हैं। यह प्राय: एक व्यापक-सा कारण है जो कि अकसर दिया जाता है। इस प्रकार के दण्ड का कारण प्राय: व्यक्तियों अथवा समूह के पाप को ही बताया जाता है। समाज में फैली निर्धनता, वेदना, पीड़ा, अपराधी-व्यवहार में वृद्धि और ऐसे ही अन्य मानव समाज के विगठन-चिह्न पाप का फल ही बताये जाते हैं। इस प्रकार की सामाजिक विगठन की व्याख्या भावात्मक ही कही जा सकती है क्योंकि यह उन सभी सामाजिक कारणों एवं प्रभावों की ओर से आँख मूँद लेती है जिनका कि समाज में असन्तुलित अवस्था उत्पन्न करने में हाथ हो सकता है। इसके अतिरिक्त इस प्रकार के विश्वास का तो यह तात्पर्य होगा कि मानव अपने सामाजिक व्यवहार के पाप-पुण्य के अतिरिक्त अन्य किसी भी अंश के लिए उत्तर-दायी नहीं है और ऐसी दशा में पाप-पुण्य की भी वैज्ञानिक ढंग से व्याख्या करना ही कठिन हो जायगा। इसी प्रकार समाज में सम्पत्ति के वितरण में लाई जानेवाली विषमता का उत्तरदायित्व भी मानव पर न रह जायगा जो कि कोई बहुत अच्छी बात नहीं होगी। ऐसी दशा में मान-वेच्छा का तो मूल्य ही क्या रह जायगा। सम्भवत: आचार-शास्त्र का भी कोई महत्त्व नहीं रह जायगा अत: यह मानना कठिन है कि सभी असन्तु-लित कार्य केवलमात्र धार्मिक विश्वास और धार्मिक परम्पराओं को न मानने के फलस्वरूप दिये गये दण्ड ही हैं।

कुछ विद्वान इस प्रकार की सामाजिक समस्याओं का मूल कारण

आर्थिक व्यवस्था में खोजने की चेष्टा करते हैं। इस दल के विचारकों का यह विश्वास है कि ये सब समस्याएँ इसी लिए उत्पन्न हो सकी हैं कि मानव के पास भौतिक वस्तुओं के उत्पादन और वितरण के लिए ठीक ढंग नहीं है अतः आर्थिक समस्याओं का हल ही सब प्रकार की सामाजिक समस्याओं का भी हल हो सकता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मानव की अधिकतर वेदनाओं का, विपत्तियों का मूल कारण आर्थिक अभाव ही होता है और यदि मानव का आर्थिक अभाव, उसका आर्थिक दैन्य नष्ट कर दिया जाय तो बहुत सी सामाजिक समस्याएँ स्वयमेव ही हल हो जायेंगी। हम देख ही चुके हैं कि सम्पत्ति के वितरण को लेकर समाज में बहुत कुछ असन्तोष उत्पन्न हो जाता है तथा यह भी सत्य है कि आज तक मानव वितरण का कोई उपयुक्त ढंग खोज भी नहीं पाया है। प्रायः यह सुना जाता है कि कहीं तो अन्न-वस्त्र का अतिरिक्त उत्पादन हो रहा है और कहीं क्षुधा और वस्त्र के अभाव में मानव पीड़ित और दुःखी है। इस प्रकार की अवस्था में सामाजिक असन्तोष और असन्तुलन बढ़ेगा ही और परिणाम-स्वरूप सामाजिक समस्याओं में वृद्धि होगी। यद्यपि इस अवस्था में सुधार करने की दृष्टि से समाजवादियों तथा साम्यवादियों के अतिरिक्त अन्य भी बहुत से विचारकों ने बहुत से क्रान्तिकारी सुझाव उपस्थित किये हैं किन्तु अभी तक सम्पत्ति वितरण का पूर्णतया सन्तोषजनक कोई भी ढंग मानव की बुद्धि खोज नहीं पाई है।

कुछ विचारक इस प्रकार की सामाजिक समस्याओं की व्याख्या और उनका कारण जीवीय दृष्टि से खोज पाने की चेष्टा करते हैं। उनके विचार में मानव इसलिए दुःख पाता है कि उसने कुछ ऐसे अस्वाभाविक अथवा अप्राकृतिक रंग-ढंग सीख लिये हैं जो कि उसके स्वाभाविक रीति से जीवन यापन करने में बाधाएँ उपस्थित करते हैं। इस प्रकार की व्याख्या मानने में अनेकानेक कठिनाइयाँ हैं। इस प्रकार की व्याख्या वातावरण के प्रभाव को एकबारगी नगण्य कर देती है। आनुवंशिक कारण कई पीढ़ियों की धनहीनता की समुचित व्याख्या नहीं कर पाते हैं। इतना तो सत्य है कि कुछ शारीरिक तथा मानसिक व्याधियाँ अथवा दोष माता-पिता से प्रहण किये जाते हैं और वे व्यक्ति के जीवन में सदैव दोष की भाँति रहते हैं तथा किसी एक सीमा तक उसकी उन्नति में बाधक भी होते हैं और हो सकता है कि किसी एक सीमा तक व्यक्ति को सामाजिक दृष्टि से उपयुक्त एवं योग्य भी न बनने देते हों किन्तु केवलमात्र इसी एक आधार पर सभी सामाजिक समस्याओं का हल नहीं खोजा जा सकता

है। इनमें से अनेक समस्याएँ तो किसी प्रकार भी आनुवंशिक क्षेत्र में नहीं आ पाती हैं।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी इन सामाजिक समस्याओं की व्याख्या खोजने के प्रयत्न किये जाते हैं। इस प्रकार के प्रयत्नों में विश्वास करनेवाले विचारकों का मत है कि सामाजिक व्यवस्था में उत्पन्न होनेवाली बहुत-सी समस्याओं का उद्गम मनोवैज्ञानिक होता है। हमारी बहुत सी सामाजिक समस्याओं के कारण अन्तर्द्वन्द्व ही होते हैं। मानसिक अन्तर्द्वन्द्वों का मूल विभिन्न विचारों में द्वन्द्व होना ही होता है और प्रायः हमारे दुःखों का मूल कारण इस प्रकार के मानसिक अन्तर्द्वन्द्व ही होते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ लोगों में उन मनोवैज्ञानिक गुणों का भी अभाव होता है जो कि किसी भी व्यक्ति को एक अच्छा नागरिक तथा सामाजिक व्यक्ति बनाने के लिए आवश्यक होते हैं अतः ऐसे अभावग्रस्त व्यक्तियों का दुःखी होना स्वाभाविक ही है और जब कि ऐसी दशा में भी उन्हें सामाजिक जीवन में योगदान करना पड़ता है, रहना पड़ता है तो उनके दुःखों का अन्त ही नहीं होता है। जहाँ व्यक्ति अथवा समूह मानसिक दृष्टि से सामाजिक परिवर्तनजन्य नवीन अवस्था में सन्तुलित होने योग्य बुद्धि ही नहीं रखते हैं अथवा नवीन परिस्थितियों में सामाजिक विचारादि का मूल्यांकन नहीं कर पाते हैं वहाँ समस्याओं की उत्पत्ति होना स्वाभाविक ही है।

सामाजिक समस्याओं की एक सामाजिक व्याख्या भी की जाती है। इस दल के विचारकों का मत है कि सामाजिक समस्याओं की उत्पत्ति का मूल कारण सामाजिक समूहों में, व्यक्तियों में, समाज में ठीक ढंग से रहने की इच्छा का अथवा योग्यता का अभाव होना ही है। इनका यह भी मत है कि सामाजिक स्थितियों में वे प्राकृतिक हों अथवा अप्राकृतिक समूह स्वेच्छा द्वारा ही सन्तुलित हो सकता है। ये विचारक सामाजिक समस्याओं को सामाजिक विगठन ही मानते हैं और उसी दृष्टि से उनका हल भी खोजते हैं। यहाँ तक कि ये व्यक्तिगत अनैतिक कृत्यों एवं अपराध आदि को भी आंशिक रूप से तो अवश्य ही सामाजिक विगठन मानते हैं अतः प्रायः सभी अवस्थाओं में सामाजिक समस्याएँ अथवा सामाजिक विगठन मानव के असामाजिक अथवा समाज विरोधी व्यवहार तथा व्यक्तिगत नैतिक दृष्टि से दोषपूर्ण अथवा निम्नावस्था के ही द्योतक हैं। प्रायः सभी दृष्टि से समाजिक समास्याएँ असन्तुलित सामाजिक सम्बन्धों को ही बताती हैं।

वस्तुतः इनमें से कोई भी एक व्याख्या पूर्णतया सन्तोषजनक नहीं जान पड़ती है। हो सकता है कि इनमें से प्रत्येक में सत्य का कुछ न कुछ अंश हो किन्तु सामाजिक समस्या को समझ पाने के लिए तो इन सब ही की आवश्यकता पड़ती है। यह तो माना ही जा सकता है कि सामाजिक समस्याएँ सामाजिक विगठन की ही द्योतक होती है अतः सामाजिक विगठन के भी कारणों पर इस स्थान पर दृष्टि डाल लेना ठीक ही होगा प्रायः सामाजिक विगठन का मुख्य कारण तो सामाजिक परिवर्तन को ही माना जाता है। यह तो हम देख ही चुके हैं कि समाज गतिशील है और ऐसे समाज में सामाजिक ढाँचा तो परिवर्तित होता ही रहता है अतः किसी भी व्यक्ति की पद-मर्यादा और उसकी भूमिका, उसका कार्यक्षेत्र एक-बारगी निश्चित और स्थायी तो हो ही नहीं सकते हैं अतः व्यक्ति अपने को ऐसी अवस्था एवं स्थिति में पाते हैं जहा उनके सामाजिक व्यवहार का कोई पूर्व-निश्चित एवं निर्धारित मापदण्ड नहीं होता है। फलस्वरूप उसकी पद-मर्यादा और भूमिका परिवर्तित होते रहते हैं। ऐसा भी होता है कि कुछ व्यक्ति नवीन स्थिति में नवीन भूमिका के उपयुक्त अपने आपको शीघ्र ही नहीं बना पाते हैं अतः उनकी कठिनाई उन्हें असन्तुष्ट, भय-भीत और झुंझलाया हुआ सा बना देती है। जो तत्त्व समाज को प्रगति की ओर ले जाने का कारण होते हैं वे ही उसमें विगठन भी उत्पन्न करते हैं। व्यक्ति को सदासर्वदा अपने लिए पद-मर्यादा, कार्यक्षेत्र और भूमिका का चुनाव करने की भी स्वाधीनता नहीं होती है। यह काम समाज ही उनके लिए करता है। सरल समाज में इस प्रकार की पदमर्यादा और भूमिका प्रत्येक व्यक्ति के लिए सुस्पष्ट और निश्चित होती है तथा व्यक्ति के मन में न तो उसके सम्बन्ध में कोई आशंका ही होती है और न चुनाव-सम्बन्धी स्वाधीनता की आकांक्षा ही अतः समाज अपेक्षाकृत अधिक सुसंगठित होता है। पुरातन भारतीय समाज में शूद्र ब्राह्मण का कार्य करने की न तो इच्छा ही करता था और न कल्पना ही किन्तु जब कि समाज में इस प्रकार की स्पष्टता और निश्चिन्तता कम हो जाती है जो कि सामाजिक प्रगति का आवश्यक परिणाम है तो सामाजिक विगठन आरम्भ होने लगता है। व्यक्ति के समाज में सन्तुष्ट रहने पर सामाजिक संगठन और असन्तुष्ट रहने से सामाजिक विगठन का आरम्भ होता है। व्यक्ति जीवन के प्रत्येक क्षेत्रमें निश्चिन्तता की आकांक्षा करता है। यद्यपि अनिश्चिन्तता ही उसे प्रगति की ओर भी ले जानेवाली होती है किन्तु साधारणतया मानव सीधे-सादे, बने-बनाए हुए एक से मार्ग पर ही चलना चाहता है।

प्रगतिशील समाज में व्यक्ति की पदमर्यादा और उसका कार्यक्षेत्र तो क्या भूमिका भी निश्चत होना और निश्चत रहना कठिन हो जाता है। कभी कभी तो नवीन परिस्थितियाँ एवं वातावरण बनी-सधी भूमिका में भी एकमतता (Consensus) नहीं रहने देते हैं और अनेकों मतों के बीच व्यक्ति सरलता से अपने लिए एक भूमिका चुन भी तो नहीं पाता है परिणामस्वरूप वह उलझन में पड़ जाता है और इसी प्रकार की उलझन से असन्तोष का जन्म होता है।

यही नहीं, प्रगतिशील समाज मानव की सधी-बँधी मान्यताओं में अन्तर कर देता है और इससे व्यक्ति की आकांक्षाओं, आशाओं और तत्सम्बन्धी सम्भावनाओं तथा वास्तविक तथ्यों में घना अन्तर पड़ जाता है जो कि उसके लिए असन्तोष का कारण हो जाता है। जिस युग में राजा का पुत्र ही राजा हो सकता था, राजा के पुत्र के अतिरिक्त अन्य सभी व्यक्ति इस कल्पना से दूर ही रहते थे कि वे कभी भी राजा हो सकेंगे। इसी कारण से उन्हें जीवन भर अपने राजा होने की न तो आकांक्षा ही होती थी और न वैसा न हो पाने के कारण दुःख एवं निराशा ही होती थी। उनकी भूमिका निश्चित एवं स्पष्ट थी किन्तु आधुनिक लोकतन्त्र के युग में अवस्था परिवर्तित हो गई है। आज कोई भी व्यक्ति शासन में भाग लेने, प्रधान मन्त्री बनने की कल्पना कर सकता है, प्रधान मन्त्री बनने की आकांक्षा को मन में पाल सकता है। यदि वैसी योग्यता न होने के कारण अथवा किसी अन्य कारण से वह प्रधान मन्त्री नहीं हो पाता है तो उसे असन्तोष तो होगा ही और किसी भी कारण से असफलता की निराशा उसे समूह के विरुद्ध भी खड़ा कर सकती है ऐसी अवस्था में वह समूह की न केवल कटु आलोचना ही करेगा वरन् उसे परिवर्तित कर पाने के लिए भी प्रयत्नशील होगा। विगठित समाज में विश्वास और व्यवहार में, प्रत्याशा और प्राप्ति में, आकांक्षा, कल्पना और वास्तविकता में विस्तृत अन्तर रहता है। कारण यह भी हो सकता है कि व्यक्तियों की शिक्षा-दीक्षा, उनका वातावरण एवं परिस्थितियाँ उन्हें किसी और ही भूमिका के लिए तैयार करती है किन्तु वास्तविक जीवन उन्हें किसी अन्य ही भूमिका में ला पटकता है और वह उस भूमिका के उपयुक्त न होने के कारण उसमें न तो ठीक बैठ ही पाते हैं और न वहाँ सफल ही हो पाते हैं किन्तु प्रगतिशील समाज में व्यक्तियों के लिए भूमिका प्रथम चुन कर फिर उन्हें उसके लिए शिक्षित करना कुछ सरल भी तो नहीं है अतः एक-मात्र उपाय यही हो सकता है कि प्रत्येक व्यक्ति को किसी भी वातावरण

से आनुकूल्य स्थापित करना, समीकरण स्थापित करना सिखाया जाय किन्तु यह भी कुछ सरल नहीं है। प्रत्याशा और प्राप्ति में पर्याप्त सामञ्जस्य स्थापित कर पाने की शिक्षा ही वास्तविक शिक्षा है किन्तु इस प्रकार की शिक्षा कैसे दी जाय यह अभी तक शिक्षा-विशेषज्ञ ठीक ठीक ढंग से बता भी नहीं पाये हैं।

प्राय: एक ही संस्कृति के अभौतिक एवं मानसिक तत्त्व विभिन्न सामाजिक संस्थाओं के रूप में स्थापित एवं सगठित किये जाते हैं किन्तु एक बार स्थापित हो जाने पर यह संस्थाएँ समाज में स्थिरता लाने की चेष्टा करने लगती हैं और प्राय: परिवर्तन का स्वागत नहीं करती है। पुरातन के प्रति इनका प्रेम और ममता तथा नवीन के प्रति प्रतिरोध की भावना सामाजिक विगठन का कारण बन जाती है। हम देख ही चुके हैं कि संस्थाएँ सामाजिक जीवन के लिए आवश्यक है और दूसरी ओर प्रगति भी सामाजिक जीवन के लिए अनिवार्य है अत: इन दोनों में सामञ्जस्य स्थापित करना अत्यन्त आवश्यक है अर्थात् सामाजिक संस्थाओं को सामाजिक परिवर्तन द्वारा उत्पन्न हुई सामाजिक परिस्थितियों के अनुरूप अपने आपको भी बनाते जाना चाहिए। पुरानी जीवनप्रणाली, पुरातन प्रथाएँ, मान्यताएँ एवं धारणाएँ जहाँ भी कहीं नवीन परिस्थितियों एवं वातावरण के अनुसार परिवर्तित नहीं होंगी वहाँ सामाजिक विगठन तो होगा ही। भौतिक परिवर्तन मानव तनिक सरलता से स्वीकार कर लेता है क्योंकि उससे उसकी सुविधाओं में ही वृद्धि होती है और भौतिक नवीनता की प्राचीनता पर श्रेष्ठता प्रकट करना भी उतना कठिन नहीं है किन्तु अभौतिक अथवा मान्यताओं, विचार एवं धारणाओं सम्बन्धी श्रेष्ठता सिद्ध करना न तो सरल ही है और न सहज ही। इसके लिए इतने अधिक काल की भी परीक्षण के लिए आवश्यकता होती ही है कि मानव उसको ठीक ठीक थोड़े समय में समझ भी नहीं पाता है अत: अभौतिक अथवा सांस्कृतिक परिवर्तन कुछ धीमी गति से ही होते है। यही नहीं, पुरातन भौतिक वस्तु से मानव को उतना अधिक मोह भी नहीं होता है और उसके साथ उतनी अधिक ममता भी नहीं होती है जितनी कि पुरातन विचारों और जीवन-प्रणाली के साथ होती है। इसके दो कारण हैं। एक तो यह कि विचार बाल्यकाल से ही हमारे जीवन के साथ घुल-मिल कर बड़े होते हैं अत: उन्हें हम अपना, अपने व्यक्तित्व का ही अंश समझने लगते हैं और उन्हें छोड़ना हमारे लिए कठिन हो जाता है क्योंकि उन्हें छोड़ने की बात सोचने से ही हमारी भावनाओं पर ठेस लगती है। दूसरा कारण यह है कि उन्हें प्राय: हमें बदलने की आवश्यकता भी तो

नहीं पड़ती है। भौतिक वस्तुओं को प्रयोग में लाकर पुराना करके बदलना पड़ता है अतः उनसे हमारा उतना अधिक मोह नहीं होता है किन्तु विचारों को परिवर्तित करने की हमें उतनी अधिक आवश्यकता नहीं होती है अतः उन्हें हम सहज ही त्यागना नहीं चाहते हैं। यही कारण है कि हम भौतिक परिवर्तनों की अपेक्षा अभौतिक परिवर्तनों को अधिक कठिनता से स्वीकार कर पाते हैं, ग्रहण कर पाते हैं। फलस्वरूप सामाजिक भौतिक और अभौतिक क्षेत्रों के परिवर्तनों में समता नहीं हो पाती है और इस प्रकार की विषमता को ही सांस्कृतिक दृष्टि से पिछड़ जाना (Cultural lag) कहा जाता है। इस प्रकार की असंगत अवस्था तथा विषमता सामाजिक विगठन का कारण होती है जिसका प्रत्यक्ष रूप आज हमारे समाज में भी देखा जा सकता है।

सामाजिक परिवर्तन समाज में प्रचलित धारणाओं तथा मूल्यांकन के मापदण्ड पर भी प्रभाव डालते हैं और इस प्रकार के मूल्यांकन-सम्बन्धी विचार किसी भी समाज के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होते हैं। एक समय में किसी भी कारण से और किसी भी अवस्था में गंगाजल हाथ में लेकर असत्य-भाषण भारत के किसी भी हिन्दू वासी के लिए असम्भव था किन्तु आज ठीक ठीक ऐसी ही बात नहीं है। इसका यह तात्पर्य है कि एक समय में जिस वस्तु का एक विशेष प्रकार का मूल्य एवं महत्त्व था आज उसमें परिवर्तन हो गया है। प्रगतिशील समाज में मूल्य और मूल्यांकन-सम्बन्धी मापदण्ड एवं विचार परिवर्तन होते रहना चाहिए अन्यथा सामाजिक विगठन ही होता है। धारणाएँ और मूल्य सहवर्ती और अन्योन्याश्रित होते हैं।

संकटकालीन परिस्थितियों में सामाजिक विगठन की अधिक सम्भावना रहती है क्योंकि ऐसी अवस्था में परिस्थितियाँ अत्यन्त शीघ्रतापूर्वक परिवर्तित होती रहती हैं तथा उनका परिवर्तित रूप इतना अप्रत्याशित होता है कि साधारण मानव उन्हें देख कर ही इतना घबरा जाता है कि उनमें अपने आपको ठीक ठीक, भली प्रकार सन्तुलित रख पाता ही नहीं है। सामाजिक संकट भी दो प्रकार के होते हैं। एक तो वे जो कि धीरे धीरे उत्पन्न होते हैं और जिनके लक्षण कुछ पहले से ही दिखाई देने लगते हैं जैसे कि अर्थ व्यवस्था में परिवर्तन के द्वारा उत्पन्न हुई स्थिति द्वारा लाया गया धीरे धीरे आनेवाला आर्थिक संकट। दूसरे प्रकार के संकट दैवी अथवा आकस्मिक होते हैं जैसे भूकम्प, अकाल आदि। युद्ध को इन दोनों में से किसी में भी देश काल और अवस्था के अनुसार रखा जा सकता है।

सामाजिक विगठन मुख्यत: आर्थिक मन्दी और बेकारी तथा पारिवारिक विगठन के रूप में ही प्रकट होता है।

सामाजिक असन्तुलन के स्वरूप—प्राय: समाज में कुछ ऐसे भी व्यक्ति होते हैं जिन्हें असामाजिक अथवा अस्वाभाविक कहा जा सकता है। इनका वर्गीकरण आश्रित, दोषपूर्ण और अपराधी में किया जा सकता है। यद्यपि इसके अतिरिक्त अन्य ढंगों से भी वर्गीकरण किया जा सकता है किन्तु हमारा तात्पर्य तो इसी वर्गीकरण से स्पष्ट हो जायेगा। ये तीनों प्रकार एक दूसरे से पृथक् नहीं हैं। इस प्रकार का वर्गीकरण संस्थाओं द्वारा इनके इलाज की दृष्टि से भी उपयोगी सिद्ध होता है। आश्रितों में ही बेकारों और उन व्यक्तियों को भी सम्मिलित किया जा सकता है जो कि अपना भरण-पोषण स्वयं नहीं कर पाते हैं किन्तु इसका कारण समाज में सम्पत्ति की दूषित वितरण व्यवस्था का होना भी हो सकता है और परिणामस्वरूप इन व्यक्तियों को अपनी निम्न आर्थिक अवस्था के कारण उन व्यक्तियों की अपेक्षा जिन्हें कि आर्थिक दृष्टि से निश्चिन्तता मिली हुई है, सामाजिक सुविधाएँ और समाज में ऊँची पद-मर्यादा भी प्राप्त नहीं होती है अत: इनका असन्तुष्ट होना स्वाभाविक है और कभी कभी सामाजिक एवं आर्थिक विषमता ही इन्हें मानसिक दृष्टि से दोषपूर्ण, अर्द्ध-विक्षिप्त आदि बना देती है तथा कभी कभी समाजिक दृष्टि से अपराधी भी बना कर छोड़ती है। शारीरिक अथवा मानसिक दृष्टि से दोषपूर्ण अथवा अपंग व्यक्ति प्रतियोगिता आदि क्रियाओं में सफलतापूर्वक भाग नहीं ले पाता है। आश्रित और दोषपूर्ण प्राय: ये दोनों ही सामाजिक व्यवस्था में अन्य व्यक्तियों के साथ जीविकोपार्जन और पद-मर्यादा प्राप्ति की प्रतियोगिता में खड़े ही नहीं हो पाते हैं। अपराधी समाज में प्रतियोगिता प्रक्रिया में भाग लेने के अयोग्य होता है अथवा भाग लेना ही नहीं चाहता है। वह तो अपना स्थान समाज में प्राप्त करने के लिए अनैतिक एवं अनुचित साधनों का प्रयोग करता है और ऐसा करते हुए वह समाज के लिए अहितकर ही सिद्ध होता है क्योंकि वह अपने कृत्यों द्वारा समाज के अन्य व्यक्तियों को भी प्रतियोगिताजन्य उन्नति में बाधक बनता है।

सामाजिक विगठन से मुक्त होने के उपाय—सामाजिक असन्तुलित व्यक्तियों की चिकित्सा करके तथा सभी व्यक्तियों को नवीन परिस्थितियों के साथ समीकरण स्थापित करने की शिक्षा देकर ही सामाजिक असन्तुलन तथा सामाजिक विगठन से मुक्ति प्राप्त की जा सकती है।

विज्ञान इस दिशा में भी मानव के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकता है। विभिन्न विज्ञान मिल-जुलकर असन्तुलित मानवों की चिकित्सा के उपाय भी खोज रहे हैं। शिक्षाविज्ञ भी ठीक ढंग की शिक्षा दे पाने के उपायों की खोज में संलग्न हैं। पिछले कुछ वर्षों में बहुत सी ऐसी योजनाएँ उपस्थित की गई हैं जो कि इस दृष्टि से मानव के लिए हितकर हों। इनमें से सर्वप्रमुख स्वास्थ्य, मनोरंजन, समाज-सेवा और व्यक्तिगत नैतिकता से सम्बन्धित योजनाएँ ही हैं। मानव के स्वास्थ्य की उन्नति होने पर अर्थात् स्वस्थ होने पर उसके मानसिक असन्तुलन की अवस्था पर भी बहुत कुछ प्रभाव पड़ता है। स्वस्थ व्यक्ति अधिक स्वाभाविक और सुखी रह पाता है अतः व्यक्तियों के शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य पर ध्यान देना अत्यन्त आवश्यक है। काम करने की शर्तें यदि व्यक्ति के लिए सुविधाजनक हों तथा उसे काल के साथ साथ मनोरंजन की भी सुविधाएँ मिलें तथा काम उसके लिए मानसिक दबाव का कारण न होकर सुखदायी हो तो मानव असन्तुलित नहीं होता है। इसी प्रकार सभी ही व्यक्तियों की सामाजिक दशा में सुधार करना तथा उनके जीवन में जीवीय नियमादि का ज्ञान करा के नैतिकता उत्पन्न करना आवश्यक है। इस प्रकार के उद्देश्यों को लेकर पिछले कुछ वर्षों में अनेकों योजनाएँ बनाई गई हैं। कुछ तो कार्यान्वित की भी गई हैं और कुछ की जा रही हैं किन्तु इन्हें समझ पाने के लिए सामाजिक विगठन के कुछ एक रूपों की चर्चा कर लेना उचित ही होगा।

धनहीनता—सामाजिक दृष्टि से असन्तुलित व्यक्तियों का वर्गीकरण करते हुए हमने 'आश्रित' की चर्चा की थी तथा यह भी स्पष्ट किया था कि आश्रित वह व्यक्ति है जो कि अपने भरण-पोषण के लिए अपने अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति पर आश्रित होता है किन्तु आश्रित होना ही धनहीन होना नहीं है। धनहीनता तो वह अवस्था है जिसमें व्यक्ति अपना भरण-पोषण तो करता है और तदर्थ जी वकोपार्जन भी करता है किन्तु रहन-सहन की साधारणतया भी अच्छी रीति-नीति, अच्छा स्तर नहीं रख पाता है अतः धनहीनता का सम्बन्ध रहन-सहन के स्तर से है। रहन-सहन के स्तर विभिन्न सामाजिक समूहों एवं समुदायों में भिन्न भिन्न होते हैं। जो व्यक्ति अपने रहन-सहन के स्तर के कारण एक समाज में धनहीन माना जाता है वही दूसरे समाज अथवा समुदाय में वैसा नहीं भी माना जा सकता है।

धनहीन व्यक्ति को सदा ही किसी न किसी मात्रा में तो आश्रित रहना ही पड़ता है किन्तु उसे सर्वथा आश्रित हो जाने का भय भी बना ही रहता

है। यद्यपि वह अपनी जीविका उपार्जित करता है किन्तु वह अपने लिए जीवन की मूल-भूत आवश्यकताओं की पूर्ति करने योग्य धन ही कठिनता से अर्जित कर पाता है अतः उसे सदा सर्वदा यह भय रहता है कि यदि कभी अचानक कोई ऐसा अवसर आ जाये जब कि उसे तनिक अधिक व्यय करने की आवश्यकता पड़ जाये तो उसे आश्रित होना पड़ेगा अथवा किसी कारण से उसकी आय में तनिक सी भी कमी हो जाने पर अथवा लम्बी बीमारी के कारण कुछ दिन उपार्जन के अयोग्य हो जाने पर उसे दूसरों पर आश्रित होना पड़ेगा। और यही एक मात्र भय नहीं होता है। बेकारी, रोग आदि में उसे स्वयं और उसकी मृत्यु हो जाने पर उसके परिवार को भरण-पोषण के लिए भी दूसरों का मुँह ताकना पड़ता है। आश्रितों के भी दो वर्ग होते हैं। बालक और स्त्रियाँ प्रायः स्वाभाविक रूप से ही पुरुषों पर अपने भरण-पोषण के लिए आश्रित रहते हैं किन्तु अस्वाभाविक रूप से आश्रित वे लोग होते हैं जिन्हें कि अपने भरण पोषण के लिए स्वयं जीविकोपार्जन करना चाहिए किन्तु फिर भी जो शारीरिक अयोग्यता अथवा मानसिक विक्षिप्तता के कारण अपने भरण-पोषण के लिए भी दूसरों पर ही आश्रित रहते हैं। कुछ आश्रित तो स्थायी रूप से आश्रित ही रहते हैं किन्तु कुछ व्यक्ति बेकारी आदि के कारण अस्थायी रूप से किसी पर आश्रित हो जाते हैं और इसी प्रकार कुछ लोग आंशिक रूप में और कुछ पूर्णतया ही दूसरों पर आश्रित होते हैं। जो लोग स्थायी रूप में पूर्णतया आश्रित होते हैं उन्हें दिवालिया माना जाता है। ये लोग किसी प्रकार का कोई उत्पादन भी नहीं करते हैं और समाज के लिए आर्थिक दृष्टि से उपयोगी भी नहीं होते हैं। वस्तुतः किसी भी समुदाय में अधिकांश व्यक्ति ऐसे होते हैं जो कि धनहीनता और धनी होने के बीच ही में रहते हैं अर्थात् अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति मात्र ही कर पाते हैं भले ही ऐसा करने में उन्हें कठिनाई न होती हो किन्तु इसके अतिरिक्त जो धन उनके पास बचता है वह प्रायः बहुत ही न्यून होता है। आश्रित व्यक्ति समाज के लिए अभिशापस्वरूप ही होते हैं क्योंकि समाज के अन्य उन व्यक्तियों को जो कि कुछ उत्पादन करते हैं अपने अतिरिक्त उनका भी आर्थिक दृष्टि से भार उठाना पड़ता है।

धनहीनता के कारण—आज दिन जिस प्रकार की अर्थनीति प्रायः विश्व के अधिकांश देशों में चल रही है उसे देखते हुए धनहीनता के उद्गम व्यक्ति की आनुवंशिकता और भौतिक एवं सामाजिक वातावरण ही है। व्यक्ति माता-पिता से प्रायः अपनी शारीरिक

सम्पत्ति प्राप्त करता है। रोग आदि से पीड़ित अथवा दुर्बल शरीर और दुर्बल मन लेकर प्रायः कोई भी व्यक्ति अपने भरण-पोषण योग्य धन का ठीक से उपार्जन नहीं कर पाता है। व्यक्ति अपने भौतिक वातावरण पर बहुत दूर तक आश्रित रहता है और उसी के आधार पर जीविकोपार्जन भी कर पाता है। जिस क्षेत्र में प्राकृतिक देन पर्याप्त होती है और वहाँ के रहनेवालों को उसका ठीक ठीक उपयोग करना आता है वहाँ प्रायः धन-हीनता नहीं दिखाई देती है। प्रायः पहाड़ी क्षेत्रों में इसीलिए धनहीनता अधिक होती है कि वहाँ का भौतिक वातावरण इस दृष्टि से अधिक सुविधा-जनक नहीं होता है। व्यक्ति के जीवन में इस दृष्टि से सामाजिक वातावरण और सामाजिक तथ्य का अत्यधिक हाथ रहता है। किसी भी समाज अथवा समुदाय में धनहीनता के कुछ सामाजिक कारण भी होते हैं। दोष-पूर्ण औद्योगिक और आर्थिक संगठनों के फलस्वरूप भी समाज में धन-हीनता हो सकती है। यह तो हम देख ही चुके हैं कि सम्पत्ति का विभाजन ठीक ढंग पर न होने से समाज में आर्थिक विषमता फैलती है अर्थात् धन का कुछ ही लोगों के पास एकत्रित हो जाना अधिकांश लोगों को उससे वंचित कर देता है। किसी भी समुदाय में फैली हुई धनहीनता का यह तो एक ही कारण है किन्तु दूसरा कारण उस समुदाय में कुल सम्पत्ति का कम होना भी हो सकता है। धनहीनता का एक बहुत बड़ा कारण बेकारी है। व्यापार में मन्दी आ जाने के कारण अथवा कभी कभी पूँजी के रोक लिये जाने के कारण उत्पादन के साधनों के ठप हो जाने से भी बेकारी का जन्म होता है और इस प्रकार उत्पन्न होनेवाली बेकारी समाज के सदस्यों की कठिनाइयाँ इतनी अधिक बढ़ा देती हैं कि सारे समाज में एक प्रकार के असन्तोष की लहर दौड़ जाती है। यदि पारिश्रमिक, जीवन की आवश्यकता की पूर्ति कर पाने के लिए तथा दुर्दिन में कष्ट पाने से बचने के लिए बचा रखने के लिए जितने धन की आवश्यकता होती है उससे न्यून मिलता है तो यह धनहीनता की ओर ले जानेवाली व्यवस्था ही होती है। इसका तात्पर्य होता है उत्पादन व्यवस्था से प्राप्त धन का श्रम के बदले अपेक्षाकृत न्यून दिया जाना जो कि अनुचित तो है, विषम परिस्थितियों को उत्पन्न करनेवाला भी होता है। उद्योग-धन्धों में होने-वाली दुर्घटनाएँ और श्रमिकों में फैलनेवाले रोगादि भी धनहीनता और आश्रित बने रहने की स्थिति को उत्पन्न करते हैं। सम्पत्ति का असम विभाजन, अधिकांश श्रम का न्यून पारिश्रमिक मिलना, व्यापार में इन्हीं के कारण अथवा पूँजी के रोक लिये जाने से उत्पन्न बेकारी आदि आर्थिक संगठन के

दोषपूर्ण होने के ही फल होते हैं अतः इनके सुधार का एकमात्र उपाय आर्थिक संगठनों का एवं आर्थिक व्यवस्था का सुधार करना ही है। औद्योगिक दुर्घटनाओं तथा रोगादि से भी तनिक अधिक सावधानी से काम करके तथा अधिकाधिक श्रमिकों के रहन-सहन की स्थिति की ओर ध्यान देकर बचा जा सकता है। प्रायः पूँजीपति इस ओर ध्यान देना ही नहीं चाहते हैं क्योंकि इससे उनका व्यय अधिक हो जाता है अतः व्यक्तिगत लाभ की मात्रा कुछ न्यून हो जाती है। निजी स्वार्थपूर्ण हितों की ओर अधिक प्रवृत्ति होने के कारण पूँजीपति प्रायः इस प्रकार के सुधारों को टालने की ही चेष्टा करते हैं किन्तु राज्य की ओर से कानून बना कर इस प्रकार की व्यवस्था की जानी चाहिए कि दुर्घटना अथवा रोगपीड़ित श्रमिक के भरण-पोषण का भार पूँजीपति पर ही हो तब ही वह अपनी मिल अथवा फैक्टरी में काम करनेवालों की स्थिति का सुधार करेंगे। इसके अतिरिक्त किसी मिल-दुर्घटना में अपंग हो जानेवाले श्रमिक की पेंशन आदि का भी प्रबन्ध होना चाहिए।

यान्त्रिक बेकारी भी प्रायः सभी समाजों एवं समुदायों में पाई जाती है। यह दो प्रकार की होती है एक तो यान्त्रिक आविष्कारों की प्रगति तीव्र है अतः प्रायः प्रतिदिन ही नवीन से नवीन यन्त्रों का आविष्कार होता जा रहा है और इनकी सहायता से थोड़ी ही मानव-शक्ति से उतना काम लिया जा सकता है जितना कि यन्त्र विशेष के आविष्कार से पूर्व उससे शतगुणी अधिक मानव-शक्ति से लिया जाता था। पूँजीपति के पास धन है और यन्त्र महँगा होता है किन्तु एक बार क्रम कर लिये जाने पर उस पारिश्रमिक को बचाता है जो कि पूँजीपति को अपने अनेकों श्रमिकों को देना पड़ता है अतः पूँजीपति उस यन्त्र को क्रम करके अनेकों मनुष्यों को बेकार कर देता है। यही नहीं, प्रायः यान्त्रिक काम-काज में विशेषज्ञ अथवा कम से कम उस यन्त्र को समझनेवाले श्रमिक की आवश्यकता होती है, जिस पर कि उसे काम करना है। आविष्कारों की तीव्र गति नवीन यन्त्रों के साथ ही नवीन श्रमिकों का आना आवश्यक कर देती है। फलस्वरूप पुराने श्रमिक विशेषतया अनुभवी जो कि अब कोई दूसरा कार्य सहज ही नहीं सीख सकते हैं बेकार हो जाते हैं किन्तु उद्योगपति का काम तो सरलता से ही चल जाता है क्योंकि अब उसे नवीन यन्त्र के साथ और भी कम मनुष्यों की आवश्यकता पड़ती है क्योंकि नवीन यन्त्रों का आविष्कार मानव-शक्ति की आवश्यकता एवं माँग दिनोंदिन न्यून ही करता जाता है। उद्योग में होनेवाले प्रचलन आदि सम्बन्धी परिवर्तन भी

श्रमिकों में बेकारी उत्पन्न करते हैं। साधारण जनता अथवा क्रय करनेवाला को क्रय-शक्ति में न्यूनता होने से भी समाज की अर्थ-व्यवस्था में गड़बड़ी हो जाति है। वस्तुओं का मूल्य अधिक हो जाने पर भी यदि उसी अनुपात से पारिश्रमिक न बढ़े तो रहन-सहन का स्तर गिराना पड़ता है और इसे धनहीनता की अवस्था ही कहा जा सकता है।

राज्य संगठन के दोषपूर्ण होने से भी धनहीनता और बेकारी समाज में बढ़ती है। उदाहरणार्थ—किसी भी निजी उद्योग के प्रारम्भिक काल में उसे प्रोत्साहन देने के लिए यदि राज्य की ओर से कानून द्वारा कर-व्यवस्था उसके अनुकूल बनाई जाती है तो उसकी आवश्यकता उस समय तक ही है जब तक कि वह उद्योग चल नहीं निकलता है किन्तु उसके भली प्रकार चलने के पश्चात् भी यदि वे कानून परिवर्तित नहीं किये जायँगे तो उस वस्तु का मूल्य घटेगा नहीं जिससे कि उत्पादक और उपयोग करनेवाले दोनों को ही कठिनाई होगी। इसी प्रकार अयोग्य न्याय-व्यवस्था और न्यायालय अपराध को बढ़ने से रोक नहीं पाते हैं जिसके फलस्वरूप समाज में धनहीनता और अव्यवस्था बढ़ती है।

नागरिकों के स्वास्थ्य के देख-भाल की व्यवस्था भी समुचित न होने के फलस्वरूप मानव की उत्पादन शक्ति कम होती है और उत्पादन कम होने से सम्पत्ति घट जाती है। फलस्वरूप धनहीनता दिखाई देने लगती है। शिक्षा-व्यवस्था का दोषपूर्ण होना भी धनहीनता का कारण हो सकता है।

धनहीनता के परिणाम—प्रायः सभी ही मनुष्यों के जीवन में कभी न कभी कोई संकट उपस्थित होता ही है अर्थात् ऐसी अवस्था हो जाती है कि उसे अपनी चिर अभ्यस्त परिस्थितियों से भिन्न परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। ऐसी अवस्था में यदि व्यक्ति शीघ्र ही कोई समीकरण स्थापित करने की योजना खोज और कार्यान्वित कर पाया तब तो अवस्था सुधर जाती है अन्यथा व्यक्ति असन्तुलित हो जाता है और यदि असन्तुलन की अवस्था अधिक देर तक बनी रही तो व्यक्ति प्रायः उस अवस्था से इतना अधिक निराश हो जाता है कि उसके सुधारने के उपाय करना और सोचना भी छोड़ देता है ऐसी अवस्था में वह निराश और दुःखी होकर निरुत्साही एवं पूर्णतया भाग्यवादी अथवा अकर्मण्य भी हो जाता है।

आर्थिक संघर्ष और कठिनाइयाँ तो प्रायः लोगों के जीवन में आती ही रहती हैं और सब ही व्यक्तियों में तो इनका सामना करने की तथा इनसे समीकरण स्थापित करने की शक्ति एवं योग्यता भी नहीं होती है। यहाँ

तक कि जब संघर्षकाल व्यतीत भी हो जाता है तब भी दुर्बल शरीर एवं मनवाले व्यक्ति तो उसके परिणामों जन्य कटुता और निराशा से शीघ्र मुक्त भी नहीं हो पाते हैं। वस्तुतः जिन अवसरों की हमने अब तक चर्चा की है वे तो परीक्षा की घड़ियाँ एवं परीक्षा के वे अवसर हुआ करते हैं जिनमें से निकलकर कुछ लोग तो पुनः अपनी पूर्व-स्थिति में आ ही जाते हैं किन्तु कुछ एक आश्रित बन कर ही रह जाते हैं।

मानवीय धनहीनता-सम्बन्धी असन्तुलन के कारण प्रायः निम्न-लिखित होते हैं। रोग, परिवार के कमानेवाले व्यक्ति का निधन, बेकारी, परिवार के मुखिया का अन्य व्यक्तियों के भरण-पोषण करने के भार से स्वेच्छा से ही मुक्त हो जाना अथवा परिवार का विगठन, वृद्धावस्था और युद्ध।

धनहीनता एवं आश्रित होने के कुपरिणामों से बचने के कुछ सामाजिक उपाय—प्रायः आश्रितों का पालन करने के लिए समाज में किसी न किसी प्रकार के दान की व्यवस्था हुआ करती है। इस प्रकार के दानों को तीन श्रेणियों में रखा जा सकता है। एक तो वह दान होता है जो कि भिक्षुकों आदि को कभी कभी भोजन-वस्त्र आदि के रूप में दे दिया जाता है। इसे आकस्मिकदान कह सकते हैं। दूसरे प्रकार का दान वह होता है जो कि बेकार अथवा धनहीन लोगों को ऐसी सहायता के रूप में दिया जाता है जिससे कि वह अपने भरण-पोषण के योग्य हो सकें। उदाहरणार्थ—विधवा स्त्रियों को घरों में ही सिलाई-कढ़ाई आदि का काम देना तथा उसके पारिश्रमिक के रूप में उदरपूर्त्ति योग्य धन देना इसी प्रकार की सहायता कहलाती है। दाता का स्वयं आश्रितों की अवस्था देखकर, उनके घर जाकर, उन्हें उत्साहित करके दान देना ही उचित है। एक अन्य प्रकार का दान संगठित रूप में ऐसी संस्थाओं को दिया जाता है जो कि आश्रितों का भरण-पोषण करती हैं। इस प्रकार की संस्थाओं का संचालन संगठित एवं सुव्यवस्थित ढंग पर किया जाता है और इस प्रकार के कार्यों को समाज-सेवा के कार्य माना जाता है। इस प्रकार के दान के देने और लेने से सम्बन्धित कुछ नियमादि होते हैं जिनका कि पालन करना आवश्यक होता है। प्रायः किसी भी देश में ऐसे दान को जनता उतना अधिक पसन्द नहीं करती है जो कि परोक्ष रूप से ही व्यक्ति की सहायता करता हो और प्रत्यक्ष रूप में उनसे काम ही लेता हो किन्तु यही दान का सर्वोत्तम स्वरूप है। इससे दान ग्रहण-कर्त्ता के मन में भी आत्मविश्वास बना रहता है

और वह स्वयं अपने पर ही निर्भर होने की दिशा में प्रयत्नशील भी होने लगता है। आश्रित बालकों का भरण-पोषण प्रायः एक समस्या ही होती है। अनाथालयों आदि के द्वारा प्रायः कुछ एक समुदायों में इस प्रकार के बालकों का पालन किया जाता है। कुछ समुदायों में किसी बालक के अनाथ हो जाने पर उसके लालन-पालन का भार उसके सम्बन्धियों पर पड़ जाता है यद्यपि सदासर्वदा उस अवस्था में बालक के व्यक्तित्व का ठीक उठान नहीं हो पाता है किन्तु संस्थाओं में लालन-पालन होने पर भी स्नेह के अभाव जन्य मनोवैज्ञानिक कठिनाई तो बनी ही रहती है।

अच्छा तो यह हो कि राष्ट्र की ही ओर से बालकों के लिए इन्शोरेन्स आदि किसी न किसी प्रकार की आर्थिक निश्चिन्तता का प्रबन्ध किया जाय। बालकों की अपराध-वृत्ति निरोध के लिए भी राष्ट्र की ओर से न्यायालयों तथा सुधारक विद्यालयों का भी प्रबन्ध होना चाहिए। राष्ट्रीय समाज-हित-सम्बन्धी विभाग द्वारा इस प्रकार की सामाजिक सेवाओं का प्रबन्ध तथा ऐसे काम करनेवाली संस्थाओं का नियन्त्रण तथा संचालन होना चाहिए और जो अन्य संस्थाएँ ऐसे कार्य कर रही हों उन्हें प्रोत्साहन तथा सहायता मिलनी चाहिए।

वृद्धावस्था के लिए तो पेन्शन का प्रबन्ध होना ही चाहिए, इसके अतिरिक्त यदि कोई अकाल में ही मर जाय तो उसके आश्रितों को भी पेन्शन मिलना चाहिए। प्रायः उन्हीं व्यक्तियों को पेन्शन मिलती है जो कि राष्ट्रीय संस्थाओं में कार्य करते हैं किन्तु होना तो यह चाहिए कि सब ही प्रकार के काम करनेवाले लोगों को वृद्धावस्था में किसी का आश्रित न होना पड़े और सामाजिक सुरक्षा-कानून के अन्तर्गत इस प्रकार की पेन्शनों का प्रबन्ध किया जाना अनिवार्य कर देना चाहिए। इसके अतिरिक्त युद्ध में हत व्यक्तियों तथा उनके आश्रितों के लिए भी पेन्शन के रूप में जीवनयापन का प्रबन्ध होना चाहिए। जो व्यक्ति युद्ध में तथा फैक्टरी आदि में कार्य करते हुए दुर्घटना का शिकार होकर अपंग हो जायँ उन्हें भी पेन्शन मिलनी चाहिए। पुनर्वास आदि के लिए भी सरकार की ओर से आर्थिक सहायता मिलने का प्रबन्ध किया जाना चाहिए। किसी भी कारण से होनेवाली अस्थायी बेकारी के समय में भी बेकार व्यक्तियों को आर्थिक सहायता दी जानी चाहिए। धनहीनता व्यक्ति को अपराध की ओर प्रवृत्त करती है और अपराध सामाजिक जीवन में कुष्ठ का कार्य करता है अतः धनहीनता और आश्रित होने से समाज को जैसे भी मुक्त किया जा सके अवश्य करना चाहिए। सामाजिक विगठन तथा उसके

फलस्वरूप होनेवाली सामाजिक दुरावस्था से बचने का यही एकमात्र उपाय भी है। यद्यपि इसका अर्थ यह होगा कि राष्ट्र सब ही प्रकार की व्यक्तियों के भरण-पोषण की कानूनी आधार पर व्यवस्था करे अथवा करवाये जो कि सम्भवतः कुछ बहुत अधिक अच्छा नहीं होगा किन्तु ऐसा करना समाज के हित की दृष्टि से उस समय तक आवश्यक है जब तक कि समाज में अर्थ-नीति कुछ ऐसी प्रचलित नहीं होती है जिसके आधार पर सम्पत्ति का उत्पादन तथा वितरण दोनों ही ठीक ढंग पर हो सके और सब ही व्यक्ति केवल समाज-हित की भावना से ही प्रेरित होकर अधिकाधिक सम्पत्ति का उत्पादन करने में प्रयत्नशील रहें।

अपराध—अपराध प्रायः उन कर्मों को ही कहा जाता है जो कि देश विधि के विरुद्ध होते हैं अथवा उसका उल्लंघन करते हैं। इस प्रकार देश विधि के उल्लंघन के परिणामस्वरूप समाज में अव्यवस्था फैलती है। सामाजिक प्रथाओं, परम्पराओं का उल्लंघन करना यद्यपि सामाजिक दृष्टि से उतना अहितकर एवं घना अपराध नहीं होता है फिर भी अपराध तो होता ही है। वस्तुतः मानव के सामाजिक व्यवहार के न तो कोई व्यापक विश्वव्यापी मापदण्ड ही हैं और न तत्सम्बन्धी नियम ही अतः ये देश-काल के अनुसार बनते और संशोधित होते रहते हैं। अपराधों पर दृष्टि डालते समय तत्कालीन सांस्कृतिक व्यवस्था पर भी दृष्टि डाल लेना हितकर ही होगा। जो भी कोई तत्कालीन नियम और व्यवस्था हो, उसके विरुद्ध चलने का नाम ही अपराध है। इनकी अपेक्षा कुछ अन्य अपराध हलके अपराध माने जाते हैं। हत्या, डाका, व्यक्तिगत अपमान आदि कुछ अधिक गहरे अपराध समझे जाते हैं। प्रायः अपराधों को उकसानेवाली विभिन्न सामाजिक अवस्थाएँ ही हुआ करती हैं। किसी देश में विभिन्न रक्त-सम्बन्धित जातियों का रहना, भाषा एवं परम्पराओं आदि में भिन्नता का होना, जनसंख्या का बहुत अधिक होना तथा व्यक्तियों का परिवार से पृथक् नगरों में एकाकी रहना, स्वभाव से ही व्यक्तियों का अधिक स्वतन्त्र मनोवृत्ति का होना, आधुनिक सभ्यता और व्यक्तिवादी विचारधाराओं का विशेष प्रसार एवं प्रचार होना तथा उनका सामाजिक जीवन पर अत्यधिक प्रभाव होना, समाज की आर्थिक व्यवस्था एवं भौतिक वातावरण आदि में शीघ्रातिशीघ्र परिवर्तन होना आदि कुछ एक ऐसी अवस्थाएँ हैं जो कि समाज में अपराध-मनोवृत्ति को उत्साहित करती हैं।

अपराधियों का वर्गीकरण—प्रायः अपराधी कई प्रकार के होते

हैं। एक तो वे अपराधी होते हैं जो कि क्षणिक उत्तेजना में अथवा मद्य आदि के नशे में पड़ कर अपराध कर डालते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि इस कोटि के अपराधी स्वभाव से ही असामाजिक मनोवृत्ति के हों। इनमें से अपराधवृत्ति के बीज नष्ट भी किये जा सकते हैं और बढ़ाये भी जा सकते हैं। कुछ अपराधी ऐसे भी होते हैं जो कि स्वभाव से अपराधी तो नहीं होते है किन्तु जिनमें अपराध करने की इच्छा को रोकने की शक्ति भी कुछ न्यून ही होती है अतः ये लोग प्रायः अपराध कर डालते हैं। अन्य कुछ लोग स्वभाव से ही अपराधी मनोवृत्ति के होते हैं। इनका सुधार होना भी तनिक कठिन ही होता है। ये प्रायः अपराध करते रहते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि इस प्रकार के व्यक्ति जन्म से ही अपराधी मनोवृत्ति लेकर आते हों। परिस्थितियाँ भी उन्हें ऐसा बन जाने के लिए विवश कर सकती हैं और एक बार अपराध के पंक में फँस जाने पर फिर उससे निकलना ही कठिन हो जाता है। अन्य कुछ व्यक्ति व्यावसायिक अपराधी होते हैं। प्रायः स्वाभाविक मनोवृत्त से ही होनेवाले अपराधी और व्यावसायिक अपराधियों में थोड़ा ही अन्तर होता है। व्यावसायिक अपराधी वह व्यक्ति होता है जो कि यों तो एक साधारण ठीक-ठाक नागरिक ही होता है किन्तु सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत रह कर अपनी जीविका के उपार्जन के लिए अपने ही समान अन्य समाज के सदस्यों के साथ प्रतियोगिता करना नहीं चाहता है। अधिक धन प्राप्ति की इच्छा और सत्ता एवं शक्ति का प्रलोभन प्रायः इस प्रकार के अपराध की प्रेरणा देता रहता है। प्रायः अधिक सभ्य एवं वैज्ञानिक उन्नति प्राप्त देशों में ही इस प्रकार के अपराधी अधिक पाये जाते हैं। कुछ व्यक्ति मानसिक दुर्बलता एवं मस्तिष्क-सम्बन्धी अथवा मानसिक किसी न किसी दोष के कारण अपराध करने लगते हैं।

अपराधों की रोक-थाम के उपाय—प्रायः सभी समाजों में अपराधों की संख्या न्यून करने की चेष्टा की जाती है। सामाजिक दृष्टि से इस उद्देश्य को लेकर दो प्रकार से कार्य किये जाते हैं। एक तो है अपराधों की रोक और दूसरा अपराधों को दण्ड देकर निरुत्साहित करना। प्रायः अपराधों से समाज को मुक्त एवं सुरक्षित रखना सभी देशों एवं समाजों में राष्ट्र एवं शासन का कार्य माना जाता है। राज्य की समस्त शक्तियाँ इसी ओर लगी रहती हैं। पुलिस और न्यायालय इसी उद्देश्य से स्थापित किये जाते है। कानून और पुलिस यही प्रयत्न करते हैं कि समाज में अपराध न हों और न्यायालयों का उद्देश्य यही होता है कि अपराधी कहीं बिना दण्ड पाये ही न रह जाये।

दण्ड के उद्देश्य—सभ्यता से पूर्व किसी एक युग में तो दण्ड का उद्देश्य केवल मात्र प्रतिशोध था किन्तु आज दिन अवस्था बदल गई है। आधुनिक युग में दण्ड के तीन विभिन्न प्रकार के उद्देश्य माने जाते हैं। कुछ विचारक तो ऐसा मानते हैं कि दण्ड किसी कर्म का आवश्यक फल है जैसे कि हम संसार में जो कुछ भी कार्य करते हैं उसका कुछ न कुछ परिणाम अवश्य ही होता है इसी प्रकार यदि हम कोई कर्म समाज के विरुद्ध अथवा देश-विधि के विरुद्ध करते हैं तो उसका भी आवश्यक परिणाम शारीरिक दण्ड के रूप में हमें भुगतना ही होता है। दूसरे दल के विचारक यह मानते हैं कि दण्ड का उद्देश्य अपराधी को अपराध करने से रोकना है। प्रायः मानव वह काम नहीं करता है जिससे कि उसे शारीरिक कष्ट होता हो। सुख और दुःख ये दो प्राकृतिक कर्म प्रेरक अथवा कर्म से दूर करने-वाली मनोवृत्तियाँ हैं। एक तो कारावास में अवधि-विशेष तक रहने के कारण अपराधी शीघ्र ही अपराध की पुनरावृत्ति कर ही नहीं सकेगा और दूसरे वहाँ होनेवाले कष्ट उसे यह निश्चय करने को विवश कर देंगे कि अपराध दुःख का कारण है अतः इसे नहीं करना चाहिए किन्तु कभी कभी प्रभाव उलटा ही होता है। अपराधी अपने क्लेश का कारण अपराध को न मान कर अपनी उसे न छिपा सकने की अयोग्यता को और समाज की व्यवस्था को ही मानने लगता है जो कि समाज के लिए और भी अहित-कर है। एक अन्य दल के विचारक यह विश्वास करते हैं कि दण्ड का उद्देश्य सुधार होना चाहिए किन्तु यहाँ यह भी विचारणीय है कि किसका सुधार हो? अपराधी का अथवा समाज का। यदि अपराधी का सुधार करना ही दण्ड का लक्ष्य हो तब तो जेल, अस्पतालों की भाँति होने चाहिए और अपराधियों को रोगी मान कर उनकी मानसिक चिकित्सा का प्रबन्ध किया जाना चाहिए और यदि दण्ड का उद्देश्य समाज का सुधार करना हो, तो अपराधी को जनता के सम्मुख ही कष्ट और अपमान का लक्ष्य बनाना चाहिए ताकि अन्य व्यक्ति अपराध से बचे ही रहें। जो भी उद्देश्य हो, आज दिन तक शारीरिक कष्ट को ही अपराध का समुचित दण्ड मान-कर चलने की प्रथा प्रायः सब ही सभ्य देशों तक में चल रही है यद्यपि यह कहना कठिन है कि किस अपराध का कितना और कौन सा शारीरिक कष्ट दण्ड होना चाहिए यह निश्चित कर पाना और उसका आधार निर्धारित करना कठिन है किन्तु प्रायः आर्थिक दण्ड से लेकर कारावास और प्राण-दण्ड तक दिया जाता है।

समाज और व्यक्ति चाहे किसी के भी सुधार के उद्देश्य को लेकर दण्ड

दिया जाता है. सबसे अधिक आवश्यकता तो यह देखने की है कि दण्ड पूरा कर लेने के पश्चात् अपराधी को किस प्रकार अपराध करने से रोका जा सकता है। सम्भवत: इसका सर्वोत्तम उपाय ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करना ही है जिनमें रह कर कि अपराधी की अपराध करने की ओर प्रवृत्ति ही न हो।

सबसे अच्छी सामाजिक व्यवस्था और सब से अच्छा सामाजिक संगठन तो वही माना जा सकता है जिसमें किसी भी व्यक्ति को अपराध करने की आवश्यकता ही न पड़ती हो।

ऐसे समाज का निर्माण करने की दृष्टि से ही तो विभिन्न प्रकार की सामाजिक सुधार योजनाएँ एवं सामाजिक संगठन योजनाएँ उपस्थित की जाती हैं। इनमें से प्रमुख की ओर हम यथास्थान संकेत कर ही चुके हैं।

युद्ध—कोई भी समाजविरोधी कार्य उस समय तक अपराध नहीं माना जाता है जब तक कि उसे वैधानिक रूप से न रोका जाये और दण्ड योग्य घोषित न किया जाये। कुछ वर्ष पूर्व तो युद्ध को अपराध नहीं माना जाता था और ऐसा मानने का कारण यह था कि कोई भी तो ऐसी सत्ता नहीं है जो कि राष्ट्रों के लिए विधि विधान बना सके तथा उनके कर्मों को भी अपराध घोषित कर सके किन्तु इतना मानते हुए भी यह तो मानना ही पड़ता है कि यदि दो देशों के बीच सन्धि हो चुकी हो तो उनमें से किसी एक का सन्धि तोड़ कर युद्ध की घोषणा करना सम्भवत: अपराध ही है क्योंकि ऐसा करके उसने सन्धि रूपी समझौते को तोड़ा है। फिर भी इतना प्रश्न तो शेष रह ही जाता है कि इस प्रकार के समझौतों को लागू कर सके ऐसी भी कोई सत्ता है अथवा नहीं। शान्ति की स्थापना के लिए आज तक विश्व में जितनी भी संस्थाएँ बनी हैं उनके सम्बन्ध में भी यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता है कि वे इस दृष्टि से पूर्ण माननीय संस्थाएँ हैं ही। प्राय: सन्धि के द्वारा ही राष्ट्रों से नियमों का पालन कराया जाता है। इन्हीं सन्धियों को युद्ध करने के विरुद्ध नियमादि माना जा सकता है।

हो सकता है कि किसी एक युग में धर्म युद्ध हुए हों किन्तु आज दिन तो युद्ध अपराध ही है। आज का युद्ध न तो नेता के उचित चुनाव अर्थात् शासन के चुनाव से ही सम्बन्धित होते हैं और न सत्ता का सन्तुलन बनाये रखने के लिए ही किए जाते हैं। ये तो जनता के अनुचित ढङ्ग से संचालित किए गए उत्तेजनात्मक क्रियाओं एवं प्रतिक्रियाओं की ही अभिव्यक्ति करते हैं। प्राचीन सांस्कृतिक संकुल को नवीन परि-

स्थितियों एवं सामाजिक हितों पर बरबस लादने के फलस्वरूप भी युद्ध हो सकते हैं किन्तु अधिकतर इनकी नींव में स्वार्थमय हित ही रहता है व्यापक सामाजिक हित नहीं। युद्ध अपने परिणामस्वरूप जिन मानव वेदनाओं, अपराधों और सामाजिक विगठनों को जन्म देता है उन्हें देखते हुए तो यह कहा जा सकता है कि युद्ध सब से बड़ा मानवता एवं समाज के प्रति किया जानेवाला अपराध है और इसे किसी प्रकार भी रोकना ही उचित है। इस प्रकार के प्रयत्न विश्व में निरन्तर ही चलते रहते हैं। प्रायः विश्व भर युद्धों से घबराता है फिर भी युद्ध की सम्भावना बनी ही रहती है और जब तक विश्व के सभी राष्ट्रों का सामाजिक संगठन ठीक ठीक नहीं हो जायेगा विश्व से युद्ध की सम्भावना नहीं जायेगी। ऐसा कर पाने के लिए विश्व की एक सम्मिलित आर्थिक योजना की बड़ी भारी आवश्यकता है।

अध्याय ११

सामाजिक नियन्त्रण

सामाजिक नियन्त्रण की आवश्यकता—किसी भी सुसंगठित समाज का लक्षण है उसमें व्यक्तियों तथा समूहों के अन्त: सम्बन्धों में दिखाने देने वाले व्यवहारों तथा तत्सम्बन्धी विचारों में एकता होना। इस प्रकार की एकता सामाजिक एकता और सामाजिक संगठन के लिये आवश्यक है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि जिस समाज में सामाजिक संगठन का यह रूप होगा वह आवश्यक रूप से ही अप्रगतिशील होगा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि किसी भी समाज के समाजिक अन्त: सम्बन्धों में परिवर्तन होते ही रहते हैं किन्तु इन परिवर्तनों का व्यवस्थित ढंग से ही होना उचित है। मानव एक दूसरे से भिन्न होते हैं और उनके सामाजिक व्यवहार में भी भिन्नता, विविधता होती ही है। सामाजिक व्यवहार की एकता और व्यापकता एक निश्चित प्रक्रिया द्वारा सम्भव होती है और इसी प्रक्रिया को सामाजिक नियन्त्रण कहा जाता है। ये एक ऐसी सामाजिक प्रक्रिया है जिसके द्वारा समाज द्वारा सब ही व्यक्तियों पर एक प्रकार का दबाव डाला जाता है, नियन्त्रण रखा जाता है जिससे कि वह व्यवहार के प्रचलित नियमों आदि के अनुरूप चलना ही सीखें। समाजिक नियन्त्रण के अन्तर्गत वे सब ही उपाय, रीतिनीति आदि लाई जा सकती हैं जो कि व्यक्ति को संस्कृति एवं सभ्यता विशेष के अनुसार ही दीक्षित करती हैं और उसके विचारों तथा कार्यों में उसी संस्कृति एवं सभ्यता के प्रतिदान के अनुरूप एकता स्थापित करना सिखाती है। सामाजिक नियन्त्रण सामाजिक अन्त: क्रियाओं द्वारा कर्म करता है और सामाजिक अन्त: सम्बन्धों, सामाजिक पारस्परिक सामीप्य पर ही आश्रित रहता है।

सामाजिक नियन्त्रण के प्रकार—सामाजिक निमन्त्रण अनजाने में भी होता रहता है और चेतन रूप में भी संगठित करके किया जाता है। व्यक्ति और समूह परस्पर एक दूसरे के व्यवहार पर अनजाने ही प्रभाव डालते रहते हैं। आपस में बातचीत करते हुए भी एक साधारण सी हंसी, किसी के सम्बन्ध में मूल्यांकन एवं निर्णय देना, कोई कथा कहना

आदि भी दूसरों के विचारों को प्रभावित और नियन्त्रित कहते रहते हैं। इसके अतिरिक्त समूह कुछ ऐसे साधनों, माध्यमों का भी प्रयोग करते हैं जो कि व्यक्तियों के व्यवहारों को निरन्तर शिक्षित, दीक्षित एवं नियन्त्रित करते रहते हैं। इन्हीं को सामान्य(Informal) और विशिष्ट (Formal) सामाजिक नियन्त्रण भी कहा जा सकता है। प्रथम प्रकार पर कोई विशेष नियमादि का बन्धन नहीं होता है किन्तु दूसरे पर होता है। सामाजिक नियन्त्रण के आधार- मानव का व्यवहार दो दृष्टिकोण से देखा जाता है। एक तो है ध्येय दृष्टि और दूसरी साधन दृष्टि। मानव के कर्म को, उसके व्यवहार को यदि ध्येय मान कर देखा जाए तो हमारे चेतन कर्म एक प्रकार के अनुभव हैं जो कि अपने निजी रूप में अच्छे अथवा बुरे होते हैं। साधन रूप में देखने से जान पड़ता है कि प्रत्येक कर्म किसी अन्य कर्म का प्रेरक होता है। दूसरी दृष्टि से देखने पर प्रायः कर्म को ही व्यवहार कहा जाता है।

प्रायः सामाजिक नियन्त्रण का मुख्य उद्देश्य मानव के श्रेय अनुभवों को अपने आप में ध्येय मान कर ग्रहण कर पाना ही होता है अतः अविवेक जन्य कर्मों को रोकना और ऐसे अनुभवों को प्रोत्साहित करना जो कि निजी दृष्टि से मूल्यवान हो समाज के लिए हितकर हों समाजिक नियन्त्रण का मुख्य उद्देश्य है। सामाजिक नियन्त्रण के उद्देश्य तब ही पूरे हो सकते हैं जब कि व्यक्ति और समाज दोनों को ही हितों की ओर दृष्टि रख कर सामाजिक व्यवहार के मापदण्ड, तत्सम्बधन्धी नियमादि निश्चित किए जाएं। व्यक्तियों के हितों का बलिदान करके समाज का हित साधन भी तो सम्पन्न नहीं हो पायेगा अतः दोनों के ही हितों की ओर दृष्टि रखी जानी चाहिए किन्तु समाजिक नियन्त्रण और व्यक्तिगत ज्ञान अथवा व्यक्ति के अज्ञ होने को एक कर पाने में सफलता अथवा असफलता होना इस पर ही आश्रित होता है कि सामाजिक संगठन कितना कुशल है। यहाँ पर यह भी स्पष्ट कर देना उचित ही होगा कि सामाजिक व्यवस्था की कुशलता, उसके संगठन की दृढ़ता का आधार देश विधि नहीं हुआ करती है वरन् होते हैं समाज के विभिन्न व्यक्तियों, सदस्यों के व्यक्तित्व। किसी भी समाज में सामाजिक संगठन तब ही सफलतापूर्वक चल सकता है जब कि उस समाज के सदस्यों की आवश्यकताएं मानवता के मूल सिद्धान्तों का ध्यान रख कर ही बनती हों, पारस्परिक विश्वास एवं आत्मविश्वास की सदस्यों में कमी न हो, समाज हित और समाज सेवा की ओर सब ही सदस्यों का ध्यान रहता हो, निजी स्वार्थों का उतना अधिक महत्व न हो

तथा सदस्य अपनी पाशविक मनोवृत्तियों को सामाजिक मनोवृत्तियों द्वारा अशक्त बनाए रखने में सफल होने पाते हों तथा पारस्परिक सहानुभूति उनके समाजिक व्यवहार की प्रेरक हो। यदि इस प्रकार के व्यक्तित्व के निर्माण करने की सुविधा किसी भी समाज में दी जाती हो और उसके सदस्यों के व्यक्तित्व का इसी आधार पर निर्माण होता हो तो फिर उस समाज में वैधानिक ढंग से कार्य करने तथा कानून को मान कर चलने में व्यक्तियों को कोई कठिनाई होती ही नहीं।

सामाजिक नियन्त्रण की सांस्कृतिक पृष्ट भूमिका—सामाजिक नियन्त्रण कई प्रकार से सामाजिक संस्कृति पर आश्रित होता है। सामाजिक अन्तःक्रियाएं कुछ काल तक चलती रहने पर किसी न किसी ढंग की सामाजिक मूल्य सम्बन्धी व्यवस्था का निर्माण कर ही लिया करती हैं और इन्हीं के आधार पर सामाजिक जीवन में उद्देश्य आदि से सम्बन्धित मूल्यांकन किए जाते हैं जो कि सांस्कृतिक व्यवस्था के अन्तर्गत आते हैं। इन्हीं मूल्य सम्बन्धी विचारों को जब आचार-व्यवहार के नियम, देश-विधि, सामाजिक संगठनों के नियमादि के रूप में संग्रहित एवं संगठित कर दिया जाता है तो ये सामाजिक अन्तःक्रियाओं को प्रभावित भी करने लगते हैं और उन्हें नियन्त्रण करने के भी साधन बन जाते हैं। सामाजिक व्यवहार का एक अंग ऐसा भी होता है जिसका प्रदर्शन कुछ चिन्हों के प्रति विशेष प्रकार का भाव रख कर ही किया जाता है जैसे कि एक दूसरे के प्रति प्रणाम करके सम्मान प्रकट किया जाता है, राष्ट्र के झंडे के प्रति भी एक विशेष प्रकार से सम्मान प्रदर्शित किया जाता है आदि-आदि। ये चिन्हादि भी तो संस्कृति के ही प्रतीक होते हैं और इनका प्रयोग उन मूल्यों के सम्बन्ध में सामाजिक दृष्टि-कोण स्पष्ट करना ही है जिन्हें कि संस्कृति का अंग कहा जा सकता है अतः सामाजिक नियन्त्रण के लिए सांस्कृतिक पृष्ट भूमिका की अत्यधिक आवश्यकता पड़ती है क्योंकि इसी के आधार पर तो सामाजिक नियन्त्रण के विभिन्न माध्यम खड़े किए जाते हैं।

सामाजिक नियन्त्रण के माध्यम, ऐजेन्सियाँ—सामाजिक नियन्त्रण के प्रमुख माध्यम हैं देश-विधि, धार्मिक मत एवं विश्वास जिनमें परम्पराओं आदि को भी स्थान दिया जा सकता है, शिक्षा, जन-सम्मति और कला। इनमें से प्रत्येक का सम्बन्ध एक-एक सामाजिक संस्था से घनिष्ठ रूप से रहता ही है जैसे कि देश विधि का

सम्बन्ध राष्ट्र और राज्य से होता है। धार्मिक मतादि का सम्बन्ध धार्मिक सम्प्रदाय से, शिक्षा का सम्बन्ध परिवार तथा विद्यालय आदि से, जनमत का सम्बन्ध नैतिक नियमादि एवं समाचार पत्रों आदि उन संस्थाओं से होता है जो कि व्यक्तियों के विचारों का प्रसार करती हैं और कला का सम्बन्ध शिष्टाचार और समाज में प्रचलित संस्कारों की विधि आदि से होता है। सम्पत्ति का उत्पादन भी एक प्रकार का व्यवहार ही है और उसके लिए व्यक्तियों के सामाजिक व्यवहार का ऐसा होना आवश्यक है जो कि आर्थिक स्थिति के अनुकूल हो अतः आर्थिक संस्थाओं का भी सामाजिक नियन्त्रण और तत्सम्बन्धी संस्थाओं से किसी न किसी रूप में सम्बन्ध तो है ही।

देश विधि (law)—देश विधि सर्वाधिक विशेषताप्राप्त और पूर्ण रूपेण स्पष्ट सामाजिक नियन्त्रण का सांस्कृतिक माध्यम है। यूँ तो कहा जा सकता है कि कानून वे जनमत हैं जिन्हें युगों से काँट-छाँट कर संशोधित कर करा के जनहित के ही लिए राष्ट्रसम्मत एवं राज्यस्वीकृत बना दिया गया है किन्तु मूलतः वे हैं जनता की भावनाओं की अभिव्यक्ति ही, भले ही वे संशोधित रूप में ही हों। कानून का महत्व भी तब ही तक होता है जब तक कि उसे जनसहमति प्राप्त होती है।

यह हो सकता है कि किन्हीं विशेष अवस्थाओं में कभी अल्पसंख्यकों की इच्छाएँ कानून के रूप में बहुसंख्यकों पर लाद दी गई हों किन्तु यह अवस्था किसी भी दशा में बहुत दिनों तक नहीं चल पाती है अतः साधारणतया विधि जनहित में बनाए गए वे नियम ही होते हैं जिन्हें जनसम्मत कहा जा सकता है। कुछ कानून तो मूलतः पुरातन परम्पराओं और प्रथाओं पर ही आधारित होते हैं। परम्पराएँ और प्रथाएँ प्रायः मानव व्यवहार के स्वीकृत विभिन्न कर्मों की रीति-नीति ही तो होती हैं। प्रायः व्यवहार के इन नियमादि का सम्बन्ध पुरातन समय से होते आए प्रचलनों से ही होता है। ये परम्पराएँ आदि ही किसी भी समूह में व्यावहारिक एकता के विकास की पृष्टभूमिका तैयार करती हैं। प्रायः इन व्यावहारिक नियमों का उल्लंघन व्यक्ति को समाज में निन्दा का पात्र बना देता है और व्यक्ति के व्यवहार को संचालित, प्रभावित एवं संशोधित करने में निन्दा एवं स्तुति का बड़ा ही गहरा हाथ होता है। ये प्रायः सामाजिक व्यवहार में साम्यावस्था बनाए रखने में भी सहायक होते हैं क्योंकि इन्हीं कारणों से परिवर्तन उतनी शीघ्रता से नहीं हो

पाते हैं जितनी शीघ्र से इनको अनुपस्थिति में होने की सम्भावना है। कुछ कानूनों का आधार परम्पराएँ आदि हैं किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि सब ही कानून परम्पराओं के ही आधार पर बने हैं। प्रायः परम्पराओं आदि की स्थापना में बहुत अधिक समय लग जाया करता है किन्तु आधुनिक सभ्यता के विकास के कारण कभी-कभी समाज के हित के लिए कानून बनाने की तुरन्त ही आवश्यकता पड़ जाती है और उस आवश्यकता की पूर्ति के प्रथम चरण स्वरूप परम्पराओं की स्थापना होने तक भी रुकना समाज के लिए अहितकर जान पड़ता है अतः ऐसी अवस्था में बिना ही किसी परम्परा के विधि निर्माण हो जाता है। दूसरी ओर सब ही परम्पराएँ कानून भी नहीं बन पाती हैं। केवल वही परम्पराएँ अथवा प्रथाएँ कानून बन पाती हैं जिनका कि समाज हित की दृष्टि से आधुनिक सामाजिक व्यवस्था में भी महत्व होता है।

मानव व्यवहार का सम्बन्ध उसके विभिन्न हितों से होता है और उनका लक्ष्य विभिन्न ध्येय होते हैं। इन्हें ध्येयों की ओर ले जाने के लिए मानव क्रियाओं को लेकर सामाजिक संगठन बनाए जाते हैं, व्यवहार प्रतिमानों का विकास किया जाता है। इस प्रकार के संगठनों में कुछ ऐसे नियम होते हैं जिनका पालन तथा उनका अभ्यास कुछ निश्चित कृत्यों तथा संस्कारों आदि के द्वारा कराया जाता है और इन्हीं कृत्यादि के आधार पर प्रायः परम्पराएँ तथा प्रथाएँ बन जाया करती हैं। यद्यपि ये समूह अधिकतर सामान्य होते हैं किन्तु इनमे सम्बन्धित कर्म-काण्ड अत्यन्त जटिल एवं दृढ़ होते हैं।

किसी भी एक विशेष हित को लेकर स्थापित हो जाने वाले संगठन सामाजिक नियन्त्रण का एक अच्छा धरातल बना दिया करते हैं। उदाहरणार्थ, परिवार जो कि एक संस्था है, संगठन है और जिसका मुख्य कार्य सन्तानोत्पत्ति, उनका पालन, धन उपार्जन करना और व्यय करना आदि ही है अपने सब ही सदस्यों को नियन्त्रित रखने का भी एक अच्छा माध्यम हैं। इसी प्रकार राजनीतिक दल, श्रमिक संघ, व्यापारी संघ यहाँ तक कि मनोरंजन के लिए संगठित संस्थाएँ भी अपने सदस्यों के लिए कुछ न कुछ निश्चित नियमादि बना लेती हैं और इन्हीं के द्वारा वे अपने सदस्यों के व्यवहार पर नियन्त्रण भी रख पाती हैं। ये सामाजिक संगठन एवं इस प्रकार की सामाजिक संस्थाएँ सामाजिक नियन्त्रण का माध्यम तो होती ही हैं अपने सदस्यों को अन्तःसम्बन्ध स्थापित करने

की सुविधाएँ भी देती हैं तथा किसी एक सीमा तक उनके व्यवहार को नियन्त्रित रख कर क़ानून के काम को सरल ही करती रहती हैं। यूँ तो इन्हें जनमत में भी सम्मिलित किया जा सकता है किन्तु इनका देश विधि के साथ परोक्ष सम्बन्ध तो रहता ही है। कहीं-कहीं तो इन संस्थाओं आदि के लिए भी क़ानून होते हैं जैसे श्रमिक संघ सम्बन्धी क़ानून, दान संस्थाओं सम्बन्धी क़ानून आदि। यह भी सत्य है कि इन संस्थाओं के सामाजिक नियन्त्रण का प्रभाव उतना व्यापक नहीं होता है जितना कि देश विधि का, फिर भी सामाजिक व्यवहार के नियन्त्रण की दृष्टि से यह भी उपयोगी कार्य करती ही हैं।

धार्मिक विश्वास—धार्मिक विश्वास विशेष भी व्यक्ति के लिए एक विशेष-कर्म काण्ड और नियमादि निश्चित कर देता है जिसे मान कर व्यक्ति को चलना ही होता है। यूँ तो व्यापक दृष्टि से देखने पर जान पड़ता है कि युगों तक धार्मिक विश्वासों ने ही व्यक्तियों के नैतिक आचार विचार को भी संचालित किया और इस युग में भी कुछ धर्मप्राण एवं धर्मभीरु ऐसे भी व्यक्ति दिखाई दे ही जाते हैं जो कि अपराध से केवल इसीलिए बच कर चलते हैं कि ऐसा न करने पर उन्हें नर्क अथवा ईश्वरीय कोप का भय रहता है। साधारण धार्मिक संस्थाओं की सदस्यता भी मानव को पूजा एवं मानव प्रेम के द्वारा नैतिक लक्ष्य की ओर ले जाने में सहायक होती है। यद्यपि इस प्रकार के विश्वास जब कि अन्ध-विश्वास में परिणत हो जाते हैं तो उनसे अनेकानेक हानियाँ भी होती हैं किन्तु सामाजिक नियन्त्रण का एक माध्यम धार्मिक विश्वास, पौराणिक कथाएँ तथा धार्मिक कृत्य भी हैं।

जन सम्मति—जनमत से तात्पर्य है किसी भी विचार अथवा कृत्य के प्रति जनता के सामूहिक दृष्टि कोण एवं प्रतिक्रिया से। किसी भी ऐसे कार्य की जिसका कि तनिक भी सामाजिक महत्व हो जनता पर कुछ न कुछ प्रतिक्रिया होती ही है और उसके सम्बन्ध में वह किसी न प्रकार से अपने विचार प्रकट करती हैं। इन्हीं विचारों को जनमत कहा जाता है। जनमत का मूल्य और महत्व तत्कालीन ही होता है और उसका प्रभाव भी तत्कालीन सामाजिक स्थिति पर ही पड़ता है। जनमत के माध्यम से भी जनता के सामाजिक व्यवहार में एकता और समता लाई जा सकती है। प्रायः साधारणतया सब ही व्यक्ति सामाजिक निन्दा और बहिष्कार से भय खाते हैं तथा समाज द्वारा स्वीकृति प्राप्त

कर्म ही करना चाहते है । ऐसा कर पाने के लिए ही साधारण तथा व्यक्ति समूह के आदेशों एवं आज्ञाओं को मान कर ही चलता है तथा समूह में प्रचलित प्रथाओं आदि का उल्लंघन करने का साहस नहीं करता है। व्यक्ति में इतना साहस भी नहीं होता है कि वह समाज को छोड़ कर जनमत को अपने विरुद्ध करके उसके कटु परिणाम भुगतने को तत्पर रहे। ग्रामीण समाज में तो जनमत का महत्व और उसकी शक्ति अत्यधिक होती ही थी। नागरिक समाज में जनमत की सत्ता का महत्व एक दृष्टि से कुछ कम हो गया है फिर भी उसका महत्व एकबारगी नष्ट नहीं हो पाया है वरन् दूसरी दृष्टि से लगभग उतना ही है। संवादवहन के माध्यमों की कुशलता एवं योग्यता तथा क्षमता पर भी जनमत के प्रभाव का न्यूनाधिक होना आश्रित होता है। समाचार पत्र, रेडियो, सिनेमा, रंगमंच, पत्र-पत्रिकाओं आदि के द्वारा आधुनिक समाज में जनमत का प्रसार एवं प्रचार होता है। इनके द्वारा एक विशेष समाज अथवा समूह अथवा व्यक्ति के विचारों, उसके मतों का प्रसार किया जाता है।

सामाजिक नियन्त्रण की पद्धति —धार्मिकमतादि, जनमत, विधि, सामाजिक संगठनादि का अस्तित्व मात्र ही सामाजिक नियन्त्रण सम्भव नहीं कर देता है। बालक जन्म से ही इनके द्वारा नियन्त्रित होने का अभ्यस्त नहीं होता है। यद्यपि बालक बहुत कुछ तो समाज में रह कर, देख कर इसीलिए सीख लेता है कि अन्य कोई वैसे व्यवहार आदि के प्रतिमान उसके सम्मुख हैं ही नहीं अतः जो है उसी का तो अनुकरण बालक करेगा। फिर भी कुछ नियमों का ज्ञान इस प्रकार देख-सुन कर अथवा अनुकरण मात्र से ही नहीं होता है वरन् उन्हें सिखाना पड़ता है किन्तु उन नियमों के ज्ञान मात्र से ही तो उनका पालन किया जाना सम्भव नहीं हो जाता है। उन्हें व्यक्ति के सम्मुख इस ढंग से रखना पड़ता है कि वह उनके सामाजिक महत्व को समझ सके तथा उसे मान्यता भी दे। ऐसा कर पाने के लिए मानव ने कुछ पद्धतियाँ तो खोज निकाली हैं और कुछ उसके सामाजिक जीवन में अपने आप ही आ गई हैं। इन पद्धतियों का महत्व तो है ही, उनके प्रयोग करने और इस ढंग से प्रयोग कर पाने का भी महत्व है कि वे उद्देश्य को पूरा कर सकें।

चिन्हादि—इस दिशा में एक पग तो मानव ने चिन्हादि को महत्व देकर उठाया है। वस्तुतः सामाजिक नियन्त्रण की सब ही प्रणालियों का आधार विचारों का एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक ले जाना ही है। वयस्क व्यक्ति जिन मान्यताओं, धारणाओं आदि को महत्व देते हैं, जिन मूल्यों को स्वीकार करते हैं उन्हें बालक तक ऐसे ढंग से पहुँचाना कि वह उन्हें ग्रहण कर सके, सामाजिक नियन्त्रण का उद्देश्य है। ऐसा कर पाने के लिए मानव कुछ चिन्हों का तो प्रयोग करता ही है, कुछ संकेत, भौतिक वस्तुओं आदि का भी प्रयोग करता है। जिस प्रकार कि व्यक्ति अपने स्वास्थ्य, सम्पत्ति आदि की कामना करता है उसी प्रकार वह सामाजिक पद-मर्यादा की भी आकाँक्षा रखता है और इसीलिए वह सामाजिक निन्दा से भय भी खाता है। पिता जिस वस्तु के प्रति आदर प्रदर्शित करते हैं पुत्र भी उस वस्तु अथवा चिन्ह को उसी प्रकार से आदर देता है जिस प्रकार कि उसका पिता देता है, कुछ तो पिता का अनुकरण करके और कुछ ऐसा न करने पर पिता द्वारा निन्दित किए जाने के भय से भी। धीरे-धीरे ऐसा करते-करते वह स्वयं भी उस वस्तु अथवा चिन्ह के प्रति आदर प्रदर्शित करने का अभ्यास डाल लेता है और फिर वह भावना उसके व्यक्तित्व का अंग बन जाती है।

नियम आदि की सूचना और तत्सम्बन्धी ज्ञान—सभ्यता के आदि काल तक मानव व्यवहार अनुभव द्वारा संचालित होता था किन्तु इस युग में ज्ञान ही व्यवहार को संचालित करने के लिए पर्याप्त होता है। यदि किसी नवीन यन्त्र के प्रयोग के सम्बन्ध में अथवा जीवन क्षेत्र में व्यवहार विशेष के सम्बन्ध में मानव को ठीक-ठीक सूचना मिल जाए तो वह उस प्रकार का व्यवहार इस विश्वास पर करने लगता है कि ऐसा करना ठीक ही है। ऐसी दशा में वह उस समय तक प्रतीक्षा नहीं करता है जब तक कि उसे किसी मानव जीवन पर परीक्षण करके उसके औचित्य के सम्बन्ध में विश्वास न हो जाए। उदाहरणार्थ-व्यवहार के कुछ ऐसे प्रतिमान भी होते हैं जिनका कि सम्बन्ध जन स्वास्थ्य, जन सुरक्षा, यातायात सम्बन्धी नियमादि से होता है और उनका ज्ञान होते ही व्यक्ति उन्हें कार्यान्वित करने लगता है। यदपि कभी-कभी व्यक्ति पूर्ण ज्ञान होते हुए भी नियमों का पालन केवल आलस्य के कारण अथवा इच्छा न होने के कारण नहीं करता है।

सूचना और ज्ञान प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन शिक्षा है। शिक्षा द्वारा संगठित ढंग पर ज्ञानार्जन किया जा सकता है। शिक्षा द्वारा किसी भी विशेष विचार को लेकर उस पर विचार, उसका विश्लेषण, उसकी व्याख्या आदि की जाती है और उसकी सामाजिक नियन्त्रण की दृष्टि से अत्यधिक आवश्यकता है।

विज्ञापनों के द्वारा भी सूचना और विविध प्रकार के ज्ञान का प्रसार किया जाता है। इसमें और शिक्षा में घना अन्तर है क्योंकि शिक्षा में किसी प्रकार के स्वार्थ की प्रेरणा की सम्भावना नहीं होती है किन्तु विज्ञापन का मूलाधार ही स्वार्थजन्य हित होते हैं।

प्रचार—सामाजिक दृष्टि से विविध प्रकार के सुझावों के द्वारा प्रचार करके जनमत को नियन्त्रित किया जा सकता है। प्रचार सदा सर्वदा सत्य और तथ्यों पर ही आधारित नहीं होता है। कभी-कभी तो प्रचार का आधार सत्य को छिपा कर उसके स्थान पर जिस ढंग के जनमत को तैयार करने की इच्छा हो उसी के लिए सुविधाजनक एवं अनुकूल तथ्य आदि का प्रचार किया जाता है। शिक्षा का उद्देश्य तथ्यों का ज्ञान करना, विचार विनिमय को प्रोत्साहित करना, सत्य सूचना और सत्य ज्ञान की प्राप्ति सुलभ करना और सम्पूर्ण समाज के हित के लिए कार्य करना होता है। प्रचार का उद्देश्य इससे ठीक विपरीत होता है। इसका उद्देश्य एक विशेष प्रकार की विचार धारा का प्रसार करना होता है भले ही वह असत्य पर ही आधारित हो। इसका उद्गम अज्ञात होता है जब कि विज्ञापन का उद्गम स्पष्ट और ज्ञात होता है। प्रचार सूचनाएँ, कलात्मक रचनाएँ, कार्टून लेख, चित्र आदि का प्रकाशन करके तथा सम्पादकीय आदि शीर्षकों के अन्तर्गत समाचार पत्रों में अग्र-लेख लिख कर किया जा सकता है। यही नहीं, दन्त कथाओं, गप्प, मौखिक समाचार आदि फैला कर भी प्रचार किया जा सकता है। यूं तो किसी भी पद्धति का आधार प्रचार ही हो सकता है और प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से सब ही सामाजिक नियन्त्रण की पद्धतियों में प्रचार का उपयोग किया जा सकता है।

प्रेरणा—व्यक्तियों द्वारा प्रेरित करके विचारों का भी प्रसार और नियन्त्रण किया जा सकता है। इस पद्धति में तथ्यों का सम्मुख रखना, तार्किक ढंग से उन पर वाद-विवाद करना, अपील करना, व्यंग करना, प्रशंसा करना तथा इसी प्रकार की अन्य रीतियों से किसी भी

व्यक्ति से अपना मत मनवा लेना सम्मिलित है और सब ही पद्धतियों में भी प्रेरणा से काम लिया ही जाता है।

पुरस्कार और दन्ड—सामाजिक नियन्त्रण की एक व्यापक रीति पुरस्कार देना है। वस्तुतः पुरस्कार कोई ऐसी वस्तु होनी चाहिए जिसका कि कुछ मूल्य हो और जिसकी प्राप्ति सहज ही में न हो सकती हो तथा जो मिलती भी कम ही हो। यह तो एक ऐसी वस्तु होनी चाहिए जिसे प्राप्त करने की इच्छा तो सब ही करते हों किन्तु वह सरलता से सब को मिल नहीं पाती हो। पुरस्कार भौतिक वस्तुएँ भी हो सकती हैं और कोई निजी मूल्यवान वस्तु भी जैसे यश, सामाजिक प्रतिष्ठा आदि। पुरस्कार में छोटी-छोटी उन वस्तुओं से लेकर जो कि माता-पिता द्वारा बच्चों को दी जाती हैं बड़ी सी बड़ी राजनीतिक, सामाजिक प्रतिष्ठा तक सम्मिलित की जा सकती है। प्रायः सामाजिक सम्मान के चिन्ह और उपाधि आदि भी पुरस्कार में दिए जाते हैं। कुछ विशेष प्रकार की सुविधाएँ भी पुरस्कार में ही गिनी जा सकती हैं। राजनीतिक दलों में अपने दल के व्यक्तियों को आगे बढ़ने देना, उन्नति करने में सहायता देना एक प्रकार का पुरस्कार ही होता है। नैतिक और धार्मिक दृष्टि से अच्छा कार्य कहलाना अथवा स्वर्ग प्राप्ति अथवा दूसरे जन्म में सुख प्राप्ति की आशाएँ भी पुरस्कार का ही काम करती हैं। प्रशंसा भी एक प्रकार का पुरस्कार ही है। सामाजिक नियन्त्रण की दृष्टि से पुरस्कार का अत्यधिक महत्व है।

जिस प्रकार समाज किसी के व्यवहार के साधारण से अधिक अच्छे होने पर उसे पुरस्कृत करता है उसी प्रकार किसी के दोष पूर्ण एवं अनुचित व्यवहार के लिए उसे दण्डित भी करता है। दण्ड समाज की किसी कार्य के सम्बन्ध में दी जाने वाली अस्वीकृति की ही अभिव्यक्ति एवं तत्सम्बन्धी घोषणा है। दण्ड अधिकतर शारीरिक कष्ट के रूप में दिया जाता है और इसकी चर्चा हम यथास्थान कर ही चुके हैं।

अन्य पद्धतियाँ—व्यंग और हास्य का प्रयोग व्यक्ति को मानसिक दुःख देने के लिए किया जाता है क्योंकि इस प्रकार से व्यक्ति की सामाजिक पद-मर्यादा पर आघात किया जाता है। व्यंग के विभिन्न रूप और प्रकार होते हैं। इनका उपयोग व्यवहार के उन अंशों को नियंत्रित करने के लिए किया जाता है जो कि यद्यपि अपराध नहीं हैं फिर भी सामाजिक दृष्टि से स्वीकृत और उचित नहीं कहे जा सकते हैं। कला के द्वारा भी समाज में किसी भी विचार धारा का प्रसार किया जाता है। यद्यपि

इसका उपयोग मुख्यतः प्रचार के ही लिये किया जाता है किन्तु वास्तव में यह उन्हीं विचारों की तो अभिव्यक्ति करती है जो कि समाज में प्रचलित होते हैं। इनके अतिरिक्त भी कुछ अन्य पद्धतियां व्यक्ति के व्यवहार को नियन्त्रित करने के लिए प्रयोग में लाई जाती हैं। वस्तुतः जिन उपायों और जिन रीतियों से मानव के सामाजिक व्यवहार को नियन्त्रित किया जाता है वे विविध प्रकार की होती है। इनमें से प्रमुख की चर्चा हम कर ही चुके हैं। इनका महत्व और उपयोगिता भी समाज की जटिलता में वृद्धि होने के साथ-साथ बढ़ती ही जाती है। भाषा का प्रयोग तो प्रत्येक नियन्त्रणपद्धति में किया ही जाता है क्योंकि, प्रचार, व्यंग आदि सब ही में तो भाषा की आवश्यकता पड़ती है।

सामाजिक नियन्त्रण की समस्याएँ—समाज में सामाजिक व्यवहार पर सामाजिक अंकुश रखने की और उसे नियन्त्रित करने की आवश्यकता होती ही है और वस्तुतः सब ही सामाजिक समस्याएँ सामाजिक नियन्त्रण से ही सम्बन्धित होती हैं। यदि हम किसी प्रकार से सामाजिक व्यवहार सम्बन्धी नियमों को तथा सामाजिक मूल्य व्यवस्था को व्यापक बना सकें और उन्हीं के आधार पर आचार-व्यवहार के मापदण्ड स्थापित कर सकें तो सामाजिक समस्याओं का हल अपने आप ही निकल आयेगा किन्तु इस प्रकार का समाज सम्भवतः आदर्श रूप में ही कल्पित किया जा सकता है, यथार्थ में विश्व में कहीं भी उपस्थित नहीं किया जा सकता है। इस प्रकार की व्यवस्था सामाजिक परिवर्तन के लिए बाधास्वरूप ही होगी और सामाजिक परिवर्तनों का होना समाज की प्रगति के लिए अत्यावश्यक है और उन्हें रोका भी नहीं जा सकता है।

आधुनिक समाज में सामाजिक नियन्त्रण से सम्बन्धित अनेकानेक समस्याएँ पाई जाती हैं। सामाजिक मूल्य अनेक होते हैं और उनमें से कुछ परस्पर विरोधी भी होते हैं अतः सामाजिक व्यवहार के व्यापक प्रतिमानों का विकास करना कठिन अवश्य है। सामाजिक व्यवहार के व्यापक प्रतिमानों के अभाव में मानव किसी एक व्यवहार को अपने ही ढंग पर अच्छा अथवा बुरा कहने के लिए किसी एक सीमा तक तो स्वतन्त्र रहता ही है। ऐसी दशा में मानव विचार और कार्य से सम्बन्धित समस्याओं की विविधता स्वाभाविक ही है और समूह में एकता बनाए रखना कुछ उतना सरल कार्य नहीं रह जाता है।

एक और भी कठिनाई है और वह यह कि यद्यपि सामाजिक नियंत्रण का सामाजिक दृष्टि से अत्यधिक उपयोग है किन्तु इसके साथ ही साथ यह भय भी तो है कि समाज के नेता, अग्रणी इनका उपयोग अनुचित एवं अन्यायपूर्ण ढंग से भी तो कर सकते हैं। युगों तक जनमत और निन्दा का उपयोग किसी-किसी समाज में निर्बल को सताने के लिए भी किया गया है और समाज में कुछ तो ऐसे व्यक्ति होते ही हैं जो कि अपने स्वार्थ साधन के लिए सामाजिक सुझाव और जनमत संग्रह का कार्य बहुत ही सुन्दर ढंग से कर लेते हैं। प्रचार का भी दुरुपयोग प्रायः जीवन के सब ही क्षेत्रों में दिखाई पड़ता है और कहां तक इन सामाजिक नियंत्रणों का उपयोग करना चाहिये यह निश्चित करना अत्यन्त कठिन हो जाता है। व्यापारिक जगत में तो इनका और भी अधिक दुरुपयोग हो सकता है और होता है।

कोई भी एक व्यक्ति कई एक समूहों द्वारा सामाजिक दृष्टि से नियन्त्रित किया जाता है और यह आवश्यक नहीं है कि इस प्रकार नियंत्रित करने वाले विभिन्न समूह परस्पर विचारों एवं सिद्धान्तों की एकता ही रखते हों। ऐसी स्थिति में व्यक्ति का मानसिक संघर्ष तथा द्वन्द्वों में पड़ जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

आधुनिक जीवन की कुछ अन्य बातों का भी सामाजिक नियंत्रण पर प्रभाव पड़ता है। इनमें से सामाजिक परिवर्तन की चर्चा तो हम कर ही चुके हैं। नवीन परिवर्तन नवीन स्थितियों को उत्पन्न करते हैं जिनके कारण समाज में नवीन समीकरण स्थापित करने की आवश्यकता पड़ने लगती है और ऐसी परिस्थिति में सामाजिक नियंत्रण की रीति नीति में भी संशोधन करना आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार के संशोधन न हो पाने पर सामाजिक मापदण्डों में परस्पर होने वाले संघर्ष स्पष्ट दिखाई देने लगते हैं।

सामाजिक विगठन का भी सामाजिक नियन्त्रण पर घना प्रभाव पड़ता है। यहाँ तक कि जन संख्या की अत्यधिक वृद्धि और मानव प्रव्रजन का भी सामाजिक नियन्त्रण पर प्रभाव पड़ता ही है। वस्तुतः प्रारम्भिक समूहों पर सामाजिक दृष्टि से नियन्त्रण भली प्रकार रखा जा सकता है। प्रगति इस प्रकार के नियंत्रण के मार्ग में कठिनाइयाँ ला देती है।

प्रत्येक मानव समाज में सामाजिक नियन्त्रण की रीति-नीति के अनुचित ढंग से प्रयोग किए जाने का भय होते हुए भी इसकी आवश्य-

कता रहती ही है क्योंकि अत्यन्त प्रगतिशील होने पर भी समाज किसी न किसी प्रकार का अनुशासन बनाए रखना ही चाहता है और सामाजिक दृष्टि से अनुशासन तब ही बना रह सकता है जबकि सब ही व्यक्तियों के सामाजिक व्यवहार में कुछ न कुछ समता अवश्य हो। कम से कम मूल्यों से सम्बन्धित मान्यताओं का तो समाज में एक सा होना सामाजिक हित की दृष्टि से आवश्यक हो जाता है और यह तब ही सम्भव हो सकता है जबकि सामाजिक संगठन सुदृढ़ हो और समाज में सामाजिक नियन्त्रण के कुछ न कुछ ढंग अवश्य प्रचलित हों आधुनिक प्रगतिशील सभ्य समाज में भी इसकी उतनी ही आवश्यकता है जितनी कि किसी भी युग के समाज में रही है। यही नहीं, सामाजिक नियन्त्रण की रीति-नीति का और भी सूक्ष्म होना तथा प्रभाव शाली होना अत्यावश्यक है और इस दिशा में प्रयत्न भी किए जा सकते हैं तथा किये जा रहे हैं।

———

अध्याय १२

सामाजिक मनोवृत्तियां

मनोवृत्तियाँ—वस्तुतः समाज शास्त्र का मुख्य उद्देश्य सामाजिक सम्बन्धों एवं अन्तःसम्बन्धों का अध्ययन करना ही है किन्तु यह तो तब ही किया जा सकता है जब कि उनसे सम्बन्धित एवं उन्हें सम्बन्धित करनेवाले तत्वों का भी अध्ययन किया जाए। जब हम सामाजिक व्यवहार करनेवाले व्यक्ति का अध्ययन करते हैं, उसके सामाजिक व्यवहार एवं सामाजिक अन्तःसम्बन्धों का अध्ययन करते हैं तो हम वस्तुतः मानव व्यक्ति की उस चेतना का अध्ययन करते हैं जिसकी कि अभिव्यक्ति उन सामाजिक अन्तःसम्बन्धों में होती है। सामाजिक सत्य तो एक ही है और व्यक्ति उसका आधार है, उसे समझ पाने का उपाय उसके अन्तः सम्बन्धों को ही समझना है अतः सामाजिक सत्य को जान पाने के लिए हमें व्यक्ति का सामाजिक और मनोवैज्ञानिक दोनों ही दृष्टिकोणों से अध्ययन करना पड़ता है। उसकी सामाजिक मनोवृत्तियों का अध्ययन करना मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण है जब कि उसके अन्तः सम्बन्धों का अध्ययन हम सामाजिक दृष्टिकोण से करते ही हैं। समाजशास्त्री का मुख्य उद्देश्य तो यही है कि वह चेतन मानव के परस्पर व्यवहार करने और सम्बन्धों के स्थापित करने की रीति, नीति, ढंग जान पाए किन्तु उसका यह उद्देश्य मानव के चेतन सामाजिक व्यवहार को लेकर ही चलता है।

मनोवृत्तियों और हितों का परस्पर सम्बन्ध—मानव की मनोवृत्तियों और उसके हितों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। मानव के आन्तरिक सम्बन्ध, उसकी आन्तरिक प्रतिक्रियाएं, चेतना की अवस्थाएं जो कि बाह्य वस्तुओं से सम्बन्धित होती हैं, मनोवृत्तियां कहलाती हैं। ये वे वृत्तियां हैं जो कि मन का बाह्य वस्तुओं से सम्बन्ध स्पष्ट करती हैं और दूसरी वृत्तियां उन वस्तुओं की ही परिचायक होती हैं। प्रेम अथवा भय अथवा सहानुभूति वे मानसिक वृत्तियां हैं जो कि कर्ता का, मानव का किसी बाह्य वस्तु के प्रति दृष्टिकोण, भाव अथवा प्रवृत्ति का परिचय देती हैं किन्तु मित्र शत्रु अथवा पीड़ित व्यक्ति वे वस्तुएं हैं जिनके प्रति हमारे मनोभाव कुछ न कुछ रहते हैं। हम इनसे सम्बन्धित होते हैं। इन्हें हमारे 'हित' कहा

जा सकता है। सामाजिक सम्बन्ध मानसिक वृत्तियों और तत्सम्बन्धी वस्तुओं दोनों को ही लेकर बनते हैं। वास्तव में सामाजिक व्यवहार की स्थिति को समझ पाने के लिए बाह्य वस्तु अथवा हित और आन्तरिक प्रवृत्ति अथवा मनोवृति दोनों के ही ज्ञान की आवश्यकता होती है।

हमारी मनोवृत्तियों से सम्बन्धित वस्तुओं का भौतिक होना ही आवश्यक नहीं है। वे मानसिक भी हो सकती हैं। मानव के हित वे वस्तुएं हैं जिनकी ओर वह ध्यान देता है। सामाजिक सत्य में भौतिक और अभौतिक दोनों का ही समावेश किया जा सकता है।

मनोवृत्तियों का विकास—मानव शिशु का वस्तुओं के साथ प्रारम्भिक सम्बन्ध उनके सुखदायी अथवा दुःखदायी होने पर ही आधारित होता है। उस समय तक वह व्यक्तियों के साथ व्यक्तियों की भान्ति सम्बन्ध नहीं रख पाता है। उस समय तक तो व्यक्ति उसके लिए विभिन्न वस्तुओं की भान्ति ही उपयोगी होते हैं और उनकी उपयोगिता, सुखदायी होना ही उनका एकमात्र शिशु से सम्बन्ध रहता है। ज्यों ज्यों शिशु बड़ा होता जाता है वह वस्तुओं और व्यक्तियों में भेद करना सीखता जाता है और जब वह वस्तुओं को व्यक्तियों से भिन्न करना सीख जाता है तब ही उसके सामाजिक जीवन का आरम्भ होता है। अब वह अपने आप को वस्तुओं की श्रेणी से प्रथक करके व्यक्तियों की श्रेणी में रखने लगता है और व्यक्तियों से भी व्यक्ति की भान्ति व्यवहार करने लगता है। यहीं से उसके सामाजिक सम्बन्ध स्थापित होने आरंभ होते हैं। वह माता पिता को अपना समझने लगता है किन्तु अभी उसका ज्ञान और आगे बढ़ता है। अब वह परिवार के व्यक्तियों को अपना किन्तु उन्हीं जैसे अन्य व्यक्तियों को परिवार के सदस्यों से भिन्न समझने लगता है किन्तु वे भिन्न व्यक्ति भी वस्तुओं की अपेक्षा उसके अपने अनुरूप ही अधिक होते हैं। धीरे-धीरे वह अपनी जाति आदि को भी जानने लगता है। अभी तक बालक एकाकी था, केवल मात्र निजी स्वार्थ से ही सम्बन्धित था किन्तु अब वह 'मैं' से 'हम' बनने लगता है। अपनी कक्षा, अपना स्कूल, अपना घर, अपना परिवार उसे ऐसी वस्तुएं जान पड़ती हैं जिनसे कि उसका घनिष्ठ सम्बन्ध हैं जिनका कि वह एक अंग है अतः अब उसे अपना किसी एक समूह के सदस्य होने के नाते मान होने लगता है और उसी ढंग से वह अपने आस-पास के अन्य व्यक्तियों से सम्बन्ध भी स्थापित करने लगता है। वह निज को तो सर्वाधिक महत्व देता ही था अब 'निजी' को भी सर्वाधिक महत्व देता है। उसके साथ महानता की भावना को सम्बन्धित

कर देता है। मेरी माता, मेरा घर, मेरा पिता, मेरा स्कूल ही विश्व में सर्वाधिक महान हैं, सर्वश्रेष्ठ हैं। उसकी इस प्रकार की मनोवृत्ति धीरे धीरे उदार और विस्तृत होती जाती है। इसी मनोवृत्ति के आधार पर वह आगे चल कर अपने समूह, अपने देश आदि को भी श्रेष्ठ समझने का अभ्यस्त हो जाता है। यही प्रक्रिया सामाजिकता कहला सकती है। इसके द्वारा व्यक्ति को एकाकी प्राणी से सामाजिक प्राणी बनाया जाता है। इसी प्रक्रिया के द्वारा मानव में एक दूसरे को समझने की शक्ति तथा सहिष्णुता उत्पन्न की जाती है। दूसरी ओर इसी के द्वारा भ्रमपूर्ण धारणाएं एवं असहिष्णुता भी व्यक्ति में विकसित की जाती है।

सामाजिक सम्बन्धों में मनोवृत्तियों का हाथ—मनोवृत्तियों को दो वर्गों में रख कर देखा जा सकता है। एक तो वे मनोवृत्तियाँ हैं जो कि सामाजिक एकता की ओर ले जाती हैं और दूसरी वे जो कि उससे विरुद्ध दिशा की ओर ले जाती हैं। एल० वान० वीसे[1] के मतानुसार अन्तः मानव जीवन की सजीव उलझन दो प्रतिभानों में रखी जा सकती हैं, पहुँचना और बचना। कुछ मनोवृत्तियाँ तो ऐसी होती हैं जो कि मानव को किसी भी ओर आकर्षिक करती हैं और कुछ दूर भगाने वाली होती हैं। इन्हीं दोनों प्रकार की मनोवृत्तियों के आधार पर मानव के सारे ही सामाजिक अन्तःसम्बन्धों की नींव रखी जाती है।

प्रायः सब ही प्रकार के सामाजिक अन्तःसम्बन्ध व्यक्तियों के बीच ही स्थापित होते हैं और व्यक्तियों को उन सम्बन्धों को स्थापित कर पाने के लिए अपनी मनोवृत्तियों में किसी न किसी प्रकार का समीकरण स्थापित करना पड़ता है। व्यक्तियों की मनोवृत्तियों में तो विविधता है ही, प्रत्येक व्यक्ति को अपनी मनोवृत्ति की प्रतिक्रिया को भी झेलना और उसके साथ समीकरण स्थापित करना पड़ता है तथा इन मनोवृत्तियों के आधार पर स्थापित अन्तःसम्बन्ध भी विभिन्न प्रकार के होते हैं। मनोवृत्तियों की भी विभिन्न अभिव्यक्तियां और प्रसार दिखाई देते हैं। सामाजिक सम्बन्ध अथवा सामूहिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए भी व्यक्ति को अपनी मनोवृत्तियों में समीकरण स्थापित करना पड़ता है। प्रत्येक समूह में यह प्रवृत्ति होती है कि वह सामूहिक हितों की ओर अपने सब ही सदस्यों की एक ही सी मनोवृत्तियां स्थापित करे किन्तु सब ही मनोवृत्तियां एक ही सी नहीं होती हैं। वे एक सी भी हो हो सकती हैं और एक दूसरे को पूरक भी। आरंभ में बालक की मनो-

वृत्तियां अत्यन्त कोमल होती हैं और वे सामान्यतया विशिष्ट शिक्षा के द्वारा सुझावों के माध्यम से समूह के साथ सम्बन्धित की जा सकती हैं। मानव में प्रेम और घृणा दोनों ही मनोवृत्तियां रहती हैं। शिक्षा, सुझावों के माध्यम से बालक को देश के प्रति प्रेम की भावना रखना सिखा सकती है और देश के शत्रु के प्रति उसकी घृणा अथवा भय की मनोवृत्ति को जाग्रत कर सकती है।

मनोवृत्तियों का वर्गीकरण—मनोवृत्तियां वस्तुतः चेतना के जटिल, सूक्ष्म और प्रगतिशील रूप हैं और शिक्षा-दीक्षा द्वारा उनका रूप निरंतर ही परिवर्तित होता जाता है। यह आवश्यक नहीं कि व्यक्ति की तत्कालीन मनोवृत्ति ही स्थायी हो अथवा उसका रूप पष्ट ही हो किन्तु उसके व्यवहार आदि से ही उसकी मनोवृत्ति जानी जाती है। हमारा इस प्रकार का ज्ञान भ्रामक भी हो ही सकता है। मनोवृत्तियां स्पष्ट नहीं होती हैं तथा एक दूसरे के साथ गुंथी मिली हुई भी हो सकती हैं। मेक-आइवर और पेज[२] के शब्दों में मनोवृत्ति परिवर्तनशील मूल्यांकन (Changing Valuation) है अतः उनका वर्गीकरण करना तनिक कठिन ही कार्य है। फिर भी सुविधा के लिये उन्हें प्रथकत्व मनोवृत्ति (dissociative); संयमन मनोवृत्ति (restrictiv); एकत्व मनोवृत्ति (associative)[३] कहा जा सकता है। यद्यपि यहवर्गीकरण किसी भी दृष्टि से पूर्ण नहीं कहा जा सकता है फिर भी इससे अध्ययन सम्बन्धी कुछ सुविधा तो प्राप्त हो जाती है। इनके वर्गीकरण का आधार है इनका क्रमशः सामाजिक अन्तः सम्बन्धों को रोकने, सीमित करनेतथा विकसित करने की चेष्टा। एकत्व और प्रथकत्व मनोवृत्तियों के मध्य महत्व और हीनत्व की भावनाओं को भी रख कर देखा जा सकता है। प्रायः पिछले कुछ वर्षों में तो मनोवृत्तियों की माप जोख रखने के भी प्रयत्न किए जा रहे हैं। इन्हीं मनोवृत्तियों के आधार पर जनता के मत को घुमाया जा सकता है। प्रायः चुनावों में इस प्रकार के कार्य की बहुत अधिक आवश्यकता पड़ती है और ऐसा किया भी जाता है। चुनाव के अतिरिक्त भी सामाजिक जीवन के कई अन्य क्षेत्रों में जनमत संग्रह करने की आवश्यकता पड़ती है और उस समय मनोवृत्तियों के ही आधार पर जनमत तैयार किया जाता है।

सामाजिक जीवन में विभिन्न हित—सामाजिक सम्बन्ध तो मानव की मनोवृत्तियों और उसके हितों के मूल्यांकन से मिल कर ही बनते हैं।

सामाजिक जीवन में सामाजिक हितों का अत्यधिक महत्व होता है। हितों का भी एक साधारण सा वर्गीकरण निजी अथवा समान और व्यापक हितों में किया जा सकता है। यद्यपि इस सम्बन्ध में भी हमारा वर्गीकरण सीमित और अस्पष्ट ही हो सकता है क्योंकि यहाँ भी कठिनाइयों का अभाव नहीं है फिर भी निज हित उन सुविधाओं को कह सकते हैं जो कि प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए निजी ढंग से चाहता है और व्यापक हित वे होते हैं जिन्हें कि प्रत्येक व्यक्ति सामूहिक ढंग से ही चाहता है। यदपि विद्यालय का जीवन हम सब कहें और उसे हम सामूहिक रीति से व्यापक ढंग पर ही अपनाना चाहते किन्तु विद्यार्थी जीवन में मिलनेवाले पदक तथा सम्मान हम निजी रूप से ही अधिकृत करना चाहते हैं अतः विद्यालय के जीवन को व्यापक हित और विद्यार्थी जीवन में प्राप्त सम्मान को निजी अथवा समान हित कहा जा सकता है। प्रायः निजी अथवा समान हित व्यापक हितों के उद्गम अथवा प्रेरक कारण बन जाते हैं।

मनोवृत्तियाँ व्यक्तिगत होती हैं। समान अथवा एक दूसरे की मनोवृत्तियों के अनुरूप मनोवृत्तियाँ भी व्यापक नहीं हो सकती हैं क्योंकि वे प्रत्येक व्यक्ति की व्यक्तिगत सम्पत्ति हैं। विभिन्न व्यक्तियों की मनोवृत्तियों में समानता हो सकती है किन्तु प्रत्येक व्यक्ति की मनोवृत्तियाँ उसकी निजी सम्पत्ति होंगी और उसकी गहराई आदि व्यक्ति के निजी व्यक्तित्व के अनुरूप ही होगी।

सामाजिक समूह और सामाजिक मनोवृत्तियाँ—प्रायः मानव का सब से अधिक अपनत्व उसके अपने घर एवं समूह के साथ होता है और यही उसकी सामाजिकता है। इस प्रकार की सामाजिकता का कारण हितों की व्यापकता भी हो सकती है। यह तो हम देख ही चुके हैं कि व्यक्ति धीरे-धीरे अपने आस-पास के दायरे को बढ़ा ही करता जाता है और उसके साथ अपनत्व भी स्थापित करता जाता है। बचपन में उसकी सीमाएँ अपने घर तक ही होती हैं और वह अपने आपको अपने घर के साथ एकाकार करके रखता है घर और परिवार के साथ ही अपनत्व स्थापित करता है किन्तु ज्यों-ज्यों उसका ज्ञान बढ़ता है उसके अपनत्व का दायरा भी बढ़ता ही जाता है और वह परिवार के अतिरिक्त अपनी जाति, अपने समुदाय, अपने समाज अपनी व्यावसायिक बिरादरी, अपनी मित्र मण्डली, अपने जीवन दर्शन के सिद्धान्तवादी समूह आदि को भी अपना समझने लगता है और उनके साथ भी सम्बन्धित होता ही

जाता है। यह तो निश्चित ही है कि मानव के भीतरक ही प्रकार की मनोवृत्तियाँ नहीं रहती हैं। वे न केवल विविध ही हो हैं वरन परस्पर विरोधी भी हो सकती हैं। ज्यों-ज्यों मानव की सभ्यत का विकास होता जा रहा है त्यों-त्यों उसके सम्बन्धों की सीमाएँ भीबढ़ती जा रही हैं और आज दिन की सभ्यता की यह एक बड़ी मस्या हो गई है कि इस सभ्यता का जटिल स्वरूप इसके भीतरअनेकों प्रकार के समूहों का रहना सम्भव कर देता है और व्यक्ति उ विभिन्न समूहों मे सम्बन्धित भी हो जाता है तथा उनके सिद्धान्त कभीकभी एक दूसरे के विरोधी भी होते ही हैं। ऐसी अवस्था में मानव एक चित्र से अन्तर्द्वन्द के बीच पड़ जाता है अत: यह कहना ठीक हो जान पता है कि आधुनिक युग में मानव सामाजिकता के साथ ही साथ न केवल सहिष्णुता एवं एक दूसरे को समझने की क्षमता का ही विकास करता है वरन् दूसरी ओर असहिष्णुता तथा विद्वेष भावना को भी किसित कर लेता है। फिर भी एक प्रकार के हित तो सामाजिक हित ही होते हैं। इनका सम्बन्ध व्यक्ति के निजी अथवा समान हितों भी होता ही है। दूसरे प्रकार के वे हित माने जा सकते हैं जो कि मानव को व्यापक ध्येयों की ओर आकर्षित करते हैं। ये प्राय: व्यापक उद्देश्य एवं लक्ष्यों की प्राप्ति के प्रयत्न ही होते हैं। विज्ञान, कला, साहित्य, संगीत, धर्म, दर्शन आदि में रुचि लेना और उन्हें ही हित मानना व्यापक हितों का ही एक प्रकार हो सकता है। सामाजिक जीवन में मनोवृत्तियों और हितों का घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। विज्ञान में किसी भी वैज्ञानिक का घना प्रेम उसकी मनोवृत्ति होती है और इस प्रकार विज्ञान को उसका व्यापक हित मान सकते हैं। किसी भी व्यक्ति का सामाजिक जीवन इसी प्रकार के सम्बन्धों से मिल कर बनता है। वस्तुत: किसी भी व्यक्ति के जीवन में दोनों ही प्रकार के हितों, व्यापक और निजी अथवा समान हितों का स्थान होता ही है। इन दोनों ही हितों के रहने पर सामाजिक जीवन सम्भव है क्योंकि केवल निजी हित सामाजिक संगठन एवं सामाजिक व्यवस्था को चलने ही नहीं दे सकेंगे और दूसरी ओर केवल मात्र व्यापक हितों के होने से भी सामाजिक व्यवस्था का बना रहना कठिन है अत: दोनों को लिए-दिए ही मानव के लिए सामाजिक जीवन सम्भव है।

सामाजिक प्रेरक कारण—प्राय: किसी के भी व्यवहार को देख कर हम उस व्यवहार के प्रेरक कारणों को खोजने की चेष्टा करते हैं। इस प्रकार की चेष्टा के कई एक कारण हैं। एक कारण तो यही है

कि हम स्वयं अपनी मनोवृत्तियों की अभिव्यक्ति अपने व्यवहार के द्वारा ही करते हैं अतः हम यह आशा करते हैं कि जिस प्रकार हमारे व्यवहार के पीछे उसके प्रेरक कारण हैं उसी प्रकार दूसरे व्यक्तियों के व्यवहार के पीछे भी उनके प्रेरक कारण कुछ न कुछ होंगे ही। दूसरे हम यह भी विश्वास करते हैं कि मानव के अन्तर में कोई न कोई ऐसा प्रधान मूल-कारण रहा ही करता है जो कि उसे एक विशेष स्थिति में विशेष ढंग से व्यवहार करने के लिए प्रेरणा देता है। इसी मूल कारण को हम प्रेरक कारण (motive) कहते हैं। यूँ हम प्रायः किसी के व्यवहार के प्रेरक कारण की खोज में कभी तो इस मनोवृत्ति की ओर ताकते हैं और कभी हित की ओर किन्तु वास्तविकता यह है कि सब ही प्रकार के मानव के सामाजिक व्यवहार में मनोवृत्ति और हित दोनों ही मूल कारण अथवा प्रेरक कारण के रूप में रहते हैं। प्रेरक कारण चेतना की किसी भी तह पर, किसी भी स्तर पर रह सकता है और उसका सरलतापूर्वक खोज पाना सदा ही सम्भव नहीं होता है। वस्तुतः मानव व्यवहार के पीछे छिपे हुए प्रेरक कारण कुछ इतनी अधिक जटिल व्यवस्था के अन्तर्गत होते हैं तथा उन्हें जान पाने के लिए इतने अधिक उस व्यक्ति के मानसिक विश्लेषण की आवश्यकता होती है जो कि हम सदा सर्वदा सरलतापूर्वक कर नहीं पाते हैं किन्तु अनुमानित आधारों पर चल कर कभी-कभी अकारण ही निरानन्द की सृष्टि अवश्य कर बैठते हैं। प्रेरक कारण कभी-कभी एक संकुल भी बना लेते हैं। यूँ भी मनोवृत्तियों को हितों से प्रथक करके नहीं देखा जा सकता है अतः सामाजिक जीवन के मुख्य आधार इन दोनों का सम्मिलित अध्ययन ही सामाजिक जीवन को समझ पाने में सहायक हो सकता है।

समाजशास्त्र की मुख्य समस्या—समाज शास्त्र का मुख्य उद्देश्य मानव के सामाजिक जीवन को सम्पन्न करना ही है और मानव का सामाजिक जीवन तब ही उन्नत हो सकता है जब कि समाज के प्रति व्यक्ति का जीवन व्यक्तिगत रूप से एवं सामाजिक रूप से सुखी हो, आनन्द पूर्ण हो। व्यक्ति के जीवन में सुख का प्रवेश किसी एक सीमा तक जीवन सम्बन्धी सुविधाएँ पाकर ही होता है। जीवन की सुविधाएँ भौतिक भी होती हैं और अभौतिक भी। मानव की आश्वयकताओं की पूर्ति के लिए ही तो उसे सुविधाएँ प्राप्त होनी चाहिए और उसकी आवश्यकताएँ होती हैं भौतिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक अथवा सौन्दर्य

सम्बन्धी, कलात्मक। मानव को जीवन सम्बन्धी सुरक्षा की आवश्यकता होती है। यदि प्रत्येक व्यक्ति को अपने भरण-पोषण की सुविधाएँ प्राप्त हो जायें तो वह अपने को एक दृष्टि से सुखी मानलेगा किन्तु इस प्रकार की सुविधाएँ तो तब ही प्राप्त हो सकती है जबके एक ओर तो उसमें उत्पादन क्षमता, वैसी योग्यता हो और दूसरी ओर उसके लिए उत्पादन कार्य पाने के अवसर और सुविधाएँ हों। इस यह अर्थ हुआ कि एक ओर तो समुचित शिक्षा प्राप्त करने की व्यवस्था हो और दूसरी ओर देश की अर्थ नीति ऐसी हो जिसमें बेकारी भी न हो और सम्पत्ति का विभाजन भी ठीक ढंग से किया जाए। ठीक ढंग कौन सा होगा यह एक विवादग्रस्त प्रश्न है और उसका निश्चय कर लेना यहाँ हमारा उद्देश्य नहीं है। तीसरी बात यह भी है कि देश की आर्थिक एवं सामाजिक व्यवस्था में उसे भरण-पोषण सम्बन्धी निश्चिन्तता की प्राप्त होना सुलभ हो। वृद्धावस्था में तथा आकस्मिक दुर्घटना आदि में अपंग होकर तथा उसकी मृत्यु हो जाने पर उसे अथवा उसके परिवार को आश्रित होने का भय न हो। यह तो उसकी भौतिक जीवन सम्बन्धी सुविधाएँ हुईं। इनके अतिरिक्त उसे मानसिक शान्ति और सामाजिक अन्तः सम्बन्धों द्वारा प्राप्त सुख, शान्ति पाने की सुविधाएँ भी प्राप्त होनी चाहिए। स्वस्थ मनोरंजन, विवाह, परिवार की स्थापना करने संस्थाओं का सदस्य होने तथा सामाजिक अन्तः सम्बन्ध स्थापित करने के लिए भी उसके वातावरण में गुंजायश होनी चाहिए और इन सबके अतिरिक्त कला और सौन्दर्य की, संगीत और साहित्य की अपनी आध्यात्मिपासा की शान्ति के लिए भी उसे सुविधाएँ मिलनी चाहिए अर्थात् उसके समूह एवं समाज का सामाजिक संगठन सुदृढ़ एवं सुन्दर तथा प्रगतिशील होना चाहिए तथा उसे नवीन वातावरण एवं परिस्थितियों में शीघ्र ही आनुकूल्य प्राप्त कर लेने, उनके साथ समीकरण स्थापित कर लेने की शिक्षा भी मिली होनी चाहिए तथा इसे शिक्षा के फलस्वरूप उसमें ऐसा कर पाने की क्षमता भी आ जानी चाहिए। ऐसा होने पर ही मानव सुखी हो सकेगा और समाज शास्त्र का उद्देश्य पूरा होगा। ऐसा कर पाने के उपाय खोजना ही समाज शास्त्र का मुख्य उद्देश्य है और उसी के लिए वह आज दिन प्रयत्नशील भी है।

निर्देशन

विषय-परिचय

१. देखिए :—Professor Linton—"Societies are organised groups of individuals and Cultures are, in the last analysis, nothing more than the organized repetitive responses of a Societies members." (Cultural Background of Personality Kegal Paul 1947 p. 4. Quoted by W. J. H. Sprott in Sociology p. 8).

२. देखिए :—MacIver & C. H. Page—"Society is a system of usages and procedures, of authority and mutual aid, of many groupings and divisions, of controls of human behaviour and of liberties. This ever changing complex system we call society. It is the web of social relationships." (Society 1952 p. 5).

३. देखिए :—Lapiere—"...., the term 'Society' refers not to a group of people but to the complex pattern of the normal of interaction that arise among and between them." (Sociology. 1946 p. 37).

४. देखिए :—MacIver—"Any whole area of social life, such as a village, or town, or country."

"Any circle in which a common life is lived, within which people more or less freely relate themselves to one another in the various aspects of life and thus exhibit common social characteristices." (Elements of Social Science p. 8 Quoted by F. J. Wright in the elements of Sociology, 1942, p. 21).

५. देखिए :—Ginsberg—"By community is to be understood a group of social beings leading a common life, including all the infinite variety and complexity of relative which result from that common life or

constitute it." (The Psychology of society, 1951 p. 120).

६. देखिए :—G. A. Lundberg—"We may then agree to designate as a community any plural which has a given minimum degree of geographic homogeneity and a given minimum degree and kinds of interaction. To these requirements we may add a given minimum degree of formal organization." (Foundation of Sociology, 1939 p. 361).

७. देखिए :—MacIver—"Any organisation deliberately formed for the collective pursuit of some interest or set of interest which the members of it share is termed an association." (Quoted by F. J. Wright in E. of S. p. 25-26)

और भी देखिए : -MacIver—"An association, then, is a group organized for the pursuit of an interest or group of interests in common." (Society, 1947 p. 11)

८. देखिए :—Ginsberg—"A group of social beings related to one another by the fact that they possess or have instituted in common organisation with a view to securing a specific end or specific ends." (The Psychology of Society, p. 121) "Associations are partial forms of community while the latter embraces all the interests and relations between men, whether organized or not, association rest specific purposes, they exist to fulfil some definite end." (Ibid. p. 121)

९. देखिए :—MacIver—"Institutions are established and recognised forms of relationship between social beings." (Quoted by F. J. Wright in E. of S. p. 27)

और भी देखिए :—"The established forms or conditions of procedure characteristic of group activity," (Society 1947 p. 14)

अध्याय १

१. देखिए Vierkandt—"regards sociology as a specialism concerned with the ultimate forms of the psychical bonds which link men to one another in society." (Sociology by Ginsberg, 1950 p. 9)

और भी देखिए :- वीर कान्दत के मतानुसार समाजशास्त्र का ध्येय—" to obtain by direct introspective analysis on account of the irreducible categories of social relationships . . . ." (Ibid. p. 10)

२. देखिए :—(Sociology by W. J. H. Sprott p. 12 and 14. Also see Sociology of Law by Gurvitch, K. Paul, 1947).

३. देखिए :—(Sociology by W. J. H. sprott p. 10 and also contemporary social theories by sorokin, 1928, ch. IX and Reason and Unreason in Society by Ginsberg, 1947 Ch. V).

४. देखिए :—(T. Parsons—The structure of social action, H. Beeker—Constructive Typology in the Social Sciences, Twentieth Century Sociology Ed. by Gurvitch and Moore Ch. IV).

५. देखिए :—(Principles and Laws of Socilogy by Harold. A. Phelps, 1936 p. 8-9).

६. देखिए :—Ginsberg "Sociology may be defined as the study of society, that is, of the web or tissue of human interactions and interrelations." (The study of society ed. Bartlett et al. Kegan Paul, 1939 p. 436. Quoted in ' Sociology ' by W. J. H. Sprott p. 1 also)

७. देखिए :—Maxweber—" Sociology is the Science which attempts the interpretive understanding of social action." (Theory of Social and Economic Organization, Hodge, 1947 p. 80)

८. देखिए :—J. L. Gillon and J. P. Gillon—"Sociology in its broadest sense may be said to be the study of

interaction rising from the association of living beings." (Cultural Sociology, 1948 p. 5)

९ देखिए :—G. A. Lundberg—"Human society deals with the communicable adjustment technical which human groups have developed in their long struggle to came to terms with each other and with the rest of their environment." (Foundation of Sociology, 1939 p. 5)

" Sociology is interested only in these aspects of social phenomens and their relationships which are repeated either in time or in space or in both ; which consequently exhibit some uniformity or constancy or typicality." (Ibid. p. 95)

" .....General Sociology may consist evidently nothing but a study of these traits and relationships which are common to all social phenomens." (Ibid. p. 96)

१०. देखिए:--Ogburn and Nimkoff " . . . .Sociology to be concerned with the study of the social life of man and its relations to the factors of culture, natural environment, heredity and the groups." (A. Handbook of Sociology, 1947, p. 9 foot note)

११. देखिए :—R. M. MacIver and Charles H. Page—"Sociology is 'about ' social relationships, the network of relationships we call society." " Sociology alone studies social relationships themselves, society itself." (Society. A word about Sociology itself)

१२. देखिए :—Harold A. Phelps. (Principles and Laws of Sociology, 1936 p. 12-13)

१३. देखिए :—Gregory and Bidgood "Sociology, may be defined as the study of the social process and its principal resultants : Culture and personality." (Introductory Sociology p. 1939 p. 9)

१४. देखिए :—Park and Burgess—" .. .The science of collective behaviour ." (Introduction to the Science of Sociology, 1924 p. 42)

१५. देखिए :—G. A. Lundberg:—(Foundation of Sociology Ch. I. p. 9)

अध्याय २

१. देखिए :—(Twentieth Century Sociology, p. 6).

२. देखिए :—Spencer (Principles, of Sociology, Vol. I p. 462).

३. देखिए :—New York : D. Appleton & Co. 1882.

४. देखिए :—Small (General Sociology, p. 27.)

५. देखिए :—Word (Pure Sociology, p. 91).

Giddings (Principles of Sociology, p. 26. New York : The Macmillon & Co. 1896).

अध्याय ४

१. देखिए :—W. B. Munro, Government of American cities, 1926, p. 13-16.

"It is a large body of people, possessing same striking social characteristics, massed in a small area, chartered as municipal corporation, having its own local government, carrying on various economic enterprises, and busily engaged in trying to solve the multifarious problems which its own crowded life puts upon it."

अध्याय ५

१. देखिए :—H. W. Zorbaugh, "Natural Areas is a geographical area, characterised both by physical individuality and by the Cultural Character of the people who live in it." (The Natural Areas of the city, 188—197 : Quoted in Twentieth Century Sociology Ed. by G. Gurvitch R. W. Moore, p. 473.

२. देखिए :—R. D. Mekenzie—"Human Ecology is not concerned only with presenting the patterns of eco-

logical organization at a given moment, spatial and sustenance relations in which human beings are organized are ever in process of change in response to the operation of a complex environment and cultural factors. (The Scope of Human Ecology) Quoted in T. C. S. p. 476."

३. देखिए :—R. D. Mekenzie 'Human Ecology' Quoted in T. C. S. 477.

४. देखिए :—R. K. Mukerji 'Social Ecology', 'Regional Balence of Man' and Man and His Habitation' (for this portion of the chapter.)

५. देखिए :—R. K. Mukerji 'Social Ecology' p. 208.

६. देखिए :—R. K. Mukerji 'Ecological Mobility is movement in space by which individuals came to compete or co-operate with one another for position and status, developing a characteristic type of human relationship. The interaction is dominated by reciprocal accommodation in relation to the limited resources of the ecological space; yet it is a Social Interaction.' (Social Ecology, p. 209)

अध्याय ६

१. A. M. Tozzer 'the ants are social only in the biological sense.' (Social origins and social continuities, p. 13. 1925)

२. देखिए :—Edward. B. Tylor—'Culture is that complex whole which includes knowledge, belief, art, morals, law, custom and any other capabilities acquired by man as a member of society. (Primitive Culture p. 1 1924.)

३. देखिए :—Charles. A. Ellwood, 'All Culture is invention or achievement' (Cultural Evolution p. 5-6. 1927)

४. देखिए :—Robert Redfield 'an organised body of conventional understandings manifest in art and arti-

fact, which, persisting through tradition, characterises a human group.' Quoted in A Hand Book of Sociology by Ogburn & Nimkoff p. 15.

५. देखिए :—Clarence Marsh Case 'Culture is a Distinctive Human trait' (Quoted in A. H. B. S. by Orburn & Nimkoth p. 15)

६. देखिए MacIver :—One Culture is what we are, are civilization is what we use'(The Modern State p. 325)

७. देखिए :—Pitirim. A. Sorokin—Society, Culture and Personality. p. 313.

८. देखिए :—R. E. Park and E. W. Burgess, "the sum and organization of those traits which determine the role of the individual in the group." (Introduction to the Science of Sociology. p. 70. 1924)

९. देखिए :—K. young "the sum total of images, ideas, attitudes, and habits of the individual organized in terms of his social participation." (Social Psychology, p. 201. 1930.)

१०. देखिए :—F. H. Allport "the individual's reactions to Social Stimuli, and the quality of his adaptationing to the Social features of his environment." (Social Psychology p. 101. 1924)

११. देखिए :—R. T. La Piere and P. R. Farnsworth "a combination of human nature and individuality." (Social Psychology. p. 201. 1936)

अध्याय ७

१. देखिए :—Eubank, Quoted by G. A. Lundberg—Foundations of Sociology p. 346.

२. देखिए :—(F. S. Chapin—Contemporary American Institutions, Harper, 1935. p. 13, 16 और भी Quoted by G. A. Lundberg F. of S. p. 376.)

३. देखिए :—(Hays—Sociology p. 470—471.)

४. देखिए :—(G. A. Lundberg—F. of S. p. 339—40 और भी R. T. La Piere—Sociology p. 168—180.)

५. देखिए :—(F. S. Chapin—C. A. I. Harper p. 16.)

अध्याय ९

१. देखिए :—R. M. MacIver और C. H. Page—'Society' p. 511.

२. देखिए :—R. M. MacIver और C. H. Page—"In one aspect, Culture is valuation; in another, it is expression." (Society p. 517)

३. देखिए :—Society p. 521. (चित्र)

४. देखिए :—E. Durkheim—The Division of Labour in Society.

५. देखिए :—E. Durkheim (De la division du travail Social p. 289) also in P. A. Sorokin 'Contemporary Sociological theories' Harper 1928. p. 467—471.

अध्याय १०

१. देखिए :—T. R. Malthus, 'An Essay on the Principle of Population as It Affects the Future Improvement of Society.'

अध्याय ११

१. देखिए :—E. W. Gregory and see Bidgord "Introductory Sociology" 1939. p. 586 to 594.

अध्याय १२

१. देखिए :—L. Von Wiese "the Colorful Confusion of interhuman life falls into patterns of avoidance and approach". (Systematic Sociology 1932 p. 39. Quoted by R. M. MacIver and C. H. Page in Society p. 25.)

२. देखिए :—(R. M. MacIver & C. H. Page 'Society' p. 27.)

३. देखिए :—(Ibid. p. 27.)

पर्यायवाची शब्द-सूची

अनुकूलता	..	Accomodation.
अन्तःपरिवर्तन	..	Interchanges.
अन्तर्विवाही	..	Eplagamous.
अन्य रोकें	..	Preventive checks.
अस्तित्व बना रहना	..	Continuity.
आर्थिक संस्थाएँ	..	Economic Institutions.
आदर्श राज्य, गणराज्य	..	Republic.
आधार संस्थाएँ	..	Nucleated Institutions.
इकाई	..	Unit.
उत्सव	..	Ceremony.
एकमतता	..	Consensus.
एकभार्यता	..	Monogamy.
एकत्व मनोवृत्ति	..	Associative attitude.
एक तत्त्वीय संस्कृति	..	Homogenous Culture.
कर्म	..	Rituals.
कक्षा	..	Category.
कार्य-व्यवस्था	..	Functional system.
क्रिया	..	Function
गणराज्य	..	Democracy.
ग्रहण	..	Acceptance.
ग्राम	..	Village.
गिरोह	..	Gang.
चिह्न विशेष्य संस्थाएँ	..	Diffused Symbolic Institutions.
जनरीति	..	Folkways.
जनसंख्या	..	Population.
जाति अथवा वर्ण	..	Caste.
जीवन व्यवस्था	..	Mode of life.
तात्विक	..	Metaphysical.

त्याग	..	Withdrawal.
दल	..	Party.
द्वन्द्व	..	Conflict.
दार्शनिक	..	Philosopher.
देशविधि	..	Law.
धर्माधार स्वीकृत	..	Scholastic.
निश्चित ज्ञान	..	Positive knowledge.
नगर	..	City.
ढाँचा	..	Structure.
ढंग	..	Mode.
परिवार	..	Family.
परिवार—रक्त संबंध के आधार पर बना हुआ	..	Consanguineous family.
परिवार—विवाह द्वारा संगठित	..	Conjugal family.
पदमर्यादा	..	Status.
परस्पर-व्यवहार	..	Contact.
पड़ोस	..	Neighbourhood.
परम्परागत विश्वास	..	Folklore.
प्रगतिशील संस्कृति	..	Heterogenous.
प्रतीक	..	Symbol.
प्रतिमान	..	Pattern.
प्रतिक्रियात्मक परिणाम	..	Retro aclivi-effect.
प्रक्रिया	..	Process.
प्रथा	..	Custom.
प्रत्यक्ष रोक	..	Positive check.
प्रतियोगिता, प्रतिस्पर्धा	..	Competition.
प्रव्रजन	..	Migration.
प्रेरक कारण	..	Motive.
प्रथकत्व मनोवृत्ति	..	Dissociative attitude.
बहिर्विवाही	..	Exogamous.
बहुतत्त्वीय	..	Heterogenous.
बहुभार्यता	..	Polygyny.
बहुभर्तृता	..	Polyandry.

भीड़	..	Crowd.
मानव पारिस्थिकी	..	Human Ecology.
मानव बहुसंख्या	..	Human Plural.
मान्यता प्राप्त	..	Scientific.
मूल्यांकन योजना	..	Scheme of values.
मूल्य-संबंधी निर्णय	..	Value judgement.
मोल-भाव करना	..	Bargain.
मनःप्राणिक	..	Psychogenetic.
यंत्र विज्ञान	..	Technology.
रक्त जाति	..	Race.
रक्तजातीय—नृशास्त्रिय	..	Ethno-Anthropological.
रक्त संबंध के आधार पर बने हुए परिवार	..	Consanguineous family.
राष्ट्र	..	State.
राशि	..	Aggregate.
राशिकरण	..	Aggregation.
रूप	..	Form.
रूढ़ियाँ	..	Mores.
लोकतन्त्र	..	Democracy.
वियोग	..	Dissociation.
विभिन्नताएँ	..	Differences.
विभिन्न तत्त्वीय	..	Hiterogenous.
विश्वासाधार	..	Theological
विरोधी तत्त्व	..	Difference.
विधिक शासन	..	Rule of Law.
विनिमय व्यवस्था	..	Exchange.
विशिष्ट	..	Formal.
वैज्ञानिक	..	Scientific.
श्रेणी	..	Class.
श्रमिक संघ	..	Trade Union.
समाज	..	Society.
समाज-शास्त्र	..	Sociology.
समीकरण	..	Adjustment.

समितियाँ	..	Association.
सभा	..	Party.
संयोग	..	
संयमन मनोवृत्ति	..	Restrictive attitude.
सह सदस्यता	..	Co-membership.
? समुदाय	..	Community.
समूह	..	Group
संस्था	..	Institution.
संस्था संकूल	..	Institutional complex.
संयुक्त पूँजी कम्पनी	..	Joint Stock Company.
सामान्य	..	Informal.
साम्यावस्था	..	Equilibrium.
साँचा	..	Type.
स्थान्य क्षेत्रस्थित	..	Spetially located.
साधारण मानवीय तत्त्व	..	Likeness.
सामग्री	..	Phenomenon.
सामूहिक विवाह	..	Hetarianism.
सापेक्ष्यवाद	..	Theory of relativity.
सांस्कृतिक धरातल	..	Cultural level.
सामाजिक अन्तर परिवर्तन	..	Social interchange.
सामाजिक असंतुलन	..	Social maladjustment.
सामाजिक विगठन	..	Social disorganisation.
" विधि	..	Social Law.
" नियम	..	Social Code.
" नियंत्रण	..	Social control.
" ढाँचा	..	Social Structure.
" स्वरूप शास्त्र	..	Social morphology
सात्मीकरण	..	Assimilation.
स्थिति	..	Situation
सुधार युग	..	Period of reformation.
स्वीकृत	..	Accepted.

———

सहायक ग्रंथ-सूची

व्यापक

Benard, L. L., : Introduction to Sociology. (1942)

Cuber, John F : Sociology (1947)

Ellwood, Charles A : Sociology Principles and Problems (1943)

Fairchild, H. P. ed. : Dictionary of Sociology. (1944)

Gurvitch, G. & Moore, W. E. ed. : Twentieth century Sociology. (1945)

Gillin, J. L. & John Gillin : Cultural Sociology (1948)

Ginsberg, M. : Sociology (1934)

Grovers, Ernest & Moore, H. E : An Introduction to Sociology (1940)

Hankint, F. H., : Introduction to the study of Society (1937).

Hiller, E. T. : Principles of Sociology (1933)

Howard W. Odhun : Understanding Society (1947)

La Piere, Richard T. : Sociology (1946).

Lundberg, G. A., : Foundation of Sociology (1939).

MacIver, R. M., : Society & C. H. Page Society (1952)

Ogburn W. F. & M. F. Nimcoff Sociology (1940).

Park R. E. & Purgess, E. W. : Introduction to the Science of Sociology (1924).

Poudell, Elmer, Editor : Society under analysis. (1917).

Ross, Edward A : New Age Sociology. (1940).

Sumner, W. G. & Keller, A. G. : The Science of Society. (1942).

Seligman, E. R. A. & Johnson, A. : Encyclopedia of Science (1930).

Von Wiese, Leopold & Howard Beeket : Systematic Sociology (1932).
Wallis W. D. & Willey M. M. : Readings in Sociology (1930).
Young, Kimball : Sociology. (1944).

आनुवांशिकता और वातावरण

Dunn, L. C. & Th. Dooznasky : Heredity, Race & Society (1946).
Hogbern L : Nature & Nature (1933).
Holmes, S. : Human geneties & its Social Import (1936).
Jennings H. S. : The Biological Basis of Human Nature. (1930).
Newman H., Twins : A study of Heredity and Environment. (1937).
Scheirfeld, A. : You and Heredity. (1939).
Schwesinger, G. C. : Heredity & Environment. (1933).
Woodworth, R. S. : Heredity and Environment. (1941)

ग्राम, नागरिक जीवन और परिस्थित शास्त्र

Alihan, Milla A : Social Ecology (1935).
Altekar, A. S. : History of Village Communities in India.
Bews, J. W. Human Ecology (1935).
Chase, Stuart : Democracy under Pressure (1945).
Gillette, J. M. : Rural Sociology (1936).
Gist Noel P. and L. A. Halbert : Urban Society (1948).
Kolb, J. H. and E. De S. Brummer : A Study of Rural Sociology. (1946).
Mulford, H : Country Planning. (1944).
Mumford, Lewis : The culture of cities (1929).
Muniz, E. B. : Urban Sociology. (1938).
Sims, Newell L : Elements of Rural Sociology. (1940)
Taylor, C. C. : Rural Sociology (1946).
Zimmerman, C. C. : The changing Community.

परिवार

Baber, Ray E : Marriage and the faimly, (1939)
Becker, Howard D. and Reuben Hill, Editors : Faimly marriage and Parenthood. (1948)
Briffault, R : The mothers. (1927)
Burgess, E. W. and Locke, H. J. : The faimly. (1945)
Elmer, M. C. : The Sociology of the Faimly. (1945)
Folsom, I. K. : The Faimly and Democratic Society. (1943).
Goodsell, W. : A History of marriage and Faimly. (1934).
Hari Dutt : Hindu Vivah Mimansa.
Howard, G. E. : History of matrimonial Institutions (1904).
Foster, Robert G. : Marriage and family relationships (1944).
Lichten berger, I. P. : Divorce. (1931).
Myrdal, A. : Nation and family. The Swedish Experiment in Democratic Family and Population Policy. (1945).
Terman, L., Psychological Factors in marital Happiness. (1939).
Waller, W. W., The Family (1938).
Westermarch, E. A., : The Future of Marriage in western civilisation. (1936).
Limmerman, Carle C : Family of civilisation. (1947).
Menon, Lakshmi, N. : The Position of Women. (1944).

धार्मिक संस्थायें

Durkheim, E. : Elementary Forms of Religious Life.
Eddy, Sherwood : Religion and Social Justice. (1927).
Freud, S. : The Future of an Illusion. (1928).
Hough, Horace T. : What Religion is and does. (1935).

Lowie, R. H. : Primitive Religion. (1936).
Radin, P. : Primitive Religion. (1938).
Taylor, Graham : Religion in Social action. (1913).
Wach, Joachim : Sociology of Religion. (1944).
Yinger, J. Milton : Religion in the struggle for Power. (1946).

राजनैतिक संस्थायें

Collingwood, R. G. : The New Leviathan. (1942).
Commons, J. R. : A Sociological View of Sovereignty.
Fowler, W. W. : The city state of the Greeks & Romans.
Laski, H. J. : A Grammar of Polities. (1938).
Laski, H. J. : The state in Theory and Practice. (1938).
Lasswell, H. D. : Polities : Who gets what, when, how. (1936).
Lindsay, A. D. : The Modern Democratic State. (1943).
Lowie, R. H. : The Origins of the State. (1927).
Mc Iver, R. M. : The Modern State. (1926).
Marriott, Sir, J.A.R. : Dictatorship and Democracy(1935).
Michels, R. : Political Parties. (1915).
Maxwell, Bertram W. : The Soviet State. (1934).

आर्थिक संस्थायें

Wadia, P. A., and Merchant K. T. : Our Economic Problem. (1943).
Arnold, Thurman W. : Cartels or Free Enterprise. (1945).
Beaglehole, E., Property : A study of Social Psychology. (1937).
Bowman, D. D. : Public Control of Labour relations. (1942).
Burns, C. D. : Industry and Civilisation. (1925).
Commons, J. R. : Legal Foundations of Capitalism. (1924).

Green William: Labour and Democracy. (1939).
Hieks, J. R.: The Social Framework. (1942).
Hobson, T. A.: Property and Improperty. (1937).
Lanterbach, Albert: Economic Security & Individual Freedom. (1948).
Lokanathan, P. S.: Industrialisation. (1943).
Lowe, A.: Economics and Sociology. (1935).
Nengroschel, A.: The control of Industrial Combinations.
Qshanghnessy, Miehacb : Economic Demoracy & Private Enterprise. (1945).
Mehta, Asoka: Socialism and Peasantry. (1953).
Mehta, Asoka.: Democratic Socialism. (1952).
Mukerjee, R. K.: Indian working class.
Patterson, S. H.: Social Aspects of Industry. (1943).
Schumpeter, J.: Socialism, Capitalism and Democracy, (1943).
Thurnwald, R.: Economics in Primitive Community. (1932).
Vijayaraghvachari Sirt.: Land and its Problem.
Williams, G.: The Price of Social Security. (1946).
Viblen, T.: The theory of Business Enterprise. (1904).

क्रीड़ा, मनोरंजन और शिक्षा संस्थायें

Burns, C. Delisle: Leisure in the Modern World. (1932)
Busch, Henry M.: Leadership in Group Work. (1934).
Brown, Francis, J.: Educational Sociology. (1947).
Charters, W. W.: Motion Pictures and youth, A summary. (1933).
Durant, Henry: The Problem of Leisure (1938).
Katz, Daniel, and Floyd H. Allport.: Students Attitudes. (1931).
Lazarsfeld, Paul F., and Harry field: The People look at Radio. (1946).

Lindeman, E. C.: Leisure—A national Issue. (1939).
Mitchell, Elever D., and B. S. Mason: The Theory of Play. (1934).
Oberhaltzer, E. P.: The Morals of the Movie. (1932).
Panna Shah: The Indian Film. (1950).
Petters, Charles C. : Motion Pictures of standards of Morality. (1933).
Prescott, Damil A.: Emotion and the Educative Process. (1938).
Government of India's Publication: Education in the States of Indian Union. (1951).

सामूहिक व्यवहार

Bogardus, Emory S.: Fundamental of Social Psychology. (1942).
Coolcy, C. H.: Social organisation. (1909).
Dewey, J.: Human Nature and conduct. (1922).
Doob, I. W.: Propaganda. (1915).
Ginsbery, M.: The Psychology of Society. (1933).
Jennings, Helen H.: Leadership and Isolation. (1943).
La Piere, R. T.: Collective Behaviour. (1938)
Lasswell H. D.: Propaganda Teaching in the world war. (1929).
Eagarsfeld, P. F.: Radio and Printed Page.
Mead, M., (Ed.): Co-operation and Competition among Primitive Peoples. (1937).
Suttic, J.: The origious of Love of Hate. (1935).

संस्कृति विकास में बाधायें

Calverteon, V. F.: The Making of Man. (1931).
Chapin, F. Stuart: Cultural Change. (1928).
Ellwood, Charles A.: Cultural Evolution. (1927).
Folsom, G. K.: Culture and Social Progress. (1927).

Ram Krishna centenary Volume : Cultural Heritage of India.
Kroeber, A. L. : Configurations of culture Growth. (1944)
Linton, Ralph C. : The Cultural Background of Personality. (1945).
Lowie, Robert, H. : Are we Civilised. (1936).
Mookerji D. P. : Modern India Culture.
Malinowski, B. M. : The Dynamics of Culture Change. (1945).
Natarajan, S. : Social Problems. (1942).
Rodin Paul : Social Anthropology. (1932).
Renter, E. B. Editor : Race & Culture Contacts. (1934).
Smith G. Elliott and others : Culture (1927).

आविष्कारों का प्रभाव

Beard, W. : Government and Technology. (1934).
Gilfillan, S. C. : Social Effects of Inventions. (1937)
Stamp, Sir J: The Science of Social Adjustment. (1937)

सामाजिक विगठन

Barness, Harry, E. and N. K. Tecters : New Horizons in Criminology. (1943)
Bossard, J. H. S. : Social Change and Social Problems. (1938).
Brown, L. G. : Social Pathology. (1941)
Carr-Saunders, A. M. Mannheim, and E. C. Rhodes : Young Offenders (1944).
Coyle, Grace. : Group Experience and Social Values. (1947).
Elliott, Mabel A., and Francis Merrill : Social Disorganisation. (1941).
Faris, Robert, E. L. : Social Disorganisation. (1948).
Frank, Lawrence K. : Society as the Patient. (1948)
Gilllin, John M. : Social Pathology. (1946).

Hall, J. : Theft, Law and Society. (1935).
Mowrer, E. R. : Disorganisation, Personal and Social. (1942).
Mannheim, K. : Man and Society in an Age of Reorganisation. (1945).
Malinowski, B. : Crime and Custom in Savage Society. (1928).
Queen, S. A. W. B. Bodenhafer, and E. B. Harper : Social Organisation and Disorganisation. (1935).
Queen S. A., and J. R. Gruener : Social Psychology. (1940).
Slavson, S. R. : An Introduction to Group Therapy. (1943)
Von Hentig, Hans. : Crime, Cause & Conditions. (1947)
Le Bon, G. : The Crowd : A study of the Popular Mind. (1897)
Lippmann, W., Public Opinion (1922).
Marshall, T. H., Class Conflict and Social stratification. (1938).
Wallas, G. : Human Nature and Pòlities. (1924).
North, C. C. : Social Differentiation. (1926).
Ross E. A. : Social Control. (1901).
Soro Kin, P. : Social Mobility.
Tead, Ordway : The Art of Leadership. (1935).
Young, K. : Sourcebook of Social Psychology. (1927).
Wedgwood, J. : The Economics of Inheritance. (1939)
Dollard, J. : Frustration and Aggression. (1944).
Durbin, E. F. M. : and Bowlby, John: Personal Aggressiveness and war. (1939).
Knight, F. H. : The Ethics of competition. (1935).

संस्कृति में वृद्धि, परिवर्तन, बाधाएं, आविष्कार, समीकरण

Bartlett, F. C. : Psychology and Primitive Culture. (1923).

Benedict, R. : Patterns of Culture.
Boas, F. : General Anthropology. (1939).
Goldenweiser, A. A. : Anthropology, An Introduction to Primitive Culture. (1937).
Gorer, G. L. : Himalayan Village. (1938).
Hoddan : History of Modern Morals. (1937).
Hsiao Tung Fei : Peasant Life in China. (1943).
Kardiner A : The Cultural Background of Personality.
Klein V.: The Feminine Character. (1946).
Linton R.: The Study of Man, An Introduction. (1940).
Lowlie R. H. : Are We Civilised. (1934).
Mannheim K. : Diagnosis of Our Time. (1945).
Mannheim K. : Man and Society in Age of Reconstruction.
Mackenzie F. : Planned Society, Yesterday, Today, To morrow. (1937).
Mead M.: Co-operation and Competition among Primitive Peoples. (1937)
Mumford, L. : Technics and civilisation. (1934).
Mumford, L. : Sex and Temperament in Primitive Societies. (1935).
Plant, J. S.: Personality and the Culture Pattern. (1937)
Schumpeter, J. : Socialism, Capitalism and Democracy (1943).
Sorokin P. A. : The Sociology of Revolution. (1935)
Stamp, Sir, J. : The Science of Social Adjustment. (1937).
Sumuce, W. G. : Folkways. (1906).
Wheeler G. C. : Hobhouse, L. T., and Guisberg, Practical culture and Social Institutions of Simple peoples. ((1930).
Westermarck E. : Origin and Development of Modern Ideas. (1906).

Wissler, C. : Man and Culture. (1928).
Wooton, B. : Freedom under Planning. (1945).
Gregory and Bidgord. : Introductory Sociology. (1939)
Hays: Sociology.
Richard T. Lapiere, Sociology. (1946).
Pitirim A. Sorokin., Society, Culture and Personality. (1947).
P. A. Sorokin. : Comtemporary Sociological Theories. (1928).
R. Mukerjee. : The Institutional Theory of Economics 1939-40 lectures.
Harold A. Phelps. : Principles of [Laws of Sociology. (1936).
G. A. Lundberg. : Foundations of Sociology. (1939)
W. J. H. sprott. : Sociology.
M. Ginsberg.: The Psychology of Society. (1951).
G. Gurvitch & W. Moore.: Twenteeth century Sociology (1945).
Radha Kamal Mukerjee : Principles of Comparative Economics 2 Vols.
Borderlands of Economics.
The Foundation of Indian Economics.
Civics.
Rural Economy of India.
Democracies of the East.
Food Planning for four hundred Millions.
Regional Sociology.
Introduction to Social Psychology. (With Prof. N. N. Sen Gupta).
The Theory of Art of Mysticism.
Groundwork of Economics.
Migrant Asia.

The Regional Balance of Man.
The Land Problems of India.
The Changing Face of Bengal.
Economics Problems of Modern India (Ed).
Fields and Farmers in Oudh (Ed.)
Man and His Habitation.